अणु से पूर्ण की यात्रा

श्रमण जीवन चर्या का सांगोपांग वर्णन



लेखक

आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि



श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
उदयपुर

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थमाला का ३१६वाँ पुष्प



☆ अणु से पूर्ण की यात्रा
(श्रमण जीवन चर्या का सांगोपांग वर्णन)

☆ लेखक :
आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

☆ प्रकाशक एवं प्राप्ति-स्थान :
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
गुरु पुष्कर मार्ग, उदयपुर-३१३ ००१

☆ प्रकाशन वर्ष :
वि. सं. २०५२, कार्तिक
ईस्वी सन् १९९५, नवम्बर

☆ मुद्रण व्यवस्था :
राजेश सुराना द्वारा दिवाकर प्रकाशन
ए-७, अवागढ़ हाउस, एम. जी. रोड,
आगरा-२८२ ००२
दूरभाष : ३५११६५, ५१७८९

☆ मूल्य :
एक सौ रुपया मात्र

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय संशोधित 125 उदयपुर

समर्पण

जैन आगम साहित्य के मर्मज्ञ मनीषी
ज्ञान योग एवं ध्यान योग की जीवंत मूर्ति
श्रमण संघ के प्रथम पट्ट प्रभावक
परम श्रद्धेय आचार्यसम्राट्
श्री आत्माराम जी म. को
जन्म शताब्दी वर्ष के
पावन प्रसंग पर
सादर सविनय समर्पित

–देवेन्द्र मुनि

प्रकाशकीय

अपने चिन्तनशील प्रबुद्ध पाठकों के कर-कमलों में 'अणु से पूर्ण की यात्रा' नामक ग्रन्थ समर्पित करते हुए अपार आह्लाद हो रहा है। विश्व के रंग-मंच पर समय-समय पर अनेक धर्म, दर्शन और सम्प्रदाय अपना स्वरूप प्रकट करते रहे हैं और जन-जन के अन्तर्मानस में धर्म और दर्शन का सैद्धान्तिक रूप उजागर करते रहे हैं। सभी धर्म और दर्शनों की विभिन्न आचार संहिताएँ रही हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में जैन श्रमण धर्म के विभिन्न पहलुओं पर व्यापक दृष्टि से चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। आचार के विशाल धरातल पर जीवन का सर्वांगीण सत्य इसमें उद्घाटित हुआ है। ऐसे अनेक जाज्वल्यमान विषय-विन्दु हैं जिन पर विद्वान् लेखक ने जीवन-व्यवहार्य प्रणाली से समाधान प्रस्तुत किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक हैं प्रज्ञापुरुष साहित्यमनीषी आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी। आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी के नाम से हमारा प्रबुद्ध पाठक वर्ग भलीभाँति परिचित है। वे एक तेजस्वी लेखक हैं, गंभीर विचारक हैं, मधुर प्रवक्ता हैं और प्रबुद्ध सम्पादक हैं। उन्होंने अनेक शोधप्रधान व चिन्तनप्रधान ग्रन्थों को लिखकर और शताधिक ग्रन्थों का शानदार सम्पादन कर साहित्य के क्षेत्र में एक उज्ज्वल कीर्ति अर्जित की है। साहित्य, संस्कृति, धर्म, दर्शन, आगम, इतिहास, चिन्तन और बोध कथाएँ आपका प्रिय विषय रहा है। जिस किसी भी विषय पर आप लिखते हैं तो उस विषय के तलछट तक पहुँचते हैं और खुले मन-मस्तिष्क से उस पर गहराई से चिन्तन करते हैं। आपश्री के अनेक ग्रन्थों के प्रकाशन का सौभाग्य हमें मिला है और उन ग्रन्थों की भारत के मूर्धन्य मनीषियों ने मुक्त-कंठ से प्रशंसा की है। हमें परम प्रसन्नता है कि उस लड़ी की पवित्र कड़ी में प्रस्तुत ग्रन्थरत्न समर्पित कर रहे हैं।

जैन आगमों में और उनके व्याख्या-साहित्य में श्रमणाचार पर बहुत ही विस्तार से लिखा गया है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश भाषा में अनेक ग्रन्थ भी जैनाचार्यों ने लिखे हैं पर आधुनिक युग के अनुरूप हिन्दी भाषा में तुलनात्मक दृष्टि से लिखा गया श्रमण आचार पर कोई श्रेष्ठ ग्रन्थ नहीं है; जबकि जैन दर्शन पर कई श्रेष्ठ ग्रन्थ निकल चुके हैं। प्रस्तुत ग्रन्थराज लिखकर आचार्यश्री ने एक महत्त्वपूर्ण कमी की पूर्ति की है। जैन श्रमण आचार के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टियों

से चिन्तन हुआ है। सर्वत्र विद्वान् लेखक की तेजस्वी प्रतिभा प्रस्फुटित हुई है। सर्वत्र तुलनात्मक व समन्वयात्मक दृष्टि से चिन्तन किया है। लेखक खण्डनात्मक नीति से अलग-थलग रहकर अनेकान्त दृष्टि के दिव्य आलोक में जैन श्रमण की जीवन शैली का व्यापक दृष्टि से प्रतिपादन करता है। हमारा यह स्पष्ट अभिमत है कि भारतीय संस्कृति में जैन श्रमण के पवित्र आचार धर्म के सम्यक् रूप को प्रस्तुत करने के लिए इसी तरह के श्रेष्ठ ग्रन्थों की आज आवश्यकता है। आज भारत में विचार-पक्ष तो प्रबल होता जा रहा है पर आचार पक्ष में शिथिलता आती जा रही है जिससे श्रमण वर्ग के प्रति अनास्था का भाव उपज रहा है। ऐसी विषम बेला में यह ग्रन्थरत्न प्रकाशस्तम्भ की तरह सभी के लिए उपयोगी होगा।

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, जैन समाज की विश्रुत संस्था है। सम्प्रदायवाद के दलदल से ऊपर उठकर उसने मानवतापरक श्रेष्ठ साहित्य समय-समय पर प्रदान किया है। साहित्य की हर विधा में नित्य नूतन श्रेष्ठ ग्रन्थ दिये हैं। स्वल्पावधि में ही शताधिक ग्रन्थों का शानदार प्रकाशन कर एक कीर्तिमान आदर्श उपस्थित किया है।

ग्रन्थ को मुद्रण कला की दृष्टि से सर्वाधिक सुन्दर बनाने वाले हमारे अभिन्न साथी स्नेहमूर्ति श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' हैं जिनका स्नेह भरा सहयोग हमें सदा मिलता रहा है। वे हमारे हैं, हम उनके हैं अतः उनके लिए आभार जैसे हलके शब्द का प्रयोग करना हमें इष्ट नहीं है। 'आभार' द्वैत का प्रतीक है, अद्वैत का नहीं।

इस पुस्तक की प्रस्तावना लिखने का हमारा अनुरोध स्वीकार कर पं. रत्न श्री विजय मुनि जी शास्त्री (आगरा) ने हमें अनुगृहीत किया है, हम मुनिश्री के प्रति हार्दिक भावेन विनत एवं कृतज्ञ हैं।

–चुन्नीलाल धर्मावत
कोषाध्यक्ष
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
उदयपुर (राजस्थान)



भारतवर्ष दर्शनों की जन्म-स्थली है तो आचार-धर्म की क्रीड़ा-स्थली भी है। यहाँ पर समय-समय पर अनेक दर्शनों ने जन्म लिया है। वे खूब ही फले-फूले और अन्त में क्रूर काल के गाल में समा गये। जैन दृष्टि से श्रमण भगवान महावीर के समय तीन सौ त्रेसठ दर्शन थे, तो तथागत बुद्ध ने त्रेसठ दर्शनों का वर्णन किया है। उनमें कितने ही दर्शन क्रियावादी थे, तो कितने ही दर्शन अक्रियावादी थे। कितने ही दर्शन अज्ञानवाद पर आधारित थे, तो कितने ही दर्शन विनयवाद को महत्त्व दे रहे थे। जितने दर्शन थे, उतनी ही आचार-परम्पराएँ भी थीं। वैचारिक मतभेद होने से आचार में भी मतभेद होना सहज था, स्वाभाविक था। कितने ही मूलभूत ऐसे नियम थे, जो सभी दर्शनों ने स्वीकार किये थे, पर यह भी पूर्ण सत्य है कि किसी ने किसी तत्त्व को गौण मानकर उसकी उपेक्षा की तो दूसरे ने उसे मुख्य मानकर उसका विस्तृत विवेचन-विश्लेषण किया। इस तरह विभिन्न आचार-परम्पराएँ समय-समय पर बनती रहीं और बिगड़ती रहीं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में जैन श्रमण के आचार पर तुलनात्मक दृष्टि से चिन्तन किया गया है। जैन दर्शन का प्राणतत्त्व 'आचार' है। आचार को केन्द्र मानकर ही अन्य चिन्तन विकसित हुआ है। यदि हम वर्तमान में भारतीय चिन्तन-क्षितिज पर मँडराये हुए अन्य दर्शनों के आलोक में चिन्तन करें तो यह स्पष्ट होगा कि जितना जैन दर्शन ने आचार को केन्द्र मानकर विकास किया है, उतना अन्य दर्शनों ने आचार को केन्द्र मानकर विकास नहीं किया। उदाहरण के रूप में, हम योग दर्शन को ले सकते हैं। आचार्य पतंजलि, जो योग दर्शन के प्रतिष्ठाता रहे हैं, उन्होंने पातंजल योग दर्शन में जितना विस्तार के साथ आचार का विश्लेषण किया, उतना अन्य वैदिक दर्शन नहीं कर सके हैं। आचार्य पतंजलि ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को पहले यम कहा है[1] और आगे चलकर उन्हें महाव्रत भी कहा है।[2] जैसे कि जैन धर्म में भी इन गुणों को महाव्रत की संज्ञा दी है। पर वहाँ यह स्मरण रखना होगा कि पतंजलि ने यम को योग का अन्तरंग कारण न मानकर

१. योगसूत्र २. ३०

२. एते जातिदेशकाल समयाऽनवच्छिन्नाः सार्वभौमाः महाव्रतम्। —योगसूत्र २, ३१

बहिरंग कारण माना है।[1] अन्तरंग कारण ध्यान, धारणा और समाधि को माना है। आसन, यम, नियम, प्राणायाम और प्रत्याहार–ये योग के बहिरंग कारण हैं। यह सही है कि आचार्य पतंजलि का यह अभिप्राय नहीं था कि यम का महत्त्व कम है, पर परवर्ती चिन्तकों ने आचार्य पतंजलि के मूल अभिप्राय को न समझकर षडङ्ग योग का प्रचलन किया। षडङ्ग योग में आसन, यम और नियम को हटाकर ध्यान, धारणा, समाधि, प्राणायाम, प्रत्याहार और तर्क को प्रस्थापित किया।[2] आचार्य पतंजलि ने योग में तर्क को स्थान नहीं दिया था, पर बाद के आचार्यों ने तर्क को जोड़कर अपनी तार्किक बुद्धि का परिचय दिया। मेरी दृष्टि से आसन, यम और नियम को छोड़ने का मूल कारण यही हो सकता है कि पतंजलि ने यम और नियम को जो बहिरंग में स्थान दिया इसी के कारण उन विज्ञों ने उसकी सर्वथा उपेक्षा कर दी।

योग दर्शन का दार्शनिक पक्ष सांख्य दर्शन में उजागर हुआ है। उसने तात्त्विक प्रश्नों पर गहराई से अनुचिन्तन किया है। न्याय दर्शन में प्रमाणशास्त्र पर ही विश्लेषण हुआ है, तो वैशेषिक दर्शन में पदार्थशास्त्र का निरूपण है। पूर्वमीमांसा का प्रतिपाद्य विषय धर्म है। किन्तु वह धर्म चरित्र पर आधृत न होकर बाह्य क्रियाकाण्डों पर अवलम्बित है। यज्ञ-याग की विविध विधियाँ निरूपित हुई हैं। देवता और स्वर्ग पर अधिक चिन्तन किया गया है। इस तरह बाह्य क्रियाकाण्ड के साथ दैवीतत्त्व पर बल दिया गया है। उत्तरमीमांसा में ज्ञानकाण्ड की प्रमुखता है। उसे वेदान्त भी कहते हैं।

भारतीय दर्शनों में बौद्ध दर्शन अवश्य ही आचार-प्रधान रहा है। तथागत बुद्ध ने आचार-पक्ष पर इतना अधिक बल दिया कि तात्त्विक प्रश्नों की सर्वथा उपेक्षा ही कर दी। जब कोई भी साधक तथागत के पास आत्मा, परमात्मा, जीव और जगत् के गम्भीर प्रश्नों को लेकर उपस्थित हुआ तो बुद्ध ने उन प्रश्नों को अव्याकृत कहकर टाल दिया।[3]

बौद्ध दर्शन में आचार-पक्ष पर बल अवश्य दिया गया है, किन्तु जैन आचार की अपनी एक अलग ही विशेषता है। इसमें आचार और विचार दोनों पर ही समान बल दिया है, समान भूमिका पर चिन्तन किया है। श्रमण भगवान महावीर

---

१. त्रयमन्तरङ्गपूर्वेभ्यः। –*योगसूत्र ३, ७*

२. गुह्य समाजतन्त्र (१८, १४०)–विज्ञान भैरव (दिल्ली, १९७८) की डॉ. ब्रतवल्लभ द्विवेदी लिखित भूमिका के पृ. ३६ पर उद्धृत

३. मज्झिमनिकाय (सारनाथ, १९३३) २, २, ३

आत्मा, कर्म, लोक-परलोक आदि तात्त्विक प्रश्नों के सम्बन्ध में कभी भी मौन नहीं रहे। उन्होंने स्पष्ट रूप में उन सभी दार्शनिक प्रश्नों के समाधान दिये। भगवान महावीर का चिन्तन था—आचार की निर्मल गंगा मन, वचन और काया इन तीनों में समान रूप से प्रवाहित हो। उन्होंने स्पष्ट रूप से आघोष किया कि मन में भी संयम होना चाहिए, वचन में भी संयम होना चाहिये और काया में भी संयम होना चाहिये। मन, वचन और काया की निर्मलता और एकरूपता ही साधक को साधना के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचाती है।

तथागत बुद्ध ने मनःसंयम पर जितना बल दिया उतना बल काय-संयम पर नहीं दिया। मनःसंयम पर बल देने के कारण बौद्ध परम्परा में ध्यान आदि का अत्यधिक विकास हुआ। किन्तु काय-संयम की उपेक्षा करने के कारण शारीरिक तप आदि का जितना विकास होना चाहिए, उतना नहीं हो सका। काय-संयम में काय-क्लेश की प्रमुखता है। पर मध्यम मार्ग का प्रतिपादन करने से आचार में शैथिल्य आ गया। यही कारण है कि बुद्ध एक ओर अहिंसा का निरूपण करते हैं, किन्तु दूसरी ओर वे माँसाहार, मत्स्याहार का पूर्ण निषेध न कर सके जिससे उनके अनुयायियों में बिना रोकटोक के माँसाहार का प्रचलन प्रारम्भ हो गया और अनेक सुख-सुविधाएँ साधकों के लिये खुली हो गईं जबकि जैन परम्परा में मन के साथ ही वचन और काय-संयम पर समान बल देने से वचन पर भी गहराई से चिन्तन हुआ। साधक कौन-सी भाषा का प्रयोग करे, इसके लिये महाव्रतों में द्वितीय महाव्रत, समितियों में द्वितीय समिति और गुप्तियों में द्वितीय गुप्ति का विधान है। साधक में भाषा का विवेक आवश्यक है। उसे बोलने की कला में निष्णात होना चाहिए। वह ऐसी भाषा का प्रयोग न करे, जिससे किसी भी प्राणी को कष्ट हो। सर्वप्रथम साधक मौन रहे, और यदि बोलना भी हो तो विवेकपूर्वक बोले। इसी तरह काय-संयम पर बल देने के कारण अनशन, ऊनोदरी आदि बाह्य तप का पूर्ण विकास हुआ। स्वयं भगवान महावीर उग्र तपस्वी थे तो उनके शिष्यगण भी तप की दृष्टि से पीछे नहीं रहे। आगम साहित्य में उन साधकों की रोमांचकारी तपःसाधना का उल्लेख है। "देहदुःखं महाफलम्" की उद्घोषणा कर महावीर ने काय-संयम की महत्ता प्रतिपादित की। इसी प्रकार मनःसंयम पर बल देने से ध्यान और कायोत्सर्ग का भी विकास हुआ। साधक के लिए ध्यान-साधना अनिवार्य थी। आठ प्रहर में दो प्रहर ध्यान-साधना के लिये नियत किये गये थे। इस तरह जैन परम्परा ने मन, वचन और काया के संयम पर बल दिया।

आत्मवाद की मूलभित्ति पर जैन आचार का भव्य प्रासाद अवस्थित है। आचारांग जो जैन आचार का मूलभूत ग्रन्थ है, उसमें सर्वप्रथम आत्मा की चर्चा की

गई है और यह प्रतिपादित किया गया है कि जिस तरह से तुझे सुख प्रिय है, वैसे ही संसार के सभी प्राणियों को सुख प्रिय है। जैसे तुम कष्ट से कतराते हो वैसे ही संसार के सभी प्राणी कष्ट से घबराते हैं। तुम अपनी आत्मा के समान उन प्राणियों को समझकर उनकी हिंसा मत करो। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि स्थावर के चक्षु आदि इन्द्रियाँ नहीं हैं तथापि कष्ट देने से उन्हें अपार वेदना होती है। अन्धे, बहरे और गूँगे व्यक्ति के अंगोपांग का यदि कोई छेदन-भेदन करता है तो उसे अपार वेदना होती है पर वेदना होने पर भी वह उसे कह नहीं पाता। वही स्थिति स्थावर जीवों की है।[1] जैसे मानव का शरीर जन्म ग्रहण करता है, अभिवृद्धि को प्राप्त होता है, वह सचित्त है। शरीर को काट देने पर भी पुनः घाव भर जाता है। इसी तरह वनस्पति आदि भी है। वह भी वृद्धि को प्राप्त होती है। आहार ग्रहण करती है।[2] अतः वह भी जीव है।[3] अहिंसा धर्म शाश्वत है, ध्रुव है। जितने भी अतीत काल में तीर्थंकर हुए हैं, वर्तमान में हैं और भविष्य में होंगे, वे सभी अहिंसा का ही प्रतिपादन करेंगे। अहिंसा का ही विकास अन्य चार महाव्रतों में हुआ है। अहिंसा का ही अपर नाम 'समता' है; राग-द्वेष का परित्याग है। सामायिक में समता की ही प्रमुखता है। वह अहिंसा का ही रूप है। तीर्थंकर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से बाह्याचार में परिवर्तन करते हैं। पर वह परिवर्तन व्यवहार की दृष्टि से होता है, निश्चय की दृष्टि से नहीं। निश्चय नय की दृष्टि से जैन आचार संहिता में कभी भी कोई परिवर्तन नहीं होता। क्योंकि उसकी मूल आधार भूमि समता व संयम की आराधना/साधना है।

हाँ, इस ऐतिहासिक सत्य-तथ्य को मैं स्वीकार करता हूँ कि श्रमण भगवान महावीर के पश्चात् जैन श्रमणों की आचार परम्परा में कुछ शैथिल्य आया है। बृहत्कल्पचूर्णि[4] के अनुसार आचार-शैथिल्य का सर्वप्रथम सूत्रपात आर्य सुहस्ती के समय हुआ। भयंकर दुष्काल के कारण क्षुधा से छटपटाते हुए अनेक श्रमण साधना के कठोर कंटकाकीर्ण मार्ग से भटक गये। सम्राट् सम्प्रति ने श्रमणों को यथेष्ट भिक्षा प्राप्त हो इस प्रकार का समुचित प्रबन्ध किया। आर्य महागिरि ने जब यह देखा कि दुष्काल में भी श्रमणों को भिक्षा सुगम रीति से उपलब्ध हो रही है तो उन्होंने आर्य सुहस्ती से इसका कारण जानना चाहा। आर्य सुहस्ती अच्छी तरह से

---

१. (क) आचारांगसूत्र १५

(ख) जे ण पस्संति ण सुणंति तेसिं कहं वेदणा उप्पज्जइ? से बेमि। —*आचारांगचूर्णि*, पृ. २३

२. आचारांगसूत्र ४५

३. लक्खणावसिद्धत्थं भण्णंति, इमं वि जाइधम्मं इमं त मणुस्ससरीरं।

—*आचारांगचूर्णि*, पृ. ३४-३५

४. (क) बृहत्कल्पचूर्णि, उद्देशक १ (ख) निशीथचूर्णि, उद्देशक ८

जानते थे कि श्रमणों को जो भिक्षा मिल रही है वह सदोष है तथापि उन्होंने आर्य महागिरि को स्पष्ट उत्तर नहीं दिया जिसके फलस्वरूप आर्य महागिरि ने आर्य सुहस्ती के साथ साम्भोगिक सम्बन्ध विच्छेद कर दिया।

पण्डितप्रवर श्री बेचरदास जी दोशी का अभिमत है कि "तथागत बुद्ध के मध्यम मार्ग का प्रभाव जैन धर्मावलम्बियों पर भी पड़ा। सम्भव है प्रारम्भ में जैन धर्म के प्रचार के लिए श्रमण आचार में छूट ग्रहण करते रहे होंगे। उसके पश्चात् उन्हें अभ्यास हो गया होगा जिससे शिथिलता में अभिवृद्धि होती गई और वही आगे चलकर चैत्यवास के रूप में परिणत हो गई।"[1]

पण्डित नाथूराम जी प्रेमी का भी अभिप्राय है "प्रारम्भ में दोनों ही शाखाओं के साधुओं में आगमोक्त आचारों के पालन का अधिक से अधिक आग्रह था पर ज्यों-ज्यों समय बीतता गया श्रमणों की संख्या में भी अभिवृद्धि होती गई और वह श्रमण समुदाय भिन्न-भिन्न आचार-विचार वाले विभिन्न प्रदेशों में भी फैलता गया। धनियों और राजा-महाराजाओं के द्वारा ज्यों-ज्यों पूजा-प्रतिष्ठा प्राप्त होती गई त्यों-त्यों शिथिलता आती गई और श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में शिथिलाचारी श्रमणों की संख्या में वृद्धि हुई।"[2]

दुर्भिक्ष, लोक-संग्रह की भावना, यन्त्र, मंत्र, तंत्र, शक्ति-प्रयोग प्रभृति अनेक कारण शिथिलता पनपने के रहे हैं। वीर निर्वाण ८८२ अर्थात् विक्रम संवत् ४१२ में चैत्यवास की स्थापना हुई।[3] चैत्यवास की स्थापना होते ही श्वेताम्बर परम्परा का श्रमण समुदाय दो भागों में विभक्त हो गया--एक चैत्यवासी दूसरा सुविहित या संविग्न-पाक्षिक। सम्बोधप्रकरण[4] में आचार्य हरिभद्र ने चैत्यवासियों के शिथिलाचार का विस्तार से वर्णन किया है। 'संघपट्टक' में जिनवल्लभसूरि ने सुविहित मार्ग के सम्बन्ध में चिन्तन किया और संघपट्टक पर तीन सहस्र श्लोक प्रमाण टीका का निर्माण कर उसमें चैत्यवास के स्वरूप का विस्तार से वर्णन किया है। चैत्यवास के विरुद्ध यह अभियान बन्द नहीं हुआ। समय-समय पर संविग्न आचार्य उसके सम्बन्ध में स्वर बुलन्द करते रहे।

विक्रम की सोलहवीं शती में वीर लोकाशाह ने मूर्ति-पूजा एवं श्रमणाचार की शिथिलता के विरोध में आवाज उठाई। उनके द्वारा रचित हुण्डी में शिथिलाचार के

---

१. जैन साहित्य और इतिहास, पृ. ३५१

२. वही, पृ. ३५१

३. वीरात् ८८२ चैत्यस्थितिः। —*धर्मसागरकृत पट्टावली*

४. सम्बोधप्रकरण, गाथा ४६, ४९, ५७, ६१, ६३, ६८, ७६, ८१, १६२, १६३

प्रति विद्रोह के स्पष्ट स्वर मुखरित हुए हैं।[1] जब लोकागच्छ में भी शिथिलता ने प्रवेश किया तब सोलह सौ छियासठ में जीवराज जी म. ने क्रियोद्धार किया।[2]

श्वेताम्बर परम्परा की भाँति दिगम्बर परम्परा में भी आचार-शैथिल्य के विरुद्ध क्रान्ति हुई। चैत्यवासियों के सदृश ही भट्टारकों की भी स्थिति थी। वे उग्र साधना को छोड़कर मठवासी हो गये। एक स्थान पर अवस्थित हो गये थे। वे उद्दिष्ट भोजन करने लगे थे। धातु के कमण्डलु, कपड़े के पादत्राण, सुखासन पर बैठना प्रभृति अनेक प्रवृत्तियाँ पनपने लगी थीं।[3] त्रिवर्णाचार[4], धर्मरसिक[5] ग्रन्थों में उनकी मान्यताओं का स्पष्ट निदर्शन है।

विक्रम की सत्रहवीं शती में पण्डित बनारसीदास जी ने भट्टारक परम्परा का विरोध किया।

जब-जब शिथिलाचार का प्रभाव बढ़ा तब-तब उसके विरोध में आचार-क्रान्ति के स्वर मुखरित हुए। जैन परम्परा में जो भी सम्प्रदाय भेद और प्रभेद हुए हैं, मेरी दृष्टि से, उसमें मुख्य रूप से विचार-भेद कम और आचार-भेद ही प्रमुख रहा है। इसीलिए उसे क्रियोद्धार कहा गया है। आचार-शैथिल्य को जैन आचार्यों ने कभी भी मान्य नहीं किया है। यही कारण कि जैन श्रमणों की आचार संहिता अन्य भारतीय परम्परा की आचार संहिता से अधिक कठोर है और आज भी वह काफी संयम-नियम-तप पर आधारित है।

जैन आचार व्यापक दृष्टिकोण को लिए हुए है। वहाँ केवल पवित्र चरित्र तक ही आचार सीमित नहीं रहा है, उसने केवल कमनीय-कल्पना के अनन्त गगन में विहरण करने को ज्ञान नहीं माना; अपितु वही ज्ञान श्रेष्ठ है, जिसका सम्बन्ध आचार के साथ है। दर्शन जो तत्त्वश्रद्धा पर अवलम्बित है, वह दर्शन भी यदि आचार के साथ सम्बन्धित नहीं है तो दर्शन केवल दर्शन तक ही सीमित रहता है। जब दर्शन आचार के साथ सम्पृक्त होता है तो वह दर्शनाचार के रूप में गौरव को प्राप्त होता है। इसी तरह चारित्र, तप और वीर्य यानी पुरुषार्थ भी आचार से समन्वित होने से वे ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार के रूप में विश्रुत हैं।

---

१. १६९ बोल की हुण्डी। —*शिशुहित शिक्षा, पृ. १५५*

२. उपाध्याय पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ, खण्ड ८, पृ. ८६-८७

३. शतपदी, जैन हितैषी, भाग ७, अंक ९

४. त्रिवर्णाचार ४-८५

५. धर्मरसिक ३३, ५९

जैन श्रमण का आचार केवल तप-प्रधान नहीं है, और न ही केवल भाव-प्रधान है। यद्यपि श्रमण एक कठोर तपस्वी होता है। मन-वचन-काय पर संयम कर वह उसे त्रियोग-संयम की साधना/आराधना करता है। किन्तु तपस्या के साथ-साथ वह ध्यान योगी भी होता है। ध्यान योग की उच्चतम श्रेणी पर आरूढ़ होकर ही वह मोह का क्षय करता हुआ वीतराग का वरण करता है। जैन इतिहास के अनुसार भगवान पार्श्वनाथ एक उच्च कोटि के ध्यान योगी थे। उनके युग में वाममार्ग का बोलबाला था। तंत्र-मंत्र द्वारा सिद्धियाँ प्राप्त कर चमत्कारों का प्रदर्शन करना आम बात थी, परन्तु ध्यान योगी पार्श्वनाथ ने उन सब चमत्कार-प्रदर्शनों को मुनि के लिए वर्जित बताकर वीतराग-साधना पर ही बल दिया। भगवान पार्श्वनाथ के २५० वर्ष बाद भगवान महावीर का प्रादुर्भाव होता है। महावीर का युग तप का युग था। अनेक बाल तपस्वी उस युग में विविध प्रकार के कठोर व उग्र तपश्चरण करते थे और उस तप के प्रभाव से विभिन्न लोकरंजक सिद्धियाँ प्राप्त कर वे अपनी तप-ऋद्धि का प्रदर्शन कर भोलीभाली जनता को लुभाते रहते थे। भगवान महावीर ने तपःसाधना के क्षेत्र में एक क्रान्ति पैदा की। तप-जप ध्यान का समन्वय करते हुए उन्होंने उग्र तपश्चरण के साथ निर्मल निर्विकल्प ध्यान योग की अद्वितीय साधना का मार्ग प्रशस्त किया। तपस्वी श्रमण को ध्यान योग के लिए रात-दिन के आठ प्रहर में चार प्रहर ध्यान करने का विधान स्वयं ही ध्यान योग की महत्ता प्रकट करता है। इस प्रकार जैन श्रमण का आचार तप-संयम-ध्यान की त्रिवेणी के रूप में प्रवाहित होता रहा है।

जैन श्रमण होने के नाते जैन आचार के प्रति स्वाभाविक आकर्षण और बहुमान होना सहज है। किसी भी आचार परम्परा का खण्डन करना मुझे इष्ट नहीं है। मेरा यह स्पष्ट अभिमत है कि आज के युग में खण्डनात्मक नीति उचित नहीं है। साम्प्रदायिक समन्वय के लिए यह अपेक्षित है कि हम तुलनात्मक दृष्टि से और शोध-प्रधान शैली में प्रत्येक विषय पर गहराई से चिन्तन करें। उस विषय के तलछट तक पहुँचने का प्रयास करें जिससे एक-दूसरे में जो बिखराव, अलगाव और तनावपूर्ण स्थिति है, उसे मिटाया जा सकता है और परस्पर स्नेह, सद्भावना की सुरसरिता प्रवाहित की जा सकती है। प्रारम्भ से ही मेरा रुझान इस ओर रहा है। श्रद्धेय सद्गुरुदेव से मुझे यही विरासत मिली है। अन्य ग्रन्थों की भाँति प्रस्तुत ग्रन्थ में भी मैंने यही शैली अपनाई है।

परम श्रद्धेय, अनन्त आस्था के केन्द्र, सद्गुरुवर्य अध्यात्मयोगी उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म. सा. की सतत प्रेरणा मिलती रही है कि मैं साहित्य के क्षेत्र में

कुछ कार्य करूँ। गुरुदेवश्री के हार्दिक आशीर्वाद से ही मैं विविध विधाओं में कुछ लिख सका हूँ। मेरे साहित्य में जो कुछ भी अच्छा है, वह गुरुदेवश्री की कृपा का फल है। उन्हीं की कृपा से मैं साहित्यिक क्षेत्र में आगे बढ़ रहा हूँ।

मेरे साहित्य लेखन में श्रमण संघ के प्रथम आचार्यप्रवर मेरे आराध्य आचार्य श्री आत्माराम जी म. का साहित्य, आगमों पर लिखी उनकी टीकाएँ अतीव सहायक बनी हैं। आचार्यसम्राट् के प्रति मैं किन शब्दों में अपनी कृतज्ञता व्यक्त करूँ? साथ ही आचार्यसम्राट् श्री आनन्द ऋषि जी म. की प्रेरणा भी मुझे स्मरण है। वे सतत प्रेरणा देते रहते थे कि श्रेष्ठ साहित्य का सृजन करो। आज उनकी स्मृतियाँ मन को विभोर कर रही हैं।

ज्ञात व अज्ञात रूप में जिन ग्रन्थ और ग्रन्थकारों की सामग्री का मैंने उपयोग किया है उन सभी का हृदय से आभार मानता हूँ। मुझे पूर्ण आत्म-विश्वास है कि प्रस्तुत ग्रन्थ जैन श्रमणों के आचार–सिद्धान्त व स्वरूप को समझने में परम उपयोगी होगा।

सुज्ञेषु किं बहुना

–आचार्य देवेन्द्र मुनि

प्रस्तावना

जीवन का नियामक शास्त्र : आचार

[भारतीय तथा पाश्चात्य आचार परम्परा का एक विहंगावलोकन]

–विजय मुनि शास्त्री

आचार-मीमांसा

भारतीय दर्शन में आचारशास्त्र दर्शनशास्त्र का ही एक अंग है। प्रमाणशास्त्र, तत्त्वशास्त्र और आचारशास्त्र–भारतीय दर्शन में ये तीनों साथ-साथ ही चलते हैं। भारतीय दर्शन की प्रत्येक शाखा ने अपना प्रमाणशास्त्र, अपना तत्त्वशास्त्र और अपना आचारशास्त्र बनाया है। चार्वाक जैसे नास्तिक दर्शन में भी ये तीनों अंग परिपूर्ण रूप में हैं। फिर आस्तिक दर्शनों ने तो इन तीनों पर विशेष बल दिया ही है। आचार्य शंकर जैसे एकान्त ज्ञानवादी एवं अद्वैतवादी दर्शन में भी आचार को स्थान मिला है। अतः भारतीय दर्शनों में प्रत्येक दर्शन में ज्ञान, तत्त्व और आचार पर अपनी-अपनी दृष्टि से विचार किया है। पाश्चात्य दर्शन में ज्ञान-मीमांसा, तत्त्व-मीमांसा और आचार-मीमांसा का समन्वित रूप तो उपलब्ध नहीं होता, किन्तु इन तीनों अंगों पर भिन्न रूप में पर्याप्त लिखा गया है। अनुभववादियों ने ज्ञान पर ही विशेष बल दिया, जबकि तत्त्ववादियों ने तत्त्व की व्याख्या पर ही अपना बल लगाया। आचारशास्त्र के सम्बन्ध में स्वतन्त्र रूप से अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। भारतीय दर्शनों में जिसे आचारशास्त्र कहा जाता है, पाश्चात्य दर्शन में उसे नीतिशास्त्र कहा गया है। नीतिशास्त्र के सम्बन्ध में यूनानी दार्शनिकों ने, यूरोपीय दार्शनिकों ने और अमरीकी दार्शनिकों ने अपने दर्शन-ग्रन्थों के साथ नहीं, स्वतन्त्र रूप से ही इस विषय पर ग्रन्थ लिखे हैं।

समाज और आचार

'आचार' शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता रहा है; जैसे–नीति, धर्म, कर्त्तव्य और नैतिकता। 'धर्म' एक व्यापक शब्द है और 'आचार' शब्द भी उतना ही अधिक व्यापक है। मानव के कर्त्तव्य के रूप में जिन बातों का अथवा जिन नियमों का होना आवश्यक है, वे सब नियम आचार और धर्म में समाहित हो जाते हैं।

जिस युग में मानव जंगलों में रहता था, कुटुम्ब, परिवार और समाज की रचना नहीं हुई थी, उस समय धर्म और आचार के नियमों की भी आवश्यकता नहीं थी। जैसे-जैसे मानव ने विकास किया, वैसे-वैसे उसे सभ्य और सुसंस्कृत बनने के लिए नियमों की आवश्यकता पड़ी। अकेला व्यक्ति जिस पद्धति से रहता है; परिवार, समाज और राष्ट्र में रहने की पद्धति उससे सर्वथा भिन्न प्रकार की होती है। जब मानव कुटुम्ब, परिवार और समाज रूप में बदला, तभी से जीवन को व्यवस्थित बनाने के लिए कुछ नियमों की आवश्यकता हुई। जब कर्त्तव्य के साथ अधिकार की भावना ने बल पकड़ा, तब अपने अधिकारों के संरक्षण के लिए और दूसरों के अधिकारों में बाधा न डालने के लिए मर्यादा की आवश्यकता पड़ी। यह मर्यादा और यह सीमा ही आगे चलकर नियम रूप में बदली, फिर आचार रूप में और अन्त में धर्म में बदली। समाज के निर्माण के साथ ही आचार और धर्म का भी आविर्भाव सहज ही हो जाता है। जिस समाज के आचार और धर्म के नियम जितने अधिक व्यापक और उदार होते हैं, वह समाज उतना ही अधिक समुन्नत समझा जाता है। आचार और धर्म के बाद ही दर्शन और तत्त्व का विकास होता है। समाज को स्थिर, सम्पन्न और समृद्ध बनाने के लिए निश्चय ही आचार और धर्म की जीवन विकास के लिए नितान्त आवश्यकता है। इस विश्व में एक भी समाज इस प्रकार का नहीं होगा, जिसमें आचार और धर्म के नियमों का विधान नहीं होगा।

भारतीय आचार

जैन परम्परा के विश्वास के अनुसार उसके धर्म और आचार के नियमों का निर्माण प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने किया। उसी परम्परा का कुछ परिवर्तनों के साथ अथवा अपने युग की भावना अनुसार भगवान नेमिनाथ ने और महाश्रमण भगवान महावीर ने अपने-अपने तीर्थ में आचार और धर्म के नियमों का विधान किया था। तथागत बुद्ध ने बौद्ध परम्परा के अनुसार नियमों की रचना की। वैदिक परम्परा में मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम और कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने भी उस युग की जनता के लिए नैतिक नियमों का विधान किया। भारतीय आचार और धर्म को सुदृढ़ बनाने वाले मूल रूप में ये ही महापुरुष हैं। फिर श्रुति, स्मृति और कल्प आदि ग्रन्थों में तथा पिटक और आगम आदि वाङ्मय में उन्हीं का पल्लवन, विस्तार, संकोच और विकास होता रहा है। नियमहीन अथवा आचारहीन मानव को भारतीय साहित्य में पशु के समान माना गया है। अतः जीवन विकास के लिए आचार आवश्यक है।

पाश्चात्य आचार

पाश्चात्य आचार और धर्म की नींव डालने वालों में ईसा, मूसा और मोहम्मद मुख्य हैं। बाइबिल और कुरान में दर्शन और तत्त्व का प्रतिपादन नहीं किया गया। बल्कि मानव-जीवन के विकास के लिए जिन नियमों की आवश्यकता थी, उन्हीं का प्रतिपादन किया गया है। ईसा ने चार बातों का उपदेश दिया था–प्रेम, सेवा, दान और उदारता। मोहम्मद ने भी कहा था–तुम सबसे प्रेम करो, आपस में प्रेम से रहो, रोजा और नमाज भी नियमित रूप से करो। पाश्चात्य विचारकों पर बाइबिल और कुरान के विचारों का ही अधिक प्रभाव पड़ा है।

यूनानी आचार

यूनान के दार्शनिकों में प्रसिद्ध विचारक सुकरात था। उसका शिष्य प्लेटो था और प्लेटो का शिष्य अरस्तू था। तीनों ने ही नीति और आचार पर विशेष बल दिया था। सुकरात के विचार में नीति अथवा धर्म का स्थान सर्वोच्च था। भद्र क्या है और अभद्र क्या है? इसकी नींव सुकरात ने बुद्धि पर रखी। सुकरात ने कहा कि जो भद्र है, वह सभी के लिए भद्र है और जो अभद्र है वह सभी के लिए अभद्र है। सुकरात ने सबसे बड़ी बात यह कही थी कि सदाचार ही ज्ञान है। इस प्रकार सदाचार को ज्ञान कहकर सुकरात ने धर्म का गौरव बढ़ाया था। सुकरात का कहना था कि जिस व्यक्ति को सदाचार का ज्ञान न हो, वह सदाचार का पालन नहीं कर सकता। न्याय वही कर सकता है जिसे न्याय का ज्ञान हो। सुकरात ने यह भी कहा था कि नियम मनुष्य के लिए बनते हैं, मनुष्य नियम के लिए नहीं। सुकरात ने सत्य, न्याय और संयम के लिए खूब कहा था, और प्रचार भी खूब किया था। प्लेटो ने नीति के साथ राजनीति को भी जोड़ दिया और कहा कि समाज को समृद्ध और शक्तिशाली बनाने के लिए जिस प्रकार नैतिकता की आवश्यकता है, उसी प्रकार राजनीति की भी आवश्यकता है। प्लेटो के विचारों के अनुसार नीति और राजनीति दोनों का प्रयोजन मानव-कल्याण है। नीति बताती है कि व्यक्ति भद्र की उत्पत्ति में अपने प्रयत्न से क्या कर सकता है? राजनीति बताती है कि मनुष्यों का सामूहिक प्रयत्न क्या कर सकता है? न्याय की परिभाषा करते हुए प्लेटो ने कहा था–न्याय दूसरों के साथ उचित और निष्कपट व्यवहार का नाम है। जो कुछ अपना है, उसे प्राप्त करना, यही न्याय है। सामाजिक जीवन का सार प्लेटो के विचार में व्यवस्था का स्थापन है। समाज नियम स्थापित करता है और माँग करता है कि नागरिक उन नियमों पर चलें। प्लेटो कहा करता था कि अच्छा व्यक्ति अच्छे राष्ट्र का अच्छा नागरिक है। इस प्रकार प्लेटो ने सदाचार, नीति और

आचार के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा था। प्लेटो के समान अरस्तू का भी यही विचार था कि समाज और राष्ट्र को समृद्ध और शक्तिशाली बनाने के लिए नीति और राजनीति दोनों की आवश्यकता है। अरस्तू का कहना है कि शक्ति और सदाचार में मित्रता नहीं हो सकती। व्यवहार की दृष्टि से अरस्तू किसी एक के स्थान में कुछ भले पुरुषों के हाथों में शक्ति देने के पक्ष में था। उसका यह भी विश्वास था कि राष्ट्र में किसी वर्ग का बहुत धनवान होना अथवा बहुत दरिद्र होना राज्य के लिए हानिकारक होता है। मध्यम वर्ग राष्ट्र में रीढ़ की हड्डी के समान होता है। अरस्तू कहता था–प्रेम स्त्री और पुरुष को दो से एक बनाता है, प्रेम परिवार को जन्म देता है, सन्तान इसे स्थायी बनाती है। अरस्तू ने अपने नीतिशास्त्र में कहा है कि धन का व्यय करने में कंजूस एक सीमा पर जाता है और अपव्ययी दूसरी सीमा पर जा पहुँचता है। उदार पुरुष मध्यम मार्ग चुनता है। दूसरों को धन की सहायता देना सुगम है, परन्तु उचित मनुष्य को, उचित समय पर, उचित मात्रा में और उचित ढंग से सहायता देना बहुत कठिन है। अरस्तू ज्ञान के साथ क्रिया को भी महत्त्व देता है। उसके विचार में अभ्यास का फल सदाचार है। जैसे गाते-गाते ही मनुष्य गायक बन जाता है, वैसे ही अच्छा आचार भले कर्मों के लगातार करते रहने से ही बनता है। हम देखते हैं कि यूनानी दार्शनिकों के विचार, जो धर्म और नीति के सम्बन्ध में उन्होंने लिखे हैं, उनमें उन सभी बातों का समावेश हो जाता है जो जीवन को सुन्दर और मधुर बनाने के लिए आवश्यक हैं। धर्म के सभी अंग इन विचारों में आ जाते हैं।

स्पिनोजा की नीति

यूरोपीयन दार्शनिकों में स्पिनोजा ने नीति और राजनीति दोनों के सम्बन्ध में अपने विचार स्पष्ट रूप में रखे हैं। स्पिनोजा का सिद्धान्त यह था कि संसार में जो कुछ हो रहा है, नियमबद्ध हो रहा है, इससे अधिक कुछ हो ही नहीं सकता था। स्पिनोजा यह भी कहता है कि आत्म-रक्षा से बढ़कर अन्य कोई धर्म नहीं। स्पिनोजा ने कहा था, जो पुरुष समस्त प्राणियों को आत्मा में और आत्मा को सर्व प्राणियों में देखता है, वह किसी से घृणा नहीं करता, स्पिनोजा का यह कथन धर्म और सदाचार का ऊँचे से ऊँचा रूप मानव-समाज के समक्ष प्रस्तुत करता है। राजनीति के सम्बन्ध में स्पिनोजा का विचार था कि वह मानव उद्वेगों का खेल है। वह कहता है कि शासक का मुख्य काम शासन करना है। प्रत्येक मनुष्य अपने आपको संरक्षित रखने के लिए शक्ति-सम्पन्न होना चाहता है। मनुष्यों के लिए सबसे बड़ी हानि समाज और राष्ट्र में अव्यवस्था है। जो शासन रक्षा और स्वाधीनता दे सकता

है, उसकी शक्ति कायम रखने के लिए व्यक्ति को हर प्रकार के बलिदान देने के लिए तैयार रहना चाहिए।

अमरीकी दार्शनिक

अमरीकी दार्शनिकों ने भी नीति, सदाचार और धर्म के रूप में बहुत कुछ लिखा है। हम पूछते हैं–नैतिक आदर्श क्या है? अमरीकी दार्शनिक ड्यूड पूछता है–किस विषय में और किस स्थिति के विषय में प्रश्न करते हो? समस्त मनुष्य एक स्थिति में नहीं और कोई एक मनुष्य भी एक ही स्थिति में नहीं रहता। प्रत्येक का कर्त्तव्य वर्तमान बाधा को दूर करके आगे बढ़ना है। यदि मेरे लिए इस समय शारीरिक दुर्बलता बाधा है, तो मेरा कर्त्तव्य स्वस्थ और बलवान होना है। यदि मेरे पड़ौसी के लिए पारिवारिक कलह विशेष बाधा है, तो उसका कर्त्तव्य उस कलह को दूर करना है। यह बात विशेष महत्त्व की नहीं है कि हम कहाँ खड़े हैं? महत्त्व की बात यह है कि जहाँ कहीं हम हैं, वहाँ से आगे बढ़ने का प्रयत्न करें। अच्छा व्यक्ति वह है जो और अधिक अच्छा बनने के प्रयत्न में लगा रहता है।

इस प्रकार पाश्चात्य दर्शन में आचार, धर्म और नैतिकता के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा गया है। सदाचारमय जीवन बनाना ही धर्म का मुख्य काम है।

मनोविज्ञान और आचार

सामाजिक आदर्शों की प्रतिष्ठा समाज के आचरण और व्यवहार पर निर्भर रहती है। सामाजिक आचरण की व्याख्या दो परस्पर विरोधी सिद्धान्तों के आधार पर की जाती है–पहला बुद्धिवाद और दूसरा मूल प्रवृत्तिवाद। बुद्धिवाद के अनुसार मनुष्य का आचरण बुद्धि के द्वारा नियन्त्रित होता है। किसी कार्य को करने से पूर्व मनुष्य साध्य एवं साधन आदि पर पर्याप्त विचार कर लेता है। फिर विवेकपूर्वक उस कार्य में लग जाता है। दूसरे सिद्धान्त के अनुसार सामाजिक आचरण में इस प्रकार की स्थिति का ध्यान रखना आवश्यक नहीं है। व्यक्ति के अनुभव और विचार व्यक्ति तक ही सीमित रहते हैं। व्यापक समुदाय के आचरण का नियमन मनुष्य की स्वाभाविक मूल प्रवृत्तियों के द्वारा होता है। डॉ. मैक्डूगल का कहना है कि सामाजिक आचार का आधार प्रेम अथवा कोमलता का संवेग है। इस वैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार जब तक व्यक्ति में कोमलता का संवेग और प्रेम न हो तब तक उसका आचरण सुन्दर नहीं बन सकता। जिन्सबर्ग की आलोचना का सार यह है कि सामाजिक आचरण के लिए मनुष्य को कुछ उदार और श्रद्धाशील भी बनना पड़ता है। सामाजिक आचार की व्याख्या कुछ विद्वानों ने कतिपय इस प्रकार की प्रवृत्तियों पर की है जिनको यथार्थ में प्रवृत्ति की संज्ञा नहीं दी जा सकती किन्तु वे

प्रवृत्ति के समान प्रतीत होती हैं। इसका अर्थ यह है कि आचरण की यह व्याख्या वाह्य संकेत के अनुकरण के सिद्धान्त से सम्बन्ध रखती है। आचार अथवा धर्म सामाजिक व्यवस्था के लिए उतना ही आवश्यक है जितना कि राजनीति।

वेजहॉट (Bagehot) का मत

वेजहॉट के अनुसार आदिम मानव-समाज के आचार एवं व्यवहार, रीति और नीति तथा धर्म और संस्कृति को प्रेरणा देने वाला तत्त्व अनुकरण है। प्रायः यह देखा जाता है कि एक व्यक्ति दूसरे का अनुकरण करता है। घर में बालक अपने गुरुजनों का अनुकरण करते हैं। शिष्य गुरु का अनुकरण करता है। अनुयायी अपने नेता का अनुकरण करते हैं। कुछ मनोविज्ञान-पण्डितों ने सामाजिक मनुष्य की समस्त क्रिया का मूल आधार अनुकरण के इस सामाजिक तथ्य को माना है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री वेजहॉट ने सन् १८७८ में अपने ग्रन्थ Physics & Politics में इस सिद्धान्त की ओर सर्वप्रथम संकेत किया था और फ्रांसीसी समाजशास्त्री टार्ड ने १८८५ में इसको अधिक विकसित रूप प्रदान किया। अनुकरण मानव-मन में रहने वाली एक वृत्ति है और इसी के अनुसार आचार बनता है। प्रत्येक व्यक्ति जो कुछ दृष्टिगोचर होता है, वह अपने इसी अनुकरण गुण का विकास है। वेजहॉट के मत के अनुसार इस प्रकार का अनुकरण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आज भी व्याप्त है। वेश एवं भूषा में, रहन-सहन में और यहाँ तक कि धर्म और राजनीति में भी अनुकरण का प्रभाव है। जनता किसी व्यक्ति की किसी वस्तु में आकर्षण अनुभव करती है और यथाशक्ति उसके अनुकरण का प्रयत्न करती है। वेजहॉट का मत है कि अनुकरण की क्रिया अज्ञात रूप में होती है। इसके लिए व्यक्ति को न इच्छा करनी पड़ती है और न चेष्टा। कुछ भी हो और किसी भी प्रकार हो परन्तु यह सत्य है कि जीवन-यात्रा में अनुकरण का बड़ा महत्त्व है। मनोविज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार यह अनुकरण वृत्ति ही हमारे आचार की आधारशिला बनती है।

टार्ड का अनुकरण का सिद्धान्त सत्य के सम्पूर्ण दर्शन का एक अंग है। समस्त सामाजिक समस्याओं के लिए इसका उपयोग करके उन्होंने अद्‌भुत कल्पना-शक्ति का परिचय दिया था। उनके अनुसार सामाजिक प्रक्रिया समूह में स्थित व्यक्तियों की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया का परिणाम है। सबसे बड़ी बात वाह्य संकेत या निर्देश की भी है। मनोवैज्ञानिकों ने वाह्य संकेतों की भी प्रक्रिया का वैज्ञानिक विश्लेषण किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि वाह्य संकेतों का सामाजिक आचरण में स्थान है। जन-जीवन में शब्दों के रूप में वाह्य संकेतों का क्या प्रभाव पड़ता है, यह विभिन्न

राजनैतिक दलों के नारों से प्रमाणित हो जाता है। जैसे-धन और धरती बंट के रहेंगे, कमाने वाला खायेगा और लूटने वाला जायेगा-ये समाजवादी नारे हैं। कम्युनिस्टों का नारा इस प्रकार का होता है-"दुनियाँ के मजदूरो एक हो जाओ, तुम्हें कुछ खोना नहीं है, अपने बन्धनों से ही मुक्त होना है।" इस प्रकार के नारे अथवा शब्दावली मनुष्य के मन पर निश्चित रूप से प्रभाव डालती है। अतः बाह्य संकेत और निर्देशन का हमारे आचार में एक विशेष महत्त्व है।

सामाजिक नियन्त्रण में धर्म का स्थान

युग के प्रारम्भ से ही धर्म ने मानव के वैयक्तिक एवं सामाजिक आचार का किसी न किसी रूप में नियन्त्रण किया है। जिन सिद्धान्तों का पालन अधिकांश लोग अपने दैनिक जीवन में करते हैं, उनका विधान उसके द्वारा होता है, जिसे धर्म कहते हैं। प्रत्येक धर्म कुछ इस प्रकार के विश्वासों को उपस्थित करता है, जो हमारी भावना एवं आस्था के नियम बन जाते हैं। ये विश्वास हमारी आस्था का नियमन करते हैं और विविध व्यवहारों को जन्म देते हैं। इन्हीं विश्वासों के आधार पर रीति एवं नीति तथा आचारों का विकास होता है, जिन्हें धर्म का समर्थन प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार से धर्म का प्रयोजन न केवल मनुष्य को ईश्वर से बाँधना रह जाता है, बल्कि व्यक्ति और समाज का धारण भी हो जाता है। सामाजिक व्यवस्था संस्था, वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन के लिए सिद्धान्तों का विधान प्रायः प्रत्येक धर्म-हिन्दू, जैन, बौद्ध, ईसाई और इस्लाम के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। जहाँ तक धर्म और आचार का सम्बन्ध है, प्रत्येक मनुष्य के जीवन में इसका एक महत्त्व है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। पर आचार और धर्म एक वस्तु है और सम्प्रदाय एक भिन्न वस्तु है। सम्प्रदाय और धर्म को एक मानने के भयंकर परिणामों से प्रत्येक व्यक्ति भलीभाँति परिचित है किन्तु धर्म की सत्ता या महत्ता को ऐतिहासिक पृष्टभूमि में अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वस्तुतः मनुष्य को मनुष्य बनाने की क्षमता सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्यादि धर्म में ही है। परन्तु इस समय धर्म का वह उज्ज्वल रूप दृष्टिगोचर नहीं होता। आज तो मनुष्य अपने धर्म की अपेक्षा अपने सम्प्रदाय को अधिक महत्त्व देता है। यही कारण है कि धर्म के नाम पर अनेक संघ के नाम पर अनेक संघर्ष आज खड़े होते जा रहे हैं।

जीवन और आचार

मनुष्य के विकास के लिए धर्म एक संजीवनी शक्ति है, इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। किन्तु धर्म की परिभाषा एवं व्याख्या करना उतना सरल व सहज नहीं है, फिर भी कुछ नियम इस प्रकार के हैं जिनको धर्म की संज्ञा प्रदान

की जा सकती है। जैन परम्परा में पंच महाव्रत, पंच अणुव्रत, तीन गुणव्रत एवं चार शिक्षाव्रत आदि आचार के वे पवित्र विधान हैं, जिनके पालन से मनुष्य का जीवन पावन व पवित्र बन सकता है। वैदिक परम्परा में पतंजलि के योगसूत्रों में पाँच यमों का वर्णन आता है। बौद्धों के यहाँ पर पंचशील का वर्णन आता है। इस प्रकार भारतीय परम्परा में महाव्रत, यम और शील धर्म के प्रतीक माने जाते हैं और इनमें उन समस्त नियमों का समावेश हो जाता है, जो मानव-जीवन के विकास एवं उत्थान के लिए आवश्यक हैं। यद्यपि आज पाश्चात्य जगत् में राजनीति, अर्थनीति और विज्ञान से धर्म अभिभूत हो चुका है, उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व वहाँ विलुप्त हो चुका है अथवा अत्यन्त क्षीण अवस्था में चल रहा है, फिर भी यह कहा जा सकता है कि ईसा, मूसा और मोहम्मद ने जो कुछ कहा था, वह मानव-जीवन के विकास के लिए उपयोगी था। धर्म, दर्शन और तत्त्व–इन तीनों की भी मानव-जीवन के विकास के लिए नितान्त आवश्यकता है और भविष्य में भी रहेगी। जो कुछ व्यक्ति के लिए श्रेयष्कर हो सकता है, वही समाज के लिए भी श्रेयष्कर होगा। इस प्रकार व्यक्ति और समाज दोनों के आचार एवं व्यवहार का एक-दूसरे पर प्रभाव पड़ता है।

पाश्चात्य आचारशास्त्र

आचारशास्त्र और अन्य विज्ञान

संसार के सभी पदार्थ एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। अतः भिन्न विज्ञान भी, जिनमें उन विषयों का अध्ययन होता है, एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं, पर कुछ विज्ञान ऐसे हैं, जिनमें बहुत ही घनिष्टता रहती है और कुछ ऐसे भी होते हैं, जिनमें वैसी घनिष्टता नहीं रहती। यों तो आचारशास्त्र अर्थशास्त्र आदि से सम्बन्धित है, पर इसकी घनिष्टता मनोविज्ञान, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र से अधिक है।

आचारशास्त्र और मनोविज्ञान (PSYCHOLOGY)

आचारशास्त्र का सम्बन्ध आचार की उचितता और अनुचितता से है। यह मानव-आचरण के आदर्श की मीमांसा करता है। कौन-से आचरण को अच्छा या बुरा कहा जा सकता है, यही समस्या है आचारशास्त्र की। आचरण का स्वरूप जान लेने पर ही उसके आदर्श की मीमांसा हम कर सकते हैं। मानव-आचरण की क्या विशेषताएँ हैं, यह जानकर ही उसका आदर्श निर्धारित किया जा सकता है। मानव-आचरण का विश्लेषण, उसका स्वरूप और स्रोत आदि का अध्ययन

मनोविज्ञान में होता है। अतः आचारशास्त्र और मनोविज्ञान में घनिष्ट सम्बन्ध है। वास्तव में आचारशास्त्र का मनोवैज्ञानिक आधार जानना आवश्यक है। मानव-आचरण का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किये बिना उसके आदर्शों की मीमांसा हम नहीं कर सकते। सिजविक ने कहा है कि "प्रायः सभी नैतिक विचारों में मनोवैज्ञानिक तथ्य वर्तमान हैं।" किसी भी नैतिक मत का पालन क्यों न किया जाये अर्थात् मानव-आचरण का कोई भी आदर्श क्यों न माना जाये। मानव-जीवन के लक्ष्य के वास्तविक स्वरूप को जाने बिना मनुष्य के मानसिक स्वरूप को जानना सम्भव नहीं है। पर आचारशास्त्र और मनोविज्ञान में ऐसी घनिष्टता रहने पर भी दोनों के क्षेत्र और दृष्टिकोण में अन्तर है।

मानसिक क्रियाओं के तीन पहलू हैं–ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक। मनोविज्ञान सभी का अध्ययन करता है। आचारशास्त्र का सम्बन्ध केवल ऐच्छिक क्रियाओं से ही है अतः इस दृष्टि से मनोविज्ञान का क्षेत्र आचारशास्त्र के क्षेत्र से अधिक व्यापक है।

मनोविज्ञान में ऐच्छिक क्रियाओं का विश्लेषण तथा उसके स्वरूप का अध्ययन होता है। आचारशास्त्र का लक्ष्य है–आचरण के आदर्श का ज्ञान। अतः जहाँ मनोविज्ञान एक यथार्थ विज्ञान है, वहाँ आचारशास्त्र एक आदर्श निर्देशक विज्ञान है। मनोविज्ञान का सम्बन्ध 'है' से है और आचारशास्त्र का 'चाहिए' से।

मनोविज्ञान का दृष्टिकोण वस्तुनिष्ठ और आचारशास्त्र का आत्मनिष्ठ माना जाता है। मनोविज्ञान मानसिक तथ्यों का वस्तुओं की भाँति अध्ययन करता है। आचारशास्त्र व्यक्तियों की आन्तरिक मानसिक अवस्थाओं और व्यक्तिगत अनुभूतियों से सम्बन्धित रहता है।

आचारशास्त्र में मनोवैज्ञानिक पद्धति से काम लिया जाता है। परन्तु उसकी पूर्ति दार्शनिक पद्धति से होती है। इसमें मनुष्य 'क्या करता है' यह जानकर उसे 'क्या करना चाहिए' की समीक्षा होती है।

आचारशास्त्र और समाजशास्त्र (SOCIOLOGY)

समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है। इसमें समाज के स्वरूप, नियम तथा विकास का अध्ययन होता है। विभिन्न सामाजिक वर्गों का निर्माण, भिन्न संस्थाएँ, रीति-रिवाज आदि का प्रारम्भ तथा विकास कैसे हुआ यही जानना समाजशास्त्र का लक्ष्य है। आदिकाल से वर्तमान रूप में मनुष्य समाज का कैसे विकास या परिवर्तन हुआ, समाजशास्त्र में इसी का अध्ययन किया जाता है। आचारशास्त्र का सम्बन्ध आचरण से है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। व्यक्ति समाज का अंग है। मार्टिन्यु

ने कहा है कि "समाजहीन मनुष्य नाम का ही मनुष्य है। अतः मानव-आचरण का अध्ययन बिना उसके सामाजिक जीवन के अध्ययन से सम्भव नहीं है।" व्यक्ति का सुख समाज के सुख से ही सम्बन्धित है। वास्तव में बिना समाज के मनुष्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जिसे मनुष्य का सद्गुण या दुर्गुण कहा जाता है, वह तो मनुष्य का दूसरे के साथ कैसा व्यवहार होता है, इसी पर निर्भर है। अतः आचारशास्त्र और समाजशास्त्र में घनिष्ट सम्बन्ध है।

मानव-आचरण का क्या आदर्श होना चाहिए यह व्यक्ति और समाज के वास्तविक सम्बन्ध को जानकर ही विचारा जा सकता है। समाज और व्यक्ति में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। अतः व्यक्ति के सुख का अर्थ है–सामाजिक सुख और सामाजिक सुख का अर्थ है–व्यक्ति का सुख। व्यक्ति और समाज अभिन्न हैं। मानव का चरम लक्ष्य या चरम शुभ सामाजिक शुभ है।

आचारशास्त्र वास्तव में समाजशास्त्र पर आश्रित है। सामाजिक संस्थाओं का इतिहास, रीति-रिवाजों का विकास तथा नैतिक नियमों के विकास का इतिहास समाजशास्त्र में मिलता है। इन्हीं के आधार पर हम मानव-आचरण के आदर्श का विचार करते हैं। यथार्थ का ज्ञान समाजशास्त्र से होता है और आदर्श का आचारशास्त्र से। इसलिए समाजशास्त्र आचारशास्त्र का आधार है। पर वास्तव में समाजशास्त्र स्वयं आचारशास्त्र पर आश्रित है। समाज के नियमों और उसके इतिहास को जानकर ही उसकी प्रगति या पतन का ज्ञान नहीं होता। समाज के उत्थान या पतन का मूल्यांकन किसी मापदण्ड से ही सम्भव है। यह मापदण्ड आचारशास्त्र से ही मिलता है। अतः समाजशास्त्र में सामाजिक विकास या परिवर्तनों का मूल्यांकन आचारशास्त्र के मापदण्डों के द्वारा होता है।

आचारशास्त्र और समाजशास्त्र की घनिष्टता के कारण कुछ विचारकों (स्पेंसर, स्टीफन आदि) ने आचारशास्त्र को समाजशास्त्र की एक शाखा माना है। समाजशास्त्र में नैतिक आदर्शों के विकास का अध्ययन होता है, इसीलिए वे ऐसा विचारते हैं। पर आचारशास्त्र में मुख्यतः नैतिक आदर्शों के विकास का अध्ययन नहीं होता, बल्कि उसके स्वरूप की मीमांसा होती है। इसके अतिरिक्त दोनों विज्ञानों में अन्तर भी है।

आचारशास्त्र मानव-जीवन के आदर्श से सम्बन्धित है। पर समाजशास्त्र मानव-समाज के इतिहास तथा विकास से।

आचारशास्त्र आदर्श-निर्देशक विज्ञान है, पर समाजशास्त्र यथार्थ विज्ञान है। किसी समाज या सामाजिक संस्था का विकास कैसे हुआ, इसके क्या नियम हैं, ये

प्रश्न समाजशास्त्र के हैं। व्यक्ति या समाज का क्या आदर्श होना चाहिए, ये प्रश्न आचारशास्त्र के हैं। अतः समाजशास्त्र वर्णनात्मक है, आचारशास्त्र आदर्श-निर्देशक।

आचारशास्त्र व्यावहारिक विज्ञान है। इसका सम्बन्ध मनुष्य के दैनिक व्यवहारों से है। यह आचरण कैसा होना चाहिए, इसका ज्ञान देता है। समाजशास्त्र सैद्धान्तिक है। इसमें समाज का सैद्धान्तिक अध्ययन होता है।

समाजशास्त्र में मनुष्य के सामूहिक रूप का अध्ययन होता है। आचारशास्त्र में सामूहिक तथा व्यक्तिगत दोनों रूपों का।

समाजशास्त्र में मानसिक तथ्यों का वस्तुनिष्ठ अध्ययन किया जाता है, जैसे-रीति-रिवाजों का, संस्थाओं का। आचारशास्त्र में आत्मनिष्ठ मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन होता है, जैसे-इच्छा, प्रयोजन आदि का।

आचारशास्त्र और राजनीतिशास्त्र (POLITICS)

राजनीतिशास्त्र वह विज्ञान है जिसमें राज्य और शासन सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन होता है। किस प्रकार का शासन हो कि सम्पूर्ण मानव-जाति सुख और शान्ति से रहे, यही इसकी समस्या है। कैसा विधान या नियम हो जिससे मानव वर्ग में शान्ति रहे और उसका उत्थान हो, यही प्रश्न है राजनीतिशास्त्र का, इसलिए यह आदर्श-निर्देशक है।

आचारशास्त्र का सम्बन्ध भी आचरण के आदर्श से है। इसलिए दोनों विज्ञान आदर्श-निर्देशक हैं। दोनों विज्ञानों का सम्बन्ध मनुष्य के दैनिक जीवन से है। इसलिए दोनों व्यावहारिक हैं।

राजनीतिशास्त्र का आधार आचारशास्त्र ही है। किसी भी विधान को न्यायसंगत होने के लिए नैतिक होना आवश्यक है। राज्य के विधान नैतिक सिद्धान्तों के अनुकूल यदि नहीं रहते तो उनका फल खराब होता है। कोई राज्य अनैतिक नहीं हो सकता। नीति और राज्य के विधान में, आचारशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में घनिष्ट सम्बन्ध है। दोनों शास्त्रों में ऐसी घनिष्टता के कारण कुछ दार्शनिकों ने राजनीतिशास्त्र को आचारशास्त्र का अंग माना है (प्लेटो और अरस्तू)। उन्होंने नैतिक नियमों से ही राज्य शासन के विधान का प्रतिपादन किया है। पर कुछ विचारकों ने राजनीतिशास्त्र को आचारशास्त्र से बिलकुल भिन्न माना है (माइकावेली)। उनके अनुसार राज्य नैतिक नियमों से बँधा नहीं है। शासन के विधान अवसर के अनुसार बनते हैं। यदि किसी राज्य का लक्ष्य उच्च है, तो उसे किसी भी साधन द्वारा प्राप्त करना उचित होता है। झूठ, धोखा इत्यादि जो नैतिक

दृष्टि से असंगत हैं, अवसर के अनुसार राजनीतिक दृष्टि से संगत भी हो सकते हैं। कुछ विचारकों ने आचारशास्त्र को राजनीतिशास्त्र का अंग माना है। वे राज्य के नियम को ही नैतिक नियम बतलाते हैं। इनमें हॉब्स और बेन प्रमुख हैं। उपर्युक्त विचार एकांगी हैं। किसी शासन क्रम से यदि नैतिकता को हटा दें तो उसका प्रभाव मनुष्य पर नहीं पड़ता। जो राज्य नैतिक दृष्टि से गिरा हुआ रहता है, उसकी सत्ता अधिक दिनों तक नहीं टिकी रहती, एक न एक दिन उसका लोप हो ही जाता है। नैतिक शक्ति ही सबसे बड़ी शक्ति है। इसलिए राजनीति का आधार आधारशास्त्र ही है। पर इसका यह भी अर्थ नहीं कि दोनों एक हैं। उनमें भेद भी हैं।

राजनीतिशास्त्र का सम्बन्ध अधिकतर क्रिया-कलापों के बाह्य रूप से है। मनुष्य के कर्म ऐसे हों कि उनका फल सुखकर हो। आचारशास्त्र का सम्बन्ध अधिकतर मनुष्य की इच्छा, अभिलाषा, आकांक्षा तथा लक्ष्य से है। मनुष्य की अभिलाषा तथा आकांक्षा उच्च होनी चाहिए। राजनीतिक विधान के अनुसार किसी को कष्ट देना एक अपराध है, पर आचारशास्त्र के अनुसार किसी को कष्ट देने का विचार भी अपराध है। यद्यपि राजनीतिशास्त्र मनुष्य के आन्तरिक पहलू से भी सम्बन्धित है, पर बाह्य रूप ही प्रधान विचारे जाते हैं।

राजनीतिशास्त्र का उद्देश्य है—अधिकांश मनुष्यों को सुख देना। इसका सम्बन्ध समुदाय से है और आचारशास्त्र का व्यक्ति से। व्यक्ति का सुख ही इसका लक्ष्य है। इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति और समुदाय विरोधक हैं, वास्तव में दोनों पूरक हैं। हर राजनीतिशास्त्र में सामुदायिक पहलू का और आचारशास्त्र में वैयक्तिक पहलू का अधिक विचार किया जाता है। राजनीति समुदाय के सम्मिलित व्यवहार को देखती है, आचारशास्त्र मनुष्य की व्यक्तिगत क्रियाओं को।

दोनों के दृष्टिकोणों में भी भेद हैं। किसी समुदाय के लिए कौन-सा कार्य लाभदायक होगा यह बताना राजनीतिशास्त्र का लक्ष्य है। आचारशास्त्र में बाह्य लाभ का प्रश्न नहीं उठता। यह आवश्यक नहीं है कि जो कार्य लाभदायक हो वह नैतिक दृष्टि से भी उचित हो।

राज्य के नियम दण्ड और पुरस्कार के डर तथा प्रलोभन द्वारा लागू होते हैं। आचारशास्त्र के नियम का पालन बाह्य डर तथा प्रलोभनों से नहीं होता है। यदि केवल दण्ड के डर से ही कोई सदा सत्य बोले तो नैतिक दृष्टि से उसका महत्त्व नहीं है।

आचारशास्त्र का क्षेत्र राजनीतिशास्त्र से अधिक व्यापक है। राजनीतिक नियमों की भी नैतिक परीक्षा होती है।

आचारशास्त्र और धर्मशास्त्र (THEOLOGY)

धर्मशास्त्र धर्म के सिद्धान्तों की मीमांसा है। धर्म का अर्थ है–मानव-शक्ति से उच्चतर किसी शक्ति में विश्वास। यह शक्ति इन्द्रियगोचर नहीं, पर मानव संवेग से उदासीन भी नहीं है। धर्म का सबसे विकसित रूप एक सर्वशक्तिशाली, अन्तर्यामी, सर्वज्ञानी व्यक्ति-रूप ईश्वर का विचार करता है। धर्मशास्त्र ईश्वर-प्राप्ति को ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य विचारता है। अतः यह उस लक्ष्य की प्राप्ति के विषय में बतलाता है, इसलिए दोनों शास्त्रों में बड़ा घनिष्ट सम्पर्क है। बहुत से दार्शनिकों ने आचारशास्त्र को धर्मशास्त्र के अधीन माना है। उनके अनुसार धर्म ही नीति (Morality) का मूल है। (Descartes, Locke, Duns Scotus)। धर्म के नियम ही नैतिक नियम हैं। हमारे वैसे ही आचार नैतिक कहे जा सकते हैं, जो धर्म के नियमों के अनुसार हों। ईश्वर की इच्छा पर ही उचित और अनुचित निर्भर है। जिसे वह आदिष्ट करता है, वही उचित और जिसका निषेध, वह अनुचित होता है। ईश्वर अपनी इच्छाओं का पालन दण्ड के भय और पुरस्कार के प्रलोभन से कराता है।

यह मत मान्य नहीं प्रतीत होता। धार्मिक विचार मनुष्य-जीवन के पिछले भाग में उदय होते हैं। पर बाल्यकाल ही से सत्य और असत्य का ज्ञान आरम्भ हो जाता है। यदि धार्मिक विचार ही नैतिक विचारों का साधन होता तो ऐसी बात नहीं होती।

यदि भय और प्रलोभन से ही कोई मनुष्य कोई कर्म करता है तो उसमें नैतिकता का प्रश्न नहीं उठता। हमारे आचरण केवल दण्ड के डर और पुरस्कार के प्रलोभनों से यदि संचालित हों तो उन्हें अच्छा या खराब कैसे कहा जा सकता है? उन कर्मों से तो हमारे वास्तविक स्वरूप का पता नहीं चलता।

धर्म या सत्य ईश्वर की आज्ञाओं पर निर्भर नहीं है, अपितु उनकी प्रकृति के द्योतक हैं। ईश्वर अपनी इच्छानुसार किसी कार्य को सत्य या असत्य नहीं बना सकता। कोई कर्म इसलिए सत्य या असत्य नहीं होता कि वैसी ईश्वर की इच्छा होती है, अपितु वह किसी कर्म का आदेश देता है, इसलिए कि वह सत्य है और निषेध करता है, इसलिए कि वह असत्य या अधर्म है।

यदि धर्मशास्त्र को आचारशास्त्र का सूत्र माना जाये तो बिना ईश्वर के विश्वास के नीति का भी लोप माना जाता है। पर वास्तव में ऐसी बात नहीं है। बौद्ध मत और जैन मत इसके उदाहरण हैं।

इसके विपरीत कुछ दार्शनिकों का मत है कि धर्मशास्त्र का आधार आचारशास्त्र है, क्योंकि धर्म का आधार है नीति (Morality)। हममें यह विश्वास है कि अच्छे कर्मों का फल अच्छा होता है और बुरे कर्मों का बुरा। पर वास्तविक जगत् में ऐसा नहीं पाया जाता। बुरे ही अधिकतर सुख भोगते हैं और सदाचारी कष्टों के शिकार बनते हैं। इसलिए इस भेद के कारण हममें यह विश्वास उत्पन्न होता है कि कोई शक्तिशाली ईश्वर का अस्तित्व है, जो इन विषमताओं को दूर करता है और सदाचारियों को पुरस्कार देता है और दुराचारियों को कष्ट। यही विश्वास धर्म की नींव है–कान्ट (Kant), मार्टिन्यु (Martineau) इत्यादि।

दूसरे, मनुष्य नैतिक नियमों का पालन करना अपना कर्त्तव्य समझता है। किसी सत्ता के प्रति ही कोई कर्त्तव्य होता है। यह सत्ता कौन है? इसके फलस्वरूप ईश्वर में हमारा विश्वास होने लगता है।

तीसरे, आचारशास्त्र में चरित्र का आदर्श निर्धारित किया जाता है। यह आदर्श केवल सैद्धान्तिक नहीं माना जाता। इसलिए एक ऐसी शक्ति को हम मानते हैं, जो उन आदर्शों से सम्पूर्ण है।

इन्हीं कारणों से कहा गया है कि नैतिक विचारों से ही ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास उत्पन्न होता है। किसी न किसी रूप में धर्म हर देश और काल में रहता है, चाहे वहाँ नैतिक विचार हों या नहीं हों। इसके अलावा, धार्मिक विचार मनुष्यों की अपूर्णता के भाव से उदय होते हैं। मनुष्य अपने को अपूर्ण पाकर एक ऐसी सत्ता में विश्वास करने लगता है, जो सर्वशक्तिमान है। नैतिक विचारों का उदय मानव-आत्मा की पूर्णता की भावना से होता है। दोनों के दो सूत्र होते हैं। एक के बिना दूसरे का विचार किया जा सकता है। कोई बिना धार्मिक विचारों के भी नैतिक नियमों का पालन कर सकता है और बिना नैतिक विचारों के धार्मिक नियमों पर चल सकता है। पर दोनों शास्त्रों का सम्बन्ध घनिष्ट है। एक का प्रभाव दूसरे पर बहुत अधिक है। वास्तव में जो नैतिक दृष्टि से अच्छा है वह धार्मिक भी है, और जो धार्मिक दृष्टि से अच्छा है, वह नैतिक भी है। आचार-नियम धार्मिक विचारों की पुष्टि करते हैं। इस दृष्टि से धर्मशास्त्र और आचारशास्त्र एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं।

आचारशास्त्र और दर्शनशास्त्र (ETHICS AND PHILOSOPHY)

संसार तथा उसके तत्त्व-सम्बन्धी प्रश्नों की विवेचना दर्शनशास्त्र में की जाती है। संसार क्या है, मनुष्य का उसमें क्या स्थान है? आत्मा तथा परमात्मा क्या है? उसकी प्रकृति क्या है? इत्यादि प्रश्न इस शास्त्र के हैं। दर्शन का सम्बन्ध पदार्थों की वास्तविकता से है।

आचारशास्त्र दर्शन से सम्बन्धित है। उसकी समस्याओं का समाधान दर्शन की विवेचनाओं पर अधिकतर निर्भर है। जिस प्रकार के दार्शनिक विचार होते हैं, हमारे नैतिक विचार भी वैसे ही होते हैं। जड़वाद (Materialism) पर ही सुखवाद (Hedonism) आधारित है। यदि जड़ जगत् ही वास्तविक है तो मनुष्य का ध्येय अधिक से अधिक सुख प्राप्त करना ही होना चाहिए। इस तरह सुखवाद की प्रवृत्ति होती है। वैसे ही चेतनावाद (Spiritualism) पर पूर्णतावाद (Perfectionism) की नींव है। बिना किसी दार्शनिक आधार के आचारशास्त्र एक कल्पना है।

इच्छा-शक्ति की स्वतन्त्रता, मनुष्य की नैतिक प्रकृति इत्यादि प्रश्नों की विवेचना दर्शनशास्त्र में होती है। आचारशास्त्र उन्हीं पर अवलम्बित है। आचार-शास्त्र को आचार-दर्शन भी कहा गया है।

इसलिए दर्शन आचारशास्त्र का आधार है। पर दोनों में अन्तर भी है।

दर्शन का क्षेत्र आचारशास्त्र के क्षेत्र से विस्तृत है। आचार सम्बन्धी समस्याएँ दर्शन का एक अंग हैं। दर्शनशास्त्र में अन्य समस्याओं पर भी विचार किया जाता है।

दर्शनशास्त्र सैद्धान्तिक है। उसमें किसी भी विषय का चिन्तन ज्ञान की दृष्टि से किया जाता है। आचारशास्त्र व्यावहारिक तथा आदर्श-निर्देशक है। इसका सम्बन्ध मनुष्य के दैनिक जीवन और व्यवहार से है।

भारतीय आचार-परम्परा

भारत के तीनों प्राचीन धर्मों—वैदिक, जैन और बौद्ध—ने अपनी परम्परा और पद्धति के अनुरूप आचारों की प्ररूपणा की है। भारत की प्रजा को प्राचीन काल से ही आचार अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। भारतीय जन-जीवन का वह अभिन्न अंग रहा है। लोक-जीवन की प्राण-शक्ति ही आचार है। भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता का मूल आधार आचार रहा है। आचारहीन जीवन को भारत की प्रजा कभी सहन नहीं कर सकती। आचार-सम्पन्न व्यक्ति यदि अनक्षर भी हो तो उसका सत्कार होगा। विद्वान् यदि आचारहीन है तो उसका तिरस्कार ही होगा। आचारहीन व्यक्ति को न वेद पवित्र कर सकते हैं, न आगम एवं पिटक ही। भारत के जन-जीवन में सदा से ही आचार की प्रतिष्ठा रही है। अतः श्रुति, स्मृति, आगम एवं पिटकों में आचार की ही गरिमा तथा महिमा रही है और आज भी है।

वैदिक परम्परा का आचार, जैन परम्परा का चारित्र और बौद्ध परम्परा का विनय—भावनात्मक रूप में ये तीनों एक ही अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं। परन्तु

पद्धति तीनों की एक नहीं रही है। कारण यह है कि तीनों का आधारभूत तत्त्व अलग-अलग है। एक का आधार है वेद, दूसरे का आधार है आप्त, और तीसरे का आधार है बुद्ध। वेद, तीर्थंकर और बुद्ध ही भारतीय आचार के मापदण्ड रहे हैं। वेद किसी भी व्यक्ति-विशेष का नाम नहीं है। तीर्थंकर और बुद्ध निश्चय ही व्यक्ति-विशेष हैं। वेद अपौरुषेय है। अतः उसमें विहित कर्म भी अपौरुषेय ही होगा। उसका अर्थ है–नित्य, सनातन, सदाकालीन। तीर्थंकर के अनुयायी और बुद्ध के अनुगामी–इस व्यवस्था को स्वीकार नहीं करते। तीर्थंकर-आचीर्ण आचार को ही वे चारित्र कहते हैं। बुद्ध-आसेवित आचार को ही वे विनय कहते हैं। तीर्थंकर और बुद्ध–दोनों ही अपनी परम्परा में आप्त पुरुष हैं। आप्त की वाणी ही आगम एवं पिटक हैं। आगम और पिटक में निहित जो भी कर्म अथवा क्रिया है, वह चारित्र एवं विनय है। विहित कर्म आचार है, और निषिद्ध कर्म अनाचार। अनाचार कभी धर्म नहीं हो सकता। वह तो अधर्म ही है। अतः जो कुछ वेद-विहित है, तीर्थंकर आचीर्ण है तथा बुद्ध आचरित है, वह सब आचार है, शेष सभी अनाचार है। भारतीय आचार पद्धति की इस व्यवस्था एवं परम्परा को ही भारतीय आचारशास्त्र कहा गया है।

भारतीय आचारशास्त्र के तीन प्रवाह रहे हैं–वैदिक आचार, जैन चारित्र और बौद्ध विनय। आचार शब्द बहुअर्थी एवं बहुआयामी रहा है। अतः आगम, पिटक एवं श्रुति-स्मृतिशास्त्र में परिव्याप्त है। चारित्र एवं विनय शब्द का प्रयोग भी सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। विनय शब्द का प्रयोग वैदिकशास्त्र में एवं जैनशास्त्र में अन्य अर्थों में है; केवल आचार अर्थ में नहीं। बौद्धशास्त्र में यह केवल आचार अर्थ में प्रयुक्त होता है। अतः यह एक पारिभाषिक शब्द है।

भारतीय आचारशास्त्र के मूलभूत ग्रन्थ तीन हैं–स्मृति, आचारांग और विनयपिटक। स्मृति वेद का अनुगमन करती है। आचारांग चरम तीर्थंकर महावीर की प्रथम देशना है। विनयपिटक बुद्ध के अनुभूत शिक्षापद हैं। वैदिक परम्परा का मूल आधार है–वर्ण-व्यवस्था, आश्रम-व्यवस्था और यज्ञ-होम। अन्य शेष सब इसी का विस्तार है। जैन परम्परा का मूल आधार है–अहिंसा। अन्य व्रत नियम केवल अहिंसा के ही आयाम हैं। अहिंसा का ही विस्तार है–तप और संयम। अमृषावाद, अस्तेय, अकाम और अपरिग्रह–ये सब अहिंसा के ही परिजन-परिवार हैं। अहिंसा के ही अस्तित्व में इन सबका अस्तित्व है। अतः अहिंसा ही जैन आचार है। बौद्ध परम्परा का मूल आधार है–अष्टांग मार्ग। विनय उसी का ही विस्तार है। विनयपिटक के जितने भी शिक्षापद हैं, वे सब अष्टांग मार्ग की देन हैं। अतः मूल में यही बौद्ध परम्परा का विनय एवं आचार है।

वैदिक आचार

आर्यों की सभ्यता, संस्कृति और धर्म की रूपरेखा जानने का एवं समझने का एक मात्र साधन वेद ग्रन्थ ही हैं। परम्परा से श्रुति (सुना हुआ) होने के कारण वेद को श्रुत कहा गया है। मनु ने अपनी स्मृति में कहा है–

"श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।"

वैदिक साहित्य को दो भागों में विभक्त किया गया है–ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड। प्रथम में संहिता एवं उपनिषदों का समावेश होता है तथा द्वितीय में ब्राह्मण ग्रन्थ एवं कल्पसूत्र ग्रन्थों का। यज्ञ-यागादि का पूर्ण परिचय कल्पसूत्रों से होता है। कल्पसूत्रों के दो विभाग हैं–श्रौतसूत्र तथा स्मार्तसूत्र। श्रौतसूत्र श्रुति से प्रसूत हैं इसलिए श्रौतसूत्र कहे जाते हैं। आर्यों के मूल आचार अथवा याग पद्धति का परिबोध श्रौतसूत्रों से ही होता है। स्मार्तसूत्रों की संरचना स्मृति के आधार पर हुई है। स्मार्तसूत्रों के भी दो विभाग हैं–गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र। गृह्यसूत्रों में गृहस्थ के आचार, अनुष्ठान और यज्ञ करने की विधि का विस्तार से वर्णन किया गया है। इनमें मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त होने वाले षोडश संस्कारों का भी वर्णन किया गया है। जो आर्यों का विशेष आचार है। धर्मसूत्रों में धार्मिक नियम, राजा और प्रजा के अधिकार तथा कर्त्तव्यों का विधान किया गया है। वर्ण-व्यवस्था एवं आश्रम-व्यवस्था का पूर्ण परिज्ञान कराया गया है। धर्मसूत्रों के आधार पर स्मृतियों की रचना हुई है। स्मृतियों की संख्या अनियमित है। परन्तु दो स्मृतियाँ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं–मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति।

महाकवि कालिदास ने रघुवंश महाकाव्य के आरम्भ में ही स्मृति को वेदानुगामिनी कहा है। वेद के अर्थ का ही स्मृति ग्रन्थ अनुचिन्तन करते हैं। लोक-मंगल की भावना से जन-कल्याण के लिए वेद विहित व्यवस्था देते हैं। इसी आधार पर स्मृतियों को धर्मशास्त्र की संज्ञा प्राप्त होती है। वे लोकाचार का प्रतिपादन करते हैं। मनु ने आचार को परम धर्म कहा है। सदाचार का विस्तार से वर्णन मनु ने किया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्त्तव्यों का वर्णन किया है। अतः स्मृति ग्रन्थ आचारशास्त्र हैं।

स्मृति प्रतिपादित आचार

वैदिक परम्परा में गौतमधर्मसूत्र सर्वाधिक प्राचीन है। धर्मसूत्रों को आधार मानकर ही विभिन्न स्मृतियों का संगुम्फन किया गया है। स्मृतियों में सबसे प्राचीन है–मनुस्मृति। जिसमें वैदिक आचार का सर्वांगीण विकास हुआ है। प्रायः सभी स्मृतियों का एक ही विषय है–देश एवं काल के अनुसार आचार की मीमांसा करना

तथा प्रसुप्त जनचेतना को प्रबुद्ध करके धर्म की ओर उन्मुख करना। जो जन-जीवन, राजधर्म और अर्थशास्त्र के अधीन होकर चल रहा था उसे मनु ने अपनी स्मृति में धर्म के अधीन लाकर धर्मशास्त्र का उपजीवक बना दिया। यही था मनु का अपना मौलिक नवीन चिन्तन। उस युग में मनु के आचार एवं विचार का खुलकर स्वागत हुआ। वर्णधर्म और आश्रमधर्म स्मृतियों का मुख्य विषय रहा है। हिन्दू समाज के लिए ये धर्मशास्त्र ही नहीं हैं, अपितु विधि ग्रन्थ भी हैं। अंग्रेजों के शासनकाल में इसी को हिन्दू लॉ, धर्म कहा गया था। भारतीय आचार परम्परा के ये प्रतिनिधि ग्रन्थ हैं।

स्मृति रचना काल

आचारशास्त्र और धर्मशास्त्र के मूलभूत तत्त्वों की व्याख्या एवं परिभाषा करने वाले स्मृति ग्रन्थों की संरचना किस काल में प्रारम्भ हुई और किस काल में परिसमाप्त हुई? इसका निर्णय करना आसान नहीं है। भारतीय धर्मशास्त्रों का इतिहास जिन्होंने लिखा है उनके अनुसार स्मृति ग्रन्थों के निर्माण को तीन युगों में विभाजित किया गया है–प्रथम युग–ईसा पूर्व ६०० से १०० तक, द्वितीय युग–ईसा १०० से ८०० तक और तृतीय युग ईसा ९०० से १८०० तक। प्रथम युग धर्मसूत्रों का है, जो स्मृतियों का मूल स्रोत है। द्वितीय युग धर्मसूत्रों की व्याख्या का है और साथ ही स्मृतियों के निर्माण का प्रारम्भ भी। इतिहासकारों की दृष्टि में शुंग युग ही स्मृति निर्माण का युग है। 'धर्मशास्त्र का इतिहास' पुस्तक के लेखक वी. पी. काणे का मत है कि मनुस्मृति याज्ञवल्क्यस्मृति से बहुत प्राचीन है। क्योंकि मनुस्मृति में न्याय सम्बन्धी बातें पूर्ण रूप में नहीं हैं, लेकिन याज्ञवल्क्यस्मृति में ये सब बातें पूर्ण रूप में हैं। याज्ञवल्क्य की तिथि कम से कम तृतीय शताब्दी है। अतः मनुस्मृति को उनसे बहुत पहले होना चाहिए। मनुस्मृति की रचना ईस्वी पूर्व द्वितीय शताब्दी तथा ईसा के उपरान्त द्वितीय शताब्दी के मध्य कभी हुई होगी। महाभारत मनुस्मृति के बाद की रचना है।

मनु और याज्ञवल्क्य

मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति में काफी समानता है। फिर भी याज्ञवल्क्य मनु की बहुत-सी बातों को स्वीकार नहीं करते। विभिन्नता इस प्रकार है–मनु ब्राह्मण को शूद्र कन्या से विवाह करने का विधान करते हैं, परन्तु याज्ञवल्क्य नहीं करते। मनु पुत्रहीन पुरुष की विधवा पत्नी के दायभाग पर मौन हैं, याज्ञवल्क्य इस विषय में स्पष्ट हैं। विधवा को उसका हक दिलाते हैं। मनु जुआ की निन्दा करते हैं, याज्ञवल्क्य जुआ को राज्य नियन्त्रण में रखकर राजकीय कर का एक हिस्सा बना देते हैं। इस प्रकार मनु के और याज्ञवल्क्य के आचार में काफी अन्तर है।

वेद धर्म का मूल है–"वेदो धर्मस्य मूलम्।" यह कथन गौतमसूत्र का है। मनुस्मृति में धर्म के पाँच उपादान हैं–वेद, वेदज्ञों की परम्परा एवं व्यवहार, साधुजनों का आचार और आत्म तुष्टि। याज्ञवल्क्य का कथन है कि वेद, स्मृति, सदाचार, शिष्टजनों का आचार-व्यवहार और जो अपने को अच्छा लगे तथा शुभ संकल्प–यही धर्म के उपादान हैं, जो परम्परा से चले आ रहे हैं। इस प्रकार धर्म के विषय में मनु और याज्ञवल्क्य के विचार एक होते हुए भी कहीं-कहीं पर काफी बड़ा अन्तर भी है। आचार पर देश एवं काल का प्रभाव अवश्य ही पड़ता है।

याज्ञवल्क्यस्मृति

वैदिक आचार ग्रन्थों में याज्ञवल्क्यस्मृति एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना गया है। इसके प्रणेता एक महर्षि, दार्शनिक एवं योगीश्वर थे। इसकी रचना मिथिला में हुई है। मिथिला मगध का एक सांस्कृतिक स्थल रहा है वैदिक परम्परा और जैन परम्परा का मुख्य केन्द्र। याज्ञवल्क्यस्मृति धर्मशास्त्र प्रणेता महर्षि याज्ञवल्क्य की एक महनीय कृति है। वैदिक परम्परा के आचार ग्रन्थों की सम्पूर्ण पूर्व परम्परा इसमें समाहित हो चुकी है। आचार अथवा धर्म का कोई भी विषय ऐसा नहीं, जिसका समावेश इसमें न हो गया हो। प्रणेता ने अपने सम्पूर्ण स्मृति ग्रन्थ को तीन विभागों में विभाजित किया है और विषयानुरूप समुचित स्थान दिया है। याज्ञवल्क्यस्मृति में दो हजार सात सौ श्लोक हैं। मनुस्मृति का परिमाण बहुत अधिक है। विषय व्यवस्था भी इतनी सुन्दर नहीं है। याज्ञवल्क्यस्मृति में वेद, वेदांग, योग, अध्यात्म, दण्ड-नीति, धर्म और आचार की सुन्दर व्याख्या एवं व्यवस्था है। तीन अध्यायों में वह विभक्त है–आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त। आचार ग्रन्थों का इस प्रकार का विभाजन जैन आचार को व्यवस्थित एवं स्थिर करने वाले छेदसूत्रकार आचार्य भद्रबाहु ने किया था–आचार, दशा, कल्पसूत्र और व्यवहारसूत्र।

बौद्ध आचार

वैदिक आचार गृहस्थ के लिए है। उसमें संन्यास का महत्त्व उतना नहीं, जितना गृहस्थ का। वानप्रस्थ और संन्यास के नियम बहुत कम, बहुत संक्षेप में हैं। यतिधर्म संग्रह जैसे ग्रन्थ हैं अवश्य; परन्तु संन्यास एवं यति के आधार पर जैन एवं बौद्धों का प्रभाव स्पष्ट है। उनके नियम, उपनियम तथा उनकी जीवन चर्या श्रमणों जैसी है। जैन और बौद्ध संन्यास-प्रधान धर्म रहे हैं। गृहस्थ के आचार एवं चर्या की दोनों में उपेक्षा रही है। क्योंकि दोनों श्रमण परम्पराओं में त्याग की प्रधानता रही है, भोग की नहीं। ब्राह्मण परम्परा में इससे विपरीत स्थिति है।

बौद्ध परम्परा का मुख्य आचार ग्रन्थ है–विनयपिटक। इसमें भिक्षु एवं भिक्षुणी के आचार का कथन विस्तार से किया गया है। वस्त्र, पात्र, खान-पान और आने-जाने के नियम हैं। बौद्ध संघ में विनयधर भिक्षु का उतना बड़ा गौरव है जितना बड़ा गौरव जैन संघ में आचारांगधर और प्रकल्पधर श्रमण का माना जाता है।

विनयपिटक तीन विभागों में विभक्त है–विभंग, महावग्ग और चुल्लवग्ग। विभंग दो भागों में विभक्त है–भिक्षु प्रातिमोक्ष और भिक्षुणी प्रातिमोक्ष। विभंग भिक्षु वर्ग की आचार संहिता एवं प्रायश्चित्त संहिता है। विनय को बुद्धशासन का मूल कहा गया है। भिक्षु प्रातिमोक्ष में परिपालनीय नियमों की संख्या दो सौ सत्ताईस है और भिक्षुणी प्रातिमोक्ष में तीन सौ ग्यारह नियमों की संख्या है। महावग्ग में भगवान बुद्ध की जीवनी से लेकर प्रव्रज्या, उपोशथ, वर्षावास एवं प्रवारणा आदि का वर्णन किया है। चुल्लवग्ग में छोटी-मोटी शिक्षाओं और नियम-उपनियमों का विधान किया गया है। जैसे कि स्थान, आभूषण, केश, कंघी, दर्पण, लेप, मालिश, नाच, तमाशा आदि के सम्बन्ध में निषेध किया गया है। अतः विनयपिटक बौद्ध परम्परा के आचार का प्रतिनिधि ग्रन्थ है।

परन्तु इसमें कहीं पर भी उपासक एवं श्रावक के आचार का कथन नहीं है। जैन परम्परा में भी यही स्थिति है। आचारांग, आचारचूला और आचारप्रकल्प में कहीं पर भी श्रावक के लिए कुछ भी नहीं कहा गया है। क्योंकि दोनों श्रमण परम्पराएँ संन्यासप्रधान हैं। भिक्षु चर्या प्रधान है। अतः दोनों परम्पराएँ आचार को मुख्यता प्रदान करने वाली रही हैं।

जैन आचारशास्त्र

भारतीय दर्शनों में तत्त्व परिचर्चा अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी है। सांख्य और वेदान्त दोनों ही दर्शन ज्ञानवाद को प्रधानता देते रहे हैं। न्यायदर्शन प्रमाण एवं प्रमेय की चर्चा ही अधिक करता है। वैशेषिक दर्शन में तत्त्व-मीमांसा बहुत ही सूक्ष्म रूप में की गई है और विशेषतः उसमें परमाणुवाद की चर्चा अत्यन्त गहन एवं जटिल है। वैदिक परम्परा में आचार अथवा क्रियाकाण्ड की विचारणा करने वाले दो दर्शन हैं–मीमांसा दर्शन और योग दर्शन। इन दोनों की आचार-मीमांसा अथवा क्रियाकाण्ड की विचारणा विभिन्न पद्धतियों पर आधारित है। वैदिक परम्परा में आचार एवं चारित्र शब्द का प्रयोग कम है। उसके स्थान पर कर्म और क्रिया का प्रयोग अधिक हुआ है। मीमांसा यज्ञवादी दर्शन है। आचार के नाम पर यज्ञ की ही क्रियाओं का वर्णन किया गया है। योग दर्शन का आचार-पक्ष आध्यात्मिकता पर अवलम्बित है क्योंकि उसमें चित्तवृत्तियों का अधिक विश्लेषण किया गया है। उसमें इन्द्रिय-दमन और मनोजय के उपाय बतलाये गये हैं।

जैन और बौद्ध

जैन परम्परा और बौद्ध परम्परा मूलतः आचारवादी परम्पराएँ रही हैं। इन दोनों परम्पराओं में तत्त्व की अपेक्षा आचार की व्याख्या एवं विश्लेषण अधिक हुआ है। परन्तु दोनों पम्पराएँ आचार पर बल देते हुए भी दोनों की पद्धति में महान् अन्तर है। बौद्ध परम्परा में आचार के स्थान पर दो शब्दों का प्रयोग हुआ है–शील एवं विनय। शील का सम्बन्ध गृहस्थ-जीवन से अधिक है, भिक्षु-जीवन से कम। किन्तु, विनय का अर्थ बौद्ध परम्परा के अनुसार भिक्षु का आचार अर्थात साध्वाचार होता है। जैन परम्परा में आचार और चारित्र शब्द का प्रयोग किया गया है। जैन परम्परा का आचारशास्त्र व्यवस्थित, विशाल और बहुआयामी है। जैन परम्परा में धर्म के दो भेद हैं–आगारधर्म एवं अणगारधर्म। इसी को श्रावकाचार और श्रमणाचार भी कहा जाता है।

आचार, कल्प और समाचारी

श्रमण परम्परा में और मुख्यतः जैन परम्परा में आचार पर अत्यधिक बल दिया गैया है, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है। आचार शब्द को लेकर ही जैनों में विभिन्न सम्प्रदाय खड़े हुए हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बरों में मुख्यतः परिग्रह एवं अपरिग्रह की व्याख्या को लेकर ही भेद पड़ा है। श्वेताम्बरों की मान्यता के अनुसार मूर्च्छाभाव ही परिग्रह है, वस्तु नहीं। इसके विपरीत, दिगम्बर परम्परा में वस्तुओं को परिग्रह कहा गया है। जैन परम्परा में सचेलवाद के मूल में परिग्रह ही मुख्य है। स्थानकवासी एवं तेरापंथ सम्प्रदायों में जो आज भेद दृष्टिगोचर होता है, उसका मुख्य आधार हिंसा-अहिंसा की व्याख्या ही रहा है। श्वेताम्बर, दिगम्बर, स्थानकवासी और तेरापंथी–ये सब भेद आचार को लेकर ही मुख्य रूप में प्रचलित हुए हैं। अतः आचार की विस्तृत व्याख्या का जैन परम्परा में होना सहज एवं स्वाभाविक था। आचारांगसूत्र, उसकी निर्युक्ति, उसकी चूर्णि और उसकी संस्कृत टीका में आचार के स्वरूप पर अत्यधिक विस्तार से विचार किया गया है। दशवैकालिकसूत्र, उस पर निर्युक्ति, उस पर चूर्णि एवं उस पर विविध संस्कृत टीकाओं में आचार का ही मंथन किया गया है। छेदसूत्रों में एवं उन पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि एवं संस्कृत टीकाओं का, जो एक विशाल साहित्य है, वह सब साध्वाचार को लेकर ही लिखा गया है। जैन परम्परा में आचार शब्द के अतिरिक्त कल्प और समाचारी शब्द का अर्थ भी आचार ही होता है फिर भी आचार की अपेक्षा कल्प और समाचारी ये दोनों ही सीमित शब्द हैं तथा इन तीनों के अर्थ में भी पर्याप्त भेद है। वस्तुतः जैन परम्परा में मूलगुणों को ही आचार कहा गया है। कल्प और समाचारी शब्दों का प्रयोग उत्तरगुणों के लिए किया गया है। मूलगुणों

की संरक्षा के लिए जो छोटे-बड़े नियम एवं उपनियम बनाये गये एवं जिनका पालन किया जाता है, वस्तुतः वही कल्प और समाचारी है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार कल्प और समाचारी में पर्याप्त भेद और प्रभेद होते रहे हैं। इसके स्पष्ट प्रमाण आज भी आगमों में उपलब्ध हैं।

प्राचीन साध्वाचार

आचारांगसूत्र में जिस साध्वाचार का वर्णन उपलब्ध है, दशवैकालिकसूत्रगत साध्वाचार में उसकी अपेक्षा काफी विकास हुआ है। इस सत्य को स्वीकार करना ही चाहिए। आचारांगसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में वस्त्रधारी भिक्षुओं के विषय में विवेचन आता है। साधुओं के उत्कृष्ट आचार का पालन करने वाले भिक्षु अनेक प्रकार के हैं–एकवस्त्रधारी, द्विवस्त्रधारी, त्रिवस्त्रधारी और बहुवस्त्रधारी पात्र-सम्बन्ध में भी इसी प्रकार का वर्णन उपलब्ध होता है। आचारांगसूत्र में भिक्षु एवं भिक्षुणी के लिए पिण्डैषणा, पात्रैषणा, शय्यैषणा आदि का जो विस्तार से वर्णन किया गया है, उस प्रकार के उत्कृष्ट साध्वाचार का वर्णन अन्यत्र दुर्लभ ही है। गोचरी के लिए भिक्षु एवं भिक्षुणी किस कुल में जायें और किस कुल में न जायें, इसका रोचक वर्णन विस्तार से किया गया है। वृत्तिकारों एवं टीकाकारों ने इनकी व्याख्याएँ विभिन्न प्रकार से की हैं। आचारांगसूत्र में यह भी कहा गया है कि भिक्षा के लिए जाने वाला भिक्षु अपने सब उपकरण अपने साथ रखकर ही भिक्षा के लिए जाये। भिक्षार्थ एक गाँव से दूसरे गाँव जाते समय भी इसी नियम का पालन किया जाता था।

भिक्षु और भिक्षुणी को किस प्रकार का जल लेना चाहिए और किस प्रकार का नहीं लेना चाहिए, इसका भी विस्तृत एवं स्पष्ट वर्णन किया गया है। किस प्रकार का पानी भिक्षुक को लेना चाहिए, उसके सम्बन्ध में कहा गया है–तिलोदक, तन्दुलोदक, तुषोदक, आम्रपानक, द्राक्षापानक तथा खजूर का पानी, नारियल का पानी, केर का पानी, इमली का पानी एवं आँवले का पानी आदि जल साधु के लिए ग्राह्य हैं। भिक्षु को किस प्रकार की भाषा बोलनी चाहिए और किस प्रकार की भाषा नहीं बोलनी चाहिए, इसके सम्बन्ध में भी निश्चित विधान किये गये हैं। भिक्षु किस प्रकार के मकान में रहे और किस प्रकार के मकान में न रहे तथा उसे किस स्थान पर कितना रहना चाहिए और वहाँ से कब विहार कर देना चाहिए; वस्त्र, पात्र, अन्य उपकरणों की याचना किससे और किस प्रकार करनी चाहिए इसकी सुन्दर व्याख्या की गई है। एक बार भोजन करने का विधान है, एक ही दिन में बार-बार आहार करने का विधान नहीं है।

शास्त्रों में अनेक स्थानों पर दस प्रकार के कल्पों का वर्णन किया गया है, जिनका परिपालन मूलगुणों की संरक्षा के लिए आवश्यक है। किन्तु इन कल्पों में कुछ कल्प स्थित हैं, कुछ अनवस्थित। राजपिण्ड एवं प्रतिक्रमण आदि कल्प स्थित नहीं हैं। क्योंकि मध्य के बाईस तीर्थंकरों की परम्परा के अनुसार राजपिण्ड लेना कोई दोष नहीं था तथा प्रतिदिन उभयवेला में प्रतिक्रमण करना आवश्यक नहीं था। परन्तु प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और चरम तीर्थंकर भगवान महावीर के शासन में राजपिण्ड लेना निषिद्ध माना गया तथा प्रतिदिन उभयवेला में प्रतिक्रमण करना अनिवार्य हो गया। इन दस प्रकार के कल्पों में समयानुसार परिवर्तन होते रहे हैं। अतः दस प्रकार के कल्प उत्तरगुण कहे जाते हैं। क्योंकि उनमें समय-समय पर परिस्थितिवश एवं आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन करने की छूट गीतार्थ मुनि को सहज ही उपलब्ध रही है।

साधु समाचारी का अर्थ है–साधु-जीवन के लिए नित्य कर्मों की व्यवस्था। रात और दिन में साधु को किस कार्यक्रम के अनुसार अपना साधनामय जीवन व्यतीत करना चाहिए–इस प्रकार का विधि-विधान ही साधु समाचारी है। प्राचीन काल में साधु-समाचारी के अनुसार साधुजन अपना साधनामय जीवन इस प्रकार से व्यतीत करते थे–दिन की प्रथम पौरुषी में स्वाध्याय, द्वितीय में ध्यान, तृतीय में आहार-पानी एवं विहार और चतुर्थ में पुनः स्वाध्याय। रात्रि में प्रथम पौरुषी में स्वाध्याय, द्वितीय में ध्यान, तृतीय में शयन-निद्रा और चतुर्थ में पुनः स्वाध्याय। इस समाचारी में स्वाध्याय एवं ध्यान पर विशेष बल दिया गया है। वस्तुतः साधु-जीवन की सच्ची साधना स्वाध्याय एवं ध्यान ही है। भिक्षुणी एवं भिक्षु के जीवन का एक भी क्षण व्यर्थ न जाय तथा प्रमत्त भाव में व्यतीत न हो, इस व्यवस्था का नाम ही वस्तुतः साधु समाचारी है। इस साधु समाचारी के अनुसार जीवन व्यतीत करने वाले साधु एवं साध्वी ज्ञानी, ध्यानी एवं तपस्वी तथा संयमी होते थे। साध्वी एवं साधु के लिए यह भी आवश्यक था कि वह आचारांगसूत्र तथा निशीथसूत्र का प्रतिदिन स्वाध्याय करें, ताकि वे विस्मृत न हो जायें। यदि ये विस्मृत हो जाते थे, तो उसके लिए कठोर प्रायश्चित्त का विधान भी छेदसूत्रों में है। यदि कोई भिक्षु या भिक्षुणी इसलिए भूल गया है कि वह अस्वस्थ था, रोगी था अथवा दुर्भिक्ष था, उसके लिए प्रायश्चित्त का विधान नहीं है। यदि प्रमत्तभाव से उसने इन शास्त्रों को विस्मृत कर दिया है, तो उस स्थिति में प्रायश्चित्त का विधान है। साधु हो या साध्वी हो यदि इन दो शास्त्रों का उसने विधिवत् अध्ययन नहीं किया है, तो उसे स्वतन्त्र होकर विहार करने का भी निषेध था। इन दोनों शास्त्रों का परिज्ञाता न

होने के कारण उसे आचार्य पद, उपाध्याय पद एवं प्रवर्तक पद तथा प्रवर्तिनी पद नहीं दिया जाता था।

साधु-जीवन में परिवर्तन

प्राचीन युग से लेकर आज तक के युग में साधु-जीवन में काफी परिवर्तन आ चुका है। खान-पान, रहन-सहन, लेना-देना तथा करना-कराना आदि में प्राचीन युग के नियमों का पूरी तरह परिपालन आज नहीं हो पा रहा है। जैसे कि जैन भिक्षुओं की मन, वचन एवं काय से हिंसा न करने, न करवाने तथा करते हुए का अनुमोदन न करने की प्रतिज्ञा होती है। प्राचीन युग के जैन भिक्षु एवं निर्ग्रन्थ इस प्रतिज्ञा का अक्षरशः पालन करने का प्रयत्न करते थे। जिस वस्तु को प्राप्त करने में हिंसा की तनिक भी संभावना रहती थी, उस प्रकार की किसी भी वस्तु को वे स्वीकार नहीं करते थे। आचारांगसूत्र एवं छेदसूत्रों को देखने से उनकी यह चर्या स्पष्ट मालूम पड़ जाती है। इस प्रकार अत्यन्त कठोर आचरण के कारण ये श्रमण धर्मरक्षा के नाम पर अपनी चर्या में किसी प्रकार की ढील नहीं रखते थे। जहाँ कहीं हिंसा या परिग्रह की संभावना होती, उन प्रवृत्तियों का वे परित्याग कर देते थे। यहाँ तक कि शास्त्र-लेखन की प्रवृत्ति को उन्होंने स्वीकार नहीं किया। हिंसा एवं परिग्रह की संभावना के कारण व्यक्तिगत निर्वाण के अभिलाषी इन निस्पृह साधुओं ने शास्त्र-लेखन की प्रवृत्ति की उपेक्षा की। उनकी इस अहिंसा-परायणता का उल्लेख बृहत्कल्प नामक छेदसूत्र के भाष्य में स्पष्टतया आज भी उपलब्ध है। उसमें स्पष्ट विधान है कि पुस्तक पास में रखने वाला श्रमण प्रायश्चित्त का भागी होता है। उक्त आगम में बताया गया है कि पुस्तक पास में रखने वाले श्रमण में प्रमत्त दोष उत्पन्न होता है। पुस्तक पास में रहने से स्वाध्याय में प्रमाद की संभावना रहती है। धर्म प्रवचनों को कंठस्थ रखकर उनका बार-बार स्मरण करना स्वाध्याय रूप आन्तरिक तप कहा गया है। पुस्तकें पास रहने से यह तप मन्द होने लगता है।

भगवान महावीर के निर्वाण के बाद साधु संघ के आचार में शिथिलता आने लगी। उनके विभिन्न सम्प्रदाय बनने लगे। सचेलक एवं अचेलक परम्परा प्रारम्भ हुई। वनवास कम होने लगा। लोक-सम्पर्क बढ़ने लगा। साधुजन चैत्यवासी भी होने लगे। चैत्यवास के साथ उसके साधनामय जीवन में परिग्रह प्रविष्ट हुआ। इस समय श्रमणों ने अपनी जीवन चर्या में अनेक अपवाद भी स्वीकार किये। अतः उन्हें इस लिखने-लिखवाने की प्रवृत्ति का अपवाद भी स्वीकार करना पड़ा। भगवान महावीर के निर्वाण के लगभग १,००० वर्ष बाद देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने श्रुत को जब पुस्तकबद्ध एवं व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया, तब उनका घोर विरोध हुआ था।

अहिंसा के साधकों को यह हिंसा-प्रवृत्ति कैसे स्वीकार हो सकती थी। पर, आज समस्त साधुजन, फिर चाहे वे किसी भी परम्परा के क्यों न हों, देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण का गुणोत्कीर्तन ही करते हैं।

पुरातन युग का निर्ग्रन्थ-संघ

पुरातन युगीन निर्ग्रन्थ-संघ के जीवन पर आचारांगसूत्र में विस्तार के साथ प्रकाश डाला गया है। इतना ही नहीं, बल्कि आचारांगसूत्र का समग्र विधान यह प्रमाणित करता है कि साधु-जीवन का मुख्य ध्येय क्या है और उसे क्या करना चाहिए? उस समय के निर्ग्रन्थ आचार-सम्पन्न, विवेक-सम्पन्न, त्यागी, तपस्वी और श्रुतधर होते थे। उनके जीवन का लक्ष्य जन-सम्पर्क नहीं था, एकान्त में रहकर तप-ध्यान की साधना करना ही था। भगवान महावीर के समय उत्कृष्ट त्याग, तप एवं संयम के अनेक जीते-जागते आदर्शों की उपस्थिति में भी कुछ श्रमण तप-त्याग अंगीकार करने के बाद भी उसमें स्थिर, दृढ़ एवं कठोर नहीं रह पाते थे। इस प्रकार के अनेक प्रमाण छेदसूत्रों में तथा उनके व्याख्या ग्रन्थ निर्युक्ति, भाष्य एवं चूर्णियों में स्पष्ट रूप में आज भी उपलब्ध हैं। यह एक निश्चित बात है कि निर्ग्रन्थों के उपकरणों की संख्या में निरन्तर धीरे-धीरे वृद्धि होती रही है। साधुओं की अपेक्षा साध्वियों के उपकरण और भी अधिक हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन युग से आज तक साधु-जीवन के आचार में आवश्यकता के अनुसार तथा युगानुकूल परिस्थितियों के कारण काफी परिवर्तन होते रहे हैं।

महावीर की परम्परा में श्रुत का महत्त्व

भगवान महावीर ने धर्म के भेद बतलाये हैं–श्रुतधर्म और चारित्रधर्म। पाँच ज्ञानों में से एक श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान का साधक-जीवन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राचीन काल से ही रहा है। श्रुतज्ञान के बिना आचार एवं उसका स्वरूप ही नहीं जाना जा सकता। अतः श्रुतधर्म की आराधना के बाद ही चारित्रधर्म की आराधना की जा सकती है। आचारांगसूत्र के दो श्रुतस्कन्धों में से प्रथम श्रुतस्कन्ध में आचार के पाँच भेद प्रतिपादित किये गये हैं–(१) ज्ञानाचार, (२) दर्शनाचार, (३) चारित्राचार, (४) तपाचार, और (५) वीर्याचार। इसके अतिरिक्त अन्य कोई आचार नहीं है। जिनवाणी में प्रतिपादित मूलगुण तथा उत्तरगुण आदि सबका समावेश इन पाँचों में ही हो जाता है। इस पंचविध आचार में भी सर्वप्रथम ज्ञानाचार ही है। ज्ञानाचार को ही आचारांग आदि सूत्रों में श्रुतधर्म कहा गया है। दर्शनाचार ज्ञानाचार से अभिन्न है। वीर्याचार आत्मा की शक्ति का नाम है। शेष रह जाते हैं दो–चारित्राचार और

तपाचार। आजकल के अल्पश्रुतज्ञ महानुभाव इन दो को ही आचार समझ बैठे हैं। वास्तव में उनकी यह मान्यता आचार विरुद्ध है। क्योंकि शास्त्रों में स्थान-स्थान पर इस सत्य का निर्देश है कि ज्ञान के अभाव में जो आचार होता है वह मिथ्याचार है तथा जो तप होता है वह बालतप है। मिथ्याचार एवं बालतप मोक्ष के साधन नहीं हो सकते। अतः शास्त्रों में श्रुतधर्म अथवा ज्ञानाचार का महत्त्व सिद्ध हो जाता है। दशवैकालिकसूत्र में भी कहा गया है कि ज्ञान के अभाव में दया अर्थात् चारित्र सम्यक्चारित्र नहीं हो सकता। अतः प्रथम ज्ञान है और फिर दया अर्थात् चारित्र। इसी दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि अज्ञानी आत्मा संयम को अथवा असंयम को नहीं समझ सकता। पुण्यमार्ग को अथवा पापमार्ग को, कल्याण को अथवा अकल्याण को सुनकर ही जाना जा सकता है। यहाँ पर भी प्राथमिकता श्रुतधर्म को ही प्रतिपादित की गई है। यही तथ्य आवश्यकनिर्युक्ति, बृहत्कल्पभाष्य तथा निशीथचूर्णि आदि में कहा गया है। आज के जो अल्पज्ञ लोग हैं, उन्हें आचार की क्रान्ति करने से पूर्व श्रुतिधर्म को और ज्ञानाचार को समझ लेना परम आवश्यक है। विचार के अभाव में एक मात्र आचार क्रान्ति का अपने आप में कोई महत्त्व नहीं है, बल्कि उससे दंभ एवं अहंकार का ही पोषण होगा, शुद्धाचार का नहीं।

जैन आचारशास्त्र के ग्रन्थ

जैन आचार का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश भाषाओं में विपुल मात्राओं में लिखे गये हैं। जैन परम्परा के जो आचार ग्रन्थ हैं उनका क्रमिक अध्ययन इस प्रकार से किया जा सकता है–

श्रमणाचार–

१. आचारांग
२. दशवैकालिक
३. आवश्यकसूत्र
४. आचारदशा
५. बृहत्कल्प
६. व्यवहार
७. निशीथ
८. महानिशीथ
९. पंचकल्प
१०. जीतकल्प
११. पिण्डनिर्युक्ति
१२. ओघनिर्युक्ति
१३. मूलाचार
१४. मूलाराधना
१५. अनगार धर्मामृत
१६. आचारसार
१७. प्रवचनसारोद्धार
१८. यति-जीतकल्प

श्रावकाचार–

१. उपासकदशांग
२. धर्मविन्दु
३. योगशास्त्र
४. तत्त्वार्थसूत्र
५. आचार दिनकर
६. रत्नकरण्ड श्रावकाचार
७. वसुनन्दि श्रावकाचार
८. सागार धर्मामृत
९. अमितगति श्रावकाचार
१०. उपासकाध्ययन
११. ज्ञानार्णव
१२. श्रावक प्रतिक्रमण
१३. पंचप्रतिक्रमण
१४. पाक्षिकसूत्र
१५. सावयपणत्ति
१६. सावयधम्मविहि
१७. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
१८. श्रावकाचार
१९. लाटी संहिता
२०. श्राद्धविधि
२१. श्रावकधर्मप्रदीप

प्रस्तुत पुस्तक

प्रस्तुत पुस्तकें जिनके नाम 'जैन आचार-मीमांसा' तथा 'अणु से पूर्ण की यात्रा' हैं। अपने विषय का विशिष्ट ग्रन्थरत्न सिद्ध होंगी। वैदिक परम्परा का आचारशास्त्र प्रायः संस्कृत भाषा में है, बौद्ध परम्परा का पालि भाषा में तथा जैन परम्परा का आचारशास्त्र प्राकृत-संकृत भाषा में है। हिन्दी भाषा में भी इस विषय पर दो-चार पुस्तकें उपलब्ध हैं, लेकिन उनमें न तो विषय की व्यापकता है और न सर्वग्राह्यता, अतः इस विषय पर प्रस्तुत दोनों पुस्तकें एक अधिकारिक विशिष्ट ग्रन्थ के रूप में मान्यता प्राप्त कर सकती हैं, इसमें सन्देह नहीं।

इनमें समग्र भारतीय आचार तथा मुस्लिम, ईसाई तथा सन्त परम्परा के आचार सम्बन्धी चिन्तन को भी निबद्ध किया गया है। लेखक का दृष्टिकोण विशाल और व्यापक रहा है। अध्ययन भी सर्वतोमुखी है तथा विषय का संचयन एवं संग्रहण काफी श्रम के साथ उदार दृष्टि से किया गया है। आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी द्वारा लिखित ये दोनों पुस्तकें अपने ढंग की अनूठी पुस्तकें हैं। इनमें विषय की विविधता, विचित्रता तथा व्यापकता अधिक है। अतः ये पुस्तकें विद्वान् लोगों के लिए तथा सामान्य पाठकों के लिए भी बहुत उपयोगी सिद्ध होंगी। विशेषतः जैन धर्म के जिज्ञासु, विद्यार्थी तथा श्रमण-श्रमणी, श्रावक-श्राविका इससे अच्छा लाभ उठा सकेंगे। लेखक की भाव, भाषा और शैली परिमार्जित है। यह पुस्तक पुस्तकालयों में संग्रह करने के योग्य भी है। इसका अध्ययन करके व्यक्ति अपने नैतिक जीवन को भी समुन्नत बना सकता है।

श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ के तृतीय पट्टधर आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी एक प्रतिभाशाली बहुश्रुत सन्त हैं। आपने विविध विषयों पर अनेकानेक विशाल ग्रन्थ लिखे हैं। आपकी लेखनी से स्पष्ट है कि प्रमाण पुरस्सर शैली में लिखे गये ये ग्रन्थ लेखक, पाठक, वक्ता सभी के लिए उपयोगी हैं।

मेरे विचार में जैन आचार का ऐसा कोई विषय नहीं रहा है जिसमें लेखक ने संक्षेप या विस्तार में न लिखा हो। इन पुस्तकों का अध्ययन प्रत्येक श्रावक व श्रमण को करना चाहिए। जैन आचार के साथ-साथ वैदिक आचार और बौद्ध आचार का जो विश्लेषण किया गया है, उसने पुस्तक के महत्त्व को और अधिक बढ़ा दिया है। यहूदी, ईसाई और पारसी तथा मुस्लिम धर्म का भी संक्षेप में परिचय दिया गया है। इतने विशाल विषय को इतनी सहजतापूर्वक प्रस्तुत कर देना लेखक की प्रशंसनीय सफलता है। साथ ही इसमें लेखक मुनिश्री की अध्ययनशीलता, चिन्तनशीलता और विषय को उचित रूप में प्रस्तुत करने की क्षमता भी स्पष्ट होती है। लेखक ने समाज को यह पुस्तक देकर समाज पर एक बहुत बड़ा स्मरणीय उपकार किया है। जो व्यक्ति संस्कृत और प्राकृत नहीं जानते वे भी इस पुस्तक के माध्यम से भारतीय आचार के मर्म को भलीभाँति समझ सकेंगे और जीवन को परिष्कृत कर सकेंगे। शुभं भवतु !

विषयानुक्रमणिका

विविध कल्प और साधना

१. श्रमणाचार से सम्बन्धित जैन साहित्य ३-६९

श्रमण का महत्त्व ३, श्रमण-जीवन का उद्देश्य ४, आगम साहित्य में श्रमणाचार ५, (१) आचारांग ५, (२) सूत्रकृतांग ८, (३) स्थानांग १०, (४) समवायांग १०, (५) भगवती १०, (६) ज्ञाताधर्मकथा ११, (७) उपासकदशांग १२, (८) अन्तकृद्दशांग १२, (९) अनुत्तरोपपातिकदशा १३, (१०) प्रश्नव्याकरण १३, (११) विपाकसूत्र १४, (१२) औपपातिक १४, (१३) राजप्रश्नीय १४, (१४) उत्तराध्ययन १४, (१५) दशवैकालिक १६, (१६) अनुयोगद्वार १७, (१७) दशाश्रुतस्कन्ध १७, (१८) बृहत्कल्प १८, (१९) व्यवहारसूत्र २४, (२०) निशीथ ३०, (२१) महानिशीथ ३७, (२२) जीतकल्प ३७, दस प्रकार के प्रायश्चित्त ३८, आलोचना ३८, प्रतिक्रमण ३८, तदुभयार्ह ३८, विवेकार्ह ३८, व्युत्सर्गार्ह ३८, तपार्ह ३९, छेदार्ह ३९, मूलार्ह ३९, अनवस्थाप्यार्ह ४०, पारांचिकार्ह ४०, (२३) चतुःशरण ४०, (२४) आतुर प्रत्याख्यान ४०, (२५) महाप्रत्याख्यान ४१, (२६) भक्तपरिज्ञा ४१, (२७) संस्तारक ४२, (२८) गच्छाचार ४२, (२९) मरणसमाधि ४३, (३०) चन्द्रवेध्यक ४३, व्याख्या-साहित्य में श्रमणाचार ४३, (३१) आवश्यकनिर्युक्ति ४४, (३२) दशवैकालिकनिर्युक्ति ४४, (३३) उत्तराध्ययननिर्युक्ति ४४, (३४) आचारांगनिर्युक्ति ४४, (३५) दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति ४५, (३६) बृहत्कल्पनिर्युक्ति ४६, (३७) व्यवहारनिर्युक्ति ४६, (३८) ओघनिर्युक्ति ४६, जिनकल्पिक श्रमणों के उपकरण ४८, (३९) पिण्डनिर्युक्ति ४९, पिण्ड के नौ प्रकार ४९, भाष्य-साहित्य में श्रमणाचार ५०, (४०) विशेषावश्यकभाष्य ५०, (४१) जीतकल्पभाष्य ५०, (४२) बृहत्कल्पलघुभाष्य ५१, जिनकल्पिक मुनि की समाचारी के सत्ताईस द्वार ५२, स्थविरकल्पिक श्रमणों की चर्या ५२, स्थविरकल्पिक श्रमणों की समाचारी ५२,

पारस्परिक क्लेश को शान्त करने की विधि ५३, (४३) पंचकल्प महाभाष्य ५४, कल्प के विभिन्न भेद ५४, (४४) निशीथभाष्य ५५, (४५) व्यवहारभाष्य ५५, प्रायश्चित्त के योग्य चार प्रकार के पुरुष ५५, (४६) ओघनिर्युक्तिलघुभाष्य ५७, (४७) ओघनिर्युक्तिभाष्य ५७, (४८) पिण्डनिर्युक्तिभाष्य ५७, (४९) उत्तराध्ययनभाष्य ५७, (५०) दशवैकालिकभाष्य ५७, चूर्णि-साहित्य में श्रमणाचार ५७, (५१) आवश्यकचूर्णि ५७, षडावश्यक का विस्तृत विवेचन ५८, (५२) दशवैकालिकचूर्णि ५८, (५३) उत्तराध्ययनचूर्णि ५८, (५४) आचारांगचूर्णि ५९, (५५) जीतकल्पबृहद्चूर्णि ५९, (५६) निशीथविशेषचूर्णि ५९, (५७) दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि ६१, टीका-साहित्य में श्रमणाचार ६१, आगमेतर-साहित्य में श्रमणाचार ६२, (५८) पंचसुत्तय ६२, (५९) पंचनियंठि (हरिभद्ररचित) ६२, (६०) पंचनियंठि (अभयदेवरचित) ६२, (६१) पंचवत्थुग ६२, (६२) गुरुवन्दनभास ६३, (६३) पच्चक्खाणभास ६३, (६४) संवेग रंगशाला ६३, (६५) यति-दिनकृत्य ६३, (६६) जइजीयकप्प ६३, (६७) जइसामाचारी ६४, (६८) पिंडविशुद्धि ६४, (६९) विषयनिग्रह कुलक ६४, (७०) प्रत्याख्यान सिद्धि ६४, (७१) आचार प्रदीप ६४, काव्य-साहित्य में आचार ६४, पउमचरिउं ६५, वसुदेवहिण्डी ६५, समराइच्चकहा ६५, कुवलयमाला ६५, कथाकोशप्रकरण ६५, उपदेशमाला ६५, दिगम्बर-साहित्य में श्रमणाचार ६५, कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में श्रमणाचार ६५, मूलाचार ६६, भगवती आराधना ६७, लब्धिसार ६७, आराधनासार ६८, चारित्रसार ६८, आचारसार ६८, अनगार धर्मामृत ६८, छेदपिण्ड ६८, दिगम्बर परम्परा के अनुसार साधु के २८ मूलगुण ६८, श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार साधु के २७ मूलगुण ६९, इस अन्तर का समाधान ६९।

२. श्रमणधर्म का प्रवेश-द्वार : आर्हती दीक्षा ७०-८४

श्रमण का महत्त्व ७०, दीक्षा : आध्यात्मिक साधना ७०, एक अन्तर्यात्री ७१, वैराग्योत्पत्ति के दस कारण ७२, (१) छन्दा ७२, (२) रोषा ७२, (३) परिद्यूना ७३, (४) स्वप्ना ७३, (५) प्रतिश्रुता ७३, (६) स्मारणिका ७३, (७) रोगिणिका ७४, (८) अनादृता ७४, (९) देवसंज्ञप्ति ७४, (१०) वत्सानुबंधिका ७४, प्रव्रज्या लेने के विभिन्न अपेक्षाओं से तीन-तीन कारण ७५, दीक्षा का अधिकारी ७६, दीक्षा और वय ७६, वैदिक दृष्टि और प्रव्रज्या ७८, अप्रमत्त दीक्षित होते हैं ७८, त्याग के विश्वविद्यालय में ७९, दीक्षा के लिए अनुमति ७९, अभिनिष्क्रमण महोत्सव ८०, दीक्षार्थी की परीक्षा ८१, अयोग्य दीक्षा का निषेध ८२, बुभुक्षु नहीं, मुमुक्षु ८३, दीक्षा : पलायन नहीं, प्रगति ८४, दीक्षा : आत्मा की खोज ८४।

३. श्रमणों के विविध कल्प : विविध दृष्टियाँ ८५-९६

कल्प की परिभाषा ८५, दस प्रकार के कल्प ८५, आचेलक्य ८५, जिनकल्पिक श्रमणों के दो प्रकार–पाणिपात्र और पात्रधारी ८६, प्रथम और अन्तिम–दो तीर्थंकरों का धर्म अचेलक ८७, औद्देशिक ८८, शय्यातर पिण्ड ८८, राजपिण्ड ८९, कृतिकर्म ९०, व्रत ९०, ज्येष्ठ ९१, प्रतिक्रमण ९२, मासकल्प ९२, पर्युषणाकल्प ९३, पर्युषणा के पर्यायवाची नाम ९३, छह कल्प अस्थिर ९६, चार कल्प अवस्थित ९६।

४. श्रमणों की विविध भूमिकाएँ ९७-१०८

सचेल ९७, आचारांग में दी गई वस्त्रों की सूची ९८, श्रमणियों के लिए विशेष वस्त्रों का विधान ९८, अचेल १००, स्थविरकल्प १०१, जिनकल्प १०२, सपात्र जिनकल्पी श्रमण १०३, करपात्र जिनकल्पी श्रमण १०५, भिक्षु प्रतिमाएँ १०६, श्रमणियों का विशेष आचार १०७।

५. श्रमण संघ की व्यवस्था और उसके नियामक १०९-१३०

धर्म चक्रवर्ती १०९, गण-व्यवस्था १०९, श्रमणों के सात विभाग १०९, संघ व्यवस्था ११०, आचार्य-उपाध्याय १११, वाचकवंश-गणधरवंश ११२, विभिन्न पदाधिकारी ११२, आचार्य ११३, आठ संपदाएँ ११४, (१) आचारसम्पदा ११४, (२) श्रुतसम्पदा ११५, (३) शरीरसंपदा ११५, (४) वचनसंपदा ११५, (५) वाचनासंपदा ११५, (६) मतिसंपदा ११६, (७) प्रयोगसंपदा ११६, (८) संग्रहपरिज्ञासंपदा ११६, छत्तीस गुण (चार विभिन्न अपेक्षाओं से) ११७, उपाध्याय ११९, उपाध्याय शब्द का अर्थ ११९, उपाध्याय का महत्त्व ११९, आठ प्रभावनाएँ १२०, उपाध्याय के गुण १२०, प्रवर्तक १२१, प्रवर्तक का महत्त्व १२१, प्रवर्तक की योग्यता एवं कर्त्तव्य १२१, स्थविर १२२, स्थविर का अभिप्राय १२२, स्थविर का संघ में गौरवपूर्ण स्थान १२३, गणी १२४, गणी–विशिष्ट श्रमण १२४, गणधर १२४, गणधर शब्द का विशिष्ट अभिप्राय एवं उनका कर्त्तव्य १२४, गणावच्छेदक १२५, गणावच्छेदक के विभिन्न गुण १२५, पद का अधिकारी १२६, विभिन्न पदों के लिए विशिष्ट योग्यताएँ १२६, श्रमणी संघ की व्यवस्था १२९, प्रवर्तिनी १२९, गणावच्छेदिनी १२९, अभिषेका १२९, प्रतिहारी १३०, अभिषेका का विशिष्ट कर्त्तव्य–द्वारपाल के समान श्रमणियों की रक्षा १३०।

६. साधना के दो मार्ग : उत्सर्ग और अपवाद १३१-१४०

उत्सर्ग और अपवाद मार्ग १३१, उत्सर्ग और अपवाद, विरोधी नहीं १३१, सामान्य विधि : उत्सर्ग १३२, विशिष्ट विधि : अपवाद १३२, रूपक के माध्यम से १३३, स्वस्थान और परस्थान १३४, अपवाद यानी रहस्य १३५, अपवाद क्यों और किसलिए? १३५, अहिंसा की दृष्टि से उत्सर्ग व अपवाद १३६, सत्य व अन्य महाव्रतों की दृष्टि से उत्सर्ग व अपवाद १३७, अतिचार और अपवाद १३९, उत्सर्ग और अपवाद में विवेक आवश्यक १३९।

७. श्रमण-साधना का हार्द : दस श्रमण धर्म १४१-१६२

धर्म क्या है? १४१, 'धर्म' शब्द का विभिन्न अर्थों में प्रयोग १४१, पाश्चात्य चिन्तकों की दृष्टि से धर्म १४२, विभिन्न ग्रन्थों में दस धर्म १४३, (१) क्षमा १४५, क्रोध को उपशांत करने वाली क्षमा १४५, अनेक अनुभूतियों का सम्मिश्रण १४६, क्षमा कवच है १४६, क्षमा और बुजदिली में अन्तर १४६, क्षमा एवं पृथ्वी १४७, क्षमा : दैवी सद्गुण १४७, जैन धर्म : क्षमा का पक्षधर १४८, क्षमा के अभाव में जप-तप व्यर्थ १४८, (२) मार्दव १४८, मार्दव का अभिप्राय–मृदुलता १४८, शत्रु और मित्र में अन्तर १४९, अनुकूल स्थिति मान का हेतु १४९, मान और दीनता १४९, मान और स्वाभिमान १५०, अधूरा छलकता है १५०, (३) आर्जव १५१, आर्जव : ऋजुभाव १५१, पवित्रता की निशानी : सरलता १५१, स्थानांग के अनुसार चार प्रकार के पुरुष (चौभंगी) १५१, सरलता जोड़ती, माया काटती १५२, भोले नहीं, भले १५२, (४) मुक्ति (निर्लोभता–शौच) १५३, मुक्ति (शौच) का स्वरूप १५३, लोभ के चार प्रकार १५३, लोभी व्यक्ति की प्रवृत्ति १५४, लोभ कषाय को नष्ट करना मुक्ति (शौच) का कार्य १५४, (५) सत्य १५४, सत्य का अभिप्राय १५४, सत्य धर्म : वीतराग भाव में रमण १५५, सत्य : जीवन व्रत १५५, (६) संयम १५५, संयम : मुक्ति का साक्षात् कारण १५५, संयम : जीवन की अद्भुत कला १५६, विभिन्न अपेक्षाओं से संयम के (सत्रह) प्रकार १५६, संयम : आन्तरिक वृत्ति की पवित्रता १५७, संयम : इन्द्रियों के बहिर्मुखी प्रवाह को अन्तर्मुखी बनाना १५७, संयम : विवेकपूर्वक अपनी इच्छाओं का नियमन १५८, जैन संस्कृति का सार–संयम १५८, (७) तप १५९, (८) त्याग १५९, त्याग का अर्थ १५९, त्याग और दान १५९, दान से बढ़कर त्याग १५९, त्याग स्वाधीन : दान पराधीन १६०, (९) आकिंचन्य १६०, बाह्य-आभ्यंतर परिग्रह का त्याग : आकिंचन्य १६०, बाह्य परिग्रह १६०, अपरिग्रह और समाजवाद में अन्तर १६१, (१०) ब्रह्मचर्य १६१, कामभोग का त्याग ब्रह्मचर्य १६१।

८. साधना की सप्राणता : भावना योग १६३-१८६

अनुप्रेक्षा और भावना १६३, भाव और भावना १६३, भाव का महत्त्व १६४, भावना के दो भेद–ऊर्ध्वमुखी और अधोमुखी भावना १६४, अशुभ भावना के प्रकार एवं स्वरूप १६५, अशुभ भावना के पाँच प्रकार १६५, स्थानांग और उत्तराध्ययन में वर्णित अशुभ भावनाओं के चार-चार प्रकार १६६, अशुभ भावनाओं का संक्षिप्त विवेचन १६६, शुभ भावनाओं के भेद-प्रभेद १६७, चारित्र भावना और वैराग्य भावना १६७, चारित्र भावना–पाँचों महाव्रतों की २५ भावनाएँ १६७, धर्मध्यान और शुक्लध्यान की अनुप्रेक्षाएँ १६७, द्वादश वैराग्य भावनाएँ १६९, (१) अनित्य भावना १६९, (२) अशरण भावना १७०, (३) संसार भावना १७१, (४) एकत्व भावना १७२, (५) अन्यत्व भावना १७३, (६) अशौच भावना १७४, (७) आश्रव भावना १७५, आश्रव के भेद-प्रभेद १७५, (८) संवर भावना १७६, संवर के भेद-प्रभेद १७६, (९) निर्जरा भावना १७७, सकाम और अकाम निर्जरा १७७, निर्जरा का मुख्य कारण : तप १७८, (१०) धर्म भावना १७९, धर्म के लक्षण १७९, (११) लोक भावना १७९, लोक का स्वरूप १७९, षट्द्रव्यों का स्वरूप १८०, (१२) बोधिदुर्लभ भावना १८२, धर्मध्यान को पुष्ट करने वाली चार भावनाएँ १८२, (१) मैत्री भावना १८३, (२) प्रमोद भावना १८४, (३) कारुण्य भावना १८५, (४) माध्यस्थ्य भावना १८५।

९. साधना के विघ्न और विजय : परीषह १८७-१९९

परीषह : परिभाषा १८७, परीषह और कायक्लेश १८८, परीषह क्रम में अन्तर १८८, बाईस परीषह १८८, (१) क्षुधा १८९, (२) पिपासा १८९, (३) शीत १९०, (४) उष्ण १९०, (५) दंश-मशक १९१, (६) अचेल १९१, (७) अरति १९२, (८) स्त्री १९२, (९) चर्या १९२, (१०) निषद्या १९३, (११) शय्या १९३, (१२) आक्रोश १९३, (१३) वध १९४, (१४) याचना १९४, (१५) अलाभ १९४, (१६) रोग १९५, (१७) तृण-स्पर्श १९५, (१८) जल्ल १९६, (१९) सत्कार-पुरस्कार १९६, (२०) ज्ञान १९६, (२१) दर्शन १९७, (२२) प्रज्ञा १९७, किसमें कितने परीषह? १९८, एक साथ कितने परीषह? १९९, परीषह और कर्म १९९।

१०. समाधिमरण की कला : संलेखना २००-२४४

जीवन और मरण २००, मृत्यु का भय सबसे बड़ा २०१, मृत्युकला २०२, मृत्यु महोत्सव २०३, जीवन और मृत्यु एक-दूसरे के प्रेरक २०३, मरण-शुद्धि

२०४, मरण के विविध प्रकार २०४, बालमरण के बारह प्रकार २०५, पण्डितमरण के दो प्रकार २०५, समवायांग के अनुसार मरण के सत्रह प्रकार २०५, (१) आवीचिमरण २०५, (२) अवधिमरण २०६, (३) आत्यंतिकमरण २०६, (४) वलायमरण २०६, (५) वशार्तमरण २०७, (६) अन्तःशल्यमरण २०७, (७) तद्भवमरण २०७, (८) बालमरण २०७, (९) पण्डितमरण २०७, (१०) बालपण्डितमरण २०७, (११) छद्मस्थमरण २०८, (१२) केवलीमरण २०८, (१३) वैहायसमरण २०८, (१४) गृद्धपृष्ठमरण २०८, (१५) भक्तप्रत्याख्यानमरण २०८, (१६) इंगिणीमरण २०८, (१७) पादपोपगमनमरण २०९, पादपोपगमन के दो भेद–निर्हारी और अनिर्हारी २०९, मरण के दो प्रकार–सकाममरण और अकाममरण २१०, भक्तप्रत्याख्यान और इंगिणीमरण में अन्तर २११, भक्तप्रत्याख्यान के दो भेद–सविचार और अविचारमरण २११, निरुद्ध २१२, निरुद्धतर २१२, परम निरुद्ध २१२, पण्डितमरण के दो भेद–सागारी संथारा और सामान्य संथारा २१३, संथारा पोरसी २१३, संलेखना का महत्त्व २१४, संलेखना : जीवन की अन्तिम साधना २१४, संलेखना : मृत्यु पर विजय पाने की कला २१५, संलेखना और समाधिमरण २१५, संलेखना क्या शिक्षाव्रत है? २१५, संलेखना की व्याख्या २१६, संलेखना कब करनी चाहिए? २१८, वैदिक परम्परा और संलेखना २१८, संलेखना की विधि २२०, संथारे की विधि २२४, संथारा-संलेखना का महत्त्व २२६, संलेखना के पाँच अतिचार २२७, संलेखना आत्महत्या नहीं है २२८, संलेखना की विशेषताएँ २३०, संलेखना आत्म-बलिदान नहीं २३२, संलेखना और आत्मघात में अन्तर २३३, बौद्ध परम्परा में २३४, वैदिक परम्परा में २३४, वैदिक परम्परा के अनुसार पाँच प्रकार के मरण २३५, (१) कालप्राप्तमरण २३५, (२) अनिच्छितमरण २३५, (३) प्रमादमरण २३५, (४) इच्छितमरण २३५, (५) विधिमरण २३६, गौतम धर्मशास्त्र के अनुसार मरण की आठ विधियाँ २३६, रामायण काल में प्रचलित मरण की विधियाँ २३६, वैदिक साहित्य में आत्मघात विरोधी वचन २३७, मनुस्मृति आदि वैदिक ग्रन्थों में आत्मघात से पाप-शुद्धि और स्वर्ग-प्राप्ति का प्रतिपादन करने वाले वचन २३८, स्वेच्छापूर्वक मृत्यु का अनुमोदन २४०, सती-प्रथा का अनुमोदन २४०, प्राचीनकाल में यूनान में प्लेटो और अरस्तू द्वारा सती-प्रथा का विरोध २४१, इस्लाम धर्म में स्वैच्छिक मृत्यु का समर्थन नहीं २४१, वैदिक धर्म के मरण सम्बन्धी चिन्तन की समीक्षा २४२, समाधिमरण : एक मूल्यांकन २४२।

११. जीवन का समग्र विवेक : अहिंसा २४५-२९१

जीवन की संगीत : अहिंसा २४५, अहिंसा की अमोघ शक्ति २४६, वैदिक धर्म में अहिंसा २४६, वेदों में अहिंसा २४६, उपनिषद् साहित्य में अहिंसा २४७, स्मृति साहित्य में अहिंसा २४८, महाकाव्यों में अहिंसा २४९, गीता में अहिंसा २५१, पुराण साहित्य में अहिंसा २५२, दार्शनिक साहित्य में अहिंसा २५४, बौद्ध धर्म में अहिंसा २५५, यहूदी धर्म में अहिंसा २५७, पारसी धर्म में अहिंसा २५९, ताओ धर्म में अहिंसा २५९, कन्फ्यूशियस और अहिंसा २६०, ईसाई धर्म में अहिंसा २६१, इस्लाम धर्म में अहिंसा २६१, सूफी सम्प्रदाय में अहिंसा २६२, शिन्तो धर्म में अहिंसा २६३, सिक्ख धर्म में अहिंसा २६३, सन्त साहित्य में अहिंसा २६४, जैन धर्म में अहिंसा २६५, अहिंसा का मूलाधार समता २६७, अहिंसा की परिभाषा २६७, हिंसा की परिभाषा २६८, हिंसा के दो भेद : द्रव्यहिंसा और भावहिंसा २६९, हिंसा के विविध विकल्प २६९, हिंसा के तीन रूप २७१, हिंसा के चार विभाग २७२, संकल्पी हिंसा २७२, आरम्भी हिंसा २७२, उद्योगी हिंसा २७२, विरोधी हिंसा २७२, विरोधियों के आक्षेप और उनका समाधान २७३, हिंसा-अहिंसा का विश्लेषण २७३, कर्मबन्ध की अपेक्षा से हिंसा की तरतमता २७५, अहिंसा के दो प्रकार : विधेयात्मक और निषेधात्मक २७९, अहिंसा के व्यावहारिक रूप : दया, अभय आदि २७९, दया के चार विभाग २७९, स्व-दया २७९, पर-दया २७९, द्रव्य-दया २७९, भाव-दया २८०, अभय २८०, प्रवृत्ति-निवृत्ति का समन्वय : सम्पूर्ण अहिंसा २८०, अहिंसा महाव्रत २८१, अहिंसा महाव्रत की भावनाएँ २८३, (१) ईर्यासमिति भावना २८५, (२) मनःसमिति भावना २८५, (३) वचनसमिति भावना २८५, (४) एषणासमिति भावना २८६, (५) आदान-निक्षेपणसमिति भावना २८७, उपसंहार २८८।

१२. सत्य की सर्वांग साधना २९२-३१०

एक सिक्के के दो पहलू २९२, सत्य की परिभाषा २९२, सत्य की महिमा २९३, सत्य प्रज्वलित प्रदीप २९४, जीवन की ऊष्मा : सत्य २९४, असत्य का मूल स्रोत २९५, सत्यदृष्टि और सत्य २९६, असत्य बोलने के कारण २९६, मृषावाद

के चार प्रकार २९७, (१) सद्भाव प्रतिषेध २९७, (२) असद्भाव उद्भावना २९७, (३) अर्थान्तर २९७, (४) गर्हा २९७, सत्यं शिवं सुन्दरम् २९८, मानव का श्रेष्ठ गुण : सत्य २९९, सृष्टि सत्य पर प्रतिष्ठित है २९९, आत्म-साक्षात्कार का साधन : सत्य ३००, सत्य पर चलना कठिन ३०१, सत्य और आचरण ३०१, सत्य : जीवन का आधार ३०२, सत्य का मरहम ३०२, सत्य का अपूर्व बल ३०२, सत्य का दिव्य प्रभाव ३०३, सत्यवादी का महत्त्व ३०३, सत्य : सुदृढ़ कवच है ३०४, सत्य महाव्रत की भावनाएँ ३०५, आचारांग के अनुसार ३०६, समवायांग के अनुसार ३०६, प्रश्नव्याकरण के अनुसार ३०६, चारित्र प्राभृत के अनुसार ३०६, (१) अनुचिन्त्य समिति भावना ३०६, सत्य के बाधक तत्त्व ३०७, (१) अलीक वचन ३०७, (२) पिशुन वचन अथवा चुगली ३०७, (३) कठोर वचन ३०७, (४) कटु वचन ३०७, (५) चपल वचन ३०७, अनुचिन्त्य भाषण के अन्य ग्रन्थों में प्रयुक्त अन्य नाम ३०७, (२) क्रोधनिग्रहरूप क्षमा भावना ३०८, (३) लोभविजयरूप निर्लोभ भावना ३०८, (४) भयमुक्तियुक्त अभय भावना ३०९, सप्त भय ३०९, (५) हास्यमुक्ति वचन-संयमरूप भावना ३०९, हँसी-मजाक और विनोद में अन्तर ३१०।

१३. अस्तेय व्रत के विविध आयाम ३११-३२२

स्तेय ३११, अस्तेय वृत्ति ३११, अस्तेय : परिभाषा ३१२, दशवैकालिकसूत्र में दी गई परिभाषा ३१२, प्रश्नव्याकरणसूत्र में दी गई स्तेय की दो परिभाषाएँ ३१२, अधिकार की सीमा ३१२, अस्तेय का महत्त्व ३१३, संग्रहवृत्ति : तस्करी का मूल ३१३, आज भारत वैसा नहीं ३१४, चोरी के विभिन्न प्रकार ३१४, नजर चौर्यकर्म ३१५, ठगी ३१५, उद्घाटक ३१५, बलात् ३१५, घातक ३१५, अप्रत्यक्ष चोरी के प्रकार ३१५, चोरी के अन्य प्रकार ३१६, दूसरे की सम्मति बिना उसकी वस्तु का प्रयोग करना चोरी ३१६, आवश्यकता से अधिक संग्रह ३१६, निज की शक्तियों का उपयोग न करना ३१६, कृतघ्नता ३१६, उपकार विस्मरण ३१६, तस्कर व्यापार ३१६, कर्त्तव्यहीनता ३१६, किसी काम में उचित से अधिक समय लगाना ३१६, अस्तेय महाव्रत ३१६, आज्ञा से ग्रहण करे ३१७, अचौर्य महाव्रत के भंग ३१७, अचौर्य महाव्रत की भावनाएँ ३१७, (१) विविक्त वास समिति ३१८, (२) अनुज्ञात संस्तारक ग्रहण रूप अवग्रह समिति भावना ३१८, (३) शय्या संस्तारक परिकर्म वर्जना रूप शय्या समिति भावना ३१८, (४) अनुज्ञात भक्तादि भोजन लक्षणा साधारण पिण्डपात लाभ समिति भावना ३१९, (५) साधर्मिक विनयकरण समिति भावना ३२०, नाम व क्रम में अन्तर ३२०,

समवायांगसूत्र में ३२०, आचारांग में ३२०, आचारांगचूर्णि में ३२१, आवश्यकचूर्णि में ३२१, तत्त्वार्थसूत्र में ३२२, भावनाओं का परिणाम ३२२।

१४. जीवन का ऊर्ध्वारोहण : ब्रह्मचर्य ३२३-३४६

व्रतों का सरताज ३२३, ब्रह्मचर्य का अर्थ ३२३, वीर्य-रक्षण ३२३, वीर्य-निर्माण ३२४, वीर्य ही जीवन है ३२४, वीर्य की अद्भुत शक्ति ३२५, शरीरशास्त्रियों का मत ३२६, शक्ति का अक्षय कोष ३२७, मैथुन के प्रकार ३२७, मनोविज्ञान की दृष्टि से ३२७, ब्रह्मचर्य : आत्मरमण ३२७, ब्रह्मचर्य : अपूर्व कला ३२८, ब्रह्मचर्य में अमित शक्ति ३२८, परधर्म भयावह ३२९, ब्रह्मचर्य : विद्याध्ययन ३२९, ब्रह्मचर्य : जीवन व्रत ३२९, वेदों के अनुसार ब्रह्मचारी का अर्थ ३३०, वैदिक परम्परा में ब्रह्मचर्य एक आश्रम है ३३०, जैन दर्शन के अनुसार ब्रह्मचर्य का उद्देश्य एवं परिभाषा ३३१, अब्रह्मचर्य और हिंसा ३३१, तपों में श्रेष्ठ ३३२, बौद्ध परम्परा में ब्रह्मचर्य ३३२, ब्रह्मचर्य-रक्षा के लिए बुद्ध की स्त्रियों को प्रव्रज्या देने की अनिच्छा ३३३, जैन परम्परा में ब्रह्मचर्य ३३३, चातुर्याम : समाधान ३३४, अब्रह्म से अन्य पाप भी ३३५, ब्रह्मचर्य : वासना-विजय ३३५, अतिभोग : जीवन का रोग ३३६, बलहीन को आत्म-दर्शन सम्भव नहीं ३३६, ब्रह्मचर्य की भावनाएँ ३३७, आचारांग के अनुसार ३३७, समवायांग में वर्णित ३३७, आचारांगचूर्णि के अनुसार ३३८, आवश्यकचूर्णि में वर्णित ३३८, तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार ३३८, (१) असंसक्त वसति भावना ३३९, (२) स्त्री-कथा विरति भावना ३४०, (३) स्त्री-रूप निरीक्षण विरति भावना ३४०, (४) पूर्वरत-पूर्वक्रीड़ित विरति भावना ३४१, (५) प्रणीत आहार विरति समिति भावना ३४१, प्रणीत आहार का तात्पर्य ३४१, नौ ब्रह्मचर्य गुप्ति ३४२, उत्तराध्ययन के अनुसार ३४२, पं. आशाधर जी के अनुसार ब्रह्मचर्य के दस नियम ३४३, अमर साधिकाएँ ३४४, नीतिशास्त्र की दृष्टि से ३४४, कठोर नियम ३४५, प्रायश्चित्त व्यवस्था ३४५, सरल उपाय ३४६।

१५. अपरिग्रह का उदात्त आदर्श ३४७-३६२

पदार्थ ससीम : इच्छाएँ असीम ३४७, पेट भर सकता है, पेटी नहीं ३४७, मूर्च्छा परिग्रह ३४८, रोड़पति : क्रोड़पति ३४८, अनासक्ति की साधना : अपरिग्रह ३४९, अनर्थों की जड़ ३४९, परमेश्वर नहीं, पिशाच ३५०, पापों की जननी ३५०, परिग्रह : परिभाषा ३५०, भौतिक वैभव से व्यक्ति परिग्रही है अथवा नहीं ३५१, परिग्रह के भेद ३५२, भगवतीसूत्र के अनुसार परिग्रह के तीन भेद ३५२,

(१) कर्म परिग्रह ३५२, (२) शरीर परिग्रह ३५२, बाह्य भांडमात्र परिग्रह ३५२, अन्तरंग परिग्रह ३५२, बाह्य परिग्रह ३५३, बाह्य परिग्रह के नौ भेद ३५३, जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण के अनुसार बाह्य परिग्रह के दस भेद ३५३, परिग्रह : बन्धन ३५४, अपरिग्रह महाव्रत की भावनाएँ ३५५, प्रथम भावना—श्रोत्रेन्द्रिय संवर भावना ३५५, द्वितीय चक्षुरिन्द्रिय संवररूप भावना ३५६, तृतीय घ्राणेन्द्रिय संवर भावना ३५७, चतुर्थ रसनेन्द्रिय संवर भावना ३५८, सामान्य मानवों का लक्ष्य : स्वादिष्ट भोजन ३५८, रसनेन्द्रिय पर विजय : सब इन्द्रियों पर विजय ३५८, पाँचवीं स्पर्शेन्द्रिय संवर भावना ३५९, अपरिग्रह महाव्रत ३५९, श्रमणों के वस्त्र सम्बन्धी दिगम्बर और श्वेताम्बर मान्यताएँ ३६०, अपरिग्रह महाव्रत के चौपन भंग ३६२।

१६ विशिष्ट नियम : रात्रि-भोजन-त्याग ३६३-३७२

भोजन के लिए जीवन ३६३, जीवन के लिए भोजन ३६३, भगवान महावीर की विशेष शिक्षा ३६३, रात्रि-भोजन-त्याग : छठा व्रत ३६४, रात्रि-भोजन : अनुचित ३६४, मूलगुण : उत्तरगुण ३६५, श्रमण के लिए सर्वथा त्याज्य ३६६, रात्रि-भोजन : अतिचार ३६७, रात्रि-भोजन के दुष्परिणाम ३६८, प्रायश्चित्त का विधान ३६८, प्रश्न : समाधान ३६८, वैज्ञानिक दृष्टि से ३६९, स्वास्थ्य और रात्रि-भोजन ३७०, वैदिक परम्परा में भी रात्रि-भोजन वर्जित ३७१, श्रावकों को भी रात्रि-भोजन यथाशक्ति त्याज्य ३७१।

१७. श्रमण-साधना की लक्ष्मण रेखा : अष्ट प्रवचन माता ३७३-३९१

प्रवचन माता ३७३, प्रवचन माता का अभिप्राय ३७३, समिति गुप्ति : परिभाषा ३७४, पापों से निर्लिप्त ३७४, प्रवृत्ति और निवृत्ति ३७५, समिति ३७५, (१) ईर्या समिति ३७६, ईर्या समिति के चार आलम्बन ३७६, प्रथम आलम्बन : अवस्सिया ३७६, दूसरा आलम्बन : काल ३७७, तीसरा आलम्बन : मार्ग ३७८, चौथा आलम्बन : यतना ३७९, (२) भाषा समिति ३८०, (३) एषणा समिति ३८०, एषणा समिति के द्रव्य, क्षेत्र आदि चार प्रकार ३८१, बयालीस एवं छियानवे दोष टालकर भिक्षा ग्रहण करना ३८१, (४) आदान भाण्डमात्र निक्षेपणा समिति ३८२, द्रव्य, क्षेत्र आदि चार विकल्प ३८२, प्रतिलेखना और प्रमार्जना ३८३, प्रतिलेखना की विधि ३८३, प्रतिलेखना के प्रकार ३८३, द्रव्य-क्षेत्र-काल आदि चार विकल्प ३८३, चौदह उपकरण ३८४, उपधि के प्रकार ३८५, (५) उच्चार-प्रस्रवण-श्लेष्म-सिंघाड़-जल्ल-परिष्ठापनिका समिति ३८५, आदान निक्षेपणा

समिति और परिष्ठापनिका समिति में अन्तर ३८६, गुप्ति ३८६, (१) मनोगुप्ति ३८७, सत्य मनोगुप्ति ३८७, असत्य मनोगुप्ति ३८७, सत्यमृषा मनोगुप्ति ३८७, असत्यमृषा मनोगुप्ति ३८७, मनोगुप्ति के प्रतिफल ३८७, मन को मारो मत, साधो ३८७, (२) वचनगुप्ति ३८८, ध्वनि के चार रूप ३८८, वैज्ञानिक मान्यता के अनुसार ध्वनि की शक्ति ३८८, वचनगुप्ति से लाभ ३८८, बोलने से शक्ति का अपव्यय ३८८, बोलने की क्रिया के दो विभाग–वहिर्जल्प, अन्तर्जल्प ३८९, योग के अनुसार कम बोलने वाले को अद्‌भुत सुख की प्राप्ति ३८९, वचनगुप्ति के चार प्रकार ३९०, (३) कायगुप्ति ३९०, कायगुप्ति से लाभ ३९०, कायगुप्ति की साधना के लिए आत्मकेन्द्रित होना आवश्यक ३९१, काय समाधारणा कायगुप्ति का फल ३९१।

१८. आचार की सम्यक् भूमिकाएँ : सामाचारी ३९२-४०२

विशिष्ट क्रियाएँ : सामाचारी ३९२, श्रमणाचार के मुख्य दो भेद–व्रतात्मक आचार और व्यवहारात्मक आचार ३९२, व्यावहारिक आचार : सामाचारी ३९२, सामाचारी के विविध भेद ३९३, ओघ सामाचारी और पदविभाग सामाचारी ३९३, ओघ सामाचारी के दस प्रकार ३९३, सामाचारी के तीन प्रकार ३९३, उत्तराध्ययन के अनुसार दस विध सामाचारी ३९४, (१) आवश्यकी ३९४, (२) नैषेधिकी ३९४, (३) आपृच्छा ३९४, (४) प्रतिपृच्छा ३९५, (५) छन्दना ३९५, (६) इच्छाकार ३९६, (७) मिच्छाकार ३९७, (८) तथाकार ३९९, (९) अभ्युत्थान ३९९, (१०) उपसंपदा ४००, उपसंपदा के तीन प्रकार ४००, मूलाचार के अनुसार उपसंपदा के पाँच प्रकार ४००, श्रमण की दिन-रात्रि की परिचर्या ४०१, श्रमण की दिनचर्या में धर्मकथा का उल्लेख न होने का समाधान ४०१, स्वाध्याय पर अधिक बल देने का हेतु ४०१।

१९. अन्तर्परीक्षण, अन्तर्परिष्कार : षडावश्यक ४०३-४५५

अन्तर्दर्शन की साधना ४०३, आत्मा को परखने का उपाय : आवश्यक ४०३, आवश्यक के विभिन्न अर्थ ४०३, आवश्यक का विधान् ४०४, आवश्यक के छह अंग ४०५, सामायिक के अंगों के क्रम की वैज्ञानिकता ४०५, आवश्यक के पर्यायवाची ४०६, द्रव्य और भाव आवश्यक ४०६, (१) सामायिक ४०७, साधना का प्राण : सामायिक ४०७, श्रेष्ठ आचरण : सामायिक ४०७, समताः योग है ४०८, शुद्ध सामायिक ४०८, मोक्ष-प्राप्ति का साधन : सामायिक ४०९, समता का लहराता सागर ४१०, चौदह पूर्व का सार : सामायिक ४१०, आत्मा

ही सामायिक है ४११, विविध दृष्टियों से सामायिक ४११, नाम सामायिक ४११, स्थापना सामायिक ४१२, द्रव्य सामायिक ४१२, काल सामायिक ४१२, क्षेत्र सामायिक ४१२, भाव सामायिक ४१३, भाव सामायिक का महत्त्व ४१३, सामायिक के विविध भेद ४१४, मुख्य भेद–द्रव्य और भाव सामायिक ४१४, पात्र की अपेक्षा दो भेद–गृहस्थ की सामायिक और श्रमण की सामायिक ४१४, सामायिक के तीन भेद ४१५, सामायिक : जाति-कुल की अपेक्षा हीन शुद्ध आध्यात्मिक साधना ४१५, सामायिक का मूल्य ४१५, सामायिक के दोष ४१६, मन के दस दोष ४१६, वचन के दस दोष ४१६, काया के बारह दोष ४१७, (२) चतुर्विंशतिस्तव ४१८, तीर्थंकर सबसे महान् ४१८, अरिहंत अनेक, तीर्थंकर एक ४१९, तीर्थंकरों के उज्ज्वल आदर्श ४१९, प्रेरणा का स्रोत : स्तुति ४२०, तीर्थ के निर्माता : तीर्थंकर ४२१, स्तुति से दर्शन की विशुद्धि ४२१, (३) वन्दन ४२२, सद्गुणी को नमस्कार ४२२, वन्दनीय कौन? ४२३, द्रव्यवन्दन और भाववन्दन ४२३, वन्दन बत्तीस दोषों से रहित ४२४, (४) प्रतिक्रमण ४२४, अमोघ औषध : प्रतिक्रमण ४२४, पापों की आलोचना : प्रतिक्रमण है ४२५, प्रतिक्रमण के पाँच प्रकार ४२६, प्रतिक्रमण के पर्यायवाची ४२६, (१) प्रतिक्रमण ४२६, (२) प्रतिचरणा ४२७, (३) परिहरणा (प्रतिहरणा) ४२७, (४) वारणा ४२७, (५) निवृत्ति ४२७, (६) निन्दा ४२७, (७) गर्हा ४२८, (८) शुद्धि ४२८, प्रतिक्रमण के चार भेद ४२८, द्रव्य और भाव प्रतिक्रमण ४२९, आत्मशुद्धि : प्रतिक्रमण ४३०, काल की दृष्टि से प्रतिक्रमण के भेद ४३०, दैवसिक ४३०, रात्रिक ४३०, पाक्षिक ४३०, चातुर्मासिक ४३०, सांवत्सरिक ४३१, स्थानांगसूत्र के अनुसार प्रतिक्रमण के छह भेद ४३१, जीवन को माँजने की कला : प्रतिक्रमण ४३१, जीवन को सुधारने का उपक्रम ४३२, साधक की विशेषता ४३३, (५) कायोत्सर्ग ४३४, कायोत्सर्ग : अन्तर्मुखी साधना ४३४, शरीर और आत्मा पृथक् है ४३५, कायोत्सर्ग और मर्यादाएँ ४३६, द्रव्य कायोत्सर्ग और भाव कायोत्सर्ग ४३६, कायोत्सर्ग के चार प्रकार ४३७, (१) उत्थित-उत्थित ४३७, (२) उत्थित-निविष्ट ४३७, (३) उपविष्ट-उत्थित ४३८, (४) उपविष्ट-निविष्ट ४३८, कायोत्सर्ग के नौ प्रकार ४३८, कायोत्सर्ग की मुद्रा ४३९, भाव कायोत्सर्ग ४३९, कषाय व्युत्सर्ग ४३९, संसार व्युत्सर्ग ४४०, कर्म व्युत्सर्ग ४४०, प्रयोजन की दृष्टि से कायोत्सर्ग के दो भेद ४४०, चेष्टा कायोत्सर्ग ४४०, अभिभव कायोत्सर्ग ४४१, कायोत्सर्ग का ध्येय, परिमाण और कालमान (प्रवचनसारोद्धार और विजयोदयावृत्ति के अनुसार–तालिका) ४४१, दिगम्बर परम्परा के अनुसार कायोत्सर्ग का कालमान ४४२, श्रमण के लिए कायोत्सर्ग का विधान ४४३, कायोत्सर्ग के प्रयोजन ४४३,

कायोत्सर्ग का फल ४४४, (१) देह जाड्य शुद्धि ४४४, (२) मति जाड्य शुद्धि ४४४, (३) सुख-दुःख तितिक्षा ४४४, (४) अनुप्रेक्षा ४४४, (५) ध्यान ४४४, कायोत्सर्ग से लाभ (शरीर शास्त्रीय दृष्टि से) ४४५, स्नायविक तनाव की औषधि : कायोत्सर्ग ४४५, कायोत्सर्ग और मुद्रा ४४५, कायोत्सर्ग और श्वास ४४६, (६) प्रत्याख्यान ४४७, प्रत्याख्यान : आवश्यक ४४८, शाश्वत सुख का कारण ४४८, प्रत्याख्यान के दो भेद–मूलगुण प्रत्याख्यान और उत्तरगुण प्रत्याख्यान ४४९, दस प्रत्याख्यान ४४९, (१) अनागत ४४९, (२) अतिक्रान्त ४४९, (३) कोटिसहित ४५०, (४) नियंत्रित ४५०, (५) साकार ४५०, (६) निराकार ४५०, (७) परिमाणकृत ४५१, (८) निरवशेष ४५१, (९) संकेतिक ४५१, (१०) अद्धा ४५१, प्रत्याख्यान की विशुद्धि ४५२, (१) श्रद्धानविशुद्धि ४५२, (२) ज्ञानविशुद्धि ४५२, (३) विनयविशुद्धि ४५२, (४) अनुभाषणाविशुद्धि ४५२, (५) अनुपालनाविशुद्धि ४५२, (६) भावविशुद्धि ४५२, प्रत्याख्यान के दोष ४५३, सुप्रत्याख्यान और दुष्प्रत्याख्यान ४५३, प्रत्याख्यान की चतुर्भंगी ४५३, प्रत्याख्यान के विविध प्रकार ४५४, (१) संभोग प्रत्याख्यान ४५४, (२) उपधि प्रत्याख्यान ४५४, (३) आहार प्रत्याख्यान ४५४, (४) योग प्रत्याख्यान ४५४, (५) सद्भाव प्रत्याख्यान ४५४, (६) शरीर प्रत्याख्यान ४५४, (७) सहाय प्रत्याख्यान ४५५, (८) कषाय प्रत्याख्यान ४५५, उपसंहार ४५५।

उपसंहार ४५६-४५८

परिशिष्ट (१) पारिभाषिक शब्द-कोष ४५९-४९५

परिशिष्ट (२) प्रयुक्त ग्रन्थ सूची ४९६-५०४

श्रीमान् मुन्नीलाल जी राजकुमार जी जैन, लोहटिया : एक परिचय

पंजाब की पावन पुण्य धरा लुधियाना पर गुरुओं की, आचार्यों की असीम कृपा रही है। महामहिम आचार्य सम्राट श्री आत्माराम जी महाराज की वह तपोभूमि है, कर्मभूमि है, और पुण्यभूमि है। आचार्य सम्राट् की तथा अनेक मुनिजनों की असीम कृपा लोहटिया परिवार पर रही है और लोहटिया परिवार भी आचार्य व गुरुजनों के प्रति सर्वात्मना समर्पित रहे हैं।

श्रीमान् मुन्नीलाल जी राजकुमार जी जैन लोहटिया परिवार के जाने-माने हुए लब्ध प्रतिष्ठित सुश्रावक हैं। आपके पूज्य पिताश्री का नाम लाला कुन्दनलाल जी था; जो जैन समाज के प्रमुख सुश्रावक थे। दानवीर थे। अनेक संस्थाओं को सहयोग प्रदान करने वाले महान् व्यक्ति थे। आपकी धर्म पत्नी का नाम शोधा देवी था।

आपके दो पुत्र हैं श्रीमान् मुन्नीलाल जी जैन और श्री राजकुमार जी जैन। मुन्नीलाल जी की धर्मपत्नी का नाम कमलादेवी था। आपके धर्मपाल, त्रिभुवन कुमार, अशोक और अनिल ये चार सुपुत्र हैं। राजकुमार जी के धर्मपत्नी का नाम सुदर्शना जैन हैं। आपके दो पुत्र हैं, संदीप और संजय जैन तथा पुत्री का नाम है उमा मित्तल।

मुन्नीलाल जी और राजकुमार जी के पाँच बहनें हैं विद्यावती जी, कौशल्या जी, शीला जी, सुशीला जी और लीलावती जी। ये पाँचों बहिनें धर्मानुरागी तो हैं ही साथ ही आगमों की जानकार व समझदार सुश्राविका हैं।

आपका पूरा परिवार धर्म-परायण हैं। सन्त-सतियों की सेवा और स्वधर्मी भाइयों की सेवा में सदा तत्पर रहता है। आचार्य सम्राट् श्री देवेन्द्र मुनि जी महाराज के प्रति आपके पूरे परिवार की अनन्य आस्था है। आपने अपनी मातेश्वरी शोधादेवी और लाला कुन्दनलाल जी (पिताश्री) के पावन पुण्य स्मृति में प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में आर्थिक अनुदान देकर अपनी साहित्यिक रुचि तथा गुरु भक्ति का परिचय प्रदान किया है। आपकी फर्म का नाम है लुधियाना स्टील लिमिटेड, लुधियाना।

चुन्नीलाल धर्मावत
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
उदयपुर

धर्म प्रेमी उदार सद्गृहस्थ



लाला मुन्नीलाल जी जैन लोहटिया,
लुधियाना



धर्मशीला स्व. कमलादेवी, धर्मपत्नी,
श्री मुन्नीलाल जी जैन,
लुधियाना



धर्मशीला श्रीमती शीला बहन जी
लुधियाना


अणु
से
पूर्ण की यात्रा

विविध कल्प और साधना

१. श्रमणाचार से सम्बन्धित जैन साहित्य

श्रमण का महत्त्व

भारतीय संस्कृति की दो मूल धाराएँ हैं–एक ब्राह्मण संस्कृति और दूसरी श्रमण संस्कृति। ब्राह्मण संस्कृति ने गृहस्थाश्रम को विशेष महत्त्व दिया है और उसकी गौरव-गरिमा के गीत गाये हैं। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में गृहस्थाश्रम को सर्वश्रेष्ठ आश्रम कहा है। मनुस्मृति में भी स्पष्ट संकेत है कि अग्निहोत्रादि अनुष्ठान करने वाला गृहस्थ ही श्रेष्ठ है[1] वही तीन आश्रमों का पालन करता है। महाभारत में भी गृही के आश्रम को ज्येष्ठ कहा है।[2] जबकि श्रमण संस्कृति ने श्रमण जीवन को अधिक महत्त्व दिया है और श्रमण जीवन की महत्ता पर विस्तार से विवेचन किया है।

अनुसंधानकर्ताओं का मत है–जब तक ब्राह्मण संस्कृति का सम्पर्क श्रमण संस्कृति से नहीं हुआ वहाँ तक उसमें ब्रह्मचर्याश्रम और गृहस्थाश्रम ये दो ही आश्रम थे क्योंकि सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन की प्रगति के लिए ये दो ही आश्रम पर्याप्त माने जाते थे। जब श्रमण संस्कृति का व्यापक प्रभाव उस पर पड़ा तब तीसरा वानप्रस्थाश्रम और चौथा संन्यासाश्रम स्वीकार किया गया। चार आश्रम स्वीकार करने पर भी गृहस्थाश्रम की ही महत्ता सर्वोपरि रही।

किन्तु श्रमण संस्कृति में आदि काल से ही श्रमण का महत्त्व रहा है। वहाँ पर आश्रम व्यवस्था को कोई स्थान नहीं दिया गया। यदि कोई साधक गृहस्थ में ही रहना चाहता है और वह श्रावक के द्वादश व्रतों को ग्रहण करता है, तो उन व्रतों को ग्रहण करते समय वह इस सत्य-तथ्य को सरल मन से स्वीकार करता है कि मैं श्रमणधर्म को स्वीकार करने में असमर्थ हूँ, उन महान् व्रतों का पालन करना और उस कठोर आचार-संहिता को निभाना मेरे लिए सम्भव नहीं है। मैं उन्हें ग्रहण करने में असमर्थ हूँ, अतः मैं श्रावक के द्वादश व्रत ग्रहण करता हूँ।[3]

---

१. मनुस्मृति ६/८९

२. ज्येष्ठाश्रमो गृही –*महाभारत–शान्तिपर्व २३/५*

३. उवासगदसाओ १/१२ (प्र. आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर)

वह गृहस्थाश्रम में रहकर व्रतों का पालन करता हुआ भी प्रतिपल-प्रतिक्षण यही चिन्तन करता है कि वह दिन कब होगा जिस दिन मैं श्रमणधर्म को ग्रहण कर अपने जीवन को सार्थक करूँगा।

छद्मवेषधारी इन्द्र ने नमि राजर्षि को नम्र निवेदन किया--"राजर्षे ! तुम सर्वप्रथम यज्ञ करो। श्रमण और ब्राह्मणों को भोजन कराओ। उदार मन से दान दो और उसके बाद श्रमण बन जाना।" नमि राजर्षि ने इन्द्र को उत्तर में कहा--"जो मानव प्रति माह दस लाख गायें दान में देता है उसके लिए भी (उससे) संयम श्रेष्ठ है।" अर्थात् दस लाख गायों के दान से भी श्रमणधर्म का पालन करना अधिक महत्त्वपूर्ण है।

श्रमण परम्परा में श्रमण जीवन को सर्वश्रेष्ठ माना है। साधना के अनुकूल वातावरण पाने के लिए वेष परिवर्तन करना होता है और गृहवास-त्याग भी आवश्यक है। यह सत्य है कि आन्तरिक जीवन की पूर्ण विशुद्धि हो चुकी हो तो गृहस्थ वेष में भी और अन्य किसी भी वेष में भी साधक मुक्ति प्राप्त कर सकता है। मुक्ति के लिए वेष उतना बाधक नहीं है जितना कि आन्तरिक विकार किन्तु आध्यात्मिक समुत्कर्ष के लिए बाह्य वातावरण भी अपेक्षित है और अभ्यास के लिए भी क्योंकि साधक अभी एक यात्री है। यात्रा के लिए अनुकूल वातावरण आवश्यक है। यदि उसे अनुकूल वातावरण न मिले तो मार्ग में ही इधर-उधर भटक सकता है, अटक सकता है और बीच में ही कहीं लटक भी सकता है। इसलिए योग्य वातावरण आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। सभी श्रमण स्थूलभद्र नहीं होते। अतः साधक को सतत जागरूक रहने की आवश्यकता है।

श्रमण-जीवन का उद्देश्य

श्रमण संस्कृति ने आध्यात्मिक विकास पर अत्यधिक बल देकर भारतीय गौरव गरिमा को बढ़ाने में अपूर्व सहयोग दिया है। जब कभी भी किसी भी राष्ट्र का पतन हुआ है उसका मूल कारण विलास, परस्पर संघर्ष और स्वार्थवृत्ति रही है। इन सभी दुर्गुणों पर विजय पाने के लिए श्रमण संस्कृति ने आध्यात्मिक विकास का सन्देश दिया है। जैन संस्कृति के श्रमण का मूल उद्देश्य है--विभाव से हटकर स्वभाव में रमण करना, परभाव से हटकर स्वभाव में आना, प्रदर्शन नहीं, आत्मदर्शन करना। यही कारण है कि वह केवल आत्म-विकास के लिए प्रव्रज्या ग्रहण करता है।

श्रमण का आचार अत्यधिक कठोर है। आध्यात्मिक विकास-क्रम (गुणस्थान की अपेक्षा) में उसका स्थान छठा है। वह यदि निरन्तर ऊर्ध्वमुखी विकास करता

रहे तो अन्त में चौदहवें गुणस्थान की भव्य भूमिका पर पहुँच जाता है और फिर सदा-सर्वदा के लिए सिद्ध बुद्ध और मुक्त भी हो जाता है।

जैन आगम साहित्य में उसके व्याख्या साहित्य में और अन्य आचार सम्बन्धी साहित्य में श्रमण जीवन सम्बन्धी आचार और विचार का बहुत ही विस्तार से वर्णन है। संयमी जीवन के बारे में ऐसा क्रमबद्ध सूक्ष्म वर्णन अन्यत्र मिलना कठिन है। हम यहाँ पर श्रमणाचार का निरूपण आगम और आगमेतर साहित्य में जिस रूप में आया है, उस रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं जिससे यह परिज्ञात हो सके कि उन ग्रन्थों में श्रमण के आचार के सम्बन्ध में कितना विराट् और तलस्पर्शी वर्णन है।

आगम साहित्य में श्रमणाचार

(१) आचारांग–अंग साहित्य में 'आचारांग' सर्वप्रथम है। चाहे रचना की दृष्टि से हो या स्थापना की दृष्टि से, किन्तु यह पूर्ण सत्य है कि उपलब्ध आगमों में आचारांग रचना शैली, भाषा शैली और विषय-वस्तु की दृष्टि से अद्‌भुत व विलक्षण है। आधुनिक विद्वानों के मतानुसार भी इसकी भाषा भगवान महावीरकालीन है। अतः यह सर्वप्रथम अंग है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

इसमें बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के आचार का निरूपण हुआ है। आचार की प्रमुखता के कारण ही प्रस्तुत आगम समग्र जैन आचार की आधारशिला है। संघ की सुव्यवस्था के लिए सबसे पहले आचार की आवश्यकता है। श्रमण-जीवन की साधना का जो शब्द-चित्र आचारांग में उपलब्ध होता है, वह अनूठा है।

आचार्य भद्रबाहु ने स्पष्ट शब्दों में यह सूचित किया है कि मुक्ति का अव्याबाध सुख प्राप्त करने का मूल आचार है। अंगों का सार तत्त्व आचारांग में रहा हुआ है। मोक्ष का साक्षात् कारण आचार है, इसलिए आचार प्रवचन का आधार है। इसी कारण बिना आचारांग के परिज्ञान के, कोई भी श्रमण आचार्य जैसे पद को प्राप्त नहीं कर सकता।

आचारांग के दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में नौ अध्ययन हैं इनमें से सातवाँ अध्ययन वर्तमान में उपलब्ध नहीं है।

प्रथम 'शस्त्रपरिज्ञा' अध्ययन में पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय और वायुकाय के जीवों का विश्लेषण करते हुए जीवों के वध न करने का सन्देश दिया गया है।

द्वितीय 'लोकविजय' (अथवा लोकविचय) अध्ययन में बताया गया है कि संसार का मूल कषाय है। कषाय पर विजय-वैजयन्ती फहराने के लिए स्वजनों में

अनासक्ति, तप और संयम के द्वारा जो साधना में शैथिल्य आ जाय तो उस शैथिल्य से मुक्त होकर साधना में सुदृढ़ रहना चाहिए।

तृतीय 'शीतोष्णीय' अध्ययन में शीत व उष्ण अर्थात् सुख और दुःख में समभाव रखने की प्रेरणा दी गई है। चाहे अनुकूल स्थिति हो चाहे प्रतिकूल परिस्थितियाँ हों, परीषह समुपस्थित हों, कामवासना, शोक-सन्ताप आदि सभी स्थितियों में साधक को संयम साधना में स्थिर रहना चाहिए।

चतुर्थ 'सम्यक्त्व' अध्ययन में अहिंसाधर्म की स्थापना कर सम्यक्त्ववाद का प्ररूपण किया गया है। वहाँ कहा गया है कि जो हिंसा करते हैं, वे अनार्य हैं। अहिंसाधर्म का पालन करने वाला ही सच्चा आर्य है। अहिंसा धर्म ही नित्य है, ध्रुव है, शाश्वत है। अहिंसा, सत्य आदि सद्गुणों पर दृढ़ निष्ठा रखते हुए इसका आचरण करना चाहिए।

पाँचवें 'लोकसार' अध्ययन में यह बताया है कि सम्पूर्ण लोक का सार धर्म है। धर्म का सार ज्ञान, ज्ञान का सार संयम और संयम का सार मोक्ष है। इस पर विस्तार से प्रकाश डाला है।

छठे 'धूत' अध्ययन में तप और संयम के द्वारा कर्ममल को नष्ट करने की प्रेरणा दी गई है।

सातवें 'महापरिज्ञा' अध्ययन में निर्युक्ति और आचार्य शीलांक की वृत्ति के अनुसार संयमी श्रमण को साधना में विघ्न समुत्पन्न करने वाले मोहजन्य उपसर्ग और परीषहों को समभाव से सहन करने की प्रबल प्रेरणा दी गई है। किन्तु यह अध्ययन वर्तमान में उपलब्ध नहीं है।

आठवें 'विमोक्ष' या 'विमोह' अध्ययन में सभी प्रकार के मोह से मुक्त होने का उपदेश दिया गया है। अपने से भिन्न आचार वाले श्रमणों के साथ किस प्रकार व्यवहार रखना चाहिए?–इस पर भी प्रकाश डाला गया है। श्रमण प्रतिमाएँ, पादपोपगमन संथारे आदि के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए इस बात पर बल दिया गया है कि यदि संयम भंग करने की स्थिति उत्पन्न हो तो मरण का वरण कर लेना चाहिए, किन्तु संयम का परित्याग नहीं करना चाहिए।

नौवें 'उपधानश्रुत' अध्ययन में भगवान महावीर की साधना का शब्द-चित्र उपस्थित किया है और इसी तरह अन्य साधकों को भी साधना-पथ पर बढ़ने के लिए उत्प्रेरित किया है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध 'आचाराग्र' में पाँच चूलिकाएँ हैं। इनमें से चार चूलिकाएँ आचारांग में हैं और पाँचवीं चूला 'निशीथ' के नाम से प्रसिद्ध है। इन चूलिकाओं में पिण्डैषणा, शय्यैषणा, ईर्येषणा, भाषैषणा, वस्त्रैषणा, पात्रैषणा, अवग्रहैषणा,

स्थान, निर्शाधिका, उच्चार-प्रस्रवण, शब्द, रूप, अन्योन्य क्रिया आदि का वर्णन है। पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं का निरूपण कर, मोक्ष के सम्बन्ध में विविध उपमाएँ देकर वीतराग स्वरूप का चिन्तन किया है। इसमें श्रमण के आचार का हृदयग्राही वर्णन है। जितने भी श्रमणधर्म सम्बन्धी पहलू हैं उन सब पर यहाँ गहराई से विश्लेषण किया गया है।

आचारांग के विषयों की तुलना पालि-विनयपिटक के अन्तर्गत महावग्ग से की जा सकती है जिसमें तथागत बुद्ध की संक्षिप्त जीवनी के साथ भिक्षुचर्या के नियम भी हैं।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि आचारांग में श्रमणों के लिए जो आचार-संहिता प्रस्तुत की गई है, वह बहुत ही उग्र है। श्रमण के अशन, वसन, पात्र, निवास-स्थान के सम्बन्ध में यह नियम बताया है कि श्रमण के निमित्त यदि कोई वस्तु बनाई हुई हो या जो पुरानी हो चुकी हो उसमें पुनः नवीन संस्कार कर दिया हो तो भी श्रमण उसे ग्रहण न करे।

श्रमण उद्दिष्ट-त्यागी होता है। जैन श्रमण वैदिक परम्परा और बौद्ध परम्परा के भिक्षुओं के समान किसी भी गृहस्थ का भोजन आदि के लिए निमन्त्रण स्वीकार नहीं करता।

वैदिक परम्परा के ऋषियों के निवास के लिए आश्रमों की व्यवस्था थी और तथागत बुद्ध तथा उनके अनुयायी भिक्षुओं के लिए विहारों का निर्माण किया गया था। पर जैन श्रमणों के लिए निवास-स्थान का निर्माण करना निषिद्ध था। यदि उसके निमित्त भवन का निर्माण किया जाता और यह बात श्रमण को ज्ञात हो जाती तो वह उसमें नहीं ठहरता था।

बौद्ध भिक्षुओं के लिए वस्त्र ग्रहण करना आवश्यक था। भले ही वह वस्त्र कोई श्रद्धालु खरीदकर भी देता तो उसे बौद्ध भिक्षु सहर्ष ग्रहण कर लेता था। वह बहुमूल्य वस्त्रों को भी ग्रहण करता था। पर जैन श्रमण के लिए वस्त्र ग्रहण उत्सर्ग मार्ग नहीं था। वह अपने लिए खरीदा हुआ वस्त्र ग्रहण नहीं कर सकता था और न रंग-बिरंगे बहुमूल्य वस्त्र ही ग्रहण करता था। आवश्यकता होने पर लज्जा निवारण के लिए अनासक्त भाव से ही वह वस्त्र का उपयोग करता था।

श्रमण भिक्षा से अपना जीवनयापन करता था। भोजन के निमित्त किसी भी प्रकार की हिंसा न स्वयं करता और न दूसरों से करवाता और न उसकी अनुमोदना ही करता था। गृहस्थ अपने लिए जो कुछ बनाता उसी में से अपने कल्प के अनुसार ग्रहण कर लेता था। जबकि वैदिक परम्परा के संन्यासी इस दृष्टि से

जागरूक नहीं थे। वे कन्द-मूल, फल-फूल के आहार को निर्दोष मानकर उसका उपयोग करते थे। वे पानी में जीव न मानकर अनेकों बार स्नान करने में धर्म मानते थे। मिलिंदप्रश्न के अनुसार तथागत बुद्ध भी पानी में जीव नहीं मानते थे। वैदिक परम्परा में पंचाग्नि तप तपने की भी परम्परा थी और ऐसा संन्यासी उत्कृष्ट माना जाता था।

वैदिक परम्परा के ऋषि घर का त्याग करते थे पर पत्नी का नहीं; जबकि श्रमण परम्परा में स्त्री-संग का पूर्ण त्याग अनिवार्य था। गृहत्याग के साथ सर्वसंगत्यागी होना आवश्यक था। शरीर-शुद्धि नहीं, आत्म-शुद्धि प्रमुख थी।

इस तरह आचारांग में आचार का गहराई से विश्लेषण हुआ है।

(२) सूत्रकृतांग–प्रस्तुत आगम द्वितीय अंग है। इसके भी दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में सोलह और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सात अध्ययन हैं।

प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन 'समय' में पर-समय का परिचय प्रदान कर उसका निरसन किया गया है। बंध, हिंसा और वैरवृत्ति का कारण परिग्रह है। पर-वादियों का परिचय देते हुए तीन सौ तिरसठ मतों का उल्लेख किया गया है। श्रमण के लिए आचरणीय समिति, गोहनिवृत्ति परीषहजय, कषायजय आदि का उपदेश द्वितीय 'वैतालीय' अध्ययन में दिया गया है। तृतीय अध्ययन 'उपसर्ग' में अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्ग उपस्थित होने पर स्वधर्म से च्युत न होने की प्रेरणा दी गई है। जैसे पानी के अभाव में मछली छटपटाकर प्राण दे देती है वैसे ही साधक भी प्रतिकूल परीषह उपस्थित होने पर प्राणों का त्याग कर दे। अनुकूल परीषह समुत्पन्न होने पर उसे दृढ़ता के साथ अपने व्रतों का पालन करना चाहिए। चतुर्थ अध्ययन 'स्त्रीपरिज्ञा' में बताया गया है कि जो साधक योगसाधना को विस्मृत होकर भोग में उलझ जाता है, वह साधना से भ्रष्ट हो जाता है। अतः श्रमण को स्त्री-संसर्ग से सर्वथा बचते रहना चाहिए।

पाँचवें 'नरक विभक्ति' अध्ययन में नरक की दारुण वेदना का वर्णन है। छठे 'वीरस्तुति' अध्ययन में भगवान महावीर की विविध उपमाएँ देकर स्तुति की गई है। उनके त्याग-वैराग्य से छलछलाते हुए जीवन का दिग्दर्शन है। सातवें 'कुशील' अध्ययन में कुशील का वर्णन है। आठवें 'वीर्य' अध्ययन में यह बताया है कि साधक को असंयम में नहीं, अपितु संयम में पुरुषार्थ करना चाहिए। नौवें 'धर्म' अध्ययन में धर्म पर चिन्तन है। दसवें 'समाधि' अध्ययन में भाव-समाधि पर प्रकाश डाला गया है। ग्यारहवें 'मार्ग' अध्ययन में ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप का विश्लेषण किया गया है। बारहवें 'समवसरण' अध्ययन में अक्रियावादी,

अज्ञानवादी, विनयवादी और क्रियावादी-इन चार समवसरणों में उल्लेखपूर्वक यह बताया गया है कि उनके आचार का क्या रूप था? तेरहवें 'याथातथ्य' अध्ययन में क्रोध का दुष्परिणाम बताकर श्रमण को अहर्निश श्रद्धालु और अमायावी तथा आज्ञापालक होने की प्रेरणा दी गई है। चौदहवें 'ग्रन्थ' अध्ययन में बताया गया है कि श्रमण को बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से मुक्त होकर संयम की उत्कृष्ट साधना करनी चाहिए। पन्द्रहवें 'आदान' या 'आदानीय' अध्ययन में यह बताया गया है कि विवेक की तेजस्विता के साथ संयम साधना उत्कृष्ट होनी चाहिए। सोलहवें 'गाथा' अध्ययन में माहन, निर्ग्रन्थ, भिक्षु, श्रमण-ये अनगार के पर्यायवाची शब्द बताकर इनकी व्याख्या की गई है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध में जो सात अध्ययन हैं उन्हें निर्युक्ति में महा-अध्ययन कहा गया है। इन सात अध्ययनों में दार्शनिक विवेचन के साथ ही आचार का सुन्दर विश्लेषण है। वहाँ यह बताया गया है कि जो साधक अनासक्त, निस्पृह व अहिंसादि महाव्रतों को जीवन में मूर्तरूप देता है वह मोक्ष का अधिकारी है। बिना प्रयोजन के मनोरंजन हेतु की जाने वाली हिंसा अनर्थदण्ड है। श्रमणों को संयमपूर्वक आहार ग्रहण करना चाहिए। जो साधक षट्काय के जीवों के वध का परित्याग नहीं करता, उनके साथ मित्रवत् व्यवहार नहीं करता, उसकी भावना सतत सावद्यानुष्ठान की रहती है जिससे वह निरन्तर कर्मबंध करता है। अतः प्रत्याख्यान आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। आचार का सही पालन करने के लिए व अनाचार से बचने के लिए भाषा-विवेक आवश्यक है। आर्द्रककुमार मुनि ने गोशालक, बौद्धभिक्षु, वेदवादी ब्राह्मण, हस्तीतापस आदि के साथ विस्तार से चर्चा कर उन परम्पराओं के आचार का खण्डन कर सम्यक् आचार का प्रतिपादन किया है। लेप गाथापति के धार्मिक जीवन के माध्यम से गृहस्थ के आचार का वर्णन हुआ है। पार्श्वापत्य पेढालपुत्र और गणधर गौतम के संवाद में चातुर्याम और पंच महाव्रत का भी विश्लेषण है।

इस तरह प्रस्तुत आगम में भी आध्यात्मिक सिद्धान्तों को जीवन में ढालने का और शुद्ध श्रमणाचार का पालन करने के लिए अत्यधिक बल दिया है। श्रमणों को सांसारिक प्रवृत्तियों में भाग नहीं लेना चाहिए और न अपना मत ही प्रकट करना चाहिए, उसे मध्यस्थ भाव रखना चाहिए।

जैन श्रमणधर्म का प्रचीनतम रूप इस आगम में है। वैदिक परम्परा के प्रवृत्ति-प्रधान विधि मार्ग की प्रतिक्रियास्वरूप निवृत्तिप्रधान निषेधमार्ग का उत्कृष्टतम रूप इसमें चित्रित है।

(३) स्थानांग–यह तृतीय अंग-आगम है। बौद्ध पिटकों में जो स्थान अंगुत्तरनिकाय का है वही स्थान अंग साहित्य में स्थानांग का है। इस आगम में एक स्थान से लेकर दस स्थान तक विविध विषयों पर वर्णन है। इसकी शैली कोश-प्रधान है। महाभारत के वनपर्व में भी प्रस्तुत शैली अपनायी गयी है।

पहले स्थान से लेकर दसवें स्थान तक गृहस्थ और श्रमण दोनों की आचार सम्बन्धी विपुल सामग्री का इसमें संकलन हुआ है। किस प्रकार जीव मुक्त हो सकता है, उसका एक सुन्दर क्रम बताया है। श्रवण करने से क्या लाभ होते हैं? धर्म की क्या महिमा है? धर्म किस तरह से प्राप्त होता है। धर्म के विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न भेद, आवश्यक कर्त्तव्य, व्रत, अणुव्रत, महाव्रत, व्रतों की भावनाएँ, अष्ट प्रवचनमाता, प्रत्याख्यान और उनके भेद, बाह्य और आभ्यन्तर तप के प्रकार, प्रायश्चित्त के प्रकार, आलोचना के दोष, प्रतिक्रमण के प्रकार, विनय, सेवा, स्वाध्याय, ध्यान, मोक्ष-मार्ग आदि अनेकानेक उपयोगी और महत्त्वपूर्ण विषयों का इसमें सूचन है। आचार्य, उनकी संपदाएँ, आचार्य उपाध्याय के गण छोड़ने के कारण, दस समाचारी, निर्ग्रन्थी के नियम, पाँच प्रकार के व्यवहार, जिनकल्प आदि विभिन्न श्रमणाचार सम्बन्धी सामग्री स्थानांग में समाविष्ट है।

(४) समवायांग–यह चौथा अंग-आगम है। इसकी शैली भी स्थानांग की भाँति ही है। स्थानांग में एक स्थान से दस स्थान तक वर्णन है तो समवायांग में एक समवाय से सौ समवाय तक निरूपण है। इस अंग-आगम में श्रमणाचार सम्बन्धी विपुल सामग्री का संकलन है। जैसे–योग संग्रह, विराधना, ब्रह्मचर्य की नौ अगुप्ति, महाव्रत, संवर, निर्जरास्थान, समिति, बाह्य और आभ्यन्तर तप, श्रमणधर्म, श्रावक प्रतिमा, भिक्षु प्रतिमा, श्रमण व्यवहार (संभोग) परीषह, तीर्थंकरों के जीवन की विविध जानकारियाँ, पंच महाव्रत की भावनाएँ प्रभृति आचार सम्बन्धी सामग्री यत्र-तत्र बिखरी पड़ी है।

इन दोनों आगमों की सामग्री सूत्र-प्रधान शैली में वर्णित है। इस सूत्र शैली का अन्य आगमों में विस्तार भी हुआ है।

(५) भगवती–यह पाँचवाँ अंग-आगम है और अन्य सभी आगमों से विशाल है। जीव-अजीव आदि पदार्थों की विस्तृत व्याख्या होने से प्रस्तुत आगम का नाम 'व्याख्या प्रज्ञप्ति' है, जिसे भगवती भी कहा जाता है। इसमें इकतालीस शतक हैं जो मुख्य हैं। यों इसमें एक सौ अड़तालीस शतक हैं और छत्तीस हजार प्रश्न हैं। गणधर गौतम महान् जिज्ञासु के रूप में प्रश्न समुपस्थित करते हैं और भगवान महावीर उनका समाधान देते हैं। छोटे से छोटे प्रश्नोत्तर में जीवन और साधना के महान् रहस्य उद्घाटित हुए हैं।

विश्व विद्या की ऐसी कोई भी अभिधा नहीं है जिसकी चर्चा प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में प्रस्तुत आगम में न हुई हो। जीवादि पदार्थों की व्याख्याओं का प्ररूपण है। इसमें कुछ ऐतिहासिक संवाद भी हैं। महावीर के श्रावकों को 'वेसालिय सावय' भी कहा है। अनेक पार्श्वापत्य श्रमणों ने भगवान पार्श्व के चातुर्याम धर्म को छोड़कर पंच महाव्रतों को स्वीकार किया। वे साधना से सम्बन्धित अनेक प्रश्न महावीर के शिष्यों से पूछते हैं–सामायिक क्या है? प्रत्याख्यान क्या है? संयम क्या है? संवर क्या है? विवेक क्या है? व्युत्सर्ग क्या है? गर्हा क्या है? अगर्हा क्या है? जमाली चरित्र, शिवराजर्षि, अन्य परिव्राजक, गोशालक, माकंदी अनगार, कार्तिक श्रेष्ठी जिसने अनेकों बार ग्यारह प्रतिमाओं का पालन किया था; महुक श्रमणोपासक तथा निर्ग्रन्थों के भेद और उनके आचार सम्बन्धी पर्याप्त इसमें सामग्री उपलब्ध है। क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी, विनयवादी आदि का भी विश्लेषण है।

इस तरह प्रस्तुत आगम ज्ञान और विज्ञान का महासागर है।

(६) **ज्ञाताधर्मकथा**–यह छठा अंग-आगम है। इसमें दो श्रुतस्कन्ध हैं। उनमें उदाहरण और धर्मकथाओं के माध्यम से जैन आचार का बहुत ही गहराई से विश्लेषण किया है। साधना में प्रवेश करने के पश्चात् जरा से उपसर्ग से विचलित होने वाले साधक को पुनः साधना में सुदृढ़ होकर मेघकुमार की तरह अपने आप को न्योछावर कर देना चाहिए। साधक को आहार जीवन निर्वाह के लिए करना चाहिए और पूर्ण अनासक्त रहना चाहिए। साधना में पूर्ण निष्ठा अपेक्षित है। श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्। साधक को अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण रखना चाहिए। साधक को कभी शीघ्रता नहीं करनी चाहिए। एक बार यदि वैराग्य उत्पन्न हो गया है और उत्कृष्ट साधना प्रारम्भ कर दी हो तो भी मन में यह नहीं सोचना चाहिए कि मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं हो सकता। साधना के प्रति जरा-सी भी उपेक्षा साधक को च्युत कर देती है, जैसे–शैलक राजर्षि।

शिष्य का कर्त्तव्य है कि वह सद्गुरु की सेवा करे, भले ही गुरु साधना से च्युत हो गया हो तो भी उन्हें सेवा से धर्म-साधना की ओर प्रेरित करे। शारीरिक रूप-लावण्य के पीछे अपार गंदगी का खजाना रहा हुआ है। उसके सही स्वरूप को समझकर शरीर पर मुग्ध बनकर साधना को न भूले। रोहिणी की कथा के द्वारा इस बात पर बल दिया गया है कि साधक ! तुम जो महाव्रत ग्रहण करते हो उन महाव्रतों में निरन्तर अभिवृद्धि करना तुम्हारा कर्त्तव्य है। तभी तुम आदर्श श्रमण बन सकोगे।

जैन धर्म ने बाह्य शौच को महत्त्व नहीं दिया है। उसका लक्ष्य आध्यात्मिक शुद्धि है। इसमें पंचमुष्टि लोच, जीवन की अन्तिम साधना, पादपोपगमन आदि का भी उल्लेख है। साधना का परम बाधक तत्त्व आसक्ति है। आसक्ति से पतन अवश्यंभावी है जैसे नन्दनमणिहार का। विषयभोग नन्दीफल की तरह भले ही मधुर प्रतीत हों, किन्तु वे जीवन को समाप्त करने वाले होते हैं। जैसे कालीय द्वीप के अश्व जो सर्वतन्त्र स्वतन्त्र थे पर विषयों के अधीन होकर पराधीनता के पंक में फँस गये। साधकों को आहार किस तरह से करना चाहिए? जीवन के अंतिम क्षणों की जरा-सी उपेक्षा भी नरक का मेहमान बना सकती है और जरा-सी जागरूकता स्वर्ग तक पहुँचा देती है।

इस तरह कथाओं के माध्यम से आचार सम्बन्धी गम्भीर गुत्थियाँ सुलझाई गई हैं।

भगवान महावीर या अन्य श्रमणों के सामने पहुँचने पर गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि वह पंच अभिगम का पालन करे। वह सचित्त द्रव्य का त्याग कर एक वस्त्र से बोलते समय उत्तरासन करे। देखते ही अंजलिबद्ध होकर हाथ जोड़ना चाहिए। मस्तिष्क से अन्य विचार निकाल देना चाहिए और मन को पूर्ण रूप से एकाग्र करना चाहिए। श्रमणों के प्रति विनयपूर्ण व्यवहार रखना चाहिए। पंच महाव्रत और बारह भिक्षु प्रतिमाओं का पालन ही अनगार विनय है। रक्त से सने हुए वस्त्र को क्षार आदि से स्वच्छ किया जाता है वैसे ही शल्य से रहित जीवन विशुद्ध होता है।

(७) उपासकदशांग–यह सातवाँ अंग-आगम है। इस आगम में मुख्य रूप से श्रावक के आचार पर विश्लेषण है। पर साथ ही कुछ ऐसे प्रसंग हैं जो श्रमण जीवन की महत्ता को व्यक्त करते हैं। जैसे गणधर गौतम आनन्द को अवधिज्ञान होने पर क्षेत्र सीमा को लेकर कहते हैं कि इतना नहीं हो सकता। पर भगवान महावीर के कहने पर कि आनन्द का कथन सत्य है, तो बिना संकोच के गौतम क्षमायाचना करने के लिए पहुँच जाते हैं। एक श्रमण की कितनी उत्कृष्ट साधना है यह बात इसमें स्पष्ट की गई है। अन्य श्रमणों को भी इसका अनुसरण करना चाहिए।

(८) अन्तकृद्दशांग–इस आठवें अंग-आगम में एक श्रुतस्कन्ध, आठ वर्ग और नव्वे अध्ययन हैं। जिन महान् श्रमण-श्रमणियों ने आत्म-साधना द्वारा निर्वाण प्राप्त कर जन्म-मरण और आवागमन का अन्त किया वे अन्तकृत कहलाये। सभी श्रमण बहुत ही उत्कृष्ट तप की साधना करते हैं। यहाँ यह भी उल्लेख है कि तप की साधना करने से पूर्व वे अंग साहित्य का अध्ययन करते हैं। चाहे राजकुमार रहे हों, चाहे महारानियाँ रही हों, उनकी तपःसाधना अत्यन्त उत्कृष्ट है। वे मुक्तावली,

रत्नावली, कनकावली, लघुसिंहनिष्क्रीडित, महासिंहनिष्क्रीडित, लघुसर्वतोभद्र, महासर्वतोभद्र, भद्रोत्तर एवं आयंबिल वर्द्धमान जैसे उग्र तपों का आचरण करती है। जैन श्रमण वही बन सकता है जिसके मानस में तीव्र वैराग्य भावना हो। भले ही उसकी उम्र लघु ही हो तथापि वह साधना-पथ पर बढ़ सकता है। गजसुकुमार और अतिमुक्तककुमार की उम्र बहुत ही लघु थी तो भी उन्होंने साधना का जो आदर्श उपस्थित किया वह अद्भुत है।

प्रस्तुत आगम में श्रमण-श्रमणियों के बाह्य तप का ही नहीं, अपितु आभ्यन्तर तप के भी उत्कृष्ट रूप का दिग्दर्शन है। गजसुकुमाल की ध्यान-साधना अत्यधिक गजब की रही।

(९) अनुत्तरोपपातिकदशा—प्रस्तुत आगम नवाँ अंग-आगम है। यह तीन वर्गों में विभक्त है। इसमें तैंतीस अध्ययन हैं। उनमें तैंतीस महान् आत्माओं का संक्षेप में वर्णन है। तैंतीस में से तेईस राजकुमार सम्राट् श्रेणिक के पुत्र थे।

इस आगम में धन्यकुमार, जो काकन्दी की भद्रा सार्थवाही का पुत्र था, महावीर के उपदेश से प्रभावित होकर श्रमण बनता है और उत्कृष्ट तप करता है। छट-छट तप और पारणे में आचाम्ल व्रत स्वीकार करता है। आचाम्ल व्रत में कोई गृहस्थ जिस अन्न को बाहर फेंकने के लिए प्रस्तुत होता उस अन्न को इक्कीस बार पानी से धोकर उसको वे उपयोग करते हैं। 'कुमारसंभव' में पार्वती के उग्र तप का वर्णन है, पर वह वर्णन धन्य अनगार के तप के सामने फीका है। सम्राट् श्रेणिक की जिज्ञासा पर भगवान महावीर ने कहा कि धन्य अनगार चौदह हजार श्रमणों में महान् है।

जीवन की सान्ध्य वेला में ये सभी साधक संलेखनापूर्वक अनशन करते हैं और अनुत्तर विमान में उत्पन्न होते हैं।

इस तरह यह आगम महावीरकालीन उग्र तपस्वियों के जीवन को प्रस्तुत करता है। उनके आचार और विचारों पर गहराई से प्रकाश डालता है।

(१०) प्रश्नव्याकरण—यह दसवाँ अंग-आगम है। इसमें साधक के लिए त्याज्य पाँच आश्रवों का और ग्राह्य पाँच संवर-द्वारों का निरूपण है। संवर-द्वार में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन व्रतों का निरूपण है और साथ ही व्रतों की परिपुष्टि के लिए प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाओं का भी निरूपण है।

इस तरह इस आगम में श्रमण की आचार-संहिता का विश्लेषण है, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

(११) विपाकसूत्र–यह ग्यारहवाँ अंग-आगम है। इसके दो श्रुतस्कंध हैं–प्रथम दुःखविपाक और दूसरा सुखविपाक। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में वर्णित सुबाहुकुमार तथा अन्य दसों व्यक्ति मुनि बनते हैं, उनकी मुनिचर्या क्या और साधना का वर्णन है।

(१२) औपपातिक–इसमें भगवान महावीर के नख-शिख का वर्णन है। भगवान महावीर के श्रमण उग्र, भोग, राजन्य, क्षत्रिय, भट्ट, योद्धा, सेनापति, श्रेष्ठी व इभ्यपुत्र थे। वे श्रमण इतने उच्च कोटि के साधक थे कि उनके मल-मूत्र, थूक और हस्त आदि के स्पर्श मात्र से भी रोगी पूर्ण स्वस्थ हो जाते थे। अनेक श्रमण मेधावी, प्रतिभासम्पन्न, कुशल वक्ता व आकाशगामी विद्या में निष्णात थे। वे विविध प्रकार के तप करते थे। अंबड परिव्राजक का भी इसमें उल्लेख है और उसकी दृढ़ साधना का भी। केवली का भी विवेचन है।

इस तरह इस आगम में श्रमण के आचार का निरूपण है। श्रमण की साधना कितनी उग्र होती थी, यह भी इसमें स्पष्ट किया गया है।

(१३) राजप्रश्नीय–प्रस्तुत आगम में सूर्याभदेव द्वारा भगवान महावीर के जीवन से सम्बन्धित सम्पूर्ण घटनाक्रम को नाटक के द्वारा व्यक्त किया गया है। केशी श्रमण की दिव्य प्रतिभा का भी इसमें विश्लेषण है। एक धर्माचार्य कितना तेजस्वी होता है, यह भी बताया गया है।

(१४) उत्तराध्ययन–प्रस्तुत आगम में ३६ अध्ययन हैं। इसमें श्रमणाचार के विविध पहलुओं पर चिन्तन किया गया है। श्रमण के लिए यह अति आवश्यक है कि उसके जीवन के कण-कण में और मन के अणु-अणु में विनय की उदात्त भावना अठखेलियाँ करती रहे। विनय जिनशासन का मूल है। जो विनीत होगा वही संयमी जीवन में आने वाले उपसर्गों को सहन करने में समर्थ होगा।

मनुष्यत्व, शास्त्रश्रवण, श्रद्धा और संयम में पुरुषार्थ करना अतीव कठिन है। जीवन क्षणभंगुर है। अतः साधक को भारंड पक्षी की भाँति अप्रमत्त रहकर साधना करनी चाहिए।

जिनके जीवन में धर्म की भावनाएँ नहीं होतीं उनका मरण अकाममरण है और जो भेदविज्ञानी साधक होता है उसका मरण पंडितमरण है। पंडितमरण को ही समाधिमरण व सकाममरण कहा गया है। चाहे गृहस्थ साधक हो और चाहे श्रमण साधक हो, दोनों के लिए समाधिमरण आवश्यक माना गया है।

जिसके आचार में निर्मलता होती है वही श्रमण विज्ञ है, और वही आचार का सही रूप से पालन करता है। जो भोगासक्त होता है, इन्द्रियों के अधीन होता है उसकी वही स्थिति होती है जैसे बढ़िया घास खाने वाले बकरे की होती है।

संयमी साधक गाय की तरह जो भी रूखा-सूखा आहार मिल जाता है, उसमें सन्तोष कर लेता है।

तृष्णा आकाश की तरह अनन्त है। वह कभी पूर्ण नहीं होती। इसलिए साधक को तृष्णा से मुक्त होना चाहिए। जो तृष्णा से मुक्त होता है वह केवलज्ञान के दिव्य आलोक को प्राप्त कर सकता है जैसे कपिल केवली।

प्रव्रज्या ग्रहण करते समय सम्भव है किसी साधक के अन्तर्मानस में कुछ संसार-सम्बन्धी विचार तरंगें उठें। उन तरंगों का प्रतिनिधित्व इन्द्र ने किया है और उसका समाधान दिया है राजर्षि नमि ने। प्रस्तुत अध्ययन में इन्द्र ब्राह्मण संस्कृति का प्रतिनिधि है तो राजर्षि नमि श्रमण संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं। श्रमण जीवन की महत्ता का विश्लेषण अत्यन्त मार्मिक शब्दों में किया गया है।

साधक सतत जागरूक रहे। एक क्षण का भी प्रमाद न करे। गौतम को संलक्ष्य में लेकर सम्पूर्ण साधु समाज को अप्रमाद की प्रेरणा दी गई है।

जो विनीत होता है वही बहुश्रुत भी होता है। श्रमण संस्कृति में जातिवाद को महत्त्व नहीं दिया। हरिकेशबल मुनि जाति से चाण्डाल थे, किन्तु उनमें गुणों का इतना उत्कर्ष था कि वे श्रमणों में श्रेष्ठ श्रमण के रूप में विश्रुत हुए संयम से उत्थान होता है और भोग से पतन। जो साधक श्रमणधर्म का पालन नहीं कर सकता उसे कम से कम गृहस्थधर्म का पालन अवश्य ही करना चाहिए।

श्रमण जीवन का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा है कि साधना के पथ पर प्रत्येक साधक बढ़ सकता है क्योंकि वही जीवनोत्थान का प्रशस्त पथ है। भिक्षु के सामान्य गुणों का और ब्रह्मचर्य की महत्ता का विश्लेषण किया है। जो श्रमण साधना नहीं कर सकता वह पाप-श्रमण है। श्रमणधर्म को अनेक राजाओं ने भी ग्रहण किया। श्रमण जीवन में अनेक कष्ट आते हैं। जो साधक उस पथ पर बढ़ना चाहते हैं, कम से कम उन्हें उनका परिज्ञान आवश्यक है।

श्रमण जो इन्द्रियों का दास है वह अनाथ है और जो इन्द्रियों का स्वामी है वही नाथ है। श्रमण को नाथ कहा गया है।

संयमी जीवन में कई बार अनुकूल परीषह भी आ जाते हैं उस समय साधक की स्खलना की सम्भावना रहती है। जिस तरह से राजीमती ने रथनेमि को दृढ़ किया वैसे ही सभी साधकों को दृढ़ होना चाहिए।

ब्राह्मण वह है जो ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का पालन करता हो। श्रमण सामाचारी का भी इसमें वर्णन है। अविनीत शिष्य दुष्ट बैल की तरह है। सम्यक्त्व में पराक्रम

तभी होता है जब साधक आत्माभिमुख होता है। विविध प्रश्नोत्तरों के द्वारा संयम-साधना का प्रतिपादन किया है। तप के विविध भेद-प्रभेद के साथ ही विवेकमूलक प्रवृत्ति पर बल दिया है। आहार, भय, मैथुन, परिग्रह ये साधक के बाधक तत्त्व हैं। उसकी भी इसमें सूची दी गई है।

अनगार जीवन का विश्लेषण करते हुए अनगार का निवास-स्थान, भोजनविधि, साधनाविधि का वर्णन है। श्रमण को श्मशान, शून्यागार, वृक्ष के नीचे, दूसरों के लिए बनाये हुए आवास में रहना चाहिए और अपने लिए बनाए हुए आवास में नहीं रहना चाहिए।

इस तरह उत्तराध्ययन के विभिन्न अध्ययनों में श्रमणाचार सम्बन्धी विवेचन है।

(१५) दशवैकालिक–इस आगम में दस अध्ययन और दो चूलिकाएँ हैं। श्रमणाचार के निरूपण करने वाले आगम ग्रन्थों में दशवैकालिक का बहुत ही गौरवपूर्ण स्थान है।

इसमें सर्वप्रथम धर्म का स्वरूप और धार्मिक व्यक्ति के चरित्र पर प्रकाश डाला है। श्रमण की भिक्षावृत्ति मधुकरी है। जैसे भ्रमर रंग-बिरंगे फूलों पर बैठकर उसका स्वल्प रस ग्रहण करता है वह फूलों को किसी प्रकार का कष्ट नहीं देता, उसी प्रकार श्रमण भी किसी को कष्ट न दे।

बिना धृति के कोई भी साधक धर्म में स्थिर नहीं रह सकता। राजीमती रथनेमि को संयम में दृढ़ रहने को उत्प्रेरित करती है। वह कहती है–"अगंधन सर्प अग्नि की जाज्वल्यमान ज्वाला में जलकर अपने प्राणों का परित्याग कर देता है, पर वमन किये हुए विष को वह पुनः ग्रहण नहीं करता, वैसे ही साधक को भी जो विषयभोग परित्याग कर दिया है उसे पुनः ग्रहण नहीं करना चाहिए।"

श्रमणाचार की दृष्टि से औद्देशिक आहार, कृत आहार, आमन्त्रित आहार, स्नान-गंध-विलेपन, राजपिण्ड, दन्तधावन, देवप्रलोकन आदि विभिन्न अनाचारों का वर्णन है।

जिस कार्य में हिंसा की प्रधानता हो, वह अनाचार है। श्रमण मन, वचन और काया से न स्वयं हिंसा करता है न दूसरों को करने के लिए ही उत्प्रेरित करता है और न हिंसा की अनुमोदना ही करता है। पाँच महाव्रत, रात्रिभोजन त्याग के साथ ही श्रमण साधक को किस प्रकार चलना चाहिए, बैठना चाहिए, किस प्रकार खाना और सोना चाहिए? इस पर चिन्तन किया है।

भिक्षा के लिए जाते समय या ग्रहण करते समय विविध बातों पर श्रमण को ध्यान रखना चाहिए। जो आहार पूर्ण निर्दोष हो उसे ही ग्रहण करना चाहिए।

अनाचार के विविध पहलुओं पर प्रकाश डालते हुए इसमें उत्सर्ग और अपवाद मार्ग की भी चर्चा है।

श्रमण असत्य और मिश्र भाषा का उपयोग न करे। कठोर और अन्य प्राणियों के दिल को ठेस पहुँचाने वाली सत्य भाषा का भी उसे प्रयोग नहीं करना चाहिए।

श्रमण कषाय पर पूर्ण नियन्त्रण करे और मन को साधना में पूर्ण रूप से एकाग्र बनाये। पात्र, कम्बल, शय्या, मल, मूत्र आदि के स्थान की एकाग्र चित्त से प्रतिलेखना करे।

विनय केवल नम्रता ही नहीं, आचार है। एक शिष्य यदि केवलज्ञान भी प्राप्त कर ले तो भी उसे गुरुजनों की उसी तरह से शुश्रूषा करनी चाहिए। जैसे आशीविष सर्प के क्रुद्ध हो जाने पर प्राण संकट में पड़ जाते हैं वैसे ही आचार्य के अप्रसन्न होने पर साधक सम्यक्त्व से भी च्युत हो सकता है।

इस आगम में संवेग, निर्वेद, विवेक, सुशील-संसर्ग, आराधना, तप, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, विनय, शांति, मार्दव–ये श्रमण के लक्षण दिये हैं। श्रमण महाव्रतों का सम्यक् प्रकार से पालन करे और आश्रवों का निरोध करे। मन एक मदोन्मत्त गजराज की भाँति है। ज्ञानी उस पर पूर्ण अंकुश लगाता है। श्रमण न किसी से ईर्ष्या करे, और न किसी की चापलूसी करे। वह विकृतियों का परित्याग कर सतत स्वाध्याय, ध्यान कायोत्सर्ग आदि में अपने आपको लगाये रखे।

इस तरह प्रस्तुत आगम में श्रमणाचार रूपी सागर को गागर में भरने का प्रयास किया गया है।

(१६) अनुयोगद्वार–अनुयोगद्वार में सामायिक आदि पाँच चारित्रों का वर्णन है। सामायिक चारित्र के इत्वरिक और यावत्कथिक–ये दो भेद बताये गये हैं। छेदोपस्थापनीय चारित्र के भी सातिचार और निरतिचार–ये दो भेद किये गये हैं। इसी तरह परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात चारित्र के क्रमशः निर्विष्यमान और निर्विष्टकायिक, प्रतिपाती और अप्रतिपाती, छाद्मस्थिक और केवलिक ये दो-दो भेद किये गये हैं। इस तरह से प्रस्तुत आगम में संक्षेप में श्रमणाचार का वर्णन है।

(१७) दशाश्रुतस्कन्ध–यह छेदसूत्र है। छेद सूत्रों में श्रमणों की आचार-संहिता पर विस्तार से विवेचन किया गया है। इस सम्पूर्ण विवेचन को उत्सर्ग, अपवाद, दोष-सेवन और प्रायश्चित्त इन चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है।

छेद सूत्र के दो मुख्य कार्य हैं–श्रमण को दोषों से बचाना और प्रमादवश लगे हुए दोषों की विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त निश्चित करना।

दशाश्रुतस्कन्ध में दस अध्ययन हैं। सर्वप्रथम बीस असमाधि-स्थानों का वर्णन है। यहाँ बताया गया है कि जिस कार्य को करने से चित्त में शान्ति हो, आत्मा ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप मोक्ष मार्ग में अवस्थित रहे, वह समाधि है और जिनसे ज्ञान-दर्शन-चारित्र से आत्मा भ्रष्ट हो, वह असमाधि है।

जल्दी-जल्दी चलना, बिना परिमार्जन किये रात्रि में चलना, बिना उपयोग सभी दैहिक कार्य करना, गुरुजनों का अपमान करना, किसी की निन्दा करना आदि दूषणों से साधक की आत्मा दूषित होती है और उसका पवित्र चरित्र मलिन होता है।

जिन कार्यों को करने से चारित्र की निर्मलता नष्ट होती है वे शबल दोष कहलाते हैं। हस्तमैथुन, स्त्री-स्पर्श, रात्रि में भोजन ग्रहण करना, आधाकर्मी, औद्देशिक आहार लेना, प्रत्याख्यान-भंग, मायास्थान के सेवन आदि शबल दोष हैं।

सम्यग्दर्शन तथा आध्यात्मिक गुणों का जिससे खण्डन होता है, वह आशातना है। गुरु के आगे सम श्रेणी में अत्यन्त समीप में गमन करना, खड़ा होना, बैठना, गुरु से पूर्व किसी से संभाषण करना, गुरु के वचनों की अवहेलना करना, भिक्षा आदि से लौटकर गुरु के समक्ष आलोचना न करना ये आशातना हैं।

आचार्य की आठ सम्पदा, उपासक की प्रतिमाएँ, पर्युषणाकल्प, श्रमण सामाचारी आदि का भी इसमें वर्णन है।

वर्तमान में जो 'कल्पसूत्र' का पृथक् संस्करण है वह दशाश्रुतस्कन्ध का आठवाँ अध्ययन है।

मोहनीय कर्म का तीव्र बन्धन जिन कारणों से होता है उन्हें महामोहनीय कर्मबंध कहा गया है। साथ ही इसमें निदान का भी विश्लेषण-विवेचन है, जिससे साधक को बचने का निर्देश दिया गया है।

(१८) बृहत्कल्प में भी श्रमण-श्रमणियों की आचार-संहिता है। श्रमण एक नगर में एक मास और श्रमणी दो मास ठहर सकती है। जहाँ पर श्रमण-श्रमणियाँ ठहरी हों, वहाँ पर अनेक द्वार हों। जहाँ अनेक दुकानें हों, वहाँ श्रमणियों को नहीं रहना चाहिए। यदि विवशता से रहना पड़े तो परदा आदि लगाकर रह सकती हैं। पर श्रमणों के लिए कोई ऐसा कोई निषेध नहीं है।

श्रमण-श्रमणियाँ मच्छरदानी आदि रख सकती हैं। जहाँ पर जलाशय हो, वहाँ पर श्रमण-श्रमणियों को खड़े रहना, बैठना, लेटना, आहार व स्वाध्याय आदि

करना नहीं कल्पता। जहाँ पर विकारोत्पादक चित्र हों, वहाँ पर भी श्रमण-श्रमणियों को नहीं रहना चाहिए। बिना मकान-मालिक की अनुमति के भी नहीं रहना चाहिए।

किसी श्रमण का आचार्य, उपाध्याय तथा अन्य श्रमण-श्रमणी से किसी बात को लेकर कलह हो गया हो तो क्षमायाचना करनी चाहिए। जो शान्त होता है वह आराधक होता है।

वर्षावास में एक स्थान पर अवस्थित रहना चाहिए। श्रमण भिक्षा, शौच आदि के लिए बाहर जाय उस समय कोई गृहस्थ उसे वस्त्र, पात्र, कंबल आदि वस्तुओं के लिए आमन्त्रित करे तो उसे ग्रहण कर आचार्य आदि को देना चाहिए। आचार्य की अनुमति प्राप्त होने पर ही उसे रखना चाहिए।

श्रमणी को प्रवर्तिनी की आज्ञा-पालन करना अत्यावश्यक है।

श्रमण-श्रमणियों को रात्रि में आहार ग्रहण नहीं करना चाहिए। यदि अपवाद रूप में रात्रि में शौच आदि के लिए जाना हो तो अकेला न जाय किन्तु साथ में दूसरे साधु को लेकर जाय।

निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों के विहार-क्षेत्र की मर्यादा पर चिन्तन करते हुए लिखा है—पूर्व में अंग व मगध देश, दक्षिण में कोशाम्बी, पश्चिम में स्थूणा और उत्तर में कुणाला तक जाना चाहिए; क्योंकि ये आर्य-क्षेत्र हैं। आर्य-क्षेत्र में परिभ्रमण करने से ज्ञान, दर्शन और चारित्र की अभिवृद्धि होती है।

जहाँ पर श्रमण अवस्थित है उस उपाश्रय में धान्य आदि सचित्त पदार्थ बिखरे हुए न हों। यदि बिखरे हुए हों तो अल्प समय के लिए भी वहाँ नहीं ठहरना चाहिए; क्योंकि वहाँ पर ठहरने से संघट्टा (संस्पर्श) आदि होने की सम्भावना रहती है। वही धान्य आदि एक-एक स्थान पर ढेर आदि कर रखा हुआ हो तो श्रमण हेमन्त या ग्रीष्म ऋतु में वहाँ पर ठहर सकता है और कोष्ठागार आदि में बन्द हो तो वर्षावास आदि में भी वहाँ पर रुक सकता है। जिस स्थान पर सुराविकट, सौवीरविकट आदि पदार्थ रखे हों, वहाँ पर कुछ समय के लिए भी साधु-साध्वी को नहीं रहना चाहिए। यदि कोई अन्य स्थान उपलब्ध न हो तो विशेष परिस्थिति में श्रमण दो रात्रि रह सकता है, अधिक नहीं। यदि वह अधिक रहता है तो उसे छेद या परिहार प्रायश्चित्त आता है।

शय्यातर वह कहलाता है जिसके मकान में उसकी अनुमति से श्रमण ठहरता है। शय्यातर के विधि पहलुओं पर इसमें चिन्तन है।

श्रमण-श्रमणियों को जांगिक, भांगिक, सानक, पोतक और तिरिपट्टक[1]—ये पाँच प्रकार के वस्त्र लेना कल्पता है और और्णिक, औष्ट्रिक, सानक, वच्चक-चिप्पक, मुँज-चिप्पक[2]—ये पाँच प्रकार के रजोहरण रखना कल्पता है।

श्रमणों को श्रमणियों के उपाश्रय में बैठना, सोना, खाना, पीना, स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग करना नहीं कल्पता। इसी तरह श्रमणियों के लिए भी विधान है।

चर्म के सम्बन्ध में लिखा है कि श्रमणियों को रोमयुक्त चर्म बैठने आदि में उपयोग करना नहीं कल्पता। यदि उस चर्म का गृहस्थ ने उपयोग कर रखा हो तो श्रमण एक रात्रि के लिए काम में ले सकता है; किन्तु उसके पश्चात् पुनः गृहस्थ को लौटा देना चाहिए।

श्रमण और श्रमणियों को कृत्स्न वस्त्र अर्थात् रंग आदि से जो वस्त्र चमकीले बनाये गये हों और अखण्ड वस्त्र जो उत्पादन स्थान से जैसा आया है, उन वस्त्रों को ग्रहण नहीं करना चाहिए।

जो दीक्षा ग्रहण करता है वह निर्ग्रन्थ रजोहरण-गोच्छक और पात्र तथा तीन अखण्ड वस्त्र लेकर प्रव्रजित हो। पूर्व प्रव्रजित श्रमण जिसके महाव्रत आदि में विराधना हो गई हो यदि वह पुनः दीक्षा के लिए उपस्थित हो तो वह अपने पूर्व प्रतिगृहीत वस्त्र-पात्र आदि के साथ दीक्षा ले सकता है। उसे नवीन वस्त्र-पात्र आदि लाने की आवश्यकता नहीं। जो श्रमणी दीक्षा ले उसे चार वस्त्र लेकर प्रव्रजित होना चाहिए।

वर्षावास में वस्त्र लेना नहीं कल्पता। हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु आदि में वह वस्त्र आदि ले सकता है। वस्त्र ग्रहण करने के पश्चात् जिन साधु-साध्वियों की सबसे अधिक चारित्र पर्याय है उन्हें सर्वप्रथम वस्त्र प्रदान करना चाहिए, उसके पश्चात् कम चारित्र पर्याय वाले को और उसके बाद उनसे कम चारित्र पर्याय वाले को देना चाहिए। क्योंकि व्युत्क्रम से देने पर रत्नाधिकों का अविनय होता है।

---

१. जंगमाः त्रसाः तदवयवनिष्पन्नं 'जांगमिकम्'; भंगा अतसी तन्मयं 'भांगिकम्'; सन सूत्रमयं 'सानकम्'; पोतकं 'कार्पासिकम्'; तिरीटः वृक्षविशेषस्तस्य यः पट्टो वल्कल क्षणस्तन्निष्पन्नं 'तिरीटपट्टकं' नाम पंचमम्। —बृह. उद्दे. २, सू. २४

२. 'और्णिकं' ऊरणिकानामूर्णाभिर्निवृत्तम्; 'औष्ट्रिकं' उष्ट्ररोमभिर्निर्वृत्तम्; 'सानकं' सनवृक्षवल्काद् जातम्; 'वच्चकं' तृणविशेषस्तस्य 'चिप्पकः' कुट्टिनः त्वग्रूप तेन निष्पन्नं 'वच्चकचिप्पकम्'; 'मुञ्जः' शरस्तम्बस्तस्य चिप्पकाद् जातं 'मुंजचिप्पकं' नाम पंचममिति।
—बृह. उद्दे. २, सू. २५

जिस प्रकार वस्त्र प्रदान करने का विधान है वैसे ही जहाँ पर श्रमण और श्रमणियों को ठहरना हो वहाँ सबसे पहले स्थान जो चारित्र पर्याय में बड़े हैं, उनको देना चाहिए। उसके पश्चात् ग्लान, रुग्ण साधु आदि को, उसके बाद पूर्ण वस्त्र आदि नहीं ओढ़ने का संकल्प ले रखा हो उनको, उसके बाद स्थविर आदि को। जो नवदीक्षित हो उसे बड़े साधु के पास स्थान देना चाहिए जो रात्रि में उसकी सार-सँभाल कर सके।

श्रमण पर्याय की दृष्टि से नमस्कार का भी विधान है। श्रमण-श्रमणियों को गृहस्थ के घर में या दो घरों के मध्य में ठहरना, बैठना या खड़े होकर कायोत्सर्ग आदि करना नहीं कल्पता। क्योंकि ऐसे स्थानों पर खड़े आदि रहने से विभिन्न प्रकार की शंकाएँ हो सकती हैं। पर अपवाद मार्ग में वह ठहर सकता है, जैसे– रोगी, वृद्ध, तपस्वी या जिसे मूर्च्छा आदि आ गयी हो। यदि गृहस्थ के घर या दो घरों के मध्य में ठहरना हो तो केवल पाँच गाथाओं का उच्चारण कर सकता है, विशेष वार्तालाप आदि नहीं कर सकता और वह भी खड़े-खड़े ही, बैठकर नहीं। किसी की अत्यन्त उत्कट जिज्ञासा हो तो वह संक्षेप में महाव्रत आदि के सम्बन्ध में बताये, पर विस्तार से नहीं।

जब साधु को या साध्वी को ग्रामान्तर गमन करना हो जो शय्या संस्तारक प्रातिहारिक आदि लाये हों वे गृहस्थ को सौंपकर ही विहार करना चाहिए। साधु-साध्वी गृहस्थ के घर से जो भी शय्या संस्तारक आदि माँगकर लाये उनकी उसे सावधानी से रक्षा करनी चाहिए, यदि गुम हो गई तो उसका अन्वेषण करना चाहिए और मिलने पर उसे दे देना चाहिए।

जिस उपाश्रय में श्रमण या श्रमणियाँ मासकल्प या वर्षाकल्प की आज्ञा लेकर ठहरे हों वे उस समय विहार कर रहे हों जिस समय दूसरे श्रमण-श्रमणी विहार करने की तैयारी कर रहे हों तो सन्त-सती की आज्ञा लेकर वे ठहर सकते हैं। यह अवग्रह एक दिन का या अहोरात्र तक का होता है।

ग्राम-नगर आदि के बाहर सेना का पड़ाव हो तो निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को उसी दिन भिक्षाचार्य करके अपने स्थान पर लौट जाना चाहिए। नहीं लौटता है तो उसे प्रायश्चित्त आता है। निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को जहाँ पर वे ठहरे हों वहाँ से अढ़ाई कोस तक भिक्षा के लिए जाना-आना कल्पता है उससे अधिक नहीं।

अब्रह्मसेवन, रात्रिभोजन आदि के सम्बन्ध में दोष लगने पर प्रायश्चित्त का विधान है। पंडक, नपुंसक और वातिक (काम-वासना का दमन न करने वाला) दीक्षा ग्रहण के अयोग्य है। अविनीत, रसलोलुपी व क्रोधी को शास्त्र पढ़ाना अनुचित है। दुष्ट, मूढ़ और दुर्विदग्ध–ये तीनों प्रव्रज्या और उपदेश के अनधिकारी हैं।

साध्वी या साधु अपने परिजन का सहारा लेकर रुग्ण अवस्था में उठते हैं या बैठते हैं और उस समय यदि मन में विकार हो तो प्रायश्चित्त का विधान है।

निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थियों को कालातिक्रान्त, क्षेत्रातिक्रान्त अशनादि ग्रहण करना नहीं कल्पता। प्रथम पौरुषी का लाया हुआ आहार चतुर्थ पौरुषी तक रखना नहीं कल्पता, यदि असावधानी अथवा विस्मृति से रह जाय तो उसे परठ देना चाहिए। उस आहार का उपयोग करने पर प्रायश्चित्त का विधान है। यदि भूल से अनैषणीय स्निग्ध अशनादि भिक्षा में आ गया हो तो अनुपस्थापित श्रमण (जिसमें महाव्रतों की स्थापना नहीं की गई है) को दे देना चाहिए। यदि वह न हो तो निर्दोष स्थान पर परठ देना चाहिए। आचेलक्य आदि कल्प में स्थित श्रमणों के लिए निर्मित आहारादि अकल्पस्थित श्रमणों के लिए कल्प्य है अर्थात् जो श्रमण चातुर्याम धर्म का पालन करते हैं, उनके लिए वह कल्प्य है।

यदि किसी निर्ग्रन्थ को अन्य गण में ज्ञान आदि के अभ्यास के लिए जाना हो तो आचार्य की अनुमति आवश्यक है। यदि आचार्य अथवा उपाध्याय को भी ज्ञान-चारित्र आदि की विशेष आराधना के लिए अन्य गण में जाने की आवश्यकता हो तो अपना पद किसी योग्य साधु को देकर और उसकी स्वीकृति मिलने पर ही जाना चाहिए।

सन्ध्या के समय या रात्रि में सन्त-सती कालधर्म को प्राप्त हो गयी हो तो उसके मृत शरीर को रात्रि भर सावधानी से रखना चाहिए तथा प्रातः होने पर गृहस्थ से बाँस आदि लाकर मृतक को उससे बाँधकर दूर जंगल में प्रस्थापित कर देना चाहिए। पुनः बाँस आदि गृहस्थ को वापस दे देना चाहिए।

यदि किसी गृहस्थ के साथ श्रमण का कलह हो गया हो तो पहले उससे क्षमा-याचना करनी चाहिए फिर भिक्षाचर्या लानी कल्पती है।

श्रमण-श्रमणियों को गंगा, यमुना, सरयू, कोशिका और मही-इन पाँच महानदियों को एक मास में एक या दो बार पार करना कल्पता है और शेष क्षुद्र नदियों को जिनमें पानी बहुत ही कम हो, तीन बार पार कर सकते हैं।

श्रमण-श्रमणियों को जिस उपाश्रय में तृण या तृणपुंज हो, जो मकड़ी के जालों से रहित हो, साथ ही उपाश्रय की छत की ऊँचाई व्यक्ति के सिर से ऊँची हो ऐसे उपाश्रय में वर्षावास में रहना कल्पता है। यदि दो हाथ से कम ऊँचाई हो तो वहाँ वर्षा ऋतु में नहीं रहना चाहिए।

यदि कोई देव स्त्री का रूप बनाकर निर्ग्रन्थ का आलिंगन करे और वह निर्ग्रन्थ उसके कोमल स्पर्श का अनुमोदन करे तो वह प्रायश्चित्त का भागी होता है।

इसी तरह से यदि साध्वी को कोई देवी पुरुष का रूप बनाकर आलिंगन करे और वह उसका अनुमोदन करे तो चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

कोई श्रमण बिना क्लेश को शान्त किये यदि अन्य गण में जाकर मिल जाय तो उस गण के आचार्य को ज्ञात होने पर उसे पाँच रात-दिन का छेद देना चाहिए और उसे शान्त करके पुनः गण में भेज देना चाहिए।

सूर्योदय हो चुका है या अभी तक सूर्य अस्त नहीं हुआ है यह समझकर यदि कोई सशक्त या अशक्त श्रमण आहारादि ग्रहण करता है और फिर उसे ज्ञात हो जाय कि सूर्योदय नहीं हुआ है या सूर्यास्त हो गया है तो उसी क्षण उसी आहार का त्याग कर देना चाहिए। इस स्थिति में उसे रात्रिभोजन का दोष नहीं लगता किन्तु ज्ञात होने पर भी या शंकाशील स्थिति में आहारादि करने वाले को रात्रिभोजन का दोष लगता है। यदि रात्रि में पेट का अन्न व पान उद्‌गार के द्वारा बाहर आता है तो उस समय उसे बाहर थूक देना चाहिए। यदि वह उसे निगल जाय तो रात्रिभोजन का दोष लगता है और चातुर्मासिक प्रायश्चित्त भी आता है। आहारादि में द्वीन्द्रियादि जीव गिर जायें तो यतनापूर्वक निकालकर आहारादि करना चाहिए। यदि निकालने की स्थिति न हो तो एकान्त अचित्त पृथ्वी को देखकर उस पर उस आहार को परठ दे। आहारादि ग्रहण करते समय यदि सचित्त पानी की बूँदें आहारादि में गिर जायें और वह आहार गरम हो तो उस आहार को खाने में किंचित् मात्र भी दोष नहीं है क्योंकि उसमें पड़ी हुई जल की बूँदें अचित्त हो जाती हैं, किन्तु यदि आहार ठण्डा है तो उसे न स्वयं खावें, न दूसरों को दें अपितु एकांत स्थान पर परिस्थापन कर दें।

निर्ग्रन्थी को एकाकी रहना, नग्न रहना, पात्ररहित रहना, ग्रामादि के बाहर आतापना लेना, कुक्कुडासन, वीरासन, दण्डासन आदि आसन पर बैठकर कायोत्सर्ग करना वर्ज्य है। श्रमणियों को वे सारे कार्य वर्ज्य हैं जिनसे ब्रह्मचर्य की रक्षा में बाधा उपस्थित होती हो।

कोई विशेष परिस्थिति हो तो लेप किया जा सकता है, किन्तु यों लेप करना वर्ज्य है। रोग आदि विशेष स्थितियों में लेपन, मर्दन आदि किया जा सकता है।

श्रमण-श्रमणियों को अलीक वचन (झूठ), हीलित वचन (अवहेलना करने वाले वचन), खिंसित (रोषपूर्ण) वचन, परुष (कर्कश) वचन, गार्हस्थ्य वचन, व्युपशमित वचन (कलह शांत होने पर पुनः कहना)–ऐसे छः प्रकार के वचन बोलना निषिद्ध है। किसी पर अभियोग लगाना निषिद्ध है क्योंकि आरोप-प्रत्यारोप लगाने से प्रतिवाद बढ़ता है।

निर्ग्रन्थ के पैर में तीक्ष्ण काँटा आदि लग जाय और उसे कोई भी निकालने में समर्थ न हो और यदि कोई निर्ग्रन्थी निकालती है तो वह जिनाज्ञा-विरुद्ध नहीं है। इसी तरह साध्वी के काँटा आदि लगने पर साधु विशेष अपवाद की स्थिति में निकाल सकता है। इसी प्रकार विषम भूमि, पर्वत आदि से फिसलती हुई या नदी पार करते समय पैर फिसल जाने पर विशेष स्थिति में साध्वी को सहारा दिया जा सकता है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि साधारणतया निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी एक-दूसरे का स्पर्श न करें पर जो यहाँ बताया गया है, वह अपवाद की स्थिति है, उत्सर्ग मार्ग नहीं। इस स्पर्श में विकार भावना नहीं, परस्पर के संयम की सुरक्षा की भावना है।

श्रमण की मर्यादा का नाम कल्पस्थिति है और वह छह प्रकार की बताई गई है। इस प्रकार बृहत्कल्प में श्रमण और श्रमणियों के आचार सम्बन्धी अनेक बातें बताई गई हैं।

(१९) व्यवहारसूत्र-व्यवहारसूत्र में भी बृहत्कल्प की भाँति ही श्रमण की आचार-संहिता है। बृहत्कल्प और व्यवहार ये दोनों आगम एक-दूसरे के पूरक हैं। इसमें भी दस उद्देशक हैं।

प्रथम उद्देशक में बताया गया है कि मासिक प्रायश्चित्त के योग्य दोष का सेवन कर उस दोष की आचार्य आदि के पास कपटरहित आलोचना करने वाले श्रमण को एक मासिक प्रायश्चित्त आता है जबकि कपटसहित आलोचना करने पर द्विमासिक प्रायश्चित्त ग्रहण करना पड़ता है। जो साधक द्विमासिक प्रायश्चित्त के योग्य है यदि वह निष्कपट आलोचना करता है तो उसे द्विमासिक प्रायश्चित्त आता है और कपटयुक्त आलोचना करने पर तीन मास का प्रायश्चित्त आता है। इस तरह अधिक से अधिक छह मास के प्रायश्चित्त का विधान है। जिस साधक ने अनेक दोषों का सेवन किया हो उन दोषों की उसे क्रमशः आलोचना करनी चाहिए और फिर एक साथ ही उन दोषों का प्रायश्चित्त लेकर शुद्धीकरण करना चाहिए। प्रायश्चित्त करने के पश्चात् भी यदि किसी कारण विशेष से, प्रमाद से दोष लग जाय तो पुनः प्रायश्चित्त लेकर उसका शुद्धीकरण कर लेना चाहिए।

जिसने प्रायश्चित्त का सेवन किया हो उस श्रमण के साथ उठना-बैठना आदि करना हो तो स्थविरों की अनुज्ञा आवश्यक है। यदि वह आज्ञा की अवहेलना करता है तो उतने दिन का उसे दीक्षाच्छेद किया जाये। जो श्रमण परिहार कल्प की साधना कर रहा हो, यदि उसे आचार्य अन्य सन्तों की सेवा में प्रेषित करें तो वह सहर्ष उनकी सेवा में जाय। कोई श्रमण विशुद्ध आचार का पालन करने हेतु गण का परित्याग कर एकाकी विचरण करता है पर जब उसे ज्ञात हो कि मैं शुद्ध आचार

पालन करने में असमर्थ हूँ तो उसे आलोचना कर छेद या नवीन दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए। प्रस्तुत नियम जिस तरह एकलविहारी श्रमण के लिए है वही नियम एकल-विहारी गणावच्छेदक, आचार्य और शिथिलाचारी श्रमण के लिए भी है।

आचार्य, उपाध्याय की अनुपस्थिति में अपने संभोगिक सधर्मी बहुश्रुत के समक्ष आलोचना कर प्रायश्चित्त लेना चाहिए। यदि वे पास में न हों तो अन्य समुदाय के बहुश्रुत के सामने आलोचना कर प्रायश्चित्त करना चाहिए। यदि वह भी न हों तो सारूपिक सदोषी बहुश्रुत से प्रायश्चित्त लेना चाहिए। उसके अभाव में बहुश्रुत श्रमणोपासक सम्यग्दृष्टि गृहस्थ और उन सभी का अभाव हो तो गाँव या नगर के बाहर जाकर पूर्व या उत्तर दिशा में मुँह रखकर दोनों हाथ जोड़कर अपने अपराध की आलोचना करे। क्योंकि आलोचना से जीवन की शुद्धि होती है।

द्वितीय उद्देशक में यह बताया गया है एक समान सामाचारी वाले दो साधर्मिक साथ में हों, उनमें से एक ने दोष का सेवन किया हो तो दूसरे के सम्मुख प्रायश्चित्त लेना चाहिए। प्रायश्चित्त करने वाले की सेवा आदि का भार दूसरे श्रमण पर होता है, यदि दोनों ने दोष का सेवन किया हो तो परस्पर आलोचना कर प्रायश्चित्त लेकर सेवा करनी चाहिए। जिस श्रमण ने दोष का सेवन किया हो उसे ही प्रायश्चित्त देना चाहिए, अन्य को नहीं। यदि सभी ने दोष का सेवन किया हो तो एक के अतिरिक्त सभी को प्रायश्चित्त लेकर पहले शुद्धीकरण करना चाहिए, उसके बाद वह अवशेष सन्त भी प्रायश्चित्त लेकर शुद्धीकरण करे।

परिहार कल्प स्थित श्रमण कदाचित् रुग्ण हो जाय तो उसे गच्छ से बाहर निकालना नहीं कल्पता। जब तक वह पूर्ण स्वस्थ न हो जाय तब तक उसकी सेवा करवाना गणावच्छेदक का कार्य है। पूर्ण स्वस्थ होने पर प्रायश्चित्त लेकर शुद्धीकरण करे। इसी तरह रुग्णावस्था में अनवस्थाप्य और पारांचिक प्रायश्चित्त करने वाले को भी गच्छ से बाहर नहीं निकालना चाहिए और न विक्षुब्ध चित्त वाले को भी। जब उसका चित्त स्थिर हो जाय तो केवल नाममात्र का प्रायश्चित्त देना चाहिए। इसी तरह दीप्त चित्त जिसका चित्त अभिमान से उद्दीप्त हो गया हो, उन्माद प्राप्त हो, उपसर्ग प्राप्त साधिकरण, सप्रायश्चित्त आदि को गच्छ से बाहर नहीं निकालना चाहिए। अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त करने वाले श्रमण को गृहस्थलिंग धारण कराये बिना पुनः संयम में स्थापित नहीं करना चाहिए, चूँकि उसका अपराध इतना महान् होता है जिससे ऐसा किये बिना उसका प्रायश्चित्त पूर्ण नहीं होता। ऐसा करने का एक उद्देश्य यह भी है कि अन्य श्रमण इस प्रकार का अपराध न करें। उनके मानस में भय का संचार हो जाता है जिससे वे अपराध करने में संकोच का अनुभव करते हैं। इसी प्रकार का विधान दसवें पारांचिक प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में

भी है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि उसे गृहस्थ का वेष पहनाना चाहिए या अन्य प्रकार का वेष धारण करवाना, यह अधिकार प्रायश्चित्तदाता के हाथ में है।

पारिहारिक और अपारिहारिक श्रमण एक साथ आहार करें, यह अनुचित है। पारिहारिक श्रमणों के साथ बिना तप पूर्ण हुए अपारिहारिक श्रमणों को आहार आदि नहीं करना चाहिए, क्योंकि जो तपस्वी हैं उनका तप पूर्ण होने के पश्चात् एक मास के तप पर पाँच दिन और छह महीने के तप पर एक महीना व्यतीत हो जाने के पूर्व उनके साथ कोई आहार नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि उन दिनों उनके लिए विशेष प्रकार के आहार की आवश्यकता है जो दूसरों के लिए आवश्यक नहीं।

आचारांग आदि के परिज्ञान के बिना स्वतन्त्र गच्छ बनाकर विचरण करना नहीं कल्पता। साथ ही स्वतन्त्र विचरण करने के लिए स्थविर आदि की अनुमति आवश्यक है।

उपाध्याय वही बन सकता है जो आचारांग आदि का परिज्ञाता हो, प्रवचन शास्त्रों में पारंगत हो, प्रायश्चित्त देने में समर्थ हो, संघ के क्षेत्र आदि निर्णय करने में दक्ष हो और कम से कम तीन वर्ष की दीक्षा-पर्याय वाला हो। आचार्य वही बन सकता है जो दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, व्यवहार का ज्ञाता हो और कम से कम पाँच वर्ष का दीक्षित हो। आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तिनी, स्थविर, गणी, गणावच्छेदक पद उसको दिया जा सकता है जो श्रमण के आचार में कुशल हो, असंश्लिष्टमना व स्थानांग, समवायांग का ज्ञाता हो। अपवाद मार्ग में एक दिन के दीक्षा-पर्याय वाला साधु भी आचार्य, उपाध्याय पद पर प्रतिष्ठित हो सकता है, यदि वह उच्च कुलोत्पन्न और गुणसम्पन्न हो। आचार्य आदि की आज्ञा से संयम का पालन करना चाहिए। यदि किसी श्रमण ने अब्रह्म का सेवन किया है तो उसे आचार्य पद नहीं दिया जा सकता। यदि उसने गच्छ का परित्याग करके वैसा कार्य किया है और पुनः दीक्षा धारण किये तीन वर्ष व्यतीत हो गये हों, उसका मन पूर्ण शान्त हो गया हो, विकार और कषाय का अभाव हो गया हो तो उसे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

आचार्य और उपाध्याय के साथ हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में कम से कम एक अन्य साधु होना चाहिए और गणावच्छेदक के साथ में दो। वर्षा ऋतु में आचार्य और उपाध्याय के साथ दो व गणावच्छेदक के साथ तीन अन्य साधु का होना आवश्यक है। आचार्य आदि पद किसको देना चाहिए इस पर भी चिन्तन किया गया है। प्रवर्तिनी को कम से कम दो अन्य साध्वियों के साथ शीतोष्ण काल में ग्रामानुग्राम विचरण करना चाहिए और गणावच्छेदिका के साथ तीन अन्य

साध्वियाँ होनी चाहिए। वर्षा ऋतु में प्रवर्तिनी के साथ तीन और गणावच्छेदिका के साथ चार साध्वियाँ होनी चाहिए। प्रवर्तिनी आदि पद किसे दिया जाय, इस सम्बन्ध में भी चिन्तन किया गया है।

वैयावृत्य के लिए सामान्य विधान यह है कि श्रमण श्रमणी से और श्रमणी श्रमण से वैयावृत्य न करावे, पर अपवाद रूप में परस्पर सेवा-शुश्रूषा कर सकते हैं। सर्पदंश आदि विशिष्ट परिस्थिति उत्पन्न हो तो अपवाद रूप में सेवा करायी जा सकती है। प्रस्तुत विधान स्थविरकल्पी के लिए है, जिनकल्पियों के लिए तो सेवा का विधान ही नहीं है। यदि वे सेवा करवाते हैं तो पारिहारिक तप रूप प्रायश्चित्त करना पड़ता है।

अपने परिजनों के यहाँ बिना स्थविरों की अनुमति प्राप्त किये नहीं जाना चाहिए। जो श्रमण-श्रमणी अल्पश्रुत वाले हैं उन्हें एकाकी अपने सम्बन्धियों के यहाँ न जाना चाहिए। यदि जाना हो तो बहुश्रुत बहुआगमधारी श्रमण के साथ जाना चाहिए। श्रमण-श्रमणी के पहुँचने के पूर्व गृहस्थ के वहाँ पर जो वस्तु तैयार हो चुकी है, उसे वह ग्रहण कर सकता है; उसके जाने के पश्चात् जो तैयार की गई है, उसे ग्रहण नहीं कर सकता।

आचार्य, उपाध्याय यदि बाहर से उपाश्रय में आवें तो उनके पाँव पोंछकर साफ करना चाहिए। उनके लघु नीति आदि को यतनापूर्वक भूमि पर परठना चाहिए और उनकी यथाशक्ति वैयावृत्य करनी चाहिए। उनके साथ उपाश्रय में रहना चाहिए। इसी तरह गणावच्छेदक के साथ भी करना चाहिए।

श्रमण-श्रमणियाँ उन्हीं के साथ रह सकती हैं जो आचारांग के ज्ञाता हों। यदि अन्य गच्छ वाले श्रमण स्वगच्छ में मिलना चाहते हों और वे चारित्रिक दृष्टि से पूर्ण निर्दोष हों, आचारनिष्ठ हों, शबल दोष से रहित हों, क्रोधादि से असंश्लिष्ट हों, स्वयं के दोषों की आलोचना कर विशुद्धि करते हों, तो उनके साथ समानता का व्यवहार करना कल्पता है।

यह भी विधान है कि श्रमण महिला को और श्रमणी पुरुष को दीक्षा प्रदान न करे। यदि किसी ऐसे स्थान में किसी स्त्री को वैराग्य-भावना उद्‌बुद्ध हो गई हो जहाँ पर सन्निकट में कोई भी श्रमणी न हो तो वह इस शर्त पर प्रव्रज्या प्रदान करता है कि वह उस नव-दीक्षित साध्वी को यथाशीघ्र किसी श्रमणी को सुपुर्द कर देगा। इसी तरह साध्वी भी पुरुष को दीक्षा प्रदान कर सकती है।

जहाँ पर तस्करों और दुष्ट प्रकृति के व्यक्तियों की प्रधानता हो, वे अधिक मात्रा में हों, वहाँ पर श्रमणियों को विचरण नहीं करना चाहिए; क्योंकि वहाँ पर

विचरण करने से वस्त्रों के अपहरण का तथा व्रत भंग होने का भय सतत बना रहता है। पर श्रमणों का शारीरिक संस्थान पृथक् होने के कारण वे वहाँ पर विचरण कर सकते हैं। यदि ऐसे श्रमण से विरोध हो गया हो जो स्थान चोर आदि के निवास-स्थान के सन्निकट हो तो श्रमण वहाँ जाकर उनसे क्षमायाचना कर सकता है पर श्रमणी को वहाँ नहीं जाना चाहिए। अपने ही स्थान पर रहकर उनसे क्षमायाचना कर लेनी चाहिए। श्रमण-श्रमणियों को आचार्य, उपाध्याय के नियन्त्रण के बिना स्वच्छन्द रूप से विचरण करना नहीं कल्पता।

श्रमण एक हाथ से उठाने योग्य छोटे-मोटे शय्या-संस्तारक तीन दिन में जितना मार्ग तय कर सके, उतनी दूर से लाना कल्पता है। यदि कोई वृद्ध निर्ग्रन्थ हो तो उसके लिए आवश्यकता होने पर पाँच दिन में जितना चल सके, उतनी दूर से ला सकता है। स्थविर दण्ड, भाण्ड, छत्र, मात्रिका, लाष्किक (पीठ के पीछे रखने योग्य तकिया व पाटा), भिसि (स्वाध्याय के लिए बैठने योग्य पाटा), वस्त्र, चेलचिलिमिलिका (वस्त्र का परदा), चर्म, चर्मकोश (चमड़े की थैली), चर्म पलिच्छ (लपेटने के लिए चमड़े का टुकड़ा) इन उपकरणों में से जो उपकरण साथ में रखने की स्थिति में हों, उन्हें रखें और जो उपकरण साथ में रखने न हों, उन्हें उपाश्रय के सन्निकट किसी गृहस्थ के यहाँ पर रख दें। आवश्यकता होने पर उपयोग किया जा सकता है।

एक स्थान पर अनेक श्रमण विराजित हों, उस श्रमण समुदाय में से कोई श्रमण किसी गृहस्थ के यहाँ पर कोई उपकरण भूल गया हो, वहाँ पर कोई श्रमण किसी आवश्यक कार्य के लिए गया हो, और गृहस्थ उस श्रमण से यह निवेदन करे कि प्रस्तुत उपकरण आपके किसी सन्त का है तो सन्त उस उपकरण को लेकर अपने स्थान पर आये और वह जिसका हो उसे दे दे। यदि वह उपकरण किसी सन्त का नहीं है तो उस उपकरण का न तो स्वयं उपयोग करे और न दूसरों को उपयोग करने के लिए दे, निर्दोष स्थान को देखकर उसे प्रस्थापित कर दे।

श्रमण जिस स्थान पर अवस्थित हो उस स्थान का अधिपति शय्यातर कहलाता है। उस शय्यातर के स्वामित्व वाला आहार श्रमण-श्रमणियों के लिए ग्राह्य नहीं है।

प्रस्तुत आगम में यवमध्यचन्द्र प्रतिमा व वज्रमध्यचन्द्र प्रतिमा का स्वरूप बताते हुए लिखा है जो यव के कण के समान मध्य में मोटी और दोनों ओर पतली हो वह यवमध्यचन्द्र प्रतिमा है। जो वज्र के समान मध्य में पतली और दोनों ओर मोटी हो वह वज्रमध्यचन्द्र प्रतिमा है। जो श्रमण यवमध्यचन्द्र प्रतिमा को धारण करता है वह एक मास पर्यन्त अपने शरीर के ममत्व को त्याग कर देव, मानव

और तिर्यञ्च सम्बन्धी अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों को समभाव से सहन करता है। शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को एक दत्ती आहार की और एक दत्ती पानी की ग्रहण करता है।

द्वितीया को दो दत्ती आहार की और दो दत्ती पानी की ग्रहण करता है। इस प्रकार क्रमशः एक-एक दत्ती बढ़ाता हुआ पूर्णिमा को पन्द्रह दत्ती आहार की और पन्द्र दत्ती पानी की ग्रहण करता है। कृष्ण पक्ष में एक-एक दत्ती आहार-पानी कम करता जाता है और अमावस्या के दिन उपवास करता है। यह यवमध्यचन्द्र प्रतिमा है।

वज्रमध्यचन्द्र प्रतिमा में कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा को पन्द्रह दत्ती आहार की और पन्द्रह दत्ती पानी की ग्रहण किया जाता है। प्रतिदिन कम करते हुए अमावस्या को एक दत्ती आहार की और एक दत्ती पानी की ग्रहण करता है। शुक्ल पक्ष में क्रमशः एक-एक दत्ती बढ़ाते हुए पूर्णिमा को उपवास करता है। इस तरह तीस दिन की प्रत्येक प्रतिमा के प्रारम्भ उन्तीस दिन दत्ती के अनुसार आहार-पानी और अन्तिम दिन उपवास किया जाता है।

स्थविर के जातिस्थविर, सूत्रस्थविर, प्रव्रज्यास्थविर–ये तीन भेद हैं। साठ वर्ष की आयु वाला जातिस्थविर या वयःस्थविर कहलाता है। स्थानांग व समवायांग का ज्ञाता सूत्रस्थविर और दीक्षा धारण करने के बीस वर्ष के पश्चात् निर्ग्रन्थ प्रव्रज्या-स्थविर कहलाता है।

शैक्ष भूमियाँ तीन प्रकार की हैं–सप्त रात्रिंदिनी, चातुर्मासिकी और षण्मासिकी। आठ वर्ष से कम आयु वाले बालक-बालिकाओं को दीक्षा देना नहीं कल्पता। जिनकी उम्र लघु है वे आचारांग सूत्र के पढ़ने के अधिकारी नहीं हैं। कम से कम तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय वाले साधु को आचारांग पढ़ना कल्प्य है। चार वर्ष की दीक्षा पर्याय वाले को सूत्रकृतांग, पाँच वर्ष की दीक्षा पर्याय वाले को दशाश्रुतस्कंध, कल्प (बृहत्कल्प) और व्यवहार, आठ वर्ष की दीक्षा वाले को स्थानांग व समवायांग, दस वर्ष की दीक्षा वाले को व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती), ग्यारह वर्ष की दीक्षा वाले को लघु विमान प्रविभक्ति, महाविमान प्रविभक्ति, अंगचूलिका, वंगचूलिका और विवाहचूलिका, बारह वर्ष की दीक्षा वाले को अरुणोपपातिक, गरुलोपपातिक, धरणोपपातिक, वैश्रमणोपपातिक और वैलंधरोपपातिक, तेरह वर्ष की दीक्षा वाले को उपस्थानश्रुत, समुपस्थानश्रुत, देवेन्द्रोपपात और नागपरियापनिका, चौदह वर्ष की दीक्षा वाले को स्वप्न भावना, पन्द्रह वर्ष की दीक्षा वाले को चारण भावना, सोलह वर्ष की दीक्षा वाले को वेदनीशतक व निशीथ, सत्रह वर्ष की दीक्षा वाले को आशीविष भावना, अठारह वर्ष की दीक्षा वाले को दृष्टिविष भावना, उन्नीस वर्ष

की दीक्षा वाले को दृष्टिवाद और बीस वर्ष की दीक्षा वाले को सब प्रकार के शास्त्र पढ़ना कल्प्य है।

वैयावृत्य के दस प्रकार भी बताये हैं तथा कहा गया है कि आचार्य की वैयावृत्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, शैक्ष, रुग्ण, साधर्मिकी, कुल, गण और संघ इनकी वैयावृत्य करने से महानिर्जरा होती है।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में जैन श्रमणाचार का विस्तार से विवेचन हुआ है।

(२०) निशीथ–व्यवहार की भाँति ही निशीथ भी आचार सूत्र है। निशीथ का अर्थ अप्रकाश है। प्रस्तुत सूत्र में बहुत से अपवाद आदि का उल्लेख है। इसलिए जिसकी बुद्धि परिपक्व हो, वही निशीथ को पढ़ने का अधिकारी माना गया है। यह भी प्रायश्चित्त शास्त्र है। इसमें सर्वप्रथम चतुर्थ महाव्रत के भंग करने वाले को विविध प्रकार के प्रायश्चित्तों का उल्लेख है। इसमें श्रमण के लिए जो अग्राह्य और अकरणीय कृत्य हैं उनकी सूचना देते हुए लिखा है–कीचड़ आदि से पैरों को बचाने के लिए दूसरों से पत्थर आदि रखवाना, ऊँचे स्थान पर चढ़ने के लिए दूसरों से सोपान निर्माण करवाना, पानी आदि के निष्कासन के लिए नाली आदि का निर्माण करवाना, शस्त्रों को तीक्ष्ण करवाना, और उनकी निष्प्रयोजन याचना आदि से प्रायश्चित्त आता है। तुम्बे, लकड़ी और मिट्टी के पात्र दूसरों से साफ करवाना, सुधरवाना, उन पात्रों को अविधि से बाँधना, शोभा के लिए वस्त्रों पर कारी लगाना, वस्त्र जीर्ण होने पर तीन से अधिक कारी या गाँठें लगाना, श्वेत वस्त्र के अतिरिक्त अन्य रंगीन वस्त्रों को ग्रहण करना, निर्दोष आहार में सदोष आहार मिलाकर लेना, प्रभृति में गुरु, चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

दारुदण्ड का पादप्रवंच्छन ग्रहण करना, रखना, उसे स्वच्छ करना आदि का निषेध है। सूचिका, कैंची आदि को स्वयं सुधारना, स्वल्प मात्रा में कर्कश वचन, मिथ्यावचन, तस्करकृत्य, अखण्ड, चर्म, वस्त्र आदि रखना, स्वयं लाया हुआ पात्र स्वयं रखना, और दूसरे का लाया हुआ पात्र आदि स्वीकार करना, किसी पर दवाव देकर पात्र आदि ग्रहण करना, प्रतिदिन अग्रपिण्ड ग्रहण करना, प्रतिदिन एक ही घर से आहार ग्रहण करना, दान में निष्कासित अर्धभाग नित्यभाग ग्रहण करना, एक ही स्थान पर अवस्थित रहना, दान आदि देने से पूर्व और दानादि लेने के पश्चात् दाता की प्रशंसा करना, भिक्षाकाल के पूर्व या उसके पश्चात् विना कारण ही गृहस्थों के घरों में प्रवेश करना, अन्यतीर्थिक आदि के साथ शौचादि के लिए जाना तथा ग्रामानुग्राम विचरण करना, जो आहार लाया हो उनमें श्रेष्ठ वस्तुएँ ग्रहण कर लेना और जो स्वादिष्ट न हो उसे बाहर फेंक देना, आहारादि ले आने के पश्चात् यदि वह आहारादि कुछ बच गया हो तो अपने स्वधर्मी, शुद्धाचारी

और जिनके साथ आहार आदि का संभोग है उन्हें बिना आमंत्रित किये वह आहार परिस्थापन कर देना, शय्यातर का आहार-पानी ग्रहण करना, उसकी दलाली से आहार-पानी ग्रहण करना, शय्या-संस्तारक जितनी अवधि के लिए माँगकर लाया है उससे अधिक समय तक रखना, उपाश्रय का परिवर्तन करते समय बिना स्वामी की अनुमति के किसी भी प्रकार का सामान एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना, जो शय्या-संस्तारक प्रातिहारिक लाये हुए हो उसे बिना स्वामी को सौंपे वहाँ से प्रस्थान कर जाना, बिखरे हुए सामान को बिना समेटे विहार करना, बिना प्रतिलेखना के उपधि रखना आदि कार्य करने से प्रायश्चित्त आता है।

धर्मशाला–आंगतार, आरामगृह, गृहपतिकुल और अन्यतीर्थिकगृह में जाकर आहार आदि की याचना करना, उसके इनकार होने पर किसी के घर में आहार आदि के लिए प्रविष्ट होना, जहाँ पर भोज आदि का आयोजन हो वहाँ पर जाकर आहार आदि लेना, तीन घरों को पार कर आहार आदि यदि कोई लाया हो उसे स्वीकार करना, शोभा के लिए पाँव आदि को साफ करना, तेल आदि लगाकर उसे चमकाना, गरम पानी व अचित्त पानी से उसे धोना, पैरों में रंग लगाना, सम्पूर्ण शरीर को स्वच्छ और निर्मल बनाने के लिए ये सारी क्रियाएँ करना, शल्यचिकित्सा करवाना, रक्त आदि निकलवाकर उसे विशुद्ध करना, कृमि आदि को नष्ट करने के लिए मरहम आदि का उपयोग करना, शरीर के विभिन्न स्थानों से बालों को काटना, दाँतों को चमकीले और दमकीले बनाने के लिए उन्हें घिसना, धोना, रंग आदि लगाना और इसी तरह सम्पूर्ण शरीर को सुन्दर बनाने का प्रयास करना, सार्वजनिक स्थानों पर शौच आदि का परिस्थापन करना, कीचड़ से प्लावित भूमि पर और लीलन-फूलन युक्त सिंचित भूमि पर ईख के खेतों में, शालीवन, फूलों की वाटिका में, कपास के खेतों में, अशोक वन सप्तपर्ण के वन में, चंपावन, आम्रवन आदि स्थलों पर मल-मूत्रादि का विसर्जन करना और ऐसे स्थानों पर जहाँ दिन में प्रतिलेखना न की हो वहाँ परिस्थापन करने से लघु मास प्रायश्चित्त आता है।

साथ ही यह भी बताया गया है कि जो श्रमण या श्रमणी किसी सम्राट् को अपने अधीन करने के लिए उसकी अर्चना करना, उसकी प्रशंसा के गीत गाना, उससे याचना करना, इसी तरह नगररक्षक को वश में करने के लिए इस प्रकार के सारे उपक्रम करना, सचित्त अन्न आदि का उपयोग करना, आचार्य, उपाध्याय को पहले आहार आदि दिये बिना स्वयं आहार आदि करना, बिना अन्वेषणा किये आहार आदि लेना, जहाँ पर निर्ग्रन्थिनियाँ ठहरी हुई हों उनको पूर्व सूचना या संकेत दिये बिना उनके आवास में निर्ग्रन्थ का प्रवेश करना, इसी तरह श्रमणों के स्थान पर बिना संकेत किये श्रमणियों का प्रवेश करना, परस्पर एक-दूसरे का परिहास करने हेतु रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि उपकरणों को रखना, नूतन क्लेश की उद्भावना

करना, एक बार जिससे क्षमायाचना कर ली हो उससे पुनः क्लेश करना, ठहाका मारकर हँसना, पार्श्वस्थ और कुशील श्रमण-श्रमणियों के साथ सम्बन्ध रखना, सचित्त पदार्थ आदि से सने हुए पदार्थ लेना, कन्द-मूल-फल-फूल से भरे हुए आहारादि ग्रहण करना, तथा अविधि से और ऐसे स्थानों पर अशुचि पदार्थ परिस्थापन करना जिससे जीवों की विराधना हो और साथ ही जन जन की दृष्टि से सर्वथा अनुचित हो; ऐसे सभी कार्यों के लिए भी लघु मास प्रायश्चित्त का विधान है।

सचित्त वृक्ष के मूल पर श्रमण-श्रमणियों को कायोत्सर्ग करना, वहाँ पर बैठना, अशन, पान, खादिम, स्वादिम का आहार करना, शौच आदि से निवृत्त होना, स्वाध्याय करना, संघाटिका (चादर) अन्यतीर्थिक व गृहस्थ आदि से सिलाना, सचित्त लकड़ी का दण्ड आदि बनाना या रखना, उन्हें चित्र-विचित्र बनाना, विविध प्रकार के खानों में आहार आदि करना, मुख से तथा नाक आदि से वीणा आदि के शब्द निकालना, पत्र, फूल, फल, बीज आदि से वीणा आदि वाद्य बजाना, औद्देशिक शय्या आदि का उपयोग करना, सामाचारी का सम्यक् रूप से पालन न करते हों उन श्रमण-श्रमणियों के साथ आहार-विहार करना, वस्त्र, पात्र, कंबल, रजोहरण आदि को अविधि से रखना व अमर्यादित रखना, रजोहरण अपने से दूर रखना, गमनागमन के समय पास में न रखना, रजोहरण पर बैठना, उसे सिर के नीचे रखना, उसी पर सो जाना आदि सभी क्रियाओं का लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

चतुर्थ महाव्रत की स्खलना के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के प्रायश्चित्तों का विधान है और श्रमण-श्रमणियों को उन सभी स्खलनाओं से बचने का संकेत किया गया है। इस अध्याय में श्रमण और श्रमणियों को अत्यधिक जागरूक रहने के लिए उत्प्रेरित किया है और जरा-सी भी असावधानी पर भी गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। साथ ही यह भी बताया है कि राजपिंड का उपयोग करना कल्प्य नहीं है।

राजा के यहाँ जो आहारादि निर्गत होता है वह चौदह भागों में विभक्त किया गया है, जैसे–(१) द्वारपाल, (२) पशु, (३) भृत्य, (४) बलि, (५) दास-दासी, (६) घोड़ा, (७) हाथी, (८) अटवी आदि पार करने वालों का, (९) दुर्भिक्ष-पीड़ित, (१०) दुष्काल-पीड़ित, (११) डुमक (भिखारी), (१२) रुग्ण, (१३) वर्षा के निमित्त दान, और (१४) अतिथियों का भाग। इन सभी को ग्रहण करना वर्ज्य बताया है। राजा व शृंगार सजी हुई महारानी को निहारने की इच्छा करना, राजा के निवास-स्थान के सन्निकट स्वाध्याय आदि करना आदि कृत्यों से गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

चंपा, मथुरा, वाराणसी, श्रावस्ती, साकेत, कंपिला, कोशाम्बी, मिथिला, हस्तिनापुर और राजगृह ये प्राचीन युग की दस महानगरियाँ थीं। यदि वहाँ पर राज्याभिषेक हो रहा हो, राज्योत्सव हो रहा हो, उस समय महीने में दो-तीन बार प्रवेश करना और निकलना भी निषेध किया गया है। क्योंकि ऐसे समय में प्रवेश करने से श्रमण को गुप्तचर समझा जा सकता है, साथ ही उन उत्सवों में अत्यधिक भीड़-भाड़ होने से जीवों की विराधना की भी सम्भावना रहती है। इसी तरह अन्य राजधानियों के सम्बन्ध में भी समझा जा सकता है।

जो श्रमण आचार्य को कठोर व कर्कश वचन कहता है, आचार्य की अवज्ञा व अशातना करता है, आधाकर्मिक आहार ग्रहण करता है, लाभ-अलाभ का निमित्त बताता है, किसी निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थी को बहकाने का प्रयास करे, अपहरण करे, इसी प्रकार भावदीक्षित और दीक्षिताओं के मानस का परिवर्तन करे, परस्पर संघर्ष हो जाने पर उसका प्रायश्चित्त और क्षमायाचना बिना किये ही तीन रात से अधिक रहने वाले के साथ आहारादि करने पर प्रायश्चित्त का विधान है।

यदि सूर्योदय नहीं हुआ है और सूर्योदय हो गया है ऐसा समझकर और सूर्यास्त नहीं हुआ है ऐसा समझकर आहार आदि के लिए साधक बैठे और उस समय उसे यह ज्ञात हो कि सूर्योदय नहीं हुआ है अथवा सूर्यास्त हो गया है तो उसी क्षण आहार का परित्याग कर दे। यदि मुख में ग्रास लिया हुआ है तो उस ग्रास को बाहर निकाल दे। रात्रि में उद्गार के द्वारा मुँह में अन्न-कण आदि के आने की सम्भावना रहती है इसलिए उसे विवेकपूर्वक थूक देना चाहिए। रुग्ण श्रमण-श्रमणी की सेवा-शुश्रूषा न करे तो वह प्रायश्चित्त का भागी होता है। वर्षावास में ग्रामानुग्राम विहार न करे, पर्युषण के समय गमनागमन न करे, पर्युषण अर्थात् संवत्सरी महापर्व के दिन गो-लोम मात्र जितने बाल भी अपने सिर पर न रखे, पर्युषण के दिन किंचित् मात्र भी आहार का सेवन न करे, अन्यतीर्थिक या गृहस्थ को सांवत्सरिक प्रतिक्रमण आदि न करावे, वर्षावास प्रारम्भ होने के पश्चात् और वर्षावास समाप्त होने के पूर्व जो प्रथम समवसरण कहलाता है उस समय वस्त्र की याचना न करे, यदि वह करता है तो वह श्रमण प्रायश्चित्त (गुरुचातुर्मास) का पात्र है।

लोह पात्र का निर्माण करना, रखना, उसमें आहार आदि करना, इसी तरह अन्य धातुओं से निर्मित पात्र आदि का उपयोग, दन्त, शृंग, चर्म-वस्त्र, स्फटिक, रत्न, शंख, वज्र आदि के पात्र का उपयोग करना, श्रमण-श्रमणियों के लिए कल्प्य नहीं है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि श्रमण और श्रमणियों के लिए आगम साहित्य में मिट्टी, अलाबु (तुंबा) और काष्ठ–ये तीन प्रकार के पात्र रखने का विधान है। लोहे के तार आदि बँधे हुए पात्र के लिए अर्ध-योजन से आगे लेने के लिए जाना, अर्ध-योजन से अधिक दूरी से लाये हुए पात्र आदि को ग्रहण करना

और अर्हत धर्म का अवर्णवाद बोलना, अधर्म की प्रशंसा करना, अन्यतीर्थिक व गृहस्थ आदि के पैरों का प्रमार्जन करना, जहाँ चारों ओर तिमिर व्याप्त हो और दूसरों के मन में भय का संचार हो वहाँ स्वयं भी भयभीत होना और दूसरों को भी भयभीत करना, स्वयं भी आश्चर्यचकित होना और दूसरों को भी आश्चर्यचकित करना, अयोग्य व्यक्तियों की प्रशंसा करना, विरुद्ध राज्य में आवागमन करना, दिवा-भोजन की निन्दा कर रात्रिभोजन का महत्त्व प्रतिपादित करना, रात्रि में आहारादि करना, रात्रि में अपने पास आहारादि रखना, नैवेद्य-पिण्ड का उपयोग करना, जो व्यक्ति दीक्षा के अयोग्य है उसे दीक्षा देना, अयोग्य श्रमण-श्रमणियों की वैयावृत्य करना, अचेल श्रमण का सचेल श्रमणों के साथ रहना, बालमरण की प्रशंसा करना, जैसे–पर्वत से गिरकर मरना, रेत में प्रविष्ट होकर मरना, खड्डे में गिरकर मरना, वृक्ष से नीचे गिरकर मरना, कीचड़ में फँसकर मरना, जल में प्रविष्ट होकर मरना, पानी में कूदकर मरना, अग्नि में प्रवेश कर या उसमें कूदकर मरना, विष-भक्षण कर मृत्यु को वरण करना, तीक्ष्ण शस्त्र से आत्महत्या करना, इन्द्रियों के अधीन होकर मृत्यु को प्राप्त करना, मैं पुनः इसी भव को प्राप्त होऊँ इस विचार से मृत्यु को प्राप्त करना, अन्तःकरण में माया, निदान और मिथ्यात्व का शल्य रखकर मृत्यु को प्राप्त होना, फाँसी लगाकर मरना, मृतक के कलेवर में प्रविष्ट होकर मरना, और संयम से च्युत होकर मरना–ये सभी बालमरण हैं। इन सभी के लिए गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त है।

अनुकम्पापूर्वक किसी तरह से प्राणी को तृणपाश, मुंजपाश, काष्ठपाश, चर्मपाश, वेत्रपाश, सूत्रपाश आदि से बाँधना या जो बँधे हुए हों उन्हें छोड़ना, पुनः-पुनः प्रत्याख्यान का भंग करना, प्रत्येक वनस्पति जैसे आम आदि से मिश्रित आहार का उपभोग करना, रोमयुक्त चर्म रखना, दूसरों के वस्त्र से आच्छादित तृणपीठ, काष्ठपीठ आदि पर बैठना, साध्वी की संघाटी (चादर) अन्यतीर्थिक या गृहस्थ से सिलवाना, पृथ्वीकाय, अप्काय, वायुकाय, तेजोकाय की विराधना करना, सचित्त वृक्ष पर चढ़ना, गृहस्थ के पात्र में भोजन करना, गृहस्थ के वस्त्र धारण करना, गृहस्थ की शय्या पर शयन करना, गृहस्थ का औषधोपचार करना, सदोष आहार ग्रहण करना, काष्ठ आदि के चित्र-विचित्र पुतलों के अवलोकन के लिए उत्सुक रहना, निर्झर, गुफाएँ, सरोवर, प्रभृति विषम स्थलों के अवलोकनार्थ लालायित रहना, ग्राम, नगर इन्द्रियपोषणार्थ अवलोकन करना, अश्वक्रीड़ा, गजक्रीड़ा, शूकरक्रीड़ा आदि को देखने के लिए तत्पर होना, गौशाला, अश्वशाला, हस्तिशाला आदि को देखने के लिए लालायित होना आदि; प्रथम प्रहर में लाये हुए आहार को चतुर्थ प्रहर में करना, दो कोस से अधिक दूर से लाकर आहार करना, यदि शरीर में किसी स्थान पर जख्म हो गया हो तो प्रथम दिन का गोबर दूसरे

दिन काम में लेना, दिन का भोजन रात को उपयोग करना, इसी प्रकार आलेपन आदि करना–इसमें समय की मर्यादा का उल्लंघन होता है; अपने वस्त्र-पात्र आदि उपकरण गृहस्थों से उठवाना, गृहस्थ से कार्य करवाना, गंगा, यमुना, सरयू, ऐरावती और मही आदि बड़ी नदियों को महीने में दो या तीन बार पार करना। इसमें यह भी बताया है कि सचित्त पृथ्वी पर, आर्द्र पृथ्वी पर शयन आदि किया जाय, मकान की देहरी पर, ऊखल पर, स्नानगृह में, सरिता तट पर, दीवार पर, शिला पर, पाषाण खण्ड पर, खुले छत के नीचे, रात्रि में, गृहस्थ आदि को शिल्पकला आदि का परिज्ञान दे, गृहस्थ पर क्रोध करे, उन्हें कठोर वचनों से तिरस्कृत करे, उनसे प्रश्नोत्तर करे, भविष्य आदि बताये, हस्तरेखा आदि देखकर उसका फल बतावे, स्वप्न का फल बतावे, मन्त्र-तन्त्र आदि का अध्ययन करावे, दर्पण, तलवार, मणि, पानी, तैल आदि में अपना मुँह देखे, बिना कारण ही वमन आदि क्रिया करे, विरेचन ले, औषध आदि ग्रहण करे, गृहस्थ के बाल-बच्चों को क्रीड़ा कराये, ग्रामान्तर आदि में जाकर समाचार कहकर आहार ग्रहण करे, आजीविका पिण्ड, चिकित्सा पिण्ड ग्रहण करे, क्रोधादिपूर्वक आहार ग्रहण करे, इसमें लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

सदोष-पात्र संग्रहण के सम्बन्ध में लिखा है जो भिक्षु स्वयं पात्र को खरीदे, दूसरों से खरीदवावे या कृत लेकर प्रदान करता हो उसे ग्रहण करे; उधार ग्रहण करे या इधर से उधर परिवर्तन करे, परिवर्तन करवावे, बलपूर्वक ले, बिना स्वामी की अनुमति के ले, सन्मुख लाकर जो पात्रादि प्रदान करे उसे ग्रहण करना, बिना गणि की अनुमति के दूसरों को पात्र प्रदान करना, जिन श्रमणों के अंगोपांग छिन्न हो चुके हों अथवा स्थविर हों उन्हें खंडित पात्र देना या रखना, मजबूत व कार्य में आने योग्य पात्र न रखना, पात्रों को चमकदार बनाना, सुगन्धित बनाना या दुर्गन्धमय बनाना, सचित्त पृथ्वी आदि पर पात्र को रखना, सचित्त रज से सनी हुई भूमि पर पात्र को सुखाना, सचित्त जल आदि से युक्त भूमि पर पात्र को सुखाना, छत, पलँग, खम्भा आदि पर पात्र सुखाना, किसी से पात्र की याचना करना, परिषद के बीच में उठकर किसी से पात्र माँगना, पात्र के लोभ से उपवास आदि करना आदि कार्यों से लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

इसी तरह किसी श्रमण को आक्रोशपूर्वक कठोर वचन कहना और आशातना करना, सचित्त फल–आम्रादि खाना, गृहस्थ से अपने हाथ-पैर आदि दबवाना, तेल आदि से मर्दन करवाना, बाल आदि कटवाना, जहाँ पर पति-पत्नी का शयनागार हो उसमें प्रविष्ट होना, पानी रखने के स्थान पर प्रवेश करना, अग्निगृह, भोजनगृह आदि में प्रवेश करना, सदाचारी को दुराचारी और दुराचारी को सदाचारी कहना, जिसने उत्क्षेपपूर्वक गच्छ का परित्याग किया है उन श्रमणों के साथ खान-पान आदि

का सम्बन्ध रखना, अनार्य देशों में विचरण करने को लालायित रहना, जुगुप्सित कुलों से आहारादि ग्रहण करना, गृहस्थ आदि के साथ बैठकर आहार आदि ग्रहण, सचित्त भूमि पर शौच आदि, कुतूहल या मनोरंजनार्थ त्रस प्राणियों को रस्सी आदि से बाँधना या बँधे हुए को खोलना, तृण आदि की माला, खिलौने आदि बनाना, रखना, उनसे खेलना, समान आचार वाले श्रमण-श्रमणियों को स्थान आदि की सुविधा न देना, आचार्य आदि गुरुजनों के दुर्गुण दूसरों के सामने प्रकट करना, गीत गाना, वाद्य-यन्त्र बजाना, स्वयं नृत्य करना, वीणा आदि वाद्य-ध्वनियों को सुनने के लिए लालायित रहना, विना कारण ही नौका में विहार करना, नौका के अधिपति को धन दिलवाना या उधार लेकर नौका का उपयोग करना, नौका के स्वामी की अनुमति के विना भी नौका में बैठना, स्थल पर पड़ी हुई नौका को जल में डलवाना या जल में से नौका को बाहर निकलवाना, ऊर्ध्वगामिनी या अधोगामिनी नौका पर बैठना, स्वयं नौका चलाना या नौका चलाने वाले को सहयोग देना, नौका में यदि छिद्र आदि से पानी आ रहा हो तो उस छिद्र को बन्द करना और पात्र में लेकर उस पानी को उलीचना, नौका में ही आहारादि लेना, वस्त्रों को सुगन्धित, दुर्गन्धित बनाना, अविधिपूर्वक माँगना, मँगवाना आदि अचित्त वस्तु को खरीदना रुग्ण श्रमण के लिए तीन दत्ती से अधिक अचित्त वस्तु ग्रहण करना, आहारादि ग्रहण कर ग्रामानुग्राम विचरण करना, अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय करना, इन्द्र महोत्सव, स्कंद महोत्सव, यक्ष महोत्सव और भूत महोत्सव के समय स्वाध्याय करना, चैत्री, आषाढ़ी, भाद्रपदी और कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा के दिन स्वाध्याय आदि करना, अयोग्य व्यक्तियों को शास्त्र पढ़ाना, योग्य व्यक्ति को न पढ़ाना, अन्यतीर्थिक व गृहस्थ को आगम पढ़ाना, इन सभी कार्यों के लिए लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का विधान है।

इस प्रकार निशीथ में श्रमण-श्रमणियों के आचार-विचार सम्बन्धी नियमों का विधान है, नियम भंग होने पर प्रायश्चित्त का विधान है। इसमें गुरु मासिक, लघु मासिक, गुरु चातुर्मासिक, और लघु चातुर्मासिक इस तरह चार प्रकार के प्रायश्चित्तों का उल्लेख है। यहाँ पर गुरु का अर्थ उपवास है और लघु का अर्थ एकाशन है। प्रायश्चित्त सम्बन्धी सूक्ष्म से सूक्ष्म क्रियाओं का जो वर्णन है वह प्रकारान्तर से आचार-शुद्धि का विश्लेषण है। दोष और प्रायश्चित्त विषयक जो विधि-विधान हैं वे अयोग्य व्यक्ति के सामने प्रकाशित नहीं करना चाहिए, किन्तु जो योग्य व्यक्ति है उसके सामने उसका प्रकाशन किया जा सकता है। यह आगम प्रायश्चित्त और आचार का निरूपण करने वाला महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसीलिए निशीथभाष्य में स्पष्ट कहा है कि किसी श्रमण को यदि निशीथ का परिज्ञान नहीं है तो उसे गुरु से पृथक् विचरण करने का अधिकार नहीं है।

(२१) महानिशीथ–यह प्राचीनतम आगम न होने पर भी जैनाचार की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें शल्योद्धरण की विधि पर प्रकाश डाला गया है। सभी से निःशल्य होकर क्षमायाचना करनी चाहिए, इससे केवलज्ञान की उपलब्धि होती है। दूषित आलोचना करने वालों के दृष्टान्त दिये गये हैं। मोक्ष प्राप्त करने वाली अनेक निःशल्य श्रमणियों के भी इसमें नाम दिये गये हैं। और अपराध को जो श्रमण-श्रमणी गोपन करती है उनकी दुर्गति होती है, यह भी इसमें बताया गया है। गणधर गौतम और भगवान महावीर के संवाद के माध्यम से यह प्रतिपादित किया गया है कि वे साधक अधम होते हैं जो स्त्रियों के कामराग में आसक्त होते हैं और परिग्रह के पंक में निमग्न होते हैं।

इसमें सावद्याचार्य का उल्लेख है। अयोग्य के समक्ष उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का निरूपण करने से सावद्याचार्य ने अनन्त संसार बढ़ा लिया था। नन्दीसेन मुनि जो दशपूर्वी थे उन्होंने दोष का सेवन किया, उसके प्रायश्चित्त का भी उल्लेख है, प्रायश्चित्त की विधि भी बताई गई है। अनेक दृष्टान्तों के द्वारा श्रमणाचार का निरूपण किया गया है। विविध प्रकार के प्रायश्चित्तों का निरूपण है। यह सत्य है कि मूल महानिशीथ विच्छिन्न हो गया, उसके बाद इसका निर्माण हुआ और उसमें अनेक अंश प्रक्षिप्त भी हो गये हैं जो अनागमिक हैं जिसकी चर्चा हमने "जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा" ग्रन्थ में की है। विशेष जिज्ञासु वहाँ देख सकते हैं।

(२२) जीतकल्प–श्रमणों की प्रवृत्ति और निवृत्ति को व्यवहार कहते हैं। अशुभ से निवृत्त होकर शुभ में प्रवृत्त करना व्यवहार है और वही चारित्र भी है। साधक को प्रत्येक प्रवृत्ति और निवृत्ति में ज्ञान की प्रधानता होती है। ज्ञानयुक्त प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों ही उपादेय हैं। ज्ञान के आधार पर ही चारित्र का भव्य प्रासाद अवस्थित है। व्यवहार के पाँच भेद हैं, उसमें पाँचवाँ व्यवहार जीतकल्प है। जो व्यवहार परम्परा से प्राप्त हो और श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा अनुमत हो वह जीत व्यवहार है।

प्रस्तुत आगम में भिन्न-भिन्न अपराध स्थान सम्बन्धी प्रायश्चित्त का जीत व्यवहार के आधार पर निरूपण है। पाप को शुद्ध करने के लिए प्रायश्चित्त का विधान है। प्रायश्चित्त और दण्ड में अन्तर है। प्रमादवश यदि अनुचित कार्य हो गया हो तो सर्वप्रथम मन में पश्चात्ताप होना चाहिए और उस अनुचित कार्य की शुद्धि के लिए उस दोष को गुरुजनों के समक्ष प्रकट करना चाहिए और विशुद्धि के लिए प्रार्थना करनी चाहिए। गुरुजन जो भी शुद्धि बतायें उसके अनुसार प्रसन्न मन से तप आदि का आचरण करना प्रायश्चित्त है।

प्रायश्चित्त में हृदय परिवर्तन होता है। जिस प्रकार का अपराध होता है उसी प्रकार का प्रायश्चित्त दिया जाता है, इसलिए प्रायश्चित्त के आलोचनार्ह, प्रतिक्रमणार्ह, तदुभयार्ह, विवेकार्ह, व्युत्सर्गार्ह, तपार्ह, छेदार्ह, मूलार्ह, अनवस्थाप्यार्ह और पारांचिकार्ह–ये दस भेद हैं।

आलोचना में दूसरों की नुक्ताचीनी, टीका-टिप्पणी करना यहाँ पर इष्ट नहीं है। यहाँ पर आलोचना का अर्थ है–अपने जीवन में और साधना में जो भी दोष लग गये हों; उन्हें गुरुजनों के समक्ष प्रकट कर देना और दोष को स्वीकार करना। आलोचना आत्म-निन्दा है। बालक की तरह सरल मन से अपने दोषों को गुरुजनों के समक्ष कहा जाता है। दोष लगना उतना बुरा नहीं है जितना कि दोष को दोष न समझना और उसे छिपाने का उपक्रम करना। आलोचना से जीवन में उल्लास और हृदय में निर्मलता का संचार होता है।

प्रतिक्रमण दूसरा प्रायश्चित्त है। इसमें साधक अन्तर्निरीक्षण करता है। जिन दोषों से आत्मा दूषित हो गई है, उन दोषों को पुनः न करने का दृढ़ संकल्प करता है। समिति, गुप्ति में प्रमाद, असातना, विनयभंग, गुरु की आज्ञा का अपालन, मृषादि का प्रयोग, विधिरहित कास, जृम्भा, क्षुतवात का निवारण, असंक्लिष्ट कर्म, कंदर्प, हास्य, विकथा, कषाय, विषयानुसंग, स्खलना प्रभृति प्रतिक्रमण के प्रायश्चित्त योग्य स्थान है।

तदुभयार्ह तीसरा प्रायश्चित्त है। इसमें आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों के द्वारा शुद्धि की जाती है। संभ्रम, भय, आपत्, सहसा, अनाभोग, अनात्मवशता, दुश्चिन्तन दुर्भाषण, दुश्चेष्टा आदि अनेक अपराध प्रस्तुत प्रायश्चित्त के स्थान हैं।

विवेकार्ह चतुर्थ प्रायश्चित्त है। यहाँ पर विवेक का अर्थ त्याग है। किसी वस्तु का त्याग कर देने से जिस दोष की विशुद्धि हो जाती है वह विवेकार्ह है। जैसे–कालातीत, क्षेत्रातीत, आधाकर्म से युक्त आहार, उपधि, शय्या आदि ग्रहण करने से लगने वाले दोष के निवारण हेतु प्रस्तुत प्रायश्चित्त का विधान है।

व्युत्सर्गार्ह प्रायश्चित्त का पाँचवाँ भेद है। व्युत्सर्ग में दो शब्द हैं–वि + उत्सर्ग। 'वि' का अर्थ विशिष्ट है और 'उत्सर्ग' का अर्थ है त्याग। त्याग करने की विशिष्ट विधि व्युत्सर्ग है। व्युत्सर्ग में अनासक्ति, निर्भयता का संचार और जीवन की लालसा का त्याग होता है। धर्म के लिए, आत्म-साधना के लिए अपने आपको उत्सर्ग करने की विधि व्युत्सर्ग है। व्युत्सर्ग में शरीर अन्य है और आत्मा अन्य है–यह बुद्धि होती है।

व्युत्सर्ग तथा कायोत्सर्ग ये दोनों पर्यायवाची हैं। व्युत्सर्ग से दोषों की विशुद्धि होती है। धर्माराधन करते समय प्रमाद के कारण चारित्र में कोई दोष लग जाता है तो उसमें मलिनता आ जाती है। उस मलिनता को दूर कर पुनः चारित्र को निर्मल बनाना कायोत्सर्ग है। गमन, आगमन, विहार, श्रुत, सावद्यस्वप्न, नौका, नदी आदि से सम्बन्धित दोष कायोत्सर्ग के योग्य स्थान हैं।

कायोत्सर्ग का कालमान श्वासोच्छ्वास से किया जाता है। कायोत्सर्ग का उच्छ्वास-मान इस प्रकार है–

देवसिक (१००), रात्रिक (५०), पाक्षिक (३००), चातुर्मासिक (५००) और सांवत्सरिक (१००८)।

उच्छ्वास का कालमान एक क्षण के समान माना गया है।

तपार्ह प्रायश्चित्त का छठा प्रकार है। तप साधना का प्राण है। जिस साधना-आराधना से पापकर्म तप्त किये जाते हैं, वह तप है। तप का विश्लेषण करते हुए ज्ञानातिचार आदि पर प्रकाश डाला गया है और विभिन्न प्रकार के अपराधों की शुद्धि के लिए एकाशन, उपवास, षष्ठभक्त, अष्टम-भक्त, आयंबिल आदि तप का विधान किया गया है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से तप पर चिन्तन करते हुए गीतार्थ-अगीतार्थ, सहनशील-असहनशील, शठ-अशठ, परिणामी-अपरिणामी, धृति-देहसम्पन्न, धृति-देहहीन, आत्मतर, परतर, उभयतर, नोभयतर, अन्यतर, कल्पस्थित-अकल्पस्थित आदि व्यक्तियों की दृष्टि से तप पर प्रकाश डाला है।

छेदार्ह प्रायश्चित्त का सातवाँ भेद है। छेद का अर्थ काटना या कम करना है। जिस दोष की विशुद्धि के लिए दीक्षा पर्याय का छेदन किया जाता है, वह छेदार्ह प्रायश्चित्त कहलाता है। इसमें दोष की गुरुता और लघुता की दृष्टि से मासिक, चातुर्मासिक, षण्मासिक आदि अनेक भेद किये हैं। यह प्रायश्चित्त मानव के अहंकार पर सीधी चोट करता है। यह प्रायश्चित्त देने पर छोटे साधु भी बड़े बन जाते हैं। जो तप के गर्व से उन्मत्त हैं या जो तप के लिए सर्वथा असमर्थ हैं अथवा जिनकी तप पर किंचित् भी श्रद्धा नहीं है, या जिनका तप से दमन करना कठिन है उनके लिए छेद का विधान किया गया है।

मूलार्ह प्रायश्चित्त का आठवाँ प्रकार है। मूलार्ह का अर्थ नई दीक्षा है। छद्मस्थ श्रमण या श्रमणी कभी-कभी इतने महान् अपराध का सेवन कर लेता है जिसकी शुद्धि आलोचना व तप से सम्भव नहीं है। हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य, परिग्रह आदि द्वारा महाव्रतों के भंग करने से वह चारित्र से सर्वथा भ्रष्ट हो जाता है। उस

दोष की विशुद्धि के लिए चारित्र पर्याय का सर्वथा छेदकर नई दीक्षा देनी पड़ती है। महाव्रतों का फिर से आरोपण करना पड़ता है। एतदर्थ इसे मूलार्ह प्रायश्चित्त कहा है।

प्रायश्चित्त का नौवाँ प्रकार अनवस्थाप्यार्ह है। जिस महानतम दोष की शुद्धि के लिए अनवस्थापित होना पड़ता है अर्थात् श्रमण संघ से पृथक् होकर गृहस्थ का वेष धारण किया जाय और साथ ही विशेष तप की आराधना की जाय। इस प्रकार दोनों आचरणों के पश्चात् पुनः नई दीक्षा ग्रहण करनी होती है। इस विधि से जो प्रायश्चित्त दिया जाता है वह अनवस्थाप्यार्ह प्रायश्चित्त कहा जाता है। तीव्र क्रोध आदि से प्रदुष्ट चित्त वाले निरपेक्ष घोर परिणामी श्रमण के लिए प्रस्तुत प्रायश्चित्त का विधान है।

पारांचिकार्ह प्रायश्चित्त का दसवाँ प्रकार है। श्रमण जीवन में सबसे गुरुतर महादोष के लिए प्रस्तुत प्रायश्चित का विधान है। इस प्रायश्चित्त में वेष और क्षेत्र का परित्याग कर उत्कृष्ट तप की साधना करनी होती है। स्थानांग सूत्र में पारांचिक प्रायश्चित्त के पाँच कारण बताये हैं–(१) गण में फूट डालना, (२) फूट डालने की योजना बनाना तथा उसके लिए सदा प्रयास करना, (३) श्रमण आदि को मारने की भावना रखना, (४) मारने की योजना बनाना, (५) पुनः-पुनः असंयम के स्थान रूप सावद्य अनुष्ठान की अन्वेषणा करते रहना अर्थात् अंगुष्ठ कुड्य प्रभृति प्रश्नों का प्रयोग करना। इन प्रश्नों से दीवार या अँगूठे में देवता को बुलाया जाता है।

इनके अतिरिक्त श्रमणी या महारानी का शील भंग करने पर भी यह प्रायश्चित्त दिया जाता था। तीर्थंकर, प्रवचन, श्रुत, आचार्य, गणधर आदि की अभिनिवेश वश बार बार आशातना करने वाले को भी यह प्रायश्चित्त दिया जाता था। इसी तरह कषायदुष्ट, विषयदुष्ट, स्त्यानर्द्धि-निद्राप्रमत्त एवं अन्योन्यकारी पारांचिक-प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

उपर्युक्त दस प्रायश्चित्तों में से अन्तिम दो प्रायश्चित्त–अनवस्थाप्य और पारांचिक–ये चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु स्वामी तक रहे। उसके पश्चात् लुप्त हो गये।

(२३) चतुःशरण–अरिहन्त, सिद्ध, साधु और सर्वज्ञप्ररूपित धर्म ही सच्चा शरण है। इसलिए प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम चतुःशरण है। चतुःशरण ही कुशल का भी कारण है। इसलिए इसे 'कुशलानुबन्धी' भी कहा है। इसमें षडावश्यक पर भी प्रकाश डाला गया है।

(२४) आतुर प्रत्याख्यान–इसमें मरण के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है। इसी कारण इसे 'अन्तकाल प्रकीर्णक' भी कहा गया है। इसका अपर नाम 'बृहदातुर प्रत्याख्यान' भी है।

इसमें सर्वप्रथम बालमरण की व्याख्या है। देशविरति की व्याख्या करते हुए पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत, संलेखना, बालपण्डित का वैमानिकों में उपपात और उनको सात भव में सिद्धि बताई है। पण्डितमरण में अतिचारों की शुद्धि, जिनवन्दना, गणधरवन्दना, पंच महाव्रत, संथारे की प्रतिज्ञा, सामायिक, सर्व बाह्याभ्यन्तर उपधि, अठारह पाप-स्थानकों का परित्याग, केवल आत्मा का अवलम्बन, निश्चयदृष्टि से केवल आत्मा ही ज्ञान-दर्शन आदि रूप है, एकत्व भावना, प्रतिक्रमण, क्षमायाचना आदि हैं।

आचार्य ने मरण के बाल, बालपण्डित और पण्डित–ये तीन प्रकार बताये हैं। बालमरण को प्राप्त होने वाला विराधक होता है, उसे बोधि दुर्लभ प्राप्त होती है। उसका अनन्त संसार बढ़ जाता है। बालपण्डितमरण बालमरण से श्रेष्ठ मरण है और पण्डितमरण उत्कृष्टमरण है। उसमें मनुष्य आहारादि त्यागकर, जिनवचन पर दृढ़ श्रद्धा रखते हुए मरण के भय से मुक्त होकर कालधर्म को प्राप्त होता है और तीन भव में मुक्ति को प्राप्त होता है। इसमें प्रत्याख्यान को शाश्वत गति का साधक बताया है।

(२५) **महाप्रत्याख्यान**–इसमें पाप तथा दुश्चरित्र को सर्वथा अनुचित मानते हुए प्रत्याख्यान पर बल दिया है। ममत्व त्याग का महत्त्व प्रतिपादित किया है। साधक के मूलगुण उत्तरगुण में यदि दोष लग जाय तो उसे प्रतिक्रमण करना चाहिए। पापों की आलोचना, निन्दा और गर्हा करनी चाहिए। जो निःशल्य होता है उसी की शुद्धि होती है। साधक यह समझता है कि संसार अशरणभूत है और जीव की कभी भी काम-भोगों से तृप्ति नहीं होती तथा महाव्रतों की सुरक्षा करते हुए वह निदानरहित मरण की प्रतीक्षा करता है। जीवन के अन्तिम क्षणों में द्वादशांगी का चिन्तन असम्भव है, अतः उस समय संवेग की वृद्धि करता हुआ चार मंगल, चार शरण को ग्रहण कर, सभी प्रकार के पापों का प्रत्याख्यान कर तप की आराधना व साधना करता है। यदि उत्कृष्ट आराधना होती है तो उसी भव में मोक्ष प्राप्त करता है और मध्यम आराधना करने वाले को सात-आठ भव में मोक्ष प्राप्त हो जाता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में सर्वत्र प्रत्याख्यान का महत्त्व प्रतिपादित हुआ है।

(२६) **भक्तपरिज्ञा**–जिनेश्वरदेव की आज्ञा का पालन ही सच्ची आराधना है। पण्डितमरण से आराधना पूर्ण सफल होती है। पण्डितमरण के भक्तपरिज्ञा, इंगिनी और पादपोपगमन–ये तीन भेद हैं। भक्तपरिज्ञामरण सविचार और अविचार–ये दो भेद किये हैं। सम्यग्दर्शन से जो युक्त है, वही मुक्ति का अधिकारी है। जो सम्यग्दर्शन से रहित है, उस साधक के कर्मों की निर्जरा नहीं होती। भव-समुद्र से तिरने के लिए सम्यग्दर्शनपूर्वक अणुव्रत-महाव्रत रूप चारित्र की आराधना

आवश्यक है। चंचल मन को वश में करने के लिए हिंसा आदि का त्याग आवश्यक है। इन्द्रियों का विषय-सुख विष के समान भयंकर है। भक्तपरिज्ञा के समय वेदना को शान्त भाव से सहन करना चाहिए। भक्तपरिज्ञा के फलस्वरूप साधक कम से कम सौधर्म देवलोक में उत्पन्न होता है, उत्कृष्ट गृहस्थ साधक अच्युत कल्प में पैदा होता है तथा श्रमण सर्वार्थसिद्ध में या निर्वाण को प्राप्त होता है।

(२७) संस्तारक–जैन साधना पद्धति में संथारे का अत्यधिक महत्त्व है। संथारे में मन को ममता से हटाकर समता में रमण किया जाता है। जीवन के अन्तिम क्षणों में भी रोते और बिलखते मरना उचित नहीं है। जब तक जीओ, आनन्दपूर्वक जीओ और मृत्यु आ जाये तो आनन्दपूर्वक मरो। धर्म और संयम-साधना में दृढ़ रहकर हँसते और मुस्कराते हुए मृत्यु का वरण करो। मृत्यु निश्चित है किन्तु संथारे से मृत्यु को सफल बनाया जाता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में संथारे का महत्त्व प्रतिपादन करते हुए लिखा है–जैसे पर्वतों में मेरु, समुद्रों में स्वयंभूरमण और तारों में चन्द्र श्रेष्ट है उसी प्रकार सुविहितों में संथारा सर्वोत्तम है। पूर्व काल में जिन महान् आत्माओं ने संथारा किया है, उनके नाम और संक्षेप में परिचय भी दिया है, जैसे–अरणिकापुत्र, सुकोशल ऋषि, अवन्ति, कार्तिकार्य, चाणक्य, अमृतघोष, चिलातीपुत्र, गजसुकुमाल आदि।

संथारे में साधक सभी से क्षमायाचना कर कर्मक्षय करता है और तीन भव में मोक्ष प्राप्त करता है।

(२८) गच्छाचार–जो श्रमण आध्यात्मिक साधना से अपने जीवन को चमकाना चाहता है उसे चाहिए कि जीवन-पर्यन्त वह गच्छ में ही रहे, क्योंकि गच्छ में रहने से उसकी साधना बिना बाधा सम्पन्न होती है। जो शिष्य श्रमणाचार के विरुद्ध प्रवृत्ति करता है और सद्गुरु के द्वारा प्रायश्चित्त देने पर भी उसका शुद्धिकरण नहीं करता, वह शिष्य गुरु के लिए शत्रु के सदृश है। यदि सद्गुरु असद्मार्ग की ओर बढ़ रहा हो तो शिष्य का कर्तव्य है कि उन्हें सन्मार्ग पर लाने का प्रयास करे। यदि वह प्रयास नहीं करता है तो वह भी शत्रु के समान है।

आचार्य संघ के पिता हैं। उसके जीवन में आचार की सौरभ अत्यावश्यक है। तभी वह दूसरों को भी आचार-मार्ग पर बढ़ने की प्रबल प्रेरणा दे सकता है। जो आचार्य स्वयं आचार का पालन नहीं करता हो और आचारहीन श्रमण-श्रमणियों की उपेक्षा करता हो, वह मोक्ष मार्ग का अधिकारी नहीं है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में गच्छ का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि सारणा, वारणा, प्रेरणा प्रदान करने वाला गच्छ होता है जिससे साधक के पुराने दोष नष्ट

होते हैं और नूतन दोषों की उत्पत्ति नहीं होती है। जिस गच्छ में धर्मों का आचरण करने वाले गीतार्थ श्रमण अधिक मात्रा में हों उसे सुगच्छ कहा गया है।

श्रमणियों की मर्यादा का वर्णन करते हुए यह बताया है कि जिस गच्छ में स्थविरा महासती के पश्चात् युवा महासती शयन करती हो और युवा महासती के शयन के पश्चात् स्थविरा महासती शयन करती हो, वह गच्छ ज्ञान-दर्शन-चारित्र का आधारभूत श्रेष्ठ गच्छ है। श्रमण-श्रमणियों को परस्पर अत्यधिक परिचय नहीं रखना चाहिए। क्योंकि एक-दूसरे का घनिष्ट परिचय साधना की दृष्टि से उचित नहीं है। अग्नि के समीप घी रहने से उसके पिघलने की सम्भावना बनी रहती है। इसलिए श्रमण को बाला, वृद्धा, नातिन, दुहिता और भगिनी के शरीर का भी स्पर्श करना सर्वथा निषिद्ध बताया गया है।

(२९) मरणसमाधि–शिष्य की जिज्ञासा पर कि समाधिमरण किस प्रकार प्राप्त हो सकता है, आचार्य ने कहा–(१) आलोचना, (२) संलेखना, (३) क्षमापना, (४) काल, (५) उत्सर्ग, (६) उद्ग्रास, (७) संथारा, (८) निसर्ग, (९) वैराग्य, (१०) मोक्ष, (११) ध्यानविशेष, (१२) लेश्या, (१३) सम्यक्त्व, और (१४) पादपोपगमन–ये चौदह समाधिमरण के कारणभूत द्वार हैं। इसमें आलोचना के दस दोषों का भी उल्लेख है। संलेखना के बाह्य और आभ्यन्तर–ये दो प्रकार बताये हैं। कषायों को कृश करना आभ्यन्तर संलेखना है और काया को कृश करना बाह्य संलेखना है। साधक को उपधि का परित्याग कर समाधि में रमण करना चाहिए। यहाँ परीषहों को सहन करते हुए पादपोपगमन संथारे के द्वारा सिद्धि गति प्राप्त करने वालों के दृष्टान्त दिये गये हैं। अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाओं का भी वर्णन है।

(३०) चन्द्रवेध्यक–जैसे राधावेध का वेधक किंचित् मात्र भी प्रमाद नहीं करता वैसे ही साधक को सदा अप्रमत्त रहना चाहिए। प्रस्तुत प्रकीर्णक में विनय, आचार्यगुण, शिष्यगुण, विनयनिग्रहगुण, ज्ञानगुण, चरणगुण और मरणगुण; इन विषयों पर विस्तार से विवेचन है।

इस प्रकार आगम साहित्य में यत्र-तत्र कहीं अत्यधिक विस्तार के साथ तो कहीं अति संक्षेप में श्रमणाचार का विश्लेषण हुआ है। यहाँ हमने केवल संक्षेप में कुछ उल्लेख किया है। विशेष जिज्ञासुओं को मूल ग्रन्थ निहारने चाहिए।

व्याख्या-साहित्य में श्रमणाचार

आगम के व्याख्या-साहित्य में श्रमणाचार के सम्बन्ध में कहीं-कहीं आगम से भी अत्यधिक विस्तारपूर्वक विश्लेषण हुआ है। उस विश्लेषण में उत्सर्ग और अपवाद मार्ग पर भी विस्तार से चिन्तन है। आगमों से अधिक अपवाद उसके व्याख्या-

साहित्य में उपलब्ध होते हैं। अपवाद मार्ग केवल स्थविरकल्प में ही उचित समझा गया है। जिनकल्प में कोई भी अपवाद नहीं था। उनके लिए केवल उत्सर्ग मार्ग ही था। प्रतिषेध के लिए उत्सर्ग शब्द का प्रयोग है और अनुज्ञा के लिए अपवाद का।

(३१) आवश्यकनिर्युक्ति–व्याख्या साहित्य में सर्वप्रथम निर्युक्ति साहित्य का स्थान है, जिसके रचयिता आचार्य भद्रबाहु हैं। निर्युक्तियों में सर्वप्रथम आवश्यकनिर्युक्ति है। आवश्यकनिर्युक्ति में षडावश्यक का विस्तार से विश्लेषण किया गया है। इसमें सर्वप्रथम सामायिक आवश्यक पर बहुत ही विस्तार से चिन्तन किया गया है। सामायिक के अध्ययन के पश्चात ही दूसरे ग्रन्थों का अध्ययन प्रारम्भ होता था। चारित्र की पाँच भूमिकाओं में सर्वप्रथम सामायिक है। सामायिकश्रुत का अधिकारी ही मोक्ष का अधिकारी बनता है, वही तीर्थंकर भी बनता है। सामायिक की चर्चा में ही भगवान ऋषभदेव, भगवान महावीर के जीवन की चर्चा और गणधरवाद की चर्चा भी विस्तार से हुई है। सामायिक किस प्रकार करना चाहिए, सामायिक का लाभ, सामायिक का अर्थ, सामायिक का उद्देश्य आदि जितने भी सामायिक सम्बन्धी पहलू हैं उन सभी पर चिन्तन किया गया है। इसी तरह चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान आवश्यक के इन पाँच भेदों पर भी चिन्तन है। आवश्यकनिर्युक्ति में श्रमण जीवन की सफल साधना के लिए सभी प्रकार के विधि-विधानों का संक्षिप्त और सुव्यवस्थित निरूपण है।

(३२) दशवैकालिकनिर्युक्ति–प्रस्तुत निर्युक्ति में भी श्रमणाचार का हृदयस्पर्शी वर्णन है। अहिंसा के द्रव्य अहिंसा और भाव-अहिंसा, सतरह प्रकार के संयम, बारह प्रकार के तप का वर्णन है। साथ ही विषय को स्पष्ट करने के लिए कथाओं का भी प्रयोग किया है। षड्जीवनिकाय का निरूपण, पिण्डेषणा की विशुद्ध, महाचार कथा, वाक्य विशुद्धि, आचार प्रणिधि, विनय-समाधि में भाव विनय के लोकोपचार, अर्थनिमित्त, कामहेतु, भयनिमित्त और मोक्षनिमित्त इन विनयों का वर्णन करते हुए मोक्षविनय के पाँच प्रकार बताये हैं–दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और उपचार। भिक्षु शब्द पर भी नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव आदि से चिन्तन किया गया है।

(३३) उत्तराध्ययननिर्युक्ति–इसमें भी अध्ययनों की निक्षेपपूर्वक व्याख्या है। छत्तीस अध्ययनों के नाम बताकर उनके अधिकारों का निर्देश किया गया है। संक्षेप में उत्तराध्ययन का पिण्डार्थ और समुदयार्थ दिया गया है। प्रत्येक अध्ययन का विशेष व्याख्यान किया गया है।

(३४) आचारांगनिर्युक्ति–प्रस्तुत निर्युक्ति दोनों श्रुतस्कन्धों पर है। आचार के एकार्थक शब्द बताये हैं। सभी तीर्थंकरों ने तीर्थ-प्रवर्तन के प्रारम्भ में आचारांग की ही प्ररूपणा की है। अन्य अंग उसके बाद में बने हैं। सम्पूर्ण प्रवचन का सार

आचारांग है। इसी से प्रथम श्रमणधर्म का परिज्ञान होता है। इसीलिए इसे आद्य गणिस्थान कहा है।

आचारांग का अर्थाधिकार बताते हुए लिखा है प्रथम अध्ययन का अधिकार है जीव संयम, द्वितीय का अष्टविध कर्म विजय, तृतीय का सुख-दुःख तितिक्षा, चतुर्थ का सम्यक्त्व की दृढ़ता, पाँचवें का लोकसार रत्नत्रयाराधना, छठे का निस्संगता, सातवें का मोहसमुत्थ-परीसहोपसर्गसहनता, आठवें का निर्याण और नौवें का जिनप्रतिपादित अर्थश्रद्धा। निक्षेप दृष्टि से इसमें अधिक विश्लेषण हुआ है। जीवों की हिंसा न हो, इस पर अधिक बल दिया है। पृथ्वीकाय आदि के भेद-प्रभेद भी बताये हैं।

श्रमण को माता-पिता, स्वजन आदि पर मोह-ममता नहीं रखनी चाहिए। भोग निस्सार है। कषायविजय ही लोकविजय है। केवल कष्ट सह लेने से कोई श्रमण नहीं बनता। श्रमण की क्रिया करने से श्रमण बनता है। श्रमण के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्तप और सम्यक्चारित्र- ये आवश्यक है। सम्पूर्ण लोक का सार धर्म है धर्म का सार ज्ञान है, ज्ञान का सार संयम है, संयम का सार निर्वाण है। कर्म को किस प्रकार विधुनन करना चाहिए, इसको अच्छी तरह से बताया है। यह भी उल्लेख है कि सभी तीर्थंकरों का तपःकर्म निरुपसर्ग था। किन्तु भगवान महावीर का तपःकर्म सोपसर्ग था।

प्रथम श्रुतस्कन्ध के समस्त विवक्षित अर्थ का अभिधान नहीं हो सका है और जो अभिधान हुआ है वह भी बहुत ही संक्षेप में है। द्वितीय श्रुतस्कंध पर जो निर्युक्ति है वह तो बहुत ही संक्षिप्त है। सातों अध्ययनों के नामादि निक्षेपों की व्याख्या की गई है।

(३५) **दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति**–इसमें द्रव्य और भाव समाधि का पन्द्रह निक्षेपों से विचार किया गया है। आशातना की भी निर्युक्ति करते हुए दो प्रकार की आशातना की व्याख्या की है–मिथ्या प्रतिपादन सम्बन्धी एवं लाभ सम्बन्धी। लाभ सम्बन्धी आशातना के छह भेद किये हैं। गणिसम्पदा पर भी निक्षेपपूर्वक विचार है। आचार का अध्ययन करने से श्रमण धर्म का परिज्ञान होता है। अतः आचार को प्रथम गणिस्थान कहा गया है। सम्पदा के भी द्रव्यसम्पदा और भावसम्पदा, ये दो प्रकार बताये हैं। शरीरसम्पदा द्रव्यसम्पदा है और आचारादि भावसम्पदा है। जब चित्त राग-द्वेष से रहित होता है और विशुद्ध धर्मध्यान में लीन होता है तभी भाव-समाधि होती है। भिक्षु प्रतिमा पर चिन्तन करते हुए भावभिक्षु की प्रतिमा पाँच प्रकार की बताई हैं–समाधि प्रतिमा, उपधान प्रतिमा, विवेक प्रतिमा, प्रतिसंलीन प्रतिमा और एकल-विहार प्रतिमा। पर्युषणाकल्प पर भी चिन्तन है।

(३६) बृहत्कल्पनिर्युक्ति–इसमें प्रलम्ब सूत्र में प्रलम्ब ग्रहण से सम्बन्ध रखने वाली अनेक बातों का वर्णन है। जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिक के आहार-विहार की चर्चा है। आर्य क्षेत्र को छोड़कर अनार्य क्षेत्र में विचरण करने से अनेक दोषों के लगने की सम्भावना व्यक्त की गई है और उन दोषों को बताने के लिए स्कन्दकाचार्य का उदाहरण दिया गया है। साथ ही ज्ञान, दर्शन, चारित्र की रक्षा और वृद्धि के लिए आर्य क्षेत्र से बाहर भी जाने की अनुमति है जिसका सम्प्रति राजा के दृष्टान्त से समर्थन किया गया है।

(३७) व्यवहारनिर्युक्ति–जैसे बृहत्कल्पनिर्युक्ति में श्रमण जीवन की साधना के लिए आवश्यक विधि-विधान, दोष, अपवाद आदि का निर्देश है उसी तरह व्यवहारनिर्युक्ति में भी अधिकांशतः वही विवेचन है। ये दोनों निर्युक्तियाँ परस्पर एक-दूसरे की पूरक हैं।

(३८) ओघनिर्युक्ति–इसमें बिना विस्तार किये केवल सामान्य कथन किया गया है। श्रमणों के आचार-विचार का प्रतिपादन होने से कहीं पर उसे निर्युक्ति के स्थान पर मूल सूत्र माना है तो कहीं पर उसे छेद सूत्रों के अन्तर्गत गिना है। विज्ञों का ऐसा भी मत है कि यह आवश्यकनिर्युक्ति का ही एक अंश है। इसमें यह प्रतिपादित किया है कि अशिव के समय श्रमण देशान्तर में गमन कर जाते थे। जो कुल अशिवोपद्रव से त्रसित हो, श्रमण उन कुलों से भिक्षा ग्रहण नहीं करते थे। दुर्भिक्ष के समय पृथक्-पृथक् विचरण का भी उल्लेख है और यह भी निर्देश है कि रुग्ण श्रमण को अपने पास रखना चाहिए। किन्हीं कारणों से श्रमण पर यदि राजा कुपित हो जाय और उसका अशन, पान व उपकरण अपहरण करने के लिए प्रस्तुत हो, ऐसी स्थिति में श्रमण गच्छ के साथ रहे। यदि राजा उसके जीवन और चारित्र को ही नष्ट करने पर तुला हुआ हो तो वह श्रमण गण का परित्याग कर एकाकी विचरण करे। किसी नगर में श्रमण ठहरा हुआ हो वहाँ पर आकस्मिक उपसर्ग उपस्थित हो जाय तो श्रमण एकाकी विहार करे। अनशन करने के लिए अन्य सन्तों का अभाव हो तो एकाकी विचरण करे। रुग्ण होने पर अन्य सन्त के अभाव में औषध लाने हेतु भी एकाकी गमन करे। किसी देव का उपसर्ग होने पर भी आचार्य की आज्ञा को शिरोधार्य कर एकाकी विहार किया जा सकता है।

विहार विधि बताते हुए कहा है श्रमण को मार्ग पूछना चाहिए, यदि मार्ग में जीव आदि हों तो उसका प्रमार्जन करना चाहिए, यदि नदी आ जाय तो उसे पार करने की भी विधि बताई गई है। जंगल को पार करते समय आग लग जाय तो पाँवों में चर्म और पदत्राण को धारण कर पार किया जा सकता है। यदि तेज पवन चल रहा हो तो कम्बल आदि से शरीर को ढककर विहार करे। इसी तरह

वनस्पतिकाय व त्रसकाय का भी वर्णन है। संयम-साधना के लिए आत्म-रक्षा आवश्यक है; क्योंकि बिना आत्म-रक्षा के संयम पालन सम्भव नहीं है। यदि संयम में दोष भी लग गया हो तो तप आदि से उसकी शुद्धि की जा सकती है। संयम के लिए देह धारण की जाती है। देह के अभाव में संयम का पालन कहाँ ? अतः संयम-पालनार्थ देह की आवश्यकता है। चलना-फिरना आदि जितनी भी क्रियाएँ हैं असंयमी साधक के लिए कर्मबन्धन का कारण है और विवेकी साधक के लिए मोक्ष का कारण है।

यदि कोई श्रमण रुग्ण है तो तीन, पाँच, या सात श्रमण स्वच्छ वस्त्र धारण कर शुभ शकुन को निहारकर वैद्य के सन्निकट जायें। यदि वैद्य किसी की शल्य चिकित्सा कर रहा हो, उस समय उससे बातें न करें। जिस समय वैद्य निवृत्त होकर बैठा हो, उस समय उससे उपचार विधि पूछे। यदि वैद्य रुग्ण श्रमण को निहारने के लिए आए तो रोगी के आसपास का वातावरण पूर्ण स्वच्छ रखा जाय। ग्लान श्रमण की परिचर्या की जाय।

भिक्षा हेतु गमन करने समय भिक्षा में आने वाली बाधाएँ, भिक्षा के दोष, श्रमण की परीक्षा, स्थानविधि आदि का वर्णन करके कहा गया है कि उसे गण की आज्ञा लेकर जाना चाहिए जो श्रमण बाल, वृद्ध और रुग्ण हों उन्हें प्रस्तुत कार्य के लिए प्रेषित नहीं करना चाहिए। जहाँ पर ठहरना हो वहाँ पर उच्चार-प्रस्रवण भूमि, पानी का स्थल, विश्रामस्थल और भिक्षास्थल आदि के मार्गों को अच्छी तरह से देखना चाहिए। किस दिशा-विशेष में रहने से लाभ है उस पर चिन्तन किया गया है। यदि एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में जाने के लिए शय्यातर की अनुमति अपेक्षित है तो वह शय्यातर से यह कहे कि इक्षु बाड़ को लाँघ चुके हैं, तुम्बी के फल आ चुके हैं, बैलों में भी बल का संचार हो चुका है, कीचड़ सूख चुका है, जल कम हो चुका है, इसलिए अब श्रमणों के विहार का समय आ चुका है। यदि शय्यातर यह कहे कि आप इतनी शीघ्रता क्यों करते हैं तो उत्तर में आचार्य कहे श्रमण, पक्षी, भ्रमर, गाय और शरदकालीन मेघ स्थिर नहीं रहते। इसलिए हम प्रस्थान करेंगे।

श्रमण प्रस्थान से पहले शय्यातर के परिवार के सभी सदस्यों को उपदेश दे। विहार करते समय शुभ शकुन देखना चाहिए। यदि अशुभ शकुन हो तो प्रस्थान नहीं करना चाहिए। शुभ-अशुभ शकुनों की सूची भी दी गई है। श्रमण किन उपकरणों को लेकर विहार करे ? किस समय गमन करे ? आदि पर चिन्तन किया गया है। रात्रि गमन और एकाकी गमन का निषेध किया गया है। जो श्रमण मार्ग का जानकार हो उसी के साथ विहार किया जाय। विकाल में प्रवेश करने से वन पशु, तस्कर, कुत्ते, बैल आदि का भय रहता है। उच्चार, प्रस्रवण और वमन

को नहीं रोकना चाहिए। रोकने से अत्यधिक हानि होने की सम्भावना है। आचार्य से कहकर भिक्षा के लिए जाय। यदि कोई श्रमण बिना कहे ही चला गया हो तो उसकी चारों दिशाओं में अन्वेषणा की जाय। यदि उसे कोई तस्कर उठा ले जाय तो उस समय श्रमण को क्या करना चाहिए ? इस पर भी प्रकाश डाला गया है। पूर्व और उत्तर दिशा की ओर पीठ करके मल-मूत्र का विसर्जन नहीं करना चाहिए। और न जिधर से पवन आ रहा हो उधर, गाँव तथा सूर्य की ओर भी पीठ करके मल-मूत्र का त्याग नहीं करना चाहिए।

गवेषणा, ग्रहणैषणा, ग्रासैषणा से विशुद्ध पिण्ड को ग्रहण करे। श्रमण को कब वस्त्र प्रक्षालन करना चाहिए इस पर चिन्तन करते हुए लिखा है जो रुग्ण श्रमण है उसके वस्त्र पुनः पुनः धोने चाहिए, न धोने से जन-जन के मानस में जुगुप्सा होगी। पात्र-लेप-विधान न करने से दोष, लेप की विधि, लेप के प्रकार आदि का वर्णन है। यदि ऐसा कोई प्रसंग उपस्थित हो जाय जिसमें चतुर्थ व्रत खण्डित होने की सम्भावना हो तो प्राणों को न्योछावर कर देना चाहिए किन्तु व्रत का भंग नहीं करना चाहिए। ग्रहणैषणा में आत्म-विराधना, संयम-विराधना और प्रवचन-विराधना नामक दोषों की सम्भावना पर चिन्तन किया गया है।

भिक्षा की अच्छी तरह से प्रतिलेखना करनी चाहिए। गुरुजनों को भिक्षा दिखाकर ही जहाँ से भिक्षा लाये हो उसकी आलोचना करनी चाहिए। भोजन प्रकाशयुक्त स्थान पर ही करना चाहिए। यदि सदोष भिक्षा आ गई हो तो उसे किस विधि से परिस्थापन करना चाहिए, यह भी बताया गया है।

जिनकल्प की श्रमणों के (१) पात्र, (२) पात्रबन्ध, (३) पात्र-स्थापन, (४) पात्र केसरिका, (५) पटल, (६) रजस्त्राण, (७) गोच्छक, (८) तीन प्रच्छादन (वस्त्र), (९) रजोहरण, (१०) मुखवस्त्रिका–ये बारह उपकरण हैं। इनमें मात्रक और चोलपट्टक मिलाने से स्थविर कल्पिकों के चौदह उपकरण होते हैं। श्रमणियों के पच्चीस उपकरणों का वर्णन है। बारह उपकरणों के अतिरिक्त तेरह उपकरण उनके विशेष हैं–(१) मात्रक, (२) कमढक, (३) उग्गहणंतग, (४) गुह्य (अंगों की रक्षा के लिए), (५) पट्टक, (यह वस्त्र जांघिया सदृश है), (६) उद्धोरुग (उग्गहणंतग और पट्टक पर पहना जाता है), (७) चलनिका (घुटनों तक आने वाला वस्त्र, बिना सिला हुआ), (८) अभिन्तर नियंसिणी (यह वस्त्र आधी जंघा तक लटका रहता था और वस्त्र बदलते समय उसका उपयोग होता था, (९) बहिनियंसिणी (यह डोरी से कटि में बाँधा जाता था और घुटनों तक लटका रहता था)। शरीर के ऊपरी भाग पर पहनने के वस्त्र ये हैं–(१०) कंचुक (वक्षस्थल को ढकने वाला वस्त्र), (११) उक्कच्छिय (कंचुक की सदृश ही होता है),

(१२) वेकच्छिय (जिससे कंचुक और उकच्छिय ढक जाते हैं), (१३) संघाड़ी (यह चार प्रकार की होती है–प्रतिश्रय में दो, तीसरी भिक्षा के लिए बाहर जाते समय और चौथी समवसरण में पहनने के लिए), (१४) कन्धकरणी (चार हाथ लम्बा वस्त्र जो वायु आदि से रक्षा के लिए पहना जाता था। बहुत रूपवती साध्वियों को कुब्जा बनाने के लिए भी इसका उपयोग होता था)।

पात्र के लक्षण, पात्र ग्रहण की आवश्यकता, दण्ड, यष्टिचर्म, चिली-मिली आदि की आवश्यकता होने पर ग्रहण करने के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है। लाठियों के भेद-प्रभेदों के उल्लेख करते हुए एक, तीन या सात पोरी वाली लाठी शुभ मानी गई है। यदि उपधि को ग्रहण करने में परिग्रहवृत्ति आ जाती है तो वह उपधि, उपाधि बन जाती है। जहाँ पर प्रमत्त भाव है वहाँ हिंसा है और जहाँ अप्रमत्त भाव है वहाँ अहिंसा है। पापभीरु श्रमण जहाँ ज्ञान, दर्शन, चारित्र का उपघात होता हो, उस स्थान का परित्याग कर देता है। मूलगुण प्रतिसेवना के पंच महाव्रत और छठा रात्रिभोजन त्याग ये छह स्थान बताये हैं। उत्तरगुण प्रतिसेवना के उद्गम, उत्पादन और एषणा ये तीन स्थान हैं। आलोचना के भी मूलगुण और उत्तरगुण ये दो भेद हैं। यह दोनों प्रकार की आलोचना चतुष्कर्ण वाली होनी चाहिए। आलोचना करने वाले के दो कान और सुनने वाले के दो कान। आलोचना के विकटना, शुद्धि, सद्भाव दलना, निंदना, गर्हणा, व्युट्टणा, शल्योद्धरणा, ये एकार्थक नाम हैं। जो सरल होकर आलोचना करता है, उसकी विशुद्धि होती है।

(३९) **पिण्डनिर्युक्ति**–श्रमण के ग्रहण करने योग्य आहार को पिण्ड कहते हैं। अशन, पान, खादिम और स्वादिम–इन चारों प्रकार के आहार का वर्णन है। प्रस्तुत निर्युक्ति दशवैकालिक के पिण्डेषणा अध्ययन पर है, पर अत्यधिक विस्तृत हो जाने से इसे पृथक् स्थान दिया गया है।

पिण्ड के नौ प्रकार हैं–पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। इन नौ के सचित्त, अचित्त और मिश्र भेद किये गये हैं। विशेष परिस्थितियों में इनका उपयोग होता है। गृहस्थ के द्वारा जो दोष लगते हैं, वे उद्गम दोष कहलाते हैं। उनके सोलह भेद हैं। श्रमण द्वारा लगने वाले दोष उत्पादन दोष कहलाते हैं। वे आहार की याचना के दोष हैं, उनके भी सोलह प्रकार हैं। गृहस्थ और श्रमण दोनों के निमित्त से जो दोष लगते हैं, वे ग्रहणैषणा दोष कहलाते हैं, उनके दस प्रकार हैं। श्रमण और श्रमणियाँ जब आहार करने बैठते हैं उस समय जो दोष लगते हैं वे ग्रासैषणा और परिभोगैषणा दोष कहलाते हैं, वे पाँच हैं।

इस तरह प्रस्तुत निर्युक्ति में श्रमणों के आहार आदि के सम्बन्ध में, जो भी दोष लगते हैं उनकी स्पष्ट सूची प्रस्तुत की गई है। इसीलिए प्रस्तुत निर्युक्ति को मूल सूत्र के रूप में भी किन्हीं-किन्हीं आचार्यों ने स्थान दिया है।

भाष्य-साहित्य में श्रमणाचार

निर्युक्ति साहित्य में मुख्य रूप से पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या की गई है। निर्युक्तियों के गम्भीर रहस्य को अभिव्यक्त करने के लिए भाष्य-साहित्य का निर्माण हुआ। उनमें अनेक प्राचीन अनुश्रुतियाँ लौकिक कथाएँ और परम्परागत श्रमणों के आचार-विचार की विधियों का प्रतिपादन हुआ है। भाष्यकारों में जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण और संघदासगणी का नाम अत्यन्त निष्ठा के साथ लिया जाता है।

(४०) विशेषावश्यकभाष्य–इसमें दार्शनिक विचारों की प्रमुखता है। इसमें बताया है कि ज्ञान और क्रिया इन दोनों से मोक्ष प्राप्त होता है। सामायिक पर चिन्तन करते हुए कहा है कि समभाव सामायिक का लक्षण है। जैसे अनन्त आकाश सभी द्रव्यों का आधार है वैसे ही सभी सद्गुणों का आधार सामायिक है। सामायिक श्रुत का सार है। जीव को कब सामायिक चारित्र उपलब्ध होता है, इसका भी विस्तार से निरूपण किया गया है। सामायिक के सम्यक्त्व, श्रुत, देशव्रत और सर्वव्रत–ये चार भेद किये हैं। सामायिक का जितना अधिक विश्लेषण इसमें किया गया है उतना दूसरे ग्रन्थों में मिलना कठिन है। साथ ही इसमें जिनकल्प और स्थविरकल्प, ध्यान, उसका स्वरूप और उपलब्धि आदि पर भी चर्चा हुई है।

(४१) जीतकल्पभाष्य–जीतकल्प में जिन विषयों पर चर्चा है उन्हीं विषयों पर विस्तार से इसमें चिन्तन किया गया है। संघ व्यवस्था की दृष्टि से एक आचार-संहिता का निर्माण किया गया है जिसमें श्रमण के कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, प्रवृत्ति-निवृत्ति का निर्देश है। यह आचार-संहिता ही व्यवहार कहलाती है। इसमें आचार्य की आठ सम्पदा, विनय के चार प्रकार, आलोचनार्ह के आठ गुण, अठारह वर्णनीय स्थानों का ज्ञाता, दस प्रकार के प्रायश्चित्तों को जानने वाला, आलोचना के दस दोषों का जानकार, व्रतषटक और कायषटक का विज्ञाता, जातिसम्पन्न आदि गुणों से युक्त व्यक्ति आगम-व्यवहारी कहलाता है।

प्रायश्चित्त देने के सम्बन्ध में सापेक्ष और निरपेक्ष पर चिन्तन करते हुए लिखा है कि जिसे प्रायश्चित्त देना है, प्रायश्चित्त-प्रदाता को उसकी शक्ति का परिज्ञान होना चाहिए। यदि उसकी शक्ति से अधिक प्रायश्चित्त दे दिया गया तो संयम में स्थिर होने के स्थान पर सर्वथा त्याग का प्रसंग उपस्थित हो सकता है। प्रायश्चित्त-प्रदाता को इतना भी दयालु नहीं होना चाहिए कि प्रायश्चित्त का मूल

उद्देश्य ही नष्ट हो जाय और दोषों की परम्परा बढ़ती रहे। बिना प्रायश्चित्त के चारित्र की शुद्धि नहीं होती और बिना चारित्रिक शुद्धि के निर्वाण नहीं हो सकता। निर्वाण-प्राप्ति के अभाव में कोई पुरुष श्रमण नहीं बनेगा और श्रमण के अभाव में तीर्थ चल नहीं सकता। इसलिए जहाँ तक तीर्थ की अवस्थिति है वहाँ तक प्रायश्चित्त का भी विधान है। प्रायश्चित्त के प्रसंग में भक्तपरिज्ञा, इंगिनीमरण और पादपोपगमन–इन तीन मारणांतिक साधनाओं का भी उल्लेख है।

किसी अपराध के लिए किसी समय किसी प्रायश्चित्त का विधान किया है किन्तु दूसरे समय में देश, काल, धृति, संहनन, बल आदि को देखकर दूसरे प्रकार के प्रायश्चित्त का भी विधान किया जाता है। किसी आचार्य ने किसी प्रायश्चित्त का विधान किया हो और वह प्रायश्चित्त आगम में न हो तो भी वह मान्य होता है। उसे जीत-व्यवहार कहते हैं।

छद्मस्थ व्यक्ति के लिए आलोचना का विधान है। प्रतिक्रमण के अपराध स्थानों के वर्णन में जिनदास, अर्हन्नक, नन्दीवर्द्धन, धर्मरुचि आदि के उदाहरण दिये गये हैं। मिश्र प्रायश्चित्त में आलोचना और प्रतिक्रमण इन दोनों संयुक्त अपराध स्थानों का विवेचन है।

क्रोध के लिए क्षपक का, मान के लिए क्षुल्लक का, माया के लिए आषाढ़भूति का, और लोभ के लिए सिंहकेसर नामक मोदक की इच्छा रखने वाले छपक का, विद्या के लिए बौद्ध उपासक का, मन्त्र के लिए पादलिप्त और मुरुंडराज का, चूर्ण के लिए दो भिक्षुओं का और योग के लिए ब्रह्मद्वैपिक तापसों के उदाहरण दिये गये हैं।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से तपोदान के स्वरूप पर भी चिन्तन किया है। दस कल्प पर भी गहराई से प्रकाश डाला है और साथ ही परिहारकल्प, जिनकल्प और स्थविरकल्प के स्वरूप पर भी चिन्तन किया है। छेद, अनवस्थाप्य, पारांचिक के अपराध-स्थानों का निर्देश किया है। तीर्थंकर, प्रवचन, श्रुत, आचार्य आदि की आशातना करने वाले को पारांचिक प्रायश्चित्त आता है। अनवस्थाप्य और पारांचिक प्रायश्चित्त चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु तक था, यह भी बताया है।

(४२) बृहत्कल्पलघुभाष्य–इसमें श्रुतज्ञान के प्रसंग पर विचार करते हुए सम्यक्त्व प्राप्ति का क्रम और औपशमिक, सास्वादन, क्षायोपशमिक, वेदक और क्षायिक सम्यक्त्व के स्वरूप का विवेचन किया गया है। कल्प व्यवहार पर विविध दृष्टियों से चिन्तन करते हुए जहाँ-तहाँ विषय को स्पष्ट करने हेतु दृष्टान्तों का उपयोग किया है। इसमें विविध प्रकार के दोष और प्रायश्चित्त, जिनकल्प और स्थविरकल्प की क्रियाएँ, समवसरण, आपणगृह, रथ्यामुख, शृंगारक, चतुष्क,

चत्वर, अन्तरापण और इन स्थानों पर बने हुए उपाश्रयों में रहने वाली श्रमणियों को जिन दोषों के लगने की सम्भावना है, उनकी चर्चा भी की गई है।

जिनकल्पिक मुनि की समाचारी का वर्णन सत्ताईस द्वारों से किया है–(१) श्रुत, (२) संहनन, (३) उपसर्ग, (४) आतंक, (५) वेदना, (६) कतिजन, (७) स्थंडिल, (८) वसति, (९) कियच्चिर, (१०) उच्चार, (११) प्रस्रवण, (१२) अवकाश, (१३) तृणफलक, (१४) संरक्षणता, (१५) संस्थापनता, (१६) प्राभृतिका, (१७) अग्नि, (१८) दीप, (१९) अवधान, (२०) वत्स्यथ, (२१) भिक्षाचर्या, (२२) पानक, (२३) लेपालेप, (२४) अलेप, (२५) आचाम्ल, (२६) प्रतिमा, और (२७) मासकल्प। जिनकल्प की स्थिति पर चिन्तन करते हुए क्षेत्र, काल, चारित्र, तीर्थ, पर्याय, आगम, वेद, कल्प, लिंग, लेश्या, ध्यान, गणना, अभिग्रह, प्रव्रजना, मुण्डापना, प्रायश्चित्त, कारण, निष्पत्तिकर्म और भक्त इन द्वारों से प्रकाश डाला है। इसके पश्चात् परिहार-विशुद्धक और यथालन्दिककल्प का स्वरूप बताया गया है।

स्थविरकल्पिक की चर्चा के बारे में विचार करते हुए कहा गया है कि उसकी प्रव्रज्या, शिक्षा, अर्थग्रहण, अनियतवास और निष्पत्ति–ये सभी जिनकल्पिक के समान हैं। श्रमणों के विहार पर प्रकाश डालते हुए विहार का समय, विहार करने से पहले गच्छ के निवास एवं निर्वाह योग्य क्षेत्र का परीक्षण, उत्सर्ग और अपवाद की दृष्टि से योग्य या अयोग्य क्षेत्र, प्रत्युपेक्षकों का निर्वाचन, क्षेत्र की प्रतिलेखना के लिए किस प्रकार गमनागमन करना चाहिए, विहार मार्ग एवं स्थंडिल भूमि, जल, विश्राम-स्थान भिक्षा, वसति, उपद्रव आदि की परीक्षा, प्रतिलेखनीय क्षेत्र में प्रवेश करने की विधि, भिक्षा के बारे में वहाँ के मानवों के अन्तर्मानस की परीक्षा, भिक्षा, औषध आदि की प्राप्ति में सरलता व कठिनता का परिज्ञान, विहार करने से पूर्व वसति के अधिपति की अनुमति, विहार करने से पूर्व शुभ शकुन देखना आदि सभी बातों का वर्णन है।

स्थविरकल्पिकों की समाचारी में (१) प्रतिलेखना, (२) निष्क्रमण, (३) प्राभृतिका, (४) भिक्षा, (५) कल्पकरण, (६) गच्छशतिकादि, (७) अनुपान, (८) पुरःकर्म, (९) ग्लान, (१०) गच्छ प्रतिबद्ध यथालंदिक, (११) उपरिदोष, तथा (१२) अपवाद पर प्रकाश डाला है।

श्रमणियों के आचार सम्बन्धी विधि-विधानों पर विस्तार से चिन्तन किया गया है। निर्ग्रन्थी के मासकल्प की मर्यादा, विहारविधि, समुदाय का प्रमुख और उसके गुण, उसके द्वारा क्षेत्र की प्रतिलेखना, श्रमणियों के योग्य क्षेत्र, विधर्मियों से उपद्रव की रक्षा, भिक्षा हेतु जाने वाली श्रमणियों की संख्या, वर्षावास के अतिरिक्त एक

स्थान पर श्रमणी को कितना रहना चाहिए उसका विधान आदि सभी बातों का विधान किया गया है।

स्थविरकल्प और जिनकल्प, इन दोनों अवस्थाओं में कौन-सी अवस्था प्रमुख है ? इस पर विचार करते हुए भाष्यकार ने दोनों की प्रमुखता स्वीकार की है। सूत्र और अर्थ आदि दृष्टियों से स्थविरकल्प जिनकल्प का निष्पादक है। जिनकल्प, ज्ञान, दर्शन, चारित्र प्रभृति दृष्टियों से निष्पन्न है। श्रमण-श्रमणियों को किस स्थान पर रहना चाहिए इस पर विविध दृष्टियों से चिन्तन किया है। यदि श्रमण-श्रमणियों में परस्पर वैमनस्य हो जाय तो उपशमन कर कलेश को शान्त करना चाहिए। जो उपशमन धारण कर क्लेश को शान्त करता है वह आराधक बनता है और यदि वह उपशमन नहीं करता है तो विराधक बनता है। श्रमण-श्रमणियों के बीच यदि क्लेश हो जाय तो आचार्य को उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। यदि उपेक्षा करता है तो आचार्य को प्रायश्चित्त आता है।

पारस्परिक क्लेश को शान्त करने की विधि भी बताई है। श्रमण-श्रमणियों को वर्षावास में एक गाँव से दूसरे गाँव नहीं जाना चाहिए। यदि कोई गमन करता है तो प्रायश्चित्त का भागी बनता है। यदि अपवाद में कारण से विहार का प्रसंग आ जाय तो उसे यतना के साथ गमन करना चाहिए। निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों के परस्पर उपाश्रय में प्रवेश करने की विधि भी बताई है। वस्त्रों के सम्बन्ध में चिन्तन है। वस्त्र फाड़ने में होने वाली हिंसा-अहिंसा पर भी चिन्तन करते हुए द्रव्यहिंसा-भावहिंसा पर विचार किया है। जितना अधिक तीव्र राग होगा उतना ही उधिक कर्मबंधन होगा। रागादि के अभाव में मैथुन आदि क्रियाएँ नहीं होतीं, इसलिए उसका कोई अपवाद नहीं है। पण्डक आदि को दीक्षा देने का निषेध किया है। इसमें श्रमणियों के विशेष रूप से विधि-विधान बताये गये हैं। जो निर्ग्रन्थी विक्षिप्तचित्त हो गई है, उसके कारणों को सम्यक् प्रकार से समझकर उसकी देखरेख की व्यवस्था और चिकित्सा आदि के विधि-विधानों का विवेचन है। श्रमणों के लिए छह प्रकार के परिमन्थु (व्याघात) माने गये हैं–(१) कौत्कुचिक, (२) मौखरिक, (३) चक्षुर्लोल, (४) तितणिक, (५) इच्छालोभ, और (६) भिज्यानिदानकरण। इनके स्वरूप, दोष और अपवाद पर चिन्तन है। छह प्रकार की कल्पस्थितियों पर भी विचार किया गया है–(१) सामायिक कल्पस्थिति, (२) छेदोपस्थापनीय कल्पस्थिति, (३) निर्विषमान कल्पस्थिति, (४) निर्विष्टकायिक कल्पस्थिति, (५) जिनकल्पस्थिति, और (६) स्थविरकल्पस्थिति। छेदोपस्थापनीय कल्पस्थिति के आचेलक्य, औद्देशिक आदि दस कल्प हैं।

इस प्रकार प्रस्तुत भाष्य में श्रमणों के आचार के सम्बन्ध में बहुत अच्छा विश्लेषण हुआ है।

(४३) पंचकल्प महाभाष्य–यह आचार्य संघदास गणि की दूसरी कृति है। इसमें जिनकल्प, स्थविरकल्प और श्रमणों के ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि विविध सम्पदाओं का वर्णन है। चारित्र के सामायिक आदि पाँच भेद बताये हैं। दर्शन और चारित्र के क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक ये तीन प्रकार हैं। ज्ञान के क्षायिक और क्षायोपशमिक ये दो प्रकार हैं। चारित्र का पालन निर्ग्रन्थ करते हैं। निर्ग्रन्थ के पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक–ये पाँच भेद हैं।

'कल्प' शब्द के निम्न अर्थ बताये हैं–सामर्थ्य, वर्णना, काल, छेदन, करण, औपम्य और अधिवास। पाँच प्रकार के कल्प का संक्षेप में वर्णन करने के बाद उसके छह, सात, दस, बीस और बयालीस भेद किये हैं।

पहला कल्प मनुज जीव कल्प छह प्रकार का है–प्रव्राजन, मुण्डन, शिक्षण, उपस्थापन, भोग और संवसन।

जाति, कुल, रूप, विनय सम्पन्न व्यक्ति ही प्रव्रज्या के योग्य है। बाल, वृद्ध, नपुंसक, जड़, क्लीव, रोगी, स्तेन, राजापकारी, उन्मत्त, अदर्शी, दास, दुष्ट, मूढ़, अज्ञानी, जुंगित, भयभीत, पलायित, निष्कासित, गर्भिणी, और बालवत्सा स्त्री–ये बीस प्रकार के व्यक्ति प्रव्रज्या के लिए अयोग्य बताये गये हैं।

साढ़े पच्चीस देशों को आर्य कहा है। उन जनपदों के नाम व राजधानी भी बतायी हैं।

कालकल्प का वर्णन करते हुए मासकल्प, पर्युषणाकल्प, वृद्धवासकल्प, पर्यायकल्प, उत्सर्ग, प्रतिक्रमण, कृतिकर्म, प्रतिलेखन, स्वाध्याय, ध्यान, भिक्षा, भक्त, विकार, निष्क्रमण और प्रवेश पर चिन्तन किया गया है।

भावकल्प में दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, संयम, समिति, गुप्ति प्रभृति का विवेचन किया गया है।

द्वितीय कल्प के सात भेद हैं–स्थितकल्प, अस्थितकल्प, जिनकल्प, स्थविरकल्प, लिंगकल्प, उपधिकल्प और संभोगकल्प।

तृतीय कल्प के दस भेद हैं–कल्प, प्रकल्प, विकल्प, संकल्प, उपकल्प, अनुकल्प, उत्कल्प, अकल्प, दुष्कल्प और सुकल्प।

चतुर्थ कल्प के बीस भेद हैं–नामकल्प, स्थापनाकल्प, द्रव्यकल्प, क्षेत्रकल्प, कालकल्प, दर्शनकल्प, श्रुतकल्प, अध्ययनकल्प, चारित्रकल्प आदि।

पंचम कल्प के द्रव्य, भाव, तदुभयकरण, विरमण, सदाधार, निर्वेश, अन्तर, नयान्तर, स्थित, अस्थित, स्थान आदि बयालीस भेद हैं।

प्रस्तुत भाष्य में पंचकल्प लघुभाष्य का भी समावेश हो गया है।

(४४) निशीथभाष्य–इस भाष्य के रचयिता भी संघदास गणी हैं। इसमें श्रमणाचार का विविध दृष्टियों से निरूपण हुआ है। जैसे–पुलिंद आदि अनार्य अरण्य में जाते हुए श्रमणों को मार देते थे। अनेक रसप्रद कथाएँ भी इस भाष्य में आई हैं। प्रस्तुत भाष्य की अनेक गाथाएँ बृहत्कल्पभाष्य और व्यवहारभाष्य में भी मिलती हैं।

(४५) व्यवहारभाष्य–इसमें व्यवहार, व्यवहारी और व्यवहर्तव्य के स्वरूप की चर्चा की गई है। व्यवहार में लगने वाले दोष और प्रायश्चित्त आदि का विवेचन है। उसके बाद भिक्षु, मास, प्रतिहार, स्थान, प्रतिसेवना, आलोचना आदि पदों पर निक्षेप दृष्टि से चिन्तन किया गया है। आधा-कर्म से सम्बन्धित अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार के लिए पृथक्-पृथक् प्रायश्चित्त का विधान है। मूलगुण और उत्तरगुण–इन दोनों की विशुद्धि प्रायश्चित्त से होती है। अतिक्रम के लिए मासगुरु, व्यतिक्रम के लिए मासगुरु और कालगुरु, अतिचार के लिए तपोगुरु और कालगुरु तथा अनाचार के लिए चतुर्गुरु प्रायश्चित्त का विधान है।

पिण्डविशुद्धि, समिति, भावना, तप, प्रतिमा, अभिग्रह ये सभी उत्तरगुण हैं। इनके क्रमशः बयालीस, आठ, पच्चीस, बारह, बारह और चार भेद होते हैं।

प्रायश्चित्त करने वाले पुरुष के निर्गत और वर्तमान–ये दो प्रकार हैं। जो तपोर्ह प्रायश्चित्त से अधिक्रान्त हो गये हैं वे निर्गत हैं और जो विद्यमान में हैं वे वर्तमान हैं। उनके भी भेद-प्रभेद किये गये हैं।

प्रायश्चित्त के योग्य पुरुष चार प्रकार के होते हैं–(१) उभयतर–जो स्वयं तप की साधना करता हुआ भी दूसरों की सेवा करता है; (२) आत्मतर–जो केवल तप ही कर सकता है; (३) परतर–जो केवल सेवा ही कर सकता है; (४) अन्यतर–जो तप और सेवा दोनों में से किसी एक का सेवन कर सकता है।

आलोचना व आलोचक पर विस्तार से विवेचन है। परिहार तप के वर्णन में सुभद्रा और मृगावती के उदाहरण भी दिये गये हैं। आरोपणा के प्रस्थापनिका, स्थापिता, कृत्स्ना, अकृत्स्ना और हारहडा–ये पाँच प्रकार बताये हैं। शिथिलता के कारण यदि कोई गच्छ का परित्याग करता है और पुनः गच्छ में सम्मिलित होता है तो उसके लिए प्रायश्चित्त का विधान है।

पार्श्वस्थ, यथाछन्द, कुशील, अवसन्न और संसक्त के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। एकाकी विचरण करने में जिन दोषों के लगने की सम्भावना है उनका भी निरूपण है। विविध प्रकार के तपस्वी, व्याधियों से संत्रस्त श्रमण-श्रमणियों की सेवा का विधान करते हुए क्षिप्तचित्त, दीप्तचित्त की सेवा करने की मनोवैज्ञानिक पद्धति पर प्रकाश डाला गया है। क्षिप्तचित्त के राग, भय और अपमान–ये तीन कारण हैं। दीप्तचित्त का कारण सम्मान है। सम्मान से उसमें मद पैदा होता है और मद से उन्मत्त होकर वह दीप्तचित्त होता है। क्षिप्तचित्त और दीप्तचित्त में यह अन्तर है कि क्षिप्तचित्त प्रायः मौन रहता है, जबकि दीप्तचित्त बिना प्रयोजन के भी बोलता रहता है।

गणावच्छेदक, आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, प्रवर्तिनी आदि पदवियों को धारण करने वालों की योग्यता पर भी विचार किया गया है। जो आगम-साहित्य का मर्मज्ञ हो, सूत्रार्थ विशारद हो, धीर हो–ऐसा विशिष्ट व्यक्ति ही आचार्य पद को धारण कर सकता है। आचार्य, उपाध्याय को कम से कम कितने श्रमणों के साथ रहना चाहिए आदि विविध विधि-विधानों का वर्णन है।

आचार्य और उपाध्याय के पाँच अतिशय हैं। उनके बाहर जाने पर पैरों को साफ करना चाहिए, उनके उच्चार-प्रस्रवण को निर्दोष स्थान पर परठना चाहिए, उनके इच्छानुसार वैयावृत्य करना चाहिए, उनके साथ उपाश्रय के भीतर रहना चाहिए और उनके साथ उपाश्रय से बाहर जाना चाहिए।

श्रमणी एक संघ में दीक्षा ग्रहण कर दूसरे संघ में शिष्या बनना चाहे तो उसे दीक्षा नहीं देनी चाहिए। उसे जहाँ पर रहना हो वहीं दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए। श्रमण के लिए इस प्रकार का कोई नियम नहीं है।

वर्षावास के लिए ऐसा स्थान सर्वश्रेष्ठ बताया है जहाँ पर कीचड़ अधिक न हो, द्वीन्द्रियादि जीवों की बहुलता न हो, प्रासुक भूमि हो, रहने योग्य दो-तीन बस्तियाँ हों, गोरस की प्रचुरता हो, बहुत लोग रहते हों, वैद्य हो, औषधियाँ सरलता से मिल सकती हों, धान्य की की प्रचुरता हो, राजा सम्यक् प्रकार से प्रजा का पालन करता हो, पाखण्डी साधु कम हों, भिक्षा सुगम हो, स्वाध्याय में किसी प्रकार का विघ्न न हो। जहाँ पर कुत्ते बहुत अधिक हों वहाँ श्रमण को विहार नहीं करना चाहिए।

आहार की मर्यादा पर प्रकाश डालते हुए कहा है–आठ कौर खाने वाला श्रमण अल्पाहारी, बारह, सोलह, चौबीस, इकतीस और बत्तीस ग्रास खाने वाला श्रमण क्रमशः अपार्धाहारी, अर्धाहारी, प्राप्तावमौदर्य, किंचिदवमौदर्य और

प्रमाणाहारी है, शय्यातर के ज्ञातिक, स्वजन, मित्र प्रभृति आगन्तुक व्यक्तियों से सम्बन्धित आहार लेने और न लेने के सम्बन्ध में विचार किया गया है।

यवमध्यप्रतिमा, वज्रमध्यप्रतिमा पर विशेष रूप से चिन्तन किया है। पाँच प्रकार के व्यवहार, बालदीक्षा की विधि, दस प्रकार की वैयावृत्य आदि विषयों की व्याख्या की गई है।

आर्यरक्षित, आर्यकालिक, राजा सातवाहन, प्रद्योत, मुरुण्ड, चाणक्य, चिलातीपुत्र, अवन्ती सुकुमाल, रोहिणेय, आर्य समुद्र आदि की कथाएँ हैं।

इसी तरह (४६) ओघनिर्युक्तिलघुभाष्य, (४७) ओघनिर्युक्तिभाष्य, (४८) पिण्डनिर्युक्तिभाष्य, (४९) उत्तराध्ययनभाष्य, और (५०) दशवैकालिकभाष्य में कहीं संक्षेप में तो कहीं विस्तार से श्रमणाचार पर चिन्तन हुआ है।

चूर्णि-साहित्य में श्रमणाचार

भाष्य साहित्य के पश्चात् चूर्णि-साहित्य का निर्माण हुआ है। चूर्णियों की भाषा शुद्ध प्राकृत और संस्कृत मिश्रित प्राकृत है। चूर्णि-साहित्य के निर्माताओं में जिनदासगणी महत्तर का मूर्धन्य स्थान है।

(५१) आवश्यकचूर्णि–आवश्यकनिर्युक्ति और आवश्यकभाष्य में जिन विषयों पर संक्षेप में चिन्तन हुआ है, उन्हीं विषयों पर चूर्णि में विस्तार से विश्लेषण-विवेचन प्राप्त होता है। यह चूर्णि अन्य चूर्णियों की अपेक्षा बहुत ही विस्तृत है।

यहाँ बताया गया है कि द्रव्यावश्यक व भावावश्यक का निरूपण तीर्थंकर करते हैं। तीर्थंकर कौन होते हैं ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान महावीर किस प्रकार मिथ्यात्व से मुक्त हुए इसकी ओर संकेत करते हुए उनके पूर्वभव तथा मुक्त होने तक का सविस्तृत वर्णन किया गया है।

नयाधिकार में आर्य वज्रस्वामी व आर्य रक्षित और उनके मातुल गोष्ठामाहिल तथा अन्य निह्नवों का वर्णन है। सात निह्नवों के साथ आठवें बोटिक निह्नव का भी वर्णन है।

सामायिक के वर्णन में अनेक व्यक्तियों के उदाहरण भी प्रस्तुत किये गये हैं। चतुर्विंशतिस्तव में स्तव, लोक, उद्योत, धर्म, तीर्थंकर आदि पदों पर निक्षेप दृष्टि से चिन्तन है। तृतीय वन्दना में वन्दन के योग्य श्रमण का स्वरूप, चितिकर्म, कृतिकर्म, पूजाकर्म, विनयकर्म को दृष्टान्त देकर समझाया है। चतुर्थ प्रतिक्रमण अध्ययन में प्रतिक्रमण की परिभाषा, प्रतिक्रमक, प्रतिक्रमण और प्रतिक्रान्तव्य–इन तीन दृष्टियों

से प्रतिक्रमण पर विवेचन हुआ है। प्रतिचरणा, प्रतिहरणा, वारणा निवृत्ति, निन्दा, गर्हा, शुद्धि और आलोचना पर विवेचन करते हुए उदाहरण भी दिये हैं।

कायिक, वाचिक और मानसिक अतिचार, ईर्यापथी की विराधना, प्रकाशशय्या, भिक्षाचर्या, स्वाध्याय आदि में लगने वाले अतिचार, चार विकथाएँ, चार ध्यान, पाँच क्रिया, पाँच कामगुण, पाँच महाव्रत, पाँच समिति आदि का विविध दृष्टान्तों द्वारा प्रतिपादन है। द्वादश भिक्षु प्रतिमा, सतरह असंयम, अनगार के सत्ताईस गुण, आचार प्रकल्प, आर्जव, शुचि, आचार, विनय, धृति, संवेग, प्रणिधि, सुविधि, संवर, आत्मदोष, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग, अप्रमाद, ध्यान, प्रायश्चित्त, आराधना, आशातना, अस्वाध्यायिक आदि प्रतिक्रमण सम्बन्धी जितने भी प्रमुख विषय हैं, उन सभी पर चिन्तन किया गया है।

कायोत्सर्ग अध्ययन में कायोत्सर्ग का विस्तार से निरूपण है। वह एक प्रकार से आध्यात्मिक व्रण चिकित्सा है। कायोत्सर्ग में काय और उत्सर्ग–ये दो पद हैं। काय का नाम, स्थापना आदि बारह प्रकार के निक्षेपों से वर्णन किया है और उत्सर्ग का भी निक्षेपों से वर्णन किया है। कायोत्सर्ग के चेष्टा कायोत्सर्ग और अभिभव कायोत्सर्ग–ये दो भेद हैं। गमन आदि में जो दोष लगा हो उसके पाप से निवृत्त होने के लिए चेष्टा कायोत्सर्ग किया जाता है।

पराजित होकर या पराजित कर जो कायोत्सर्ग किया जाता है, वह अभिभव कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग के प्रशस्त और अप्रशस्त–ये दो भेद बताकर फिर उच्छृत आदि नौ भेद बताये हैं। श्रुत, सिद्ध की स्तुति पर प्रकाश डालकर क्षामणा की विधि पर विचार किया है।

छठे अध्ययन में प्रत्याख्यान का विवेचन है। इसमें सम्यक्त्व के अतिचार, श्रावक के द्वादश व्रतों के अतिचार, दस प्रत्याख्यान, छः प्रकार की विशुद्धि, प्रत्याख्यान के गुण, आगार आदि का अनेक दृष्टान्तों के साथ विवेचन है।

(५२) दशवैकालिकचूर्णि–दशवैकालिक पर दो चूर्णियाँ हैं। एक चूर्णि के रचयिता अगस्त्यसिंह हैं तो दूसरे के रचयिता जिनदास महत्तर हैं। दोनों ही चूर्णियों में मूल और निर्युक्ति में जिन बात की चर्चा है उन्हीं पर कुछ विस्तार से विचार किया गया है। अनेक नई व्याख्याएँ भी हैं। ये दोनों चूर्णियाँ श्रमणाचार की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं।

(५३) उत्तराध्ययनचूर्णि–प्रस्तुत चूर्णि में उत्तराध्ययननिर्युक्ति का ही अनुसरण किया गया है। संयोग, पुद्गलबन्ध, संस्थान, विनय, क्रोध-निवारण का उपाय, अनुशासन, परीषह, मरण, निर्ग्रन्थ के पाँच प्रकार, सात भय, ज्ञान, क्रिया आदि पर उदाहरण सहित प्रकाश डाला गया है।

(५४) आचारांगचूर्णि–आचारांगनिर्युक्ति में जिन विषयों का विवेचन है उन्हीं विषयों पर चूर्णि में विस्तार से विवेचन है। अनुयोग, अंग, आचार, ब्रह्मा, वर्ण, आचरण, शस्त्र, परिज्ञा, संज्ञा, दिक् योनि, सम्यक्त्व, कर्म, पृथ्वी, अप्, तेज आदि जितने भी मुख्य विषय हैं, उनकी व्याख्या की गई है। चूर्णिकार ने भी निर्युक्तिकार की तरह निक्षेप दृष्टि से चिन्तन किया है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में अग्र, प्राणसंसप्त, पिंडैषणा, शय्या, ईर्या, भाषा, वस्त्र, पात्र, अवग्रह सप्तक, सप्त सप्तक, भावनाविमुक्ति आदि विषयों की व्याख्या की गई है। श्रमणाचार की प्रतिष्ठा को स्थापित करने हेतु प्रत्येक विषय का विश्लेषण किया गया है।

(५५) जीतकल्पबृहद्चूर्णि–इसके रचयिता सिद्धसेनसूरि हैं। जीतकल्पभाष्य में जिन विषयों पर विस्तार से विवेचन है उन्हीं विषयों पर प्रस्तुत चूर्णि में संक्षेप में विचार किया गया है। इसमें आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत व्यवहार के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। दस प्रकार के प्रायश्चित्त, नौ प्रकार के व्यवहार, मूलगुण, उत्तरगुण आदि पर भी विवेचन है। अन्य अनेक ग्रन्थों की गाथाएँ उद्धृत की गई हैं, पर वे गाथाएँ कहाँ से ली गई हैं, उस स्थल का निर्देश नहीं किया गया है।

(५६) निशीथविशेषचूर्णि–इसके रचयिता जिनदास गणी महत्तर हैं। इसमें मूलसूत्र, निर्युक्ति व भाष्य गाथाओं का विवेचन है। इस चूर्णि की भाषा संस्कृत मिश्रित प्राकृत है। प्रतिसेवक, प्रतिसेवना, प्रतिसेवितव्य का स्वरूप बताते हुए अप्रमाद प्रतिसेवना, सहसातकरण, प्रमाद प्रतिसेवना, कषाय, ज्ञान-दर्शन-चारित्र की विराधना, विकथा, इन्द्रिय, निद्रा आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर विवेचन है।

यहाँ बताया गया है कि आलस्य, मैथुन, निद्रा, क्षुधा, आक्रोश, इन पाँचों का जितना सेवन किया जाय उतना ही वे द्रौपदी के दुकूल की तरह बढ़ते हैं। छह जीवनिकाय यतना, उसमें लगने वाले दोष, अपवाद, प्रायश्चित्त, अशन-पान-वसन-वसति, हलन-चलन, शयन, भ्रमण, गमन-आगमन आदि पर विचार किया गया है। मृषावाद को लौकिक और लोकोत्तर इन दो भागों में विभक्त किया है और उनके उदाहरण भी दिये हैं। अन्य महाव्रतों के साथ चतुर्थ महाव्रत पर भी विस्तार से विश्लेषण है। वस्त्र फाड़ने और सीने के नियम बताए हैं। कठोर भाषा व स्नान आदि का निषेध किया गया है। शय्यातर पिण्ड की अग्राह्य बताया है और उसे ग्रहण करने पर लघु मास का प्रायश्चित्त आता है।

(१) सागारिक कौन होता है, (२) वह शय्यातर कब बनता है, (३) उसके पिण्ड के प्रकार, (४) अशय्यातर कब बनता है, (५) सागारिक किस संयत द्वारा परिहर्तव्य है, (६) सागारिक पिण्ड के ग्रहण से दोष, (७) किस परिस्थिति में

सागारिक पिण्ड ग्रहण किया जा सकता है, (८) यतना से ग्रहण करना, (९) एक या अनेक सागारिकों से ग्रहण करना आदि विषयों पर चिन्तन किया गया है। शय्या और संस्तारक का अन्तर बताते हुए कहा है कि शय्या पूरे शरीर के बराबर होती है और संस्तारक ढाई हाथ लम्बा होता है।

जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिक उपधियों का भी वर्णन है। भिक्षा में लगने वाले दोषों का वर्णन है। अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्ग, कायोत्सर्ग के विविध प्रकार, सामाचारी, निर्ग्रन्थी के स्थान पर श्रमण का प्रवेश, राजा, अमात्य, श्रेष्ठी, पुरोहित, सार्थवाह, ग्राममहत्तर, राष्ट्रमहत्तर, गणधर के लक्षण, ग्लान श्रमणी की सेवा, संरंभ, समारंभ और आरंभ के भेद-प्रभेद, हास्य और उसके उत्पन्न होने के विविध कारणों का वर्णन है। विविध प्रकार के आभूषणों को धारण करने का निषेध है। चतुर्थ व्रत के सम्बन्ध में अत्यधिक जागरूकता रखने की प्रेरणा दी गई है।

श्रमण को कहाँ ठहरना चाहिए और कहाँ वार्तालाप आदि करना चाहिए इस सम्बन्ध में अनेक सूचनाएँ दी गई हैं। जिनका अभिषेक हो चुका हो, सेनापति, अमात्य, पुरोहित, श्रेष्ठी, सार्थवाह सहित जो राज्य का उपभोग करता है उस राजा का पिण्ड श्रमण के लिए अग्राह्य है। जो मूर्धाभिषिक्त नहीं है, उसके लिए ऐसा नियम नहीं है। अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल और पाद प्रोंछनक ये आठ वस्तुएँ राज्य पिण्ड में आती हैं। श्रमण के लिए आदेश है कि उसे जीर्णान्तःपुर, नवान्तःपुर, कन्यान्तःपुर में नहीं जाना चाहिए।

अयोग्य दीक्षा का निषेध करते हुए कहा है कि अठारह प्रकार के पुरुष, बीस प्रकार की स्त्रियाँ और दस प्रकार के नपुंसक दीक्षा के लिए अयोग्य हैं। बाल-दीक्षा के तीन भेद किये हैं-(१) सात-आठ वर्ष का बालक उत्कृष्ट बाल है, (२) पाँच-छह वर्ष आयु वाला मध्यम बाल है, और (३) चार वर्ष का बालक जघन्य बाल है। ये तीनों बाल दीक्षा के अयोग्य हैं। आठ वर्ष से अधिक आयु वाला बालक ही दीक्षा के योग्य माना जाता है। वृद्ध, रोगी, उन्मत्त, मूढ़ आदि दीक्षा के अयोग्य हैं। उनका विविध भेदों से वर्णन किया गया है।

प्रत्याख्यान भंग, स्निग्ध पृथ्वी, शिला आदि पर कायोत्सर्ग करना, कटुक वचन का प्रयोग, मंत्र-प्रयोग, लाभ-हानि के प्रश्न बताना, धातु आदि का स्थान बताना, वमन, विरेचन, प्रतिकर्म करना, पार्श्वस्थ, कुशील की प्रशंसा, वन्दन आदि से चतुर्लघु प्रायश्चित्त आता है।

श्रमण-श्रमणियों को ऐसे स्थान पर रहना चाहिए जहाँ पर रहने से ब्रह्मचर्य की विराधना न हो।

गीत, हास्य, वाद्य, नृत्य, अभिनय आदि का स्वरूप बताकर श्रमण के लिए उनका आचरण करना योग्य नहीं माना है। नौका सम्बन्धी दोषों पर चिन्तन किया गया है तथा नौका पर आरूढ़ होना, नौका खरीदना आदि के लिए प्रायश्चित्त का वर्णन है।

इस प्रकार इसमें आचार के नियमोपनियमों की बहुत ही विस्तार से व्याख्या की गई है तथा साथ ही इससे सांस्कृतिक, सामाजिक और दार्शनिक सामग्री का भी अनूठा संग्रह है।

(५७) **दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि**–इसका मूल आधार दशाश्रुतस्कंधनिर्युक्ति रही है। इसमें दस अध्ययनों के अधिकारों का विवेचन किया गया है जो सरल और सुगम है।

टीका-साहित्य में श्रमणाचार

चूर्णि साहित्य के पश्चात् टीका-साहित्य का निर्माण हुआ है। चूर्णियों में प्रधान रूप से प्राकृत भाषा और गौण रूप से संस्कृत का प्रयोग हुआ था; किन्तु टीकाओं की भाषा संस्कृत है। निर्युक्ति-साहित्य में आगमों के शब्दों की व्याख्या व उत्पत्ति है, भाष्य-साहित्य में विस्तार से आगमों के गुरु गम्भीर भावों का विवेचन है। चूर्णि-साहित्य में निगूढ़ भावों को लोक-कथाओं के आधार से समझाने का उपक्रम है और टीका-साहित्य में दार्शनिक दृष्टि से आगमों के तथ्यों का विश्लेषण किया गया है। टीकाएँ संक्षिप्त और विस्तृत दोनों प्रकार की मिलती हैं।

टीका-साहित्य के रचयिताओं में जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण, आचार्य हरिभद्र, कोट्याचार्य, आचार्य गंधहस्ती, आचार्य शीलांक, वादिवेताल शान्ति सूरी, द्रोणाचार्य, आचार्य अभयदेव, आचार्य मलयगिरि, आचार्य मलधारी हेमचन्द्र, आचार्य नेमिचन्द्र, आचार्य श्रीचन्द्र आदि प्रमुख टीकाकार रहे हैं। उनके अतिरिक्त लगभग सौ मनीषियों की विभिन्न आगमों पर टीकाएँ उपलब्ध हैं। जिन आगमों और उनके व्याख्या-साहित्य का हम पूर्व परिचय दे चुके हैं और उनके व्याख्या-साहित्य में भी उनका उल्लेख किया जा चुका है, उन्हीं आगमों पर टीकाकारों ने उन्हीं विषयों को निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि में जो संक्षेप था उन पर कहीं पर विस्तार से और कहीं पर संक्षेप में विश्लेषण किया है। अत्यधिक विस्तार भय से हमने यहाँ पर उनका विस्तार उपयुक्त नहीं समझा है। किन्तु उपरोक्त विवेचन से यह बहुत ही स्पष्ट है कि जैन आगम साहित्य और उसके व्याख्या-साहित्य में जैन श्रमणाचार का विस्तार से विश्लेषण हुआ है।

आगमेतर-साहित्य में श्रमणाचार

श्वेताम्बर जैनाचार्यों ने श्रमणाचार के सम्बन्ध में अपने ग्रन्थों में यत्र-तत्र जो भी उल्लेख किया है, वह आगम और आगम के व्याख्या-साहित्य के आलोक में ही हुआ है। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में तथा प्रशमरति प्रकरण में, आचार्य हरिभद्र ने पंचवत्थुग, सम्यक्त्वसप्तति, पंचासक, धर्मबिन्दु में श्रमणाचार का निरूपण किया है। तत्त्वार्थ सूत्र के व्याख्या-साहित्य में सभी लेखकों ने श्रमणाचार के सम्बन्ध में अत्यधिक विस्तार से चर्चाएँ की हैं। श्वेताम्बर लेखकों से श्वेताम्बर दृष्टि से तो दिगम्बर लेखकों ने दिगम्बर दृष्टि से श्रमणाचार का विश्लेषण किया है।

(५८) पंचसुत्तय–इस ग्रन्थ के रचयिता का नाम अभी तक अज्ञात है। यह ग्रन्थ पाँच सूत्रों में विभक्त है–(१) पाप का प्रतिघात और गुणों के बीज का आधान, (२) श्रमण धर्म की परिभावना, (३) प्रव्रज्या ग्रहण करने की विधि, (४) प्रव्रज्या का पालन, और (५) प्रव्रज्या का फल–मोक्ष।

प्रथम सूत्र में अरिहन्त, सिद्ध, साधु और केवली प्ररूपित धर्म को स्वीकार कर जो श्रेष्ठ कृत्य हैं उसकी अनुमोदना की गई है। द्वितीय सूत्र में कुसंग का त्याग, सुसंग की स्वीकृति और लोक विरुद्ध आचरण के परिहार पर बल दिया है। तृतीय सूत्र में माता-पिता की अनुज्ञा दीक्षा के लिए आवश्यक मानी है। चतुर्थ सूत्र में आठ प्रवचन माता का पालन, भाव चिकित्सा के लिए प्रबल पुरुषार्थ और लोक संज्ञा का त्याग आदि का प्ररूपण है। पाँचवें सूत्र में मोक्ष के स्वरूप का प्रतिपादन है।

(५९) पंचनियंठि–इसके रचयिता आचार्य हरिभद्र माने जाते हैं। परन्तु यह ग्रन्थ अभी तक मिल नहीं सका है। इसमें पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक इन पाँच प्रकार के निर्ग्रन्थों का उल्लेख होना चाहिए क्योंकि ग्रन्थ के नाम से यह अनुमानित होता है।

(६०) पंचनियंठि–यह ग्रन्थ नवांगी टीकाकार अभयदेव द्वारा रचित है। इसका अपर नाम पंचनिर्ग्रन्थि विचार सरणि भी मिलता है। भगवती सूत्र के पच्चीसवें शतक के आधार पर पुलाक, बकुश आदि निर्ग्रन्थों का इसमें निरूपण किया गया है। इसमें १०७ पद हैं।

(६१) पंचवत्थुग–यह आचार्य हरिभद्र की महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें प्रथम प्रव्रज्या विधि में प्रव्रज्या कब, किसे और कौन दे सकता है, इसकी विस्तार से चर्चा है। द्वितीय अपधि वस्तु में प्रतिदिन की क्रिया, प्रतिलेखना उपाश्रय का परिमार्जन, भिक्षा की विधि, ईर्यापथिकी कायोत्सर्ग, भिक्षा की आलोचना, भोजन पात्रों का प्रक्षालन, स्थंडिल के विचार, उसकी भूमि का अवलोकन, प्रतिक्रमण आदि पर विचार हैं। तृतीय में व्रतों की स्थापना की गई है। चतुर्थ में अनुयोग और

गण की अनुज्ञा का निरूपण है और पाँचवें में संलेखना का विश्लेषण है। इसमें कुल १,७१४ पद्य हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के आधार पर ही न्यायाचार्य यशोविजय जी ने 'मार्गविशुद्धि' नामक ग्रन्थ की रचना की थी।

(६२) गुरुवन्दनभास–इसके रचयिता देवेन्द्रसूरि हैं। इसमें गुरुवन्दन के तीन प्रकार–स्फेटिका, स्तोभ और द्वादशावर्त बताये हैं। वन्दन के हेतु, वन्दन के पाँच नाम–वन्दन, चितिकर्म, कृतिकर्म, पूजाकर्म और विनयकर्म और वन्दन के बाईस द्वार द्वारा वन्दन के विविध प्रकारों पर विश्लेषण है। वे इस प्रकार हैं–(१) वन्दन के पाँच नाम, (२) वन्दन के बारे में पाँच उदाहरण, (३) पार्श्वस्थ आदि अवन्दनीय, (४) आचार्य आदि वन्दनीय, (५-६) वन्दन के चार अदाता और चार दाता, (७) निषेध के तेरह स्थानक, (८) अनिषेध के चार स्थानक, (९) वन्दन के कारण, (१०) आवश्यक, (११) मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन, (१२) शरीर का प्रतिलेखन, (१३) वन्दन के बत्तीस दोष, (१४) वन्दन के चार गुण, (१५) गुण की स्थापना, (१६) अवग्रह, (१७-१८) 'वंदणयसुत्त' के अक्षरों एवं पदों की संख्या, (१९) स्थानक, (२०) वन्दन में गुरुवचन, (२१) गुरु की तैंतीस आशातना, और (२२) वन्दन की विधि।

(६३) पच्चक्खाणभास–इसके रचयिता भी देवेन्द्रसूरि हैं। यह महाराष्ट्री प्राकृत में रचित एक महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें ४८ गाथाओं द्वारा (१) प्रत्याख्यान के दस प्रकार, (२) प्रत्याख्यान की विधि, (३) चतुर्विध आहार, (४) बाईस आगार, (५) दस विकृति, (६) तीस विकृतिगत, (७) प्रत्याख्यान के दो प्रकार–मूलगुण प्रत्याख्यान और उत्तरगुण प्रत्याख्यान, (८) प्रत्याख्यान की छह शुद्धि, (९) प्रत्याख्यान का फल–इन नौ द्वारों से निरूपण है।

(६४) संवेग रंगशाला–इसके रचयिता सुमतिवाचक और प्रसन्नचन्द्रसूरि के शिष्य देवभद्रसूरि हैं। इसे आराधनारत्न भी कहते हैं। इस ग्रन्थ का उल्लेख पार्श्वनाथ चरित्र कथारत्न कोश में मिलता है। पर अभी तक उसकी हस्तलिखित प्रति उपलब्ध नहीं हुई है।

(६५) यति-दिनकृत्य–प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता हरिभद्र माने जाते हैं। इसमें श्रमणों के प्रतिदिन की प्रवृत्तियों का निरूपण हुआ है।

(६६) जइजीयकप्प (यतिजीतकल्प)–इस ग्रन्थ के रचयिता सोमप्रभसूरि हैं। प्रारम्भ की २४ गाथाएँ जीतकल्प से ली गई हैं। इसमें कुल ३०६ गाथाएँ हैं। इसमें श्रमण के आचार का निरूपण है। इस पर सोमतिलकसूरि ने एक वृत्ति लिखी है और दूसरी वृत्ति देवसुन्दरसूरि के शिष्य साधुरत्न ने लिखी है जिसमें सोमतिलकसूरि का उल्लेख है।

(६७) जइसामाचारी–इस ग्रन्थ के रचयिता भावदेवसूरि हैं। इसमें १५४ गाथाएँ हैं। इसकी प्रथम गाथा से यह ज्ञात होता है कि यह एक संक्षिप्त रचना है। प्रस्तुत कृति में जैन श्रमणों के सूर्योदय से लेकर संथारे तक की विधि और प्रवृत्तियों का वर्णन है। इस पर मतिसागरसूरि की अवचूरि भी मिलती है।

(६८) पिंडविशुद्धि–इसके रचयिता जिनवल्लभसूरि हैं। इन्होंने १०३ पद्यों में आहार की गवेषणा के ४२ दोषों का निदेश कर उन पर विचार किया है। इस ग्रन्थ पर यशोदेव ने 'सुबोधा' और अजितपुत्रसूरि ने भी एक टीका लिखी है। उदयसिंह ने दीपिका लिखी है और एक अज्ञातकर्तृक दीपिका भी मिलती है।

(६९) विषयनिग्रह कुलक–इसमें इन्द्रियों पर संयम रखने का उपदेश दिया गया है। इसके रचयिता का नाम ज्ञात नहीं हो सका है। इस पर भालचन्द्र ने १०,००८ श्लोक परिमाण वृत्ति लिखी है।

(७०) प्रत्याख्यान सिद्धि–इसके रचयिता का भी नाम ज्ञात नहीं है। इस पर जयचन्द्र ने ७०० श्लोक परिमाण विवरण लिखा है। जिनप्रभसूरि ने भी एक विवरण लिखा है। इनके अतिरिक्त १,५०० श्लोक परिमाण टीका भी उपलब्ध होती है।

(७१) आचार प्रदीप–इसके रचयिता रत्नशेखरसूरि हैं। इसमें ज्ञानाचार, दर्शनाचार आदि पाँच आचार तथा उनके भेद-उपभेदों का विस्तार से निरूपण है। इसमें अनेक कथाएँ भी हैं।

काव्य-साहित्य में आचार

श्वेताम्बर जैनाचार्यों द्वारा रचित पौराणिक महाकाव्यों, कथा साहित्य, ऐतिहासिक साहित्य, ललित वाङ्मय आदि में यत्र-तत्र श्रमणाचार का विश्लेषण हुआ है। भले ही वह काव्य साहित्य भाषा की दृष्टि से प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, गुजराती, राजस्थानी किसी भी भाषा में निर्मित हुआ हो, उसमें श्रमणाचार का वर्णन अवश्य ही आया है।

जैन कथा साहित्य की यह महत्त्वपूर्ण विशेषता रही है कि उसके जितने भी पात्र हैं वे भौतिकवाद की चकाचौंध में अपने आपको भूलते नहीं हैं। वे जानते हैं कि अन्त में बिना श्रमण बने जीवनोत्कर्ष नहीं हो सकता। इसलिए चाहे राजा रहे हों, चाहे चक्रवर्ती सम्राट् रहे हों, चाहे तीर्थंकर रहे हों और चाहे श्रेष्ठीगण रहे हों अथवा साधारण जन रहे हों, वे सभी त्याग-मार्ग को स्वीकार करते हैं और जहाँ त्याग-मार्ग को स्वीकार करते हैं वहाँ उनकी साधना का रूप भी उजागर हुआ है। कथाओं के माध्यम से श्रमणाचार का सजीव विश्लेषण किया गया है।

काव्य शान्तिपूर्ण अनुभूति के क्षणों में हृदय से निकले हुए कोमल शब्दों व मधुर कल्पनाओं और उद्रेकमयी भावनाओं की मर्मस्पर्शी भाषा है। सहज रूप में अन्तस्तल के तरंगित भावों का मधुर प्रकाशन है। अपर शब्दों में यों कहा जा सकता है, काव्य भाषा के माध्यम से अनुभूति और कल्पना द्वारा जीवन का पुनः सृजन है। जैन मनीषियों ने बहुत ही सुन्दर, उत्कृष्ट और भावपूर्ण काव्य साहित्य का सृजन किया है। 'पउमचरिउं' रामकथा से सम्बद्ध प्रथम प्राकृत चरित्र काव्य है। संस्कृत साहित्य में जो स्थान वाल्मीकि रामायण का है, प्राकृत में वही स्थान प्रस्तुत काव्य का है। इसके रचयिता विमलसूरि हैं। वाल्मीकि तथा अन्य वैदिक परम्परा मान्य रामायणों के विपरीत इस काव्य में महाराजा दशरथ के श्रमण दीक्षा धारण कर तप करने का उल्लेख है। लंका पर विजय वैजयन्ती फहराकर जब राम अयोध्या लौटते हैं, उसके बाद भरत दीक्षा ग्रहण करते हैं। लक्ष्मण के देहान्त के पश्चात् राम भी दीक्षा ग्रहण करते हैं तथा मोक्ष प्राप्त करते हैं।

इसी तरह **वसुदेवहिण्डी** में भी अनेक पात्रों के द्वारा आर्हती दीक्षा लिये जाने का वर्णन है। जम्बूस्वामी की दीक्षा का उल्लेख है। **समराइच्चकहा** जो आचार्य हरिभद्र की एक उत्कृष्ट रचना है, उसमें अनेक स्थलों पर वैराग्य का पयोधि उछालें मार रहा है। **कुवलयमाला** उद्योतनसूरि की एक महनीय कृति है। प्रस्तुत कृति में क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह के कटु परिणाम दिखाने के लिए अनेक सरस कथाओं का उट्टंकन किया गया है और अन्त में चारित्र धर्म की महत्ता प्रतिपादित की गई है। **कथाकोशप्रकरण, उपदेशमाला** और तीर्थंकरों के चरित्रों में सर्वत्र आर्हती प्रव्रज्या को महत्त्व दिया गया है। कर्ममल से जीवन को विशुद्ध बनाने के लिए तप, जप, सेवा, साधना के उल्लेख हैं।

दिगम्बर-साहित्य में श्रमणाचार

श्वेताम्बर परम्परा के समान दिगम्बर जैन परम्परा में भी श्रमण जीवन का अत्यधिक महत्त्व रहा है। इसका कारण यह है कि दोनों परम्पराओं का उत्स तो एक ही है। श्रमण जीवन के नियमोपनियम के सम्बन्ध में दिगम्बर आगम-साहित्य में भी यत्र-तत्र उल्लेख है। आचार्य कुन्दकुन्द, जो अध्यात्म जगत् के एक तेजस्वी नक्षत्र हैं, उन्होंने अध्यात्म पर विशेष चिन्तन किया है; तथापि उनके ग्रन्थों में श्रमणाचार पर भी चिन्तन सहज रूप से हुआ है। उनके प्रवचनसार (तृतीय खण्ड), नियमसार (गाथा ७७-१५७), दंसणपाहुड, सुत्तपाहुड, चारित्रपाहुड, बोधपाहुड, लिंगपाहुड, शीलपाहुड, रयणसार आदि ग्रन्थों में श्रमणाचार पर चिन्तन हुआ है। श्रामण्य के चिह्न, छेदोपस्थापक श्रमण, छेद का स्वरूप, युक्त आहार, उत्सर्ग एवं अपवाद मार्ग का भी वर्णन है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र का स्वरूप, नियम, भेद-अभेद पर चिन्तन, प्रसंगानुसार पंच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्तिरूप व्यवहार-चारित्र का भी

निरूपण करते हुए अरिहन्त सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु के स्वरूप को भी स्पष्ट किया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने यह स्पष्ट किया है कि विशुद्ध सम्यग्दर्शन के साथ आचरण करना सम्यक्त्वचरणचारित्र है। सम्यक्त्व से जीव द्रव्य और पर्यायों को देखकर उस पर निष्ठा करता है, ज्ञान से उन्हें जानता है और चारित्र से अपने दोषों का परिहार करता है। मनोज्ञ, अमनोज्ञ, सचित्त और अचित्त राग-द्वेष के परिहार की दृष्टि से इन्द्रियों का संवरण, महाव्रत, समिति, गुप्ति आदि को अनगार संयमचरण कहा है। चारित्रप्राभृत में पंच महाव्रतों की पृथक्-पृथक् भावनाओं का निर्देश है। भावप्राकृत में बताया है कि श्रमण की पहचान द्रव्य लिंग से नहीं भाव से होती है। वहाँ बताया है कि बाह्य परिग्रह-त्याग का संलक्ष्य भाव-विशुद्धि है। यदि आभ्यन्तर परिग्रह विद्यमान है तो बाह्य परिग्रह के त्याग का महत्त्व नहीं है। अनेक दृष्टान्त देकर उन्होंने इस विषय को स्पष्ट किया है।

लिंगपाहुड में श्रमणधर्म का निरूपण बाईस गाथाओं के द्वारा किया है। चारित्र भक्ति में पाँच चारित्रों का अनुष्टुप छन्दों के द्वारा वर्णन किया गया है। इस तरह आचार्य कुन्दकुन्द ने श्रमणाचार पर प्रकाश डाला है।

मूलाचार–आचार्य वट्टकेर दिगम्बर परम्परा के एक यशस्वी आचार्य थे। मूलाचार उनकी महत्त्वपूर्ण कृति है। प्रस्तुत कृति में आवश्यकनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति, भक्त-पइण्णा, मरणसमाधि आदि श्वेताम्बर ग्रन्थों की गाथाएँ भी उद्धृत की गई हैं। इस ग्रन्थ में १,२५२ गाथाएँ हैं तथा मुनि और आर्यिकाओं की आचार-संहिता का सांगोपांग विवेचन है। इसमें महाव्रत, समिति, इन्द्रिय-निरोध, षडावश्यक, केशलुंचन, अचेलकत्व, अस्नान, भूमिशयन, अदन्तधावन, स्थिति भोजन तथा एक दिन में एक बार भोजन का निरूपण है। इसमें यह भी निरूपण है कि श्रमण पापों से मुक्त होकर जीवन के अन्तिम क्षणों में दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन आराधनाओं में स्थित रहकर क्षुधादि परीषहों पर विजय प्राप्त कर निष्कषाय रहे।

यदि हिंसक पशु आदि के द्वारा आकस्मिक मृत्यु उपस्थित हो जाय तो श्रमण को कषाय व आहार का त्यागकर समभाव में निमग्न हो जाना चाहिए। दस प्रकार के आचार का विश्लेषण किया गया है और साथ ही दर्शनाचार, ज्ञानाचार आदि आचार के पाँच भेदों का भी वर्णन है। पिंडविशुद्धि अधिकार में आहार सम्बन्धी नियमोपनियमों पर चिन्तन किया गया है। षडावश्यक अधिकार में छह आवश्यकों पर निक्षेपों की दृष्टि से विवेचन है। अनगार भावना में बताया है कि लिंग, व्रत, वसति, विहार, भिक्षा, ज्ञान, शरीरसंस्कार-त्याग, वाक्य, तप और ध्यान सम्बन्धी जो निर्दोष आचरण श्रमण करते हैं, वे ही मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। शील-गुण अधिकार में शील के १८,००० भेदों का निरूपण है। प्रस्तुत ग्रन्थ श्रमणाचार को समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

भगवती आराधना–इस ग्रन्थ के रचयिता आचार्य शिवार्य हैं। ये यापनीय संघ के आचार्य थे। इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप इन चार आराधनाओं का निरूपण है। श्रमणधर्म का विश्लेषण मुख्य रूप से किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उल्लिखित अनेक मान्यताएँ दिगम्बर श्रमणाचार से मेल नहीं खातीं, जैसे–रुग्ण श्रमणों के लिए अन्य श्रमणों द्वारा भोजन-पानी लाने का निर्देश; उसी प्रकार श्रमण के शरीर को अरण्य में परित्याग कर आने की विधि आदि। इसमें श्वेताम्बर परम्परा मान्य कल्पव्यवहार, आचारांग और जीतकल्प का भी उल्लेख है। आवश्यकनिर्युक्ति, बृहत्कल्पभाष्य आदि श्वेताम्बर ग्रन्थों की अनेक गाथाएँ इसमें उट्टंकित हैं। इसमें पण्डित-पण्डितमरण, पण्डितमरण और बाल-पण्डितमरण जो सतरह प्रकार के मरण हैं उनमें इन तीन प्रकार के मरण को श्रेष्ठ बताया है। आचेलक्य, लोच, देह-ममत्व-त्याग, प्रतिलेखन–ये चार श्रमणों के चिह्न बताये हैं। इसमें कहा गया है कि श्रमण विविध देशों में विचरण करता है अतः उसमें अनेक गुण होने चाहिए। इसके साथ ही अनेक रीति-रिवाज, भाषा और शास्त्र आदि में भी उसे निपुणता प्राप्त होनी चाहिए। तपोभावना, श्रुतभावना, सत्यभावना, एकत्वभावना और धृतिबलभावना का भी निरूपण किया गया है। संलेखना के साथ बाह्य और आभ्यन्तर तप का निरूपण है। आर्यिकाओं के संघ में रहने सम्बन्धी नियमों का भी वर्णन है। प्रस्तुत ग्रन्थ में अपवाद रूप से जैन श्रमणों से लिए वस्त्र का भी विधान किया गया है और आर्यिकाओं के लिए कारणापेक्ष वस्त्र की भी अनुज्ञा दी गई है। श्रमणों के लिए लज्जाग्रस्त होने पर, पुरुषेन्द्रिय में विकृति होने पर तथा परीषह सहन करने में असमर्थ होने पर वस्त्र ग्रहण करने का विधान है (गा० ४२१, विजयोदया टीका)।

इस ग्रन्थ पर अनेक टीकाएँ भी लिखी गई हैं।

लब्धिसार–प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता नेमिचन्द्राचार्य हैं। इन्होंने आत्मशुद्धि के लिए पाँच लब्धियाँ आवश्यक मानी हैं। करण लब्धि के प्राप्त होने पर जीव मिथ्यात्व से मुक्त होकर सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। पाँच लब्धियों के नाम ये बताये हैं–क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण। इनके अतिरिक्त इन्होंने चारित्र लब्धि भी मानी है। सम्यक्त्व के लिए आवश्यक पाँच लब्धियों में से चार लब्धियाँ तो भव्य और अभव्य दोनों ही प्रकार के जीवों को प्राप्त हो सकती हैं किन्तु करण लब्धि अभव्य को प्राप्त नहीं होती।

चारित्रलब्धि के बारे में उल्लेख है कि जब मिथ्यादृष्टि जीव उपशम सम्यक्त्व के साथ देशचारित्र को ग्रहण करने के लिए तत्पर होता है तब जैसे सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए अधःप्रवृत्त आदि तीन करणों को करता है, वैसे ही देशचारित्र को प्राप्त करने के लिए तीन करणों को करता है और तीन करणों के अन्तिम समय

में वह देशचारित्र को प्राप्त कर लेता है। किन्तु जब उक्त मिथ्यादृष्टि वेदक, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के साथ देशचारित्र के ग्रहण को तत्पर होता है तो अन्तःप्रवृत्तिकरण और अपूर्वकरण इन दो परिणामों के अन्तिम समय में वह देशचारित्र को प्राप्त करता है।

सकलचारित्र क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक के रूप में तीन प्रकार का है। जो जीव उपशम सम्यक्त्व के साथ क्षायोपशमिक चारित्र को ग्रहण करने में तत्पर होता है उसकी विधि उपशम सम्यक्त्व के सदृश है। जो वेदक सम्यक्दृष्टि औपशमिक चारित्र को ग्रहण करने में तत्पर होता है उसकी विधि उससे भिन्न है। यहाँ पर इस सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डाला गया है। इसके पश्चात् क्षायिक चारित्र में की जाने वाली क्रियाओं का वर्णन विस्तार से किया है और इसे क्षपणासार कहा है।

आराधनासार–इसके रचयिता देवसेन हैं। सम्यक्त्व प्राप्त हो जाने के पश्चात् जीवादि पदार्थ के श्रद्धान् को आराधना कहते हैं। शिवभूति, सुकुमाल, कौशल, गुरुदत्त, पाण्डव, सिरिदत्त, स्वर्णभद्र के दृष्टान्त देकर विषय को स्पष्ट किया है। मन को राजा की उपमा दी गई है। जैसे राजा की मृत्यु हो जाने पर सेना आदि निस्तेज हो जाती है वैसे मन-राजा के शान्त होने पर इन्द्रिय-सेना भी शान्त हो जाती है। मन एक ऊँट के सदृश है। ऊँट को जैसे रस्सी से बाँधकर रखा जाता है वैसे मन को ज्ञानरूपी रस्सी से बाँधकर रखना चाहिए। मन वृक्ष के समान है। राग-द्वेषरूपी शाखाओं को नष्ट करने से, मोहरूपी जल का सिंचन न करने से मनरूपी वृक्ष स्वतः ही नष्ट हो जायेगा, इसका उपदेश प्रदान किया गया है। जैसे नमक पानी में एकमेक हो जाता है वैसे ही चित्त को धर्मध्यान में लीन कर देना चाहिए।

यद्यपि सीधा श्रमणाचार का निरूपण इसमें नहीं है तथापि प्रकारान्तर से श्रमणाचार का निरूपण इसमें आ गया है।

चामुण्डरायकृत चारित्रसार, वीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती-रचित आचारसार, पण्डित आशाधरकृत अनगार धर्मामृत ग्रन्थ श्रमणाचार से ही सम्बन्धित हैं। अनगार धर्मामृत में अनेक ग्रन्थों के उद्धरण हैं। श्रमणचर्या के सभी विषयों को लेखक ने स्पर्श किया है।

छेदपिण्ड–छेद का अर्थ प्रायश्चित्त है। मलहरण, पापनाशन, शुद्धि, पुण्य, पवित्र और पावन–ये छेद के पर्यायवाची हैं। प्रमाद या अभिमान के कारण व्रत, समिति, मूलगुण, उत्तरगुण, तप, गण आदि के सम्बन्ध में स्खलना होने पर प्रायश्चित्त का विधान है।

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में श्रमण के पाँच महाव्रत, पाँच समितियाँ, पंचेन्द्रिय-विजय, छह आश्यक, केशलुंचन, अचेलकता, अस्नानता, भूशयन, स्थितिभोजन,

अदन्तधावन, एक भुक्ति-ये २८ मूलगुण माने हैं, जबकि श्वेताम्बर परम्परा में श्रमण के २७ मूलगुण माने हैं। पर दोनों की सूची में पृथकता है। श्वेताम्बर दृष्टि से पाँच महाव्रत, पाँच इन्द्रियों पर विजय, चार कषायों से निवृत्ति, मन-समाधारणा, वचन-समाधारणा, काय-समाधारणा, भावसत्य, करणसत्य, योगसत्य, ज्ञानसम्पन्न, दर्शनसम्पन्न, चारित्रसम्पन्न, क्षमावन्त, वैराग्यवन्त, वेदनासमअहियासणयाये, मारणान्तीय समअहियासणयाये-ये श्रमण के २७ मूलगुण हैं।

परम्परा की दृष्टि से श्रमणाचार में दोनों में पर्याप्त अन्तर दिखाई देता है। किन्तु गहराई से चिन्तन किया जाय तो प्रकारान्तर से शब्द परिवर्तनों के साथ दोनों ही परम्पराओं में सभी मूल तथ्य आ गये हैं। समिति, गुप्ति आदि को श्वेताम्बर परम्परा में मूलगुणों में स्थान न देकर उत्तरगुणों में स्थान दिया है।

केशलुंचन आदि को स्वतन्त्र स्थान न देकर उसका समावेश काय-क्लेश में किया गया है। आचेलक्य को दस कल्प में प्रथम कल्प माना है; पर मूलगुण नहीं। अस्नानता और अदन्तधावन ये दोनों अनाचार में परिगणित हैं, किन्तु मूलगुण में नहीं। स्थितिभोजन श्वेताम्बर परम्परा में नहीं है। क्योंकि श्वेताम्बर परम्परा में आहार स्वस्थान पर लाकर करने का विधान है। गृहस्थ के वहाँ खड़े रहकर भोजन का विधान नहीं है। एकभुक्त व्रत श्वेताम्बर परम्परा में भी प्राचीन काल में रहा था किन्तु वर्तमान में वह नियम नहीं है। स्वेच्छा से जो श्रमण करना चाहे तो उसका महत्त्व अवश्य है।

जिस तरह श्वेताम्बर काव्य साहित्य और कथा साहित्य में कथाओं के माध्यम से श्रमणाचार का निरूपण हुआ है, उसी तरह दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में भी दिगम्बर दृष्टि से श्रमणाचार का विश्लेषण हुआ है। आदि पुराण, उत्तरपुराण और अन्य पुराण व काव्य साहित्य में यत्र-तत्र श्रमणाचार के सम्बन्ध में चिन्तन हुआ है। दिगम्बर विज्ञों ने भी भाषा की दृष्टि से काव्य साहित्य प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत, कन्नड़, तमिल, मराठी, गुजराती, राजस्थानी आदि प्राचीन और प्रादेशिक भाषाओं में लिखा है।

इस तरह श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में श्रमणाचार सम्बन्धी व्यापक साहित्य का सृजन हुआ है। किन्हीं ग्रन्थों में किसी एक विषय पर विस्तार से चिन्तन किया गया है तो कहीं पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। हम उन्हीं ग्रन्थों के चिन्तन के दिव्य आलोक से श्रमणाचार के विविध पहलुओं पर संक्षेप में प्रकार डाल रहे हैं।

●●

२. श्रमणधर्म का प्रवेश-द्वार : आर्हती दीक्षा

श्रमण का महत्त्व

श्रमण संस्कृति में उषाकाल से ही श्रमण का महत्त्व रहा है। श्रावक के द्वादश व्रतों का जागरूकता और सम्यक्रूपेण पालन करने वाले गृहस्थ के अन्तःकरण में भी प्रतिपल-प्रतिक्षण यही भावना रहती है कि मेरे लिए परम सौभाग्य का दिन वही होगा जिस दिन मैं श्रमणधर्म को ग्रहण करूँगा।

उत्तराध्ययन सूत्र में ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र ने नमि राजर्षि से सनम्र निवेदन किया कि राजर्षे ! आप सर्वप्रथम यज्ञ करें। श्रमण और ब्राह्मणों को भोजन करावें। खुलकर दान दें। उसके पश्चात् श्रमण हो जावें।

उत्तर में नमि राजर्षि[1] ने कहा–जो मानव प्रति माह दस लाख गायें दान देता है उसके लिए भी संयम श्रेष्ठ है। अर्थात् दस लाख गायों का दान देने से भी बढ़कर श्रमण-जीवन है।

इससे स्पष्ट है कि श्रमण परम्परा में श्रमण-जीवन का कितना अधिक महत्त्व रहा है। श्रेष्ठता व्यक्ति की नहीं अपितु साधना की है, संयम की है। साधना के अनुकूल वातावरण रहे, एतदर्थ गृहवास का परित्याग कर वेष परिवर्तन करना आवश्यक है। यदि अन्तर्जीवन की विशुद्धि हो चुकी है तो गृहस्थ या अन्य किसी भी वेष में भी मुक्ति संभव है। मुक्ति के लिए वेष उतना बाधक नहीं है जितने कि आन्तरिक विकार हैं। आत्मा का उत्कर्ष साधने हेतु बाह्य वातावरण और सतत अभ्यास अपेक्षित है। साधक एक पथिक है जो अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रहा है। यदि उसको समुचित वातावरण उपलब्ध नहीं हुआ तो वह मध्य में भी भटक सकता है और बीच में भी अटक सकता है।

दीक्षा : आध्यात्मिक साधना

आर्हती दीक्षा साधक के उस अटकने-भटकने को रोकने का एक उपक्रम है। वह ऐसी अखण्ड ज्योतिर्मय यात्रा है जिसमें साधक असत् से सत् की ओर, तमस् से आलोक की ओर तथा मृत्यु से अमरत्व की ओर अग्रसर होता है। वह ऐसी

१. उत्तराध्ययन ९-४०

अद्भुत आध्यात्मिक साधना है जिसमें साधक बाहर से अन्दर सिमटता है। वह अशुभ का बहिष्कार कर शुभ संस्कारों से जीवन यापन करता है और शुद्धत्व की ओर अपने दृढ़ कदम बढ़ाता है। दीक्षा में साधक अपने आप पर शासन करता है।

कालिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने दीक्षा की परिभाषा करते हुए लिखा है–

दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते पशुबन्धनाः।
दानाक्ष-परमसंयुक्तः दीक्षा तेनेह कीर्तिता॥

दीक्षा एक रूपान्तरिक परिवर्तन है। सात्विक जीवन जीने की अपूर्व कला है। आत्म-साधना के परम और चरम बिन्दु तक पहुँचाने वाले सोपान का नाम दीक्षा है। दीक्षा में पाँचों महाव्रतों का जीवन-पर्यन्त पालन करना होता है। 'सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि' के सुदृढ़ कवच को पहनकर ही साधक सद्गुरुदेव के पथ-प्रदर्शन में साधना के पथ पर आगे बढ़ता है तथा अपने पर नियंत्रण करता है।

दीक्षा अन्तर्मुखी साधना है। मानव मस्तिष्क सुदीर्घ काल से सत्य की अन्वेषणा कर रहा है। उसने जड़ तत्त्व देखा, परखा और गहराई में बैठकर परमाणु जैसे सूक्ष्म तत्त्व में निहित विराट् शक्ति की अन्वेषणा की। मानव सभ्यता ने विज्ञान पर विजय फहराकर जन-मानस को मुग्ध किया है, पर यह जड़ की अन्वेषणा वास्तविक शान्ति प्रदान नहीं कर सकी। किन्तु जब मानव ने अपने अन्दर निहारा तो अपनी अनन्त आत्म-शक्ति के दर्शन किये और परम शान्ति का अनुभव किया।

एक अन्तर्यात्री

दीक्षार्थी अपने विशुद्ध परम तत्त्व की खोज के लिए निकलने वाला एक अन्तर्यात्री है। वह अन्तर में प्रवेश करता है। निरन्तर आने वाले आवरणों को तोड़कर परम चैतन्य चिदानन्दस्वरूप परमात्म तत्त्व को प्रकट करने का, उसको अनुभव करने का प्रयास करता है।

आर्हती दीक्षा वही व्यक्ति ग्रहण करता है जिसके मन में वैराग्य का पयोधि उछालें मारता हो। जिसमें जितनी अधिक वैराग्य भावना बलवती होती है वह उतना ही अधिक द्रुतगति से आगे बढ़ता है। आगम साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि किसी भी जाति-पाँति तथा वर्ण का व्यक्ति श्रमणधर्म को स्वीकार कर सकता है। केवल सामान्य स्त्री-पुरुष ही संसार का परित्याग नहीं करते थे अपितु जिनके पास अपार वैभव के अंबार लगे हुए होते, सत्ता और सम्पत्ति जिनके चरण चूमते, वे भी साधना के पथ पर सहर्ष अपने कदम बढ़ाते। ऐसे हजारों श्रेष्ठीपुत्र राजा, सम्राट् और सामन्त, राजनीति विशारद, षड्दर्शन के ज्ञाता, मूर्धन्य मनीषीगण, वीर योद्धा

तथा अत्यन्त सुकुमार राज-रानियाँ, राज-पुत्रियाँ और भोगों में डूबे हुए व्यक्ति भी भोगों की निस्सारता को समझकर त्याग-मार्ग को अपनाते रहे हैं।

उत्तराध्ययन[1] में एक साधक ने जिज्ञासा प्रस्तुत की–अध्रुव, अशाश्वत और दुःख-वेदनाओं से परिपूर्ण इस संसार में ऐसा कौन-सा कार्य करूँ? किस मार्ग पर चलूँ जिससे दुर्गति के महागर्त में गिरने से बच सकूँ?

समाधान किया गया–पूर्व परिचित संयोगों का परित्याग कर किसी पदार्थ में जो आसक्त नहीं होता, स्नेही-जनों के प्रति स्नेहभाव नहीं रखता, वही श्रमण दोषों से मुक्त होता है।

अभिप्राय यह कि आर्हती दीक्षा ग्रहण करने वाला साधक संसार एवं संसारी-जनों के प्रति आसक्ति एवं मोह को त्याग देता है।

वैराग्योत्पत्ति के दस कारण

जैसा कि हम पहले बता चुके हैं–दीक्षा के लिए वैराग्य आवश्यक है। स्थानांग[2] में वैराग्योत्पत्ति के प्रमुख दस प्रकार बताये हैं। यों अनेक कारण हो सकते हैं। आचार्य अभयदेव ने[3] अपनी वृत्ति में उन प्रव्रज्या लेने वालों के उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं।

(१) छन्दा–स्वयं की या दूसरों की इच्छा से ली जाने वाली प्रव्रज्या। जैसे गोविन्द वाचक[4] जो पहले बौद्ध भिक्षु थे, अठारह बार जैनाचार्य से पराजित हुए। जैनों को पराजित करने के लिए जैनाचार्य के पास दीक्षा ग्रहण की। जब उन्हें आगमों का पूर्ण ज्ञान हो गया तब आचार्य से निवेदन कर पुनः दीक्षा ग्रहण की और आचार्य बने। उन्होंने गोविन्द निर्युक्ति नामक दार्शनिक ग्रन्थ की भी रचना की। वे ज्ञान लेने के लिए प्रव्रजित हुए थे और ज्ञान होने पर वे सच्चे श्रमण बन गये।

(२) रोषा–क्रोध से ली जाने वाली दीक्षा। शिवभूति[5] अत्यन्त पराक्रमी और साहसी था। वह राजा का अनुचर था। उसने पांडुमथुरा को जीतकर राजा को प्रसन्न किया। राजा की कृपा से स्वच्छन्द होकर नगर में घूमता, आधी रात के बाद घर लौटता। माता के उपालंभ से वह आचार्य के पास पहुँचा और श्रमण बन गया।

---

१. उत्तराध्ययन ८/१-२
२. स्थानांग १०/७१२
३. स्थानांग (अभयदेव टीका), पत्र ४४९
४. (क) निशीथभाष्य, गा. ३६५६ चूर्णि
   (ख) बृहत्कल्पभाष्य, गा. २८८०
   (ग) आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ. ३५३
   (घ) दशवैकालिकनिर्युक्ति, गा. ८२
   (च) पुण्यविजय जी ने गोविंद वाचक का अस्तित्वकाल विक्रम की पाँचवीं शताब्दी माना है।
५. आवश्यकनिर्युक्ति मलयगिरिवृत्ति, पत्र ४१८-४१९

(३) **परिद्यूना**–दरिद्रता के कारण ली जाने वाली दीक्षा। आचार्य सुहस्ति कौशाम्बी में थे। श्रमणों को भिक्षा ग्रहण करते हुए देखकर एक भिखारी[1] ने भोजन माँगा। आचार्य ने कहा–दीक्षा लेने पर ही भोजन मिल सकता है। क्षुधा से पीड़ित उस भिक्षुक ने दीक्षा ग्रहण की।

(४) **स्वप्ना**–स्वप्न के निमित्त से ली जाने वाली दीक्षा। पुष्पभद्र नगर का राजा पुष्पकेतु और महारानी पुष्पवती थी। उसके एक युगल हुआ–पुत्र का नाम पुष्पचूल और पुत्री का नाम पुष्पचूला[2] रखा। दोनों का विवाह हुआ। माता मरकर देवी बनी। अपने पुत्र-पुत्री को उद्‌बोधन देने हेतु स्वप्न में पुष्पचूला को नरक की दारुण वेदना बतायी। उन दृश्यों को देखकर विरक्ति हुई और दोनों ने आचार्य अम्बिकापुत्र के पास प्रव्रज्या ग्रहण की।

(५) **प्रतिश्रुता**–पहले की गई प्रतिज्ञा के कारण ली जाने वाली प्रव्रज्या। राजगृह निवासी धन्ना[3] का शालिभद्र की बहन सुभद्रा के साथ विवाह हुआ। शालिभद्र को वैराग्य हुआ। जिससे वह बत्तीस पत्नियों में से प्रतिदिन एक-एक पत्नी का परित्याग कर दीक्षा का विचार कर रहा था। सुभद्रा की आँखों में आँसू निहारकर दुःख का कारण धन्ना ने पूछा, तो उसने भाई की दीक्षा की बात कही। धन्ना ने कहा–तुम्हारा भाई कायर है, हीनसत्त्व है, यदि दीक्षा लेनी है तो एक साथ सबका त्याग क्यों नहीं कर देता? सुभद्रा ने कहा–कहना सरल है, करना कठिन है। धन्ना ने प्रतिज्ञा की और शालिभद्र के साथ भगवान महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की।

(६) **स्मारणिका**–जन्मान्तरों की स्मृति हो जाने पर ली जाने वाली दीक्षा। विदेह जनपद की राजधानी मिथिला के राजा कुम्भ की पुत्री मल्लीकुमारी थी।[4] उसके पूर्वभव के छह मित्र थे–साकेत नगरी के राजा प्रतिबुद्ध, चम्पानगरी के राजा चन्द्रच्छाय, श्रावस्ती नगरी के राजा रुक्मी, वाराणसी नगरी के राजा शंख, हस्तिनापुर के राजा अदीनशत्रु, तथा कांपिल्यपुर के राजा जितशत्रु। पुतली के द्वारा सभी राजाओं को पूर्वभव का स्मरण कराया और वे सभी मल्ली के साथ दीक्षित हुए।

---

१. अभिधान राजेन्द्र कोष, भा. ७, पृ. १९७

२. परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६

३. (क) त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र १०-१०-८४/१४०
   (ख) उपदेशमाला सटीक, गा. २०, पत्र २५६
   (ग) भरतेशबाहुबलि वृत्ति, भाग १, पत्र १०७

४. ज्ञातासूत्र, मल्ली अध्ययन

(७) रोगिणिका–रोग का निमित्त मिलने पर ली जाने वाली दीक्षा। चतुर्थ चक्रवर्ती सनत्कुमार[1] का रूप अद्भुत था, जिसे निहारने के लिए देव आये। चक्रवर्ती ने कहा कि यदि तुम्हें मेरा रूप देखना हो तो सभा में देखो। सभा में देवों ने कहा–वह रूप नहीं है और अब रोग उत्पन्न हो गया है। चक्रवर्ती ने पीकदानी में थूककर देखा–कीड़े कुलबुला रहे थे। इस प्रकार रोग का निमित्त मिलने पर सनत्कुमार चक्रवर्ती ने दीक्षा ली।

(८) अनादृता–अनादर होने पर ली जाने वाली दीक्षा। नन्दीषेण[2] जब गर्भ में था तभी उसके पिता गौतम मर गये और जन्म लेते ही माँ भी मर गयी। मामा के घर में वह बड़ा हुआ। उसका रूप कुरूप था। गाँव के लोग उसका अनादर करते। मामा ने कहा–यदि तेरे को कोई पुत्री नहीं देगा तो मैं अपनी पुत्री के साथ तुम्हारा विवाह कर दूँगा। पर उसकी पुत्रियों ने भी विवाह के लिए इनकार कर दिया। तिरस्कृत नन्दीषेण आत्महत्या के लिए चला। नन्दीवर्द्धनसूरि के उपदेश से उसे वैराग्य प्राप्त हुआ और प्रव्रज्या ग्रहण की।

(९) देवसंज्ञप्ति–देव के द्वारा प्रतिबुद्ध होकर ली जाने वाली दीक्षा। मेतार्य[3] चाण्डालिनी का पुत्र था। उस चाण्डालिनी के साथ सेठानी का अत्यधिक स्नेह था। सेठानी ने अपनी मृत सन्तान को उसे देकर चाण्डालिनी के पुत्र को ले लिया। बड़ा होने पर विवाह हुआ। उस समय उसके पूर्वभव के मित्र देव ने आकर उसे दीक्षा के लिए प्रेरणा दी। पर वह तैयार नहीं हुआ। देव ने उसके चण्डाल पुत्र होने का रहस्य खोल दिया जिससे उसका विवाह रुक गया। परिणामस्वरूप मेतार्य को बहुत दुःख हुआ। जब देव ने पुनः दीक्षा लेने की प्रेरणा दी तो मेतार्य ने शर्त रखी कि 'वणिक् कन्याओं तथा राजा श्रेणिक की कन्या से मेरा विवाह करा दो और जब बारह वर्ष गृहस्थाश्रम का सुख भोग लूँ तब दीक्षा लूँगा।' देव ने यह शर्त पूरी कर दी। तब १२ वर्ष गृहस्थ-सुख भोगने के बाद मेतार्य ने भगवान महावीर के पास दीक्षा ले ली।

(१०) वत्सानुबंधिका–पुत्र के अनुबन्ध से ली जाने वाली दीक्षा। तुम्बवन में धनगिरि इब्भपुत्र[4] था। उसकी पत्नी सुनन्दा गर्भवती थी तब सिंहगिरि के उपदेश से धनगिरि ने दीक्षा ले ली। उसके बाद पुत्र हुआ। लोगों ने कहा–यदि इसका पिता साधु न बना होता तो कितना अच्छा होता। बालक को सुनकर पूर्वभव की स्मृति हो

---

१. उत्तराध्ययन, बृहद्वृत्ति, अ. १८
२. अभिधान राजेन्द्र कोष, भा. ४, पृ. १७५७
३. आवश्यकनिर्युक्ति मलयगिरिवृत्ति, पत्र ४७७-४७८
४. वही, पत्र ३८७-३८८

आई। माँ की ममता से मुक्त होने के लिए वह रोने लगा। छह महीने के बाद उसके पिता मुनि धनगिरि गोचरी हेतु आये। बालक के रुदन से ऊबकर माता ने उनके पात्र में पुत्र को दे दिया। आचार्य ने वज्र के समान भारी भरकम देखकर उसका नाम वज्र रखा। सुनन्दा पुनः पुत्र को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करने लगी। विवाद राजा तक गया। राज्यसभा में पुत्र पिता की ओर बढ़ा, माँ की ओर नहीं, जिससे माँ को वैराग्य हुआ और उसने दीक्षा ग्रहण की।

प्रव्रज्या लेने के कारण

इनके अतिरिक्त स्थानांग[1] में ही अन्य कारणों से भी प्रव्रज्या ग्रहण करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। वे इस प्रकार हैं–

(१) इहलोक प्रतिबद्धा–इहलौकिक सुखों की प्राप्ति के लिए ली जाने वाली दीक्षा।

(२) परलोक प्रतिबद्धा–पारलौकिक सुखों की प्राप्ति के लिए ली जाने वाली दीक्षा।

(३) उभयतः प्रतिबद्धा–दोनों लोकों के सुखों की प्राप्ति के लिए ली जाने वाली दीक्षा।

प्रवज्या के तीन प्रकार और भी बताये हैं–

(१) पुरतः प्रतिबद्धा–दीक्षा लेने पर मेरे शिष्य आदि होंगे, इस आशा से ली जाने वाली दीक्षा।

(२) पृष्ठतः (मार्गतः) प्रतिबद्धा–स्वजन आदि से स्नेह का विच्छेद न हो, इस भावना से ली जाने वाली दीक्षा।

(३) उभयतः प्रतिबद्धा–उपर्युक्त दोनों कारणों से ली जाने वाली दीक्षा।

प्रकारान्तर से अन्य तीन प्रकार बताये गये हैं–

(१) तोदयित्वा–कष्ट देकर ली जाने वाली प्रव्रज्या।

(२) प्लावयित्वा–दूसरे स्थान में ली जाने वाली प्रव्रज्या।

(३) वाचयित्वा–बातचीत करके ली जाने वाली प्रव्रज्या।

प्रव्रज्या के तीन और प्रकार बताये हैं–

(१) अवपात प्रव्रज्या–गुरु सेवा से प्राप्त।

---

१. स्थानांग ३, २, १५७

(२) आख्यात प्रव्रज्या–उपदेश से प्राप्त।

(३) संगार प्रव्रज्या–परस्पर प्रतिज्ञाबद्ध होकर ली जाने वाली।

ऐसे भी अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं कि यत्किंचित् उत्तेजना प्राप्त होती है और भावविभोर होकर वे प्रव्रज्या ग्रहण कर लेते हैं। आवश्यकचूर्णि[1] में वर्णन है– उज्जयिनी के राजा देविलासत्त की महारानी ने अपने पति के सिर में एक श्वेत बाल देखकर कहा–धर्मदूत आ गया है। राजा ने उस श्वेत बाल को नगर में घुमाया और महारानी के साथ दीक्षा ग्रहण की। इस तरह के प्रसंग मखादेव जातक[2], चुल्लसुत्त सोम जातक[3], निमि.जातक[4] आदि में भी मिलते हैं।

इसी तरह चक्रवर्ती भरत को मुद्रिकाशून्य अंगुली को देखकर[5] वैराग्य उत्पन्न हो गया और वह साधना के पथ पर बढ़ गया। काम्पिल्यपुर के राजा दुर्मुख[6] को इन्द्रध्वज को गिरा हुआ देखकर वैराग्य उत्पन्न हुआ और उसने दीक्षा ग्रहण की।

दीक्षा का अधिकारी

प्रत्येक साधक जिसमें तीव्र वैराग्य भावना हो वह सहर्ष दीक्षा का पवित्र पथ अपना सकता है। पतित से पतित माने जाने वाले व्यक्तियों ने भी दीक्षा ग्रहण कर अपने जीवन को पावन बनाया। हरिकेशबल मुनि तथा मेतार्य मुनि, चण्डालकुल में उत्पन्न हुए थे, किन्तु उन्होंने इतनी उत्कृष्ट साधना की जिससे उनका जीवन स्वर्ण की तरह चमकने लगा।

व्यवहारभाष्य[7] में एक गणिका द्वारा प्रव्रज्या ग्रहण करने का वर्णन मिलता है। बौद्ध साहित्य में भी आम्रपाली नाम की गणिका ने तथागत बुद्ध के पावन उपदेश से प्रभावित होकर बौद्ध प्रव्रज्या ग्रहण की थी। अनेक पतित महिलाओं ने भी आर्हती दीक्षा ग्रहण कर अपने जीवन को संयम से अत्युज्ज्वल बनाया था।

दीक्षा और वय

जैन धर्म में वय की दृष्टि से दीक्षा ग्रहण करने पर बल नहीं दिया है। चाहे बालक हो, चाहे युवक हो और चाहे वृद्ध हो, जिसमें भावों की प्रबलता और वैराग्य भावना बलवती हो, वह दीक्षा ग्रहण कर सकता है। बालक भी प्रतिभा का धनी होता है, उसमें भी तेज होता है। यही कारण है कि आगम साहित्य में बाल

---

१. आवश्यकचूर्णि २, पृ. २०२
२. मखादेव जातक ९-१, पृ. १७९
३. चुल्लसुत्त सोम जातक ५२५-५, पृ. २६०
४. निमि जातक ५४१-६, पृ. १४७
५. उत्तराध्ययन, टीका १७, पृ. २३२
६. वही, टीका ९, पृ. १३६
७. व्यवहारभाष्य, भाग ४, २-२०१

दीक्षा के उल्लेख प्राप्त होते हैं। भगवती सूत्र[1] के अनुसार अतिमुक्तकुमार ने जब भगवान महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की थी उस समय उसकी उम्र छह वर्ष की थी। सर्वज्ञ-सर्वदर्शी महावीर ने अतिमुक्तकुमार की आन्तरिक योग्यता और क्षमता को निहारकर ही दीक्षा दी थी। पर सामान्य साधकों के लिए आठ वर्ष से कुछ[2] अधिक उम्र होने पर दीक्षा प्रदान करने का विधान है।

गजसुकुमाल मुनि[3] भी लघु वय के थे। युवावस्था में प्रवेश करने के पूर्व ही उन्होंने साधना पथ को अपनाया था। चतुर्दशपूर्वधर आचार्य शय्यंभव[4] ने अपने पुत्र मणक को और आर्य सिंहगिरि ने वज्रस्वामी को बाल वय में दीक्षा प्रदान की थी। इसी प्रकार के उल्लेख अनेक स्थलों पर प्राप्त होते हैं।

शैशवकाल में सहजता, कोमलता और निर्मलता के साथ बुद्धि का अनाग्रह भाव तत्त्व के रहस्य को ग्रहण करने में जितना सहायक होता है, वह अन्य अवस्थाओं में नहीं। बचपन में दिये गये संस्कार परछाई की तरह साथ-साथ चलते हैं किन्तु ढलती उम्र में दिये जाने वाले संस्कार न तो अच्छी तरह आत्मसात् होते हैं और न वे चिरस्थाई ही हो पाते हैं। इसलिए दीक्षा के लिए वय नहीं, वैराग्य भाव प्रमुख माना गया है।

जैन साहित्य के इतिहास में ऐसे सैकड़ों साधकों का वर्णन प्राप्त होता है जिन्होंने बाल्यावस्था में दीक्षा ग्रहण कर जैन धर्म की प्रबल प्रभावना की है। आचार्य हेमचन्द्र, उपाध्याय यशोविजय, महान् कलाकार आचार्य जीतमल जी, महास्थविर ताराचन्द जी महाराज आदि अनेकों व्यक्तियों के नाम गिनाये जा सकते हैं।

आगम साहित्य एवं परवर्ती साहित्य में कहीं पर भी बाल-दीक्षा का निषेध नहीं है। बालकों की भाँति हजारों युवक-युवतियों ने भी दीक्षा ग्रहण की है। आगम साहित्य में उन युवक-युवतियों की उत्कृष्ट साधना का निरूपण है। हजारों साधकों के गौरवपूर्ण नाम गिनाये जा सकते हैं। इसी तरह वृद्ध व्यक्तियों ने भी प्रव्रज्या

---

१. (क) छव्वरिसो पव्वइयो। —भगवती टीका ५-३
(ख) अन्तकृद्दशांग ६-१४

२. 'कुमार समणे' त्ति षड्वर्षजातस्य तस्य प्रव्रजितत्वात् आह च–'छव्वरिसो पव्वइओ निग्गंथं रोइऊण पावयणं' ति, एतदेव चाश्चर्यमिह अन्यथा वर्षाष्टकादारान् प्रव्रज्या स्यादिति।
—भगवती सटीक प्र. भाग, श. ५, उद्दे. ४, सूत्र १८८, पत्र २१९-२

३. (क) अन्तकृद्दशांग, वर्ग ३, अ. ८
(ख) त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र ८-१०

४. परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५

ग्रहण की है। श्रमण भगवान महावीर ने ऋषभदत्त ब्राह्मण[1] को प्रव्रज्या प्रदान की थी। आचार्य जम्बू द्वारा उनके पिता श्रेष्ठी ऋषभदत्त[2] को और आचार्य आर्यरक्षित द्वारा अपने पिता सोमदेव[3] को प्रव्रज्या देने का उल्लेख मिलता है।

दशवैकालिक[4] में स्पष्ट कहा है–जीवन के संध्या काल में दीक्षा लेकर भी कितने ही व्यक्ति अपनी तेजस्वी साधना से वर्ग और अपवर्ग को प्राप्त कर सकते हैं।

वैदिक दृष्टि और प्रव्रज्या

वैदिक परम्परा मान्य आश्रम व्यवस्था में पचास वर्ष की अवस्था के पश्चात् वानप्रस्थ आश्रम और ७५ से १०० वर्ष की आयु में संन्यास लेने के उल्लेख हैं। किन्तु श्रमण संस्कृति का यह वज्र आघोष है कि जीवन का कोई भरोसा नहीं है। हम १०० वर्ष तक जीवित रहेंगे, यह निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता। किसी भी समय क्रूर काल आक्रमण कर सकता है। श्रमण संस्कृति के प्रभाव से ही आश्रम व्यवस्था में विकल्प आया। पहले ब्रह्मचर्याश्रम पूर्ण करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश होता था फिर गृहस्थाश्रम से वानप्रस्थाश्रम और उसके पश्चात् संन्यासाश्रम को ग्रहण किया जाता था। किन्तु जाबालोपनिषद्[5] इत्यादि में कहा–जिस दिन वैराग्य उत्पन्न हो जाय उसी दिन प्रव्रज्या ली जा सकती है।

प्रज्ञाचक्षु पं. सुखलाल जी[6] का भी यह अभिमत है कि वैदिक परम्परा में ब्रह्मचर्य और गृहस्थ–ये दो आश्रम थे किन्तु निवृत्तिप्रधान धर्मों के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम–ये दो आश्रम उसमें स्वीकृत किये गये तथा यह विधान भी किया गया कि तीव्र वैराग्य होने पर ब्रह्मचर्याश्रम से ही प्रव्रज्या ग्रहण की जा सकती है। इसका कारण यह था कि संन्यास आत्मिक विधान है और भौतिकताप्रधान स्थिति आत्मिक शक्ति को जकड़ने में सक्षम नहीं हो सकती।

अप्रमत्त दीक्षित होते हैं

जैन संस्कृति ने केवल दो ही विकल्प माने हैं–आगार धर्म और अनगार धर्म। आगार धर्म की अपेक्षा अनगार धर्म को महत्त्व दिया गया है। इसका कारण है कि

---

१. (क) भगवती ९-६
   (ख) महावीरचरियं गुणचन्द्र प्रस्ताव ८, पत्र २५५-२६०
   (ग) त्रिषष्टि. २०-८-१ से २७
२. परिशिष्ट पर्व, सर्ग २
३. (क) प्रभावक चरित्र, पत्रांक ९-१२
   (ख) परिशिष्ट पर्व, सर्ग १३
४. दशवैकालिक ४ अ.
५. ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद् वा वनाद् वा।
   यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्॥
   –*जाबालोपनिषद् ४*
६. दर्शन और चिन्तन, पृ. १३७-१३८

श्रेष्ठता व्यक्ति की नहीं, संयम की है और संयम का चरम तथा परम विकास श्रमण-जीवन में ही हो सकता है। श्रमण परम्परा का यह दृढ़ मन्तव्य है कि निर्वाण-लाभ श्रमणों को ही प्राप्त हो सकता है। जिसके अन्तर्मानस में तीव्र वैराग्य हो जाता है, वह गृहवास में रहता ही नहीं।

गणधर गौतम ने भगवान महावीर से पूछा—भगवन्, गृहवास असार है और गृहत्याग सारपूर्ण है। यह जानकर भी लोग घर में क्यों रहते हैं?

भगवान ने फरमाया[1]—जो प्रमत्त होते हैं वे घर में रहते हैं और जो अप्रमत्त होते हैं वे घर का परित्याग कर देते हैं।

त्याग के विश्वविद्यालय में

यह स्मरणीय है कि श्रमण परम्परा वेष को महत्त्व देती भी है और नहीं भी देती है। साधना के अनुकूल वातावरण के लिए ही साधक गृहस्थ वेष का परित्याग करता है। गृहवास का परित्याग बाह्य विशुद्धि के लिए किया जाता है। जैसे अध्ययन घर पर भी किया जा सकता है किन्तु विश्वविद्यालय में अध्ययन की विशेष सुविधा होती है। इसीलिए मेधावी छात्र भी विश्वविद्यालय में भर्ती होते हैं। वैसे ही त्याग के विश्वविद्यालय में भर्ती होने के लिए आर्हती दीक्षा ग्रहण की जाती है। यदि पूर्ण रूप से आन्तरिक विशुद्धि होती है तो गृहस्थावस्था में भी साधक मुक्त हो सकता है।[2]

गृहस्थाश्रम में मुक्तिलाभ प्राप्त करना सरल नहीं, कठिन है; क्योंकि साधना के लिए बाह्य वातावरण इतना अनुकूल नहीं होता। साधक आखिर साधक है। प्रतिकूल वातावरण में लक्ष्य पर पहुँचना कठिन ही होता है। सभी साधक स्थूलभद्र नहीं हो सकते जो काजल की कोठरी में रहकर भी बिना दाग लगे रहें।

दीक्षा के लिए अनुमति

प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए दीक्षार्थी को माता-पिता या अन्य अभिभावकगण की अनुज्ञा प्राप्त करना आवश्यक था। उनकी आज्ञा प्राप्त होने पर ही दीक्षा ग्रहण की जाती रही है। बौद्ध ग्रन्थ महावग्ग[3] में राहुल की प्रव्रज्या का भी ऐसा ही प्रसंग है।

---

१. पमत्तेहिं गारमावसंतेहि। —आचारांग ५/५८

२. अन्नलिंगसिद्धा गिहिलिंगसिद्धा। —नन्दीसूत्र ३१

३. महावग्ग १-४६-१०५, पृ. ८९

स्वयं महावीर को उनके ज्येष्ठ भ्राता नन्दीवर्द्धन की आज्ञा[1] प्राप्त नहीं हुई तब तक वे गृहवास में रहे। मेघकुमार[2], राजर्षि उदयन[3], गाथापति संकाति[4], महाराज श्रेणिक के पुत्र-पौत्र, मृगावती[5], धन्य अनगार[6], अतिमुक्त मुनि[7] आदि शतादिक व्यक्तियों ने अपने अभिभावकों से अनुमति प्राप्त करके ही प्रव्रज्या ग्रहण की है।

यद्यपि अंतरंग त्याग-वैराग्य की प्रबल भावना से ही साधक दीक्षा ग्रहण करता है, तथापि परिजनों की अनुज्ञा की आवश्यकता क्यों है? इस प्रश्न के समाधान में कहा जा सकता है कि जिस साधना को उसने श्रेयस्कर समझा है, जिस आर्हती दीक्षा के प्रति उसके मन में दृढ़ आस्था पैदा हुई है, उस साधना मार्ग के प्रति अभिभावकों की भी श्रद्धा जाग्रत की जाय और उनके आशीर्वाद को ग्रहण कर साधना के पथ पर प्रसन्नता से आगे बढ़ा जाय। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि कोई घर से भागा हुआ या गलत व्यक्ति दीक्षित न हो सके। क्योंकि ऐसे प्रव्रजितों के कारण श्रमण संघ में अशांति और विग्रह का वातावरण बनने की सम्भावना थी तथा संघ का अपयश भी हो सकता था।

आगम साहित्य में एक भी व्यक्ति ऐसा दिखायी नहीं देता जिसने बिना अनुज्ञा दीक्षा ली हो। हाँ, एक बात स्मरण रखनी होगी कि जो स्वयं ही सर्वेसर्वा है या संन्यासी आदि जिसका कोई अधिपति नहीं है उसको किसी की आज्ञा लेने की आवश्यकता नहीं रही है, पर सामान्य व्यक्तियों के लिए यह नियम रहा है कि वह अनुमति प्राप्त कर दीक्षा लें। यह एक बहुत ही सुन्दर परम्परा रही है और इस परम्परा का अनुसरण आज भी हो रहा है।

अभिनिष्क्रमण महोत्सव

आगम साहित्य में यह भी वर्णन मिलता है कि जब साधक दीक्षा ग्रहण करना चाहता है तो गुपचुप ही दीक्षा नहीं लेता अपितु व्यवस्थित अभिनिष्क्रमण महोत्सव मनाया जाता था। ज्ञाता सूत्र में थावच्चापुत्र की दीक्षा का प्रसंग[8] है। जब थावच्चापुत्र

१. आवश्यकचूर्णि, पृ. २४८
२. ज्ञातासूत्र १-१
३. अन्तकृद्दशांग, वर्ग ६, अ. २
४. (क) अनुत्तरोपपातिक, प्रथम वर्ग २-१ से १३ तक
   (ख) अन्तकृद्दशांग, वर्ग ७, अ. १ से १३ तक
५. आवश्यकचूर्णि, पृ. ९१
६. अनुत्तरोपपातिक १
७. अन्तकृद्दशांग ६
८. ज्ञातासूत्र १-५

भगवान अरिष्टनेमि के पावन उपदेश को श्रवण कर दीक्षा लेना चाहता है तो उसकी माता, वासुदेव श्रीकृष्ण के राजदरबार में उपस्थित होती है और अभिनिष्क्रमण के लिए छत्र, चामर आदि की याचना करती है तब श्रीकृष्ण उसे कहते हैं कि मैं स्वयं अभिनिष्क्रमण महोत्सव करूँगा। थावच्चापुत्र के दृढ वैराग्य को देखकर श्रीकृष्ण अत्यन्त आह्लादित होते हैं और १,००० व्यक्ति उठा सकें ऐसी विशाल शिविका से उसे बिठाकर बहुत ही उल्लास के साथ दीक्षा महोत्सव मनाते हैं।

इसी तरह गजसुकुमाल, मेघकुमार, पद्मावती[1] प्रभृति रानियों के भी अभिनिष्क्रमण महोत्सव का विस्तार से वर्णन मिलता है। 'मज्झिमनिकाय रट्ठपाल सुत्तन्त' में राष्ट्रपाल ने बौद्ध मत में प्रव्रज्या ग्रहण की थी, उसका भी अभिनिष्क्रमण महोत्सव मनाया गया।

इस प्रकार के महोत्सवों में जन-जन के हृदय की अपार श्रद्धा अभिव्यक्त होती है।

दीक्षार्थी की परीक्षा

दीक्षा लेने वाले साधक की परीक्षा भी की जाती है। अभिभावकगण उसके वैराग्य को कसौटी पर कसते थे कि कहीं उसका वैराग्य हल्दी के रंग की तरह तो नहीं है जो जरा-सी कष्टों की धूप लगते ही उड़ जाय। एतदर्थ पहले दीक्षार्थी को श्रमणधर्म की कठोरता बतलाते हैं कि जिस श्रमणधर्म को तू ग्रहण करना चाहता है वह सीधा और सरल नहीं है। गंगा के प्रतिस्रोत तैरने के समान कठिन है, विराट् सागर को भुजाओं से पार करना सरल है किन्तु साधना के समुद्र को पार करना उससे भी अधिक कठिन है। बालू का ग्रास नीरस होता है। उसमें किसी भी प्रकार का रस नहीं होता; वैसे ही संयम साधना भी नीरस है। उसमें किसी भी प्रकार का आनन्द नहीं है। तलवार की नग्न धार पर चलना सरल और सुगम है किन्तु संयम साधना के महामार्ग पर बढ़ना खतरे से खाली नहीं है। लोग के दाँतों से लोहे के चने चबाने के समान संयम मार्ग दुष्कर है। मेरु पर्वत को तराजू के पलड़े में रखकर तोलना जैसा कठिन है उससे भी अधिक कठिन है श्रमण साधना के दुष्कर पथ को अपनाना।[2]

साधक को संयम साधना में अपने मन पर नियंत्रण करना होता है। उसे वचन और शरीर पर भी नियन्त्रण करना होता है। आचारांग[3], दशवैकालिक[4] प्रभृति आगमों में श्रमण-जीवन की कठोर चर्या का उल्लेख है। आहार करते समय साधक

१. अन्तकृद्दशांग, वर्ग ५, अ. १
२. उत्तराध्ययन, अध्ययन १९, गाथा ३६ से ४३
३. महावीर की साधना प्रकरण
४. दशवैकालिक १-१० अ.

स्वाद लेने के लिए भोजन के ग्रास को भी इधर से उधर न घुमावे। रस का आस्वादन न ले। कितना अनासक्त होता है श्रमण का जीवन !

श्रमण-जीवन की कठोरता बताने के पश्चात् उस साधक को जो साधना के पथ पर बढ़ रहा है, हर प्रकार के भौतिक प्रलोभन दिये जाते हैं। जो अविवाहित है उसे विवाह के लिए कहा जाता है–'एक नहीं अपितु अनेक सुरूपा बालाओं के साथ तेरा पाणिग्रहण किया जायेगा, तू उनके साथ सांसारिक सुख भोगने के पश्चात् वृद्धावस्था में भले ही प्रव्रज्या ग्रहण कर लेना।' जिनका विवाह हो चुका हो उन्हें कहा जाता–'अभी तुम्हारी सन्तान नहीं है। पुत्र होने के पश्चात् दीक्षा लेना।' दीक्षार्थी की पत्नियाँ उसे हाव-भाव और कटाक्ष से अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करतीं–'नाथ ! क्यों हमें छोड़कर साधु बनने जा रहे हो?' माता-पिता भी उसे अपना एकमात्र आधार स्तम्भ के रूप में कहकर उसे रोकने का प्रयास करते, कई बार तो मोहमुग्ध बने हुए माता-पिता दीक्षा की बात सुनते ही मूर्च्छित भी हो जाते हैं। आँखों से आँसू बहाते हुए उसके वैराग्य के रंग को धुलाने का प्रयत्न करते। कई बार माता-पिता या भाई जो राज्यारूढ़ होता वह दीक्षा लेने वाले को राज्य-सिंहासन पर बिठाकर उसे कहता–'तू राजा है, हम तेरी प्रजा हैं।' वे देखते कि सत्ता को प्राप्त करके भी इसका वैराग्य रहता है या नहीं?

इस तरह अभिभावकगण अनुकूल व प्रतिकूल दोनों ही प्रकार की बात बताकर वैराग्य का परीक्षण करते और उसके पश्चात् जब उन्हें यह विश्वास हो जाता कि वस्तुतः इसके वैराग्य का रंग अत्यधिक गहरा है तभी वे दीक्षा की अनुमति देते।

यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि अभिभावकगण दीक्षार्थी का परीक्षण अवश्य करते थे, किन्तु कोई भी अभिभावक यह नहीं कहता कि दीक्षा लेना अनुचित है। उनके मुँह से 'संयम बुरा है' ऐसा नहीं निकलता। वे संयम को अच्छा मानते थे और उसकी महत्ता को भी वे हृदय से स्वीकार करते थे।

अयोग्य दीक्षा का निषेध

दीक्षा ग्रहण का जहाँ विधान है वहाँ अयोग्य दीक्षा का निषेध भी स्पष्ट शब्दों में किया गया है। अयोग्य चाहे बालक हो, युवक हो या वृद्ध हो। उनमें से किसी को भी दीक्षा नहीं देना चाहिए। स्थानांग[1], निशीथभाष्य[2] आदि ग्रन्थों में कहा है–जो बाल, वृद्ध, जड़, व्याधिग्रस्त, स्तेन, राजापकारी, उन्मत्त, अंधा, दास, दुष्ट प्रकृति का व्यक्ति, मूढ़, ऋणपीड़ित, जात्यंगहीन, अवबद्ध (सेवक), शैक्षनिस्फेटित

१. स्थानांग ३, ४, २०१

२. (क) निशीथभाष्य ११-३५०६/३५०७
(ख) तुलना कीजिए–महावग्ग १-३१-८८, पृ. ७६ उपसंपदा और प्रव्रज्या के नियम

(अपहृत किया हुआ), गर्भवती और बालवत्सा (छोटा बालक वाली), पंडक (नपुंसक), क्लीव आदि दीक्षा के अयोग्य हैं।

निशीथभाष्य[1] में लिखा है अत्यन्त लघु और अयोग्य बालकों को दीक्षा देने से जन-मानस में यह भ्रम हो सकता है कि यह बालक इन्हीं के पुत्र होंगे। एक ओर यह श्रमण ब्रह्मचर्यव्रत की बात करते हैं, दूसरी ओर इनकी यह सन्तान है। अयोग्य बालक को जहाँ कहीं खुला छोड़ दिया जाय तो वह षट्काय जीवों की विराधना करता है। जैसे–एक लोहे का गोला अग्नि में डाल दिया गया है, वह जिधर घूमता है उधर अग्नि उसे जलाती है, वैसे ही अयोग्य बाल श्रमण को जहाँ भी छोड़ देंगे वहाँ षट्काय जीवों की वह विराधना ही करेगा। अयोग्य बालक जिसे श्रमणधर्म की मर्यादा का परिज्ञान नहीं है, वह रात्रि में भी 'मुझे भूख लगी है, इस प्रकार रुदन कर सकता है। उसको देखकर लोग यह समझ सकते हैं कि बेचारे बालक को संयम के कारागृह में डाल दिया है। इससे श्रमणों का अपयश भी हो सकता है। ऐसे बालकों के कारण विहार यात्रा में भी कष्ट हो सकता है।

भाष्यकार[2] ने यह भी बताया है–अत्यन्त लघु बालक को भी परिस्थिति के कारण दीक्षा दी जा सकती है। जैसे–किसी व्यक्ति का सम्पूर्ण परिवार दीक्षा ग्रहण कर रहा हो, किसी परिवार में महामारी के कारण अन्य सभी परिजन दिवंगत हो गये हों और केवल एक बालक ही अवशेष हो, कोई अनाथ बालक किसी सम्यक्त्वधारी श्रावक के संरक्षण में हो, किसी दुष्ट कामातुर व्यक्ति द्वारा सती-साध्वी का शील नष्ट होने से वह बालक उत्पन्न हुआ हो, किसी योग्य बालक को दीक्षा देने से कुल, गण, संघ और धर्म का अभ्युदय हो सकता हो, तो लघु बालकों को भी आचार्य दीक्षा दे सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भाष्यकार ने बाल-दीक्षा का निषेध नहीं किया है किन्तु अयोग्य बाल-दीक्षा का निषेध किया है। इसी तरह वृद्ध-दीक्षा के सम्बन्ध में भी लिखा है कि जिसका शरीर क्षीण हो चुका हो, जो साधना को सम्यक् रूप से पालन नहीं कर सकता हो ऐसे वृद्धों को भी दीक्षा नहीं देनी चाहिए।

बुभुक्षु नहीं, मुमुक्षु

दीक्षा के लिए वस्तुतः बुभुक्षु व्यक्ति नहीं किन्तु मुमुक्षु व्यक्ति चाहिए, जिसका तन भी स्वस्थ हो और मन भी। चंचल चित्त की एकाग्रता को साधने की विधि का

---

१. (क) निशीथभाष्य ११-३५३१/३५३२
   (ख) तुलना कीजिए–महावग्ग १-४१-९९, पृ. ८०-८१
२. निशीथभाष्य ११-३५३७/३७३९

नाम दीक्षा है। दीक्षा दृष्टिबिन्दु बदलने का साधन है। उसमें जीवन जीने की पद्धति परिवर्तित होती है। चित्त की जो धारा भोग की ओर प्रवाहित होती है, वह त्याग की ओर प्रवाहित होने लगती है।

दीक्षा : पलायन नहीं, प्रगति

कितने ही व्यक्तियों की धारणा है कि दीक्षा जीवन से, कर्त्तव्य से पलायन है। पर दीक्षा पलायन नहीं, प्रगति है। वह धर्माचरण तथा व्रतारोहण की साधना है। इसमें जीवन की चुनौतियों से साधक भागता नहीं किन्तु साहसपूर्वक जूझता है। कल्पना कीजिए, आप सड़क पर जा रहे हैं। सामने से फौजी ट्रक एक के बाद एक आ रहे हैं। क्या आप उस समय सीधे चलते रहेंगे? या पथ को छोड़कर इधर-उधर होंगे? उस स्थिति में उस पथ को छोड़ना भगोड़ापन हरगिज नहीं है।

जब व्यक्ति को यह अनुभव होता है कि संसार में केवल दुःख है, दुःख की ज्वालाएँ चारों ओर सुलग रही हैं तो उस समय वह व्यक्ति संसार के रास्ते से मुड़कर जीवन के अखण्ड आनन्द को प्राप्त करने के लिए, आध्यात्मिक रास्ते पर आता है। उदाहरणार्थ कोई व्यक्ति भोजन करने बैठा है, षट् रस व्यंजनों से भरा थाल उसके सामने रखा है, वह मुँह में ग्रास रखने वाला ही है, उसी समय उसके मित्र ने उसे बताया कि इस भोजन में जहर है। यदि तुमने इसका सेवन किया तो जीवन से हाथ धो बैठोगे तो वह उसी समय भोजन छोड़ देता है। वैसे ही संसार को-विषय वासना को जहर समझकर जिन साधकों ने छोड़ा है वे पलायनवादी नहीं हैं अपितु प्रगतिवादी हैं, सत्य की अन्वेषणा के लिए नूतन पथ ग्रहण करने वाले हैं।

दीक्षा : आत्मा की खोज

भौतिक जगत् में वैज्ञानिकों की साधना दूसरों की साधना के लिए आधार बनती है। एक वैज्ञानिक पूर्व वैज्ञानिक की खोज को आगे बढ़ाता है। पर अन्तर्जगत् की खोज में इस प्रकार नहीं होता। अनुभूति साधक की स्वयं की होती है। दूसरे की अनुभूति केवल जड़ शब्द हैं जो सत्य-तथ्य का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं करा पाते। गुड़ में मिठास है उस मिठास का अनुभव जबान पर रखने पर होता है। चाहे दूसरा व्यक्ति कितना भी उसका विश्लेषण करे, पर मिठास का वैसा अनुभव नहीं हो सकता। अतः साधक को स्वयं ही अपनी खोज करनी है। दूसरे की नकल से आध्यात्मिक क्षेत्र में सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। यही कारण है-परमाणु की खोज की अपेक्षा आत्मा की खोज कहीं अधिक कठिन है, कठिनतर है; और उस खोज के लिए जो अन्तर्यात्रा है, वह दीक्षा है।

●●

३. श्रमणों के विविध कल्प : विविध दृष्टियाँ

कल्प की परिभाषा

कल्प का अर्थ है–नीति, आचार मर्यादा, विधि अथवा सामाचारी। उमास्वाति कहते हैं–'जो कार्य ज्ञान, शील, तप का उपग्रह करता है और दोषों का निग्रह करता है वह निश्चयदृष्टि से कल्प और शेष अकल्प है।[१] कल्पसूत्र की टीका के अनुसार श्रमणों का आचार कल्प है।[२] कल्प के आगम, भाष्य, निर्युक्ति और चूर्णि साहित्य में अनेक भेद-प्रभेद निरूपित हैं। उन सभी की यहाँ चर्चा न कर केवल दस कल्पों पर ही विचार किया जा रहा है। वे दस कल्प इस प्रकार हैं–

(१) आचेलक्य, (२) औद्देशिक, (३) शय्यातर पिण्ड, (४) राजपिण्ड, (५) कृतिकर्म, (६) व्रत, (७) ज्येष्ठ, (८) प्रतिक्रमण, (९) मासकल्प, (१०) पर्युषणाकल्प[३]।

आचेलक्य

'चेल' शब्द का अर्थ वस्त्र है और न चेल अथवा चेल का अभाव अचेल है। 'अ' शब्द का एक अर्थ अल्प भी है[४]; जैसे–अनुदरा कन्या। आचारांग के टीकाकार ने ईषत् (अल्प) अर्थ में नञ् समास मानकर अचेल का अर्थ अल्पवस्त्र किया है।[५] उत्तराध्ययन[६] और कल्पसूत्र[७] की टीकाओं में भी यही अर्थ प्राप्त होता है।

---

१. प्रशमरतिप्रकरण १४३

२. पर्युषणकल्पसूत्रम्–केशर मुनि

३. (क) आवश्यकनिर्युक्ति मलयगिरि वृत्ति १२१ (ख) निशीथभाष्य, गाथा ५९३३, भाग ४
(ग) बृहत्कल्पभाष्य, गाथा ६३-६४ (घ) भगवती आराधना, गाथा ४२७
(ङ) कल्पसूत्र-कल्पलता, गाथा १, पृ. २

४. आप्टे : *संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी*, भाग १, पृ. १

५. अचेलः–अल्पचेलः। —*आचारांग टीका*, पत्र २२१-२

६. उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ३५९/१

७. (क) कल्पसूत्र-सुबोधिका टीका, पृ. ३–विन.
(ख) कल्पसूत्र-कल्पलता, पृ. २/१
(ग) कल्पद्रुमकलिका १, पृ. २/१

श्रमण संस्कृति के श्रमणों के दो कल्प हैं–(१) जिनकल्प और (२) स्थविरकल्प। निर्युक्ति और भाष्य के अनुसार जिनकल्पी श्रमण वह होता है जो वज्र-ऋषभनाराच-संहनन वाला हो, तथा कम से कम नव पूर्व की तृतीय आचारवस्तु का पाठी हो और अधिक से अधिक कुछ कम दस पूर्व तक श्रुतपाठी हो।[1] जिनकल्पी श्रमण भी पहले स्थविरकल्पी ही होता है। स्थविरकल्पिक श्रमण ही जिनकल्प को स्वीकारता है।

जिनकल्पिक श्रमण 'नग्न', निष्प्रतिकर्म और विविध अभिग्रहधारी होते हैं। उनके दो प्रकार हैं–

(१) पाणिपात्र–हाथ में भोजन करने वाले।

(२) पात्रधारी–पात्र में भोजन करने वाले।[2]

पाणिपात्र जिनकल्पिक श्रमण भी उपधि की दृष्टि से चार प्रकार के होते हैं–(१) कितने ही श्रमण मुखवस्त्रिका और रजोहरण ये दो उपधि रखते हैं। (२) कितने ही श्रमण मुखवस्त्रिका, रजोहरण और एक चद्दर रखते हैं। (३) कितने ही मुखवस्त्रिका, रजोहरण और दो चद्दर रखते हैं। (४) कितने ही मुखवस्त्रिका, रजोहरण तथा तीन चद्दर रखते हैं।

पात्रधारी जिनकल्पिक श्रमण भी उक्त दो, तीन, चार और पाँच उपकरणों के अतिरिक्त सात प्रकार के पात्रनिर्योग रखने से क्रमशः नौ, दस, ग्यारह और बारह प्रकार की उपाधि से उनके भी चार भेद होते हैं। इस प्रकार जिनकल्पिक श्रमणों के मुख्य दो और उत्तर भेद आठ होते हैं।[3]

आगमानुसार स्थविरकल्पिक श्रमण के भी उपधि की दृष्टि से अनेक भेद किये जा सकते हैं। कितने ही श्रमण तीन वस्त्र और एक पात्र रखते हैं, कितने ही श्रमण दो पात्र और एक वस्त्र रखते हैं और कितने ही श्रमण एक पात्र और एक वस्त्र रखते हैं।

उपर्युक्त चर्चा का सार यह है कि श्रमण जिनकल्पिक हो या स्थविरकल्पिक, वे कम से कम मुखवस्त्रिका और रजोहरण ये दो उपकरण तो रखते ही हैं। अतः यहाँ पर आचेलक्यकल्प का अर्थ वस्त्रों का सर्वथा अभाव नहीं किन्तु अल्प मूल्य वाले प्रमाणोपेत जीर्ण-शीर्ण वस्त्र धारण करना है।

---

१. विशेषावश्यकभाष्य भाषान्तर, भाग १, पृ. १२ (आगमोदय समिति आ. १)

२. निशीथभाष्य, गा. १३९०, भाग २, पृ. १८८

३. (क) वही, गा. १३९१-१३९२

(ख) निशीथसूत्र सभाष्यचूर्णि, द्वि. उ., द्वि. भा., पृ. १८८-१८९

'कल्पसमर्थन' में कहा है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर का धर्म अचेलक है और मध्य के बावीस तीर्थंकरों का सचेलक और अचेलक दोनों प्रकार का है।[1] इसका अर्थ यह है कि भगवान ऋषभदेव और महावीर के श्रमणों के लिए यह विधान है कि वे श्वेत और प्रमाणोपेत वस्त्र रखें पर बावीस तीर्थंकरों के श्रमणों के लिए प्रस्तुत विधान नहीं है।[2] वे अतीव विवेकनिष्ठ और जागरूक साधक थे, अतः चमचमाते रंग-बिरंगे अधिक वस्त्र भी रख सकते थे किन्तु उन बढ़िया वस्त्रों के प्रति उनमें आसक्ति नहीं होती थी।

उत्तराध्ययनसूत्र में भगवान पार्श्वनाथ के श्रमण केशीकुमार और भगवान महावीर के प्रधान अन्तेवासी गणधर गौतम का तात्त्विक संवाद है। केशीकुमार श्रमण ने गौतम से जिज्ञासा प्रस्तुत की कि भगवान महावीर का धर्म अचेलक है और पार्श्वनाथ का सचेलक है, क्या इस लिंगभेद को देखकर आपके मानस में शंका नहीं होती।[3] समाधान करते हुए गौतम ने कहा–विज्ञवर ! विज्ञान से जानकर ही धर्मसाधनों की आज्ञा प्रदान की गई है। लोक में प्रतीति के लिए ही वस्त्रादि उपकरणों की आवश्यकता है। वस्तुतः दोनों तीर्थंकरों की प्रतिज्ञा, मोक्ष के सद्भूत साधन ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप ही है। उसमें कोई अन्तर नहीं है।[4]

आगमानुसार सभी तीर्थंकर देवदूष्य वस्त्र के साथ प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं। कुछ समय तक वे देवदूष्य वस्त्र को रखते हैं।[5] भगवान महावीर ने भी एक वर्ष तक देवदूष्य वस्त्र को रखा था। उसके बाद वे पूर्ण अचेलक बने थे।[6]

बावीस परीषहों में छठा परीषह अचेल है।[7] उसका भी अर्थ है–वस्त्रों के जीर्ण होने पर श्रमण चिन्ता न करे कि मैं वस्त्ररहित हो जाऊँगा अथवा यह भी विचार न करे कि अच्छा हुआ वस्त्र जीर्ण हो गये हैं, अब मैं नये वस्त्रों से सचेलक हो जाऊँगा। सचेल और अचेल दोनों ही अवस्था में श्रमण खिन्न न हो।[8]

---

१. कल्पसमर्थनम्, गा. ३, पृ. १
२. (क) कल्पसूत्र-कल्पलता, पृ. २/१ (ख) कल्पार्थबोधिनी, पृ. १
३. उत्तराध्ययन २३/२९-३०
४. वही २३/३१-३३
५. (क) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति (ख) कल्पसूत्र
(ग) विशेषावश्यकभाष्य, गा. १५८६ (घ) सव्वेवि एगदूसेण निग्गया
(ङ) सत्तरिय स्थानक (च) त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र
६. आचारांग १/९/१
७. (क) भगवती सूत्र, शतक ८, उद्देशक ८, पृ. १६१
(ख) उत्तराध्ययन, अ. २ (ग) समवायांग २२
(घ) तत्त्वार्थसूत्र, अ. ९
८. (क) उत्तराध्ययन २/१२-१३ (ख) प्रवचनसारोद्धारवृत्ति, पत्र १९३

आचेलक्य कल्प का संक्षेप में अर्थ हुआ—अल्प, प्रमाणोपेत एवं श्वेत वस्त्र धारण करने की मर्यादा।

औद्देशिक

औद्देशिक कल्प का अर्थ है श्रमण को दान देने के उद्देश्य से, परिव्राजक, श्रमण, निर्ग्रन्थ आदि सभी को उद्देश्य कर निर्मित अशन-वसन-भवन आदि।[1] वह श्रमण के लिए अग्राह्य और असेव्य है।[2] प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के श्रमणों के लिए यह विधान है कि एक श्रमण को उद्देश्य करके निर्मित आहार आदि न उसे ग्रहण करना कल्पता है और न अन्य श्रमणों को ही ग्रहण करना कल्पता है; किन्तु बावीस तीर्थंकरों के समय जिस श्रमण को उद्देश्य कर आहार आदि निर्मित किया गया हो वह उसे ग्रहण करना नहीं कल्पता, पर अन्य श्रमणों के लिए वह ग्राह्य हो सकता है।[3]

दशवैकालिक[4], प्रश्नव्याकरण[5], सूत्रकृतांग[6], उत्तराध्ययन[7], आचारांग[8] और भगवती[9] आदि आगमों में अनेक स्थलों पर औद्देशिक आहार आदि ग्रहण करने का निषेध है, क्योंकि औद्देशिक आहार आदि ग्रहण करने से त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा का अनुमोदन होता है।[10]

शय्यातर पिण्ड

श्रमण को शय्या (वसति-उपाश्रय) देकर संसार-समुद्र को तैरने वाला गृहस्थ शय्यातर है।[11] अर्थात् वह गृहपति जिसके मकान में श्रमण ठहरे हुए हों।[12] निशीथभाष्य के अभिमतानुसार स्वयं गृहपति या उसके द्वारा निर्दिष्ट कोई भी अन्य

---

१. (क) दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि
(ख) दशवैकालिक-हारिभद्रीयावृत्ति ११६

२. दशवैकालिक, अ. ५, उ. १, गा. ५१-५२

३. (क) कल्पसमर्थनम्, गा. ४-५, पा. १
(ख) कल्पसूत्र-कल्पद्रुमकलिका
(ग) कल्पसूत्र-कल्पलता टीका, प. २/१
(घ) कल्पसूत्र-कल्पार्थबोधिनी

४. दशवैकालिक ५/१/४८, ४९, ५०, ५५, ५६; ८-२३

५. प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार १, ५

६. सूत्रकृतांग, प्रथम श्रुतस्कन्ध, अ. ९, गाथा १४

७. उत्तराध्ययन २०/४७

८. आचारांग, अ. २, उद्दे. ६

९. भगवती, शतक १, उद्दे. ९

१०. दशवैकालिक १/४८

११. निशीथभाष्य, पृ. १३१

१२. (क) दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि
(ख) दशवैकालिक जिनदास चूर्णि, पृ. ११३
(ग) दशवैकालिक हारिभद्रीया वृत्ति ११७

व्यक्ति शय्यातर होता है।[१] शय्यातर कब होता है? इस पर आचार्यों के विभिन्न मत हैं।[२] निशीथभाष्य और चूर्णि में उन सभी मतों का निर्देश किया गया है तथा भाष्यकार ने अपना स्पष्ट मत इस प्रकार दिया है–"श्रमण जिस स्थान में रात्रि को रहे, सोए और चरमावश्यक कार्य करे उस स्थान का अधिपति शय्यातर होता है।[३]

शय्यातर के अशन, पान, खाद्य, वस्त्र, पात्र आदि अग्राह्य हैं और तृण, राख, पाट, बाजोट आदि ग्राह्य हैं।[४] सूत्रकृतांग में शय्यातर के स्थान में 'सागारिय पिण्ड'[५] लिखा है। पर उसका अर्थ भी टीकाकार ने शय्यातर पिण्ड किया है।[६]

राजपिण्ड

मूर्धाभिषिक्त अर्थात् जिसका राज्याभिषेक हुआ हो वह राजा कहलाता है, उसका भोजन राजपिण्ड है।[७] जिनदासगणी महत्तर के अभिमतानुसार सेनापति, अमात्य, पुरोहित, श्रेष्ठी और सार्थवाह सहित जो राजा राज्य का उपभोग करता है, उसका पिण्ड ग्रहण नहीं करना चाहिये। अन्य राजाओं के लिए नियम नहीं है। यदि दोष की संभावना है तो ग्रहण नहीं करना चाहिए और निर्दोष है तो ग्रहण किया जा सकता है।[८]

राजपिण्ड का तात्पर्य राजकीय भोजन है, राजकीय भोजन सरस, मधुर व मादक होता है जिसके सेवन से रसलोलुपता बढ़ने की संभावना रहती है। ऐसा सरस आहार सर्वत्र सुलभ नहीं होता। अतः रसलोलुप बनकर मुनि कहीं अनेषणीय आहार ग्रहण न करे इसीलिए राजपिण्ड का निषेध किया है। एषणा शुद्धि ही प्रस्तुत विधान की आत्मा है।[९] यदि कोई इस विधान को विस्मृत करके राजपिण्ड

---

१. निशीथभाष्य, गा. ११४४
२. वही, गा. ११४६-११४७ चूर्णि
३. वही, गा. ११४८ चूर्णि
४. वही, गा. ११५१-११५४ चूर्णि
५. सूत्रकृतांग १/९/१६
६. वही १/९/१६, टीका प. १८१
७. (क) दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि
   (ख) दशवैकालिक जिनदास चूर्णि ११२-११३
   (ग) कल्पदर्शनम्, गा. ९, पृ. १
   (घ) कल्पसूत्र-कल्पलता ४, पृ. २ समयसुन्दर
   (ङ) कल्पार्थबोधिनी ४, पृ. २
८. निशीथभाष्य, गा. २४८७ चूर्णि
९. (क) दशवैकालिक जिनदास चूर्णि, पृ. ११२-११३
   (ख) दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि

को ग्रहण करता है या राजपिण्ड का उपयोग करता है तो श्रमण को चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।[1] राजपिण्ड के निषेध के पीछे अन्य तथ्य भी हैं[2] जिनका उल्लेख निशीथभाष्य और चूर्णि में किया गया है। राजभवन में प्रायः सेनापति आदि का आवागमन रहता है। कभी शीघ्रता आदि के कारण श्रमण के चोट लगने की और पात्रादि फूटने की भी संभावना रहती है।[3] वे अपशकुन भी समझ सकते हैं अतः राजपिण्ड को अनाचीर्ण माना है।[4]

भगवान महावीर और ऋषभदेव के श्रमणों के लिए ही राजपिण्ड का निषेध है पर बावीस तीर्थंकरों के श्रमणों के लिए नहीं।[5] राजपिण्ड में चार प्रकार के आहार, वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण–वे आठ वस्तुएँ परिगणित की गई हैं और आठों ही अग्राह्य मानी हैं।[6]

कृतिकर्म

कृतिकर्म का अर्थ है अपने से संयमादि में ज्येष्ठ व सद्गुणों में श्रेष्ठ श्रमणों का खड़े होकर हृदय से स्वागत करना, उन्हें बहुमान देना। उनकी हित शिक्षाओं को श्रद्धा से नतमस्तक होकर स्वीकार करना।[7]

चौबीस ही तीर्थंकरों के श्रमण अपने से चारित्र में ज्येष्ठ श्रमणों का वन्दन–नमस्कार करते हैं। यह कल्प सार्वकालिक है।[8]

व्रत

व्रत का अर्थ विरति है।[9] विरति असत् प्रवृत्ति की होती है। अकरण, निवृत्ति, उपरम और विरति ये एकार्थक शब्द हैं।[10]

व्रत शब्द का प्रयोग निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों ही अर्थों में होता है। जैसे– "**वृषलान्नं व्रतयति**" अर्थात् वह शूद्र के अन्न का परिहार करता है। "**पयो व्रतयति**" अर्थात् पय पीता है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं खाता। इसी

---

१. निशीथभाष्य ९/१/२
२. (क) कल्पार्थबोधिनी, कल्प ४, पृ. २
   (ख) कल्पसमर्थनम् १०/१
३. निशीथभाष्य, गा. २५०३-२५१०
४. दशवैकालिक ३/३
५. (क) कल्पलता टीका
   (ख) कल्पद्रुमकलिका, पृ. २
६. कल्पसमर्थनम्, गा. ११, प. २
७. (क) निशीथचूर्णि, द्वि. भा., पृ. १८७-१८८
   (ख) कल्पसमर्थनम्, गा. १२, प. २
   (ग) कल्पसूत्र-कल्पलता, प. २
   (घ) कल्पद्रुमकलिका टीका, पा. २
   (ङ) कल्पार्थबोधिनी टीका
८. कल्पसमर्थनम्, गा. १३
९. तत्त्वार्थसूत्र ७/१
१०. तत्त्वार्थसूत्र ७/१ भाष्य

तरह असत् प्रवृत्ति का परिहार और सत् में प्रवृत्ति इन दोनों अर्थों में व्रत शब्द का प्रयोग हुआ है।[1]

भगवान महावीर और ऋषभदेव के श्रमण पाँच महाव्रत रूप धर्म का पालन करते हैं और अन्य बावीस तीर्थंकरों के श्रमण चार यामों का। इसका क्या रहस्य है? यह प्रश्न भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा के अन्तिम प्रतिनिधि केशीकुमार श्रमण के मन को कचोट रहा था। उन्होंने गौतम गणधर से पूछा।[2] गौतम ने समाधान करते हुए कहा–विज्ञवर ! प्रथम तीर्थंकर के श्रमण ऋजु-जड़ होते हैं और अन्तिम तीर्थंकर के श्रमण वक्र-जड़ होते हैं तथा मध्य के तीर्थंकरों के श्रमण ऋजु-प्राज्ञ होते हैं। प्रथम तीर्थंकर के मुनि कठिनता से समझते हैं और अन्तिम तीर्थंकर के शिष्यों को धर्मपालन करना कठिन होता है किन्तु मध्यवर्ती श्रमणों के लिए समझना और पालना सुलभ होता है।[3]

चातुर्याम और पंचयाम का जो भेद वह बहिर्दृष्टि से है न कि अन्तर्दृष्टि से। मध्यवर्ती श्रमण परिग्रह त्याग में ही चतुर्थ व्रत का समावेश कर लेते थे। कंचन और कान्ता दोनों का वे अन्योन्याश्रय सम्बन्ध मानते थे।[4] कुछ आधुनिक चिन्तकों ने लिखा है कि वे कान्तायुक्त थे, पर उनकी यह कल्पना अनागमिक और भ्रान्त है।

ज्येष्ठ

जैन धर्म गुणप्रधान होने पर भी पुरुषज्येष्ठ है। शत वर्ष दीक्षिता साध्वी भी अद्यदीक्षित श्रमण को भक्ति-भावना से नमन करती है।[5]

ज्येष्ठ कल्प का दूसरा अर्थ है–बावीस तीर्थंकरों के समय श्रमणों के सामायिक चारित्र ही होता है पर प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के समय श्रमणों के सामायिक चारित्र के साथ ही छेदोपस्थापनिक चारित्र भी होता है। उसके आधार से ही श्रमण ज्येष्ठ या कनिष्ठ होता है। आज के युग में सामायिक चारित्र के ग्रहण को लघु दीक्षा और छेदोपस्थापनिक चारित्र के ग्रहण को बड़ी दीक्षा कहते हैं।[6]

ज्येष्ठ कल्प का तीसरा अर्थ है–पिता, पुत्र, राजा, मन्त्री, सेठ, मुनीम, माता, पुत्र आदि एक ही साथ प्रव्रज्या ग्रहण करें या पुत्र, पिता, राजा, सेठ, माता आदि ने प्रथम सामायिक चारित्र आदि ग्रहण कर लिया है और फिर पिता आदि के

१. तत्त्वार्थसूत्र ७/१, भाष्य की टीका
२. उत्तराध्ययन २३/२३-२४
३. वही २३/२५-२७
४. कल्पसमर्थनम्, गा. १४-१५, प. २
५. कल्पलता टीका में उद्धृत
६. (क) कल्पसमर्थनम्, गा. १७, प. २
   (ख) कल्पद्रुमकलिका टीका, प. २-३

अन्तर्मानस में प्रव्रज्या लेने की भावना उद्‌बुद्ध होती है तो चार, छह माह तक उसे छेदोपस्थापनिक चारित्र न दे। प्रथम पिता आदि को चारित्र देकर ज्येष्ठ बनावें।[1]

प्रतिक्रमण

प्रतिक्रमण जैन धर्म की साधना का आवश्यक अंग है। प्रतिक्रमण का अर्थ है– प्रमादवश शुभ योग से च्युत होकर अशुभ योग को प्राप्त करने के पश्चात् पुनः शुभ योग को प्राप्त करना।[2] मन, वचन और तन से कृत, कारित और अनुमोदित पापों की निवृत्ति के लिए आलोचना करना, पश्चाताप करना, निन्दा करना, अशुद्धता का त्याग कर शुद्धता प्राप्त करना। हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह रूप जिन पापकर्मों का निर्ग्रन्थ श्रमणों के लिए निषेध किया गया है। उनका यदि सेवन हो गया तो प्रतिक्रमण करना चाहिए। जिन शुभ कृत्यों का आचरण करना श्रमण के लिए आवश्यक है यदि उनका आचरण न किया गया हो तो भी प्रतिक्रमण करना चाहिए। बावीस तीर्थंकरों के समय के साधक अतीव विवेकनिष्ठ एवं जागरूक थे, अतः वे दोष लगने पर ही प्रतिक्रमण करते थे।[3]

कुछ आचार्यों का अभिमत है कि दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक इन पाँच प्रतिक्रमणों में से बावीस तीर्थंकरों के समय दैवसिक और रात्रिक ये दो ही प्रतिक्रमण होते हैं,[4] शेष नहीं। जिनदासगणी महत्तर ने स्पष्ट कहा है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के समय नियमित रूप से उभयकालिक प्रतिक्रमण करने का विधान है और साथ ही दोषकाल में भी ईर्यापथ आदि के रूप में तत्काल प्रतिक्रमण का विधान है। बावीस तीर्थंकरों के शासनकाल में दोष लगते ही शुद्धि कर ली जाती थी, उभयकाल नियमेन प्रतिक्रमण का विधान नहीं था।[5]

मासकल्प

श्रमण एक स्थान पर स्थिर होकर न रहे।[6] भारण्डपक्षी की तरह अप्रमत्त होकर ग्रामानुग्राम विहार करे।[7] विहार की दृष्टि से काल को दो भागों में विभक्त किया गया है[8]–(१) वर्षाकाल और (२) ऋतुबद्धकाल। वर्षाकाल में श्रमण चार

---

१. कल्पसूत्र-कल्पार्थबोधिनी टीका, पा. २
२. 'आवश्यक : एक जीवन दृष्टि' निबन्ध का टिप्पण देखिये।
३. आवश्यकनिर्युक्ति, गा. १२४४
४. सप्ततिस्थानक
५. आवश्यकचूर्णि, जिनदास
६. बृहत्कल्पभाष्य, का. १/३६
७. उत्तराध्ययन, अ. ४, गा. ६
८. दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि

माह तक एक स्थान पर स्थिर रह सकता है और ऋतुबद्धकाल में एक माह तक। वर्षाकाल का समय एक स्थान पर स्थिर रहने का उत्कृष्ट समय है। अतः उसे संवत्सर कहा है।[1] बृहत्कल्पभाष्य में वर्षावास का परम प्रमाण चार माह बताया है[2] और शेष काल का परम प्रमाण एक माह।[3] जिस स्थान पर श्रमण उत्कृष्ट काल रह चुका हो, अर्थात् जिस स्थान पर वर्षा ऋतु में वर्षावास किया हो उस स्थान में दो चातुर्मास अन्यत्र किये बिना चातुर्मास न करे और जिस स्थान पर मासकल्प किया हो उस स्थान पर दो मास अन्यत्र बिताये बिना न रहे। यद्यपि गाथा में तृतीय बार का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, किन्तु स्थविर अगस्त्यसिंह के अभिमतानुसार चकार के द्वारा वह प्रतिपादित है।[4]

भगवान ऋषभदेव और महावीर के श्रमणों के लिए ही मासकल्प का विधान है, शेष बावीस तीर्थंकरों के श्रमणों के लिए नहीं। वे चाहें तो दीर्घकाल तक भी एक स्थान पर रह सकते हैं और चाहें तो शीघ्र ही एक स्थान से दूसरे स्थान को प्रस्थान कर सकते हैं।

पर्युषणाकल्प

'परि' उपसर्गपूर्वक 'वस्' धातु से 'अन्' प्रत्यय लगाकर 'पर्युषण' शब्द बना है जिसका अर्थ है 'आत्मा के समीप रहना।' परभाव से हटकर स्वभाव में रमण करना; आत्ममज्जन, आत्मरमण या आत्मस्थ होना। यह पुनीत पर्व आषाढ़ी पूर्णिमा से उनचास और पचासवें दिन मनाया जाता है,[5] जिसे 'संवत्सरी महापर्व' कहते हैं।

पर्युषणाकल्प का दूसरा अर्थ है–एक स्थान पर निवास करना। वह आलम्बन और निरावलंबन रूप से दो प्रकार का है। सालंबन का अर्थ है–सकारण और निरावलंबन का अर्थ है–बिना कारण। निरावलंबन के भी जघन्य और उत्कृष्ट–ये दो भेद हैं।[6]

पर्युषणा के पर्यायवाची शब्द इस प्रकार बताये गये हैं–(१) परियाय ववत्थवणा, (२) पज्जोसमणा, (३) पागइया, (४) परिवसना, (५) पज्जुसणा, (६) पढमसमोसरण, (७) ठवणा, और (८) जेट्ठोग्गह।[7]

---

१. बृहत्कल्पभाष्य १/३६
२. वही १/६/७/८
३. दशवैकालिक, द्वितीय चूलिका, गा. ११
४. दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि
५. (क) कल्पसमर्थनम्, गा. १९, प. २
   (ख) कल्पसूत्र-कल्पलता टीका
   (ग) कल्पद्रुमकलिका, प. ३/२
६. (क) समवायांग, ७वाँ समवाय
   (ख) कल्पसूत्र २२४, पृ. ६९, पुण्य.
७. (क) कल्पसूत्र-कल्पार्थबोधिनी, टी. ३/१
   (ख) कल्पसूत्र सुबोधिका टीका

यद्यपि यह सब नाम एकार्थक हैं तथापि व्युत्पत्तिभेद के आधार पर उनमें किंचित् अर्थभेद भी है।[1] पर्युषणा के वर्षों की गणना के आधार से दीक्षापर्याय की ज्येष्ठता-कनिष्ठता गिनी जाती है, अतएव पर्युषणा दीक्षापर्याय की व्यवस्था का कारण है।[2] वर्षावास में भिन्न प्रकार के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सम्बन्धी पर्यायों का आचरण किया जाता है। इस कारण इसका दूसरा नाम 'पज्जोसमणा' है। गृहस्थ आदि सभी के लिए समान होने से यह कल्प 'पागइया' कहलाता है।[3] इस कल्प में एक स्थान पर चार मास तक निवास किया जाता है, अतएव यह वासवास–वर्षावास कहा गया है।[4] कोई विशेष कारण न हो तो प्राकृट् में ही चातुर्मास व्यतीत करने योग्य क्षेत्र में प्रवेश किया जाता है, अतएव उसे 'पढमसमोसरण' कहते हैं।[5] ऋतुबद्धकाल की अपेक्षा इसकी मर्यादाएँ भिन्न होती हैं अतएव यह 'ठवणा' है।[6] ऋतुबद्धकाल में एक-एक मास का क्षेत्रावग्रह होता है किन्तु वर्षाकाल में चार मास का अतएव इसे 'जेट्ठोग्गह–ज्येष्ठावग्रह'[7] कहते हैं।

अगर साधु आषाढ़ी पूर्णिमा तक नियत स्थान पर आ पहुँचा हो और वर्षावास की जाहिरात कर दी हो तो श्रावण कृष्णा पंचमी से ही वर्षावास आरम्भ हो जाता है। उपयुक्त क्षेत्र न मिलने पर श्रावण कृष्णा दशमी को फिर भी योग्य क्षेत्र की प्राप्ति न हो तो श्रावण मास की पंचदशमी (अमावस्या) को वर्षावास आरम्भ करना चाहिए।

इतने पर भी सुयोग्य क्षेत्र न मिले तो पाँच-पाँच दिन बढ़ाते हुए अन्ततः भाद्रपद शुक्ला पंचमी तक तो आरम्भ कर देना अनिवार्य माना गया है। इस समय तक भी उपयुक्त क्षेत्र प्राप्त न हुआ हो तो अन्ततः वृक्ष के नीचे ही पर्युषणाकल्प करना चाहिए। पर इस तिथि का किसी भी स्थिति में उल्लंघन नहीं करना चाहिए।[8]

---

१. (क) निशीथसूत्र सभाष्य चूर्णि, तृतीय भा., पृ. १२५-१२६
   (ख) कल्पसूत्रनिर्युक्ति, गा. १/२
२. (क) निशीथसूत्र सभाष्य चूर्णि ३/१२५
   (ख) कल्पसूत्रनिर्युक्ति एवं चूर्णि १/२९८५
३. (क) निशीथसूत्र सभाष्य चूर्णि ३/१२५-१२६
   (ख) कल्पसूत्रनिर्युक्ति एवं चूर्णि १/२६/८५
४. (क) निशीथसूत्र सभाष्य चूर्णि ३/१२५
   (ख) कल्पसूत्रनिर्युक्ति ८५
५. (क) निशीथसूत्र सभाष्य चूर्णि ३/१२५-१२६
   (ख) कल्पसूत्रनिर्युक्ति, पृ. ८५
   (ग) निशीथसूत्र सभाष्य चूर्णि ३/१२६
   (घ) कल्पसूत्रचूर्णि, पृ. ८५
६. निशीथसूत्र सभाष्य चूर्णि ३/१२६
७. (क) निशीथसूत्र सभाष्य चूर्णि ३/१२६
   (ख) कल्पसूत्र चूर्णि, पृ. ८५
८. (क) कल्पसूत्रनिर्युक्ति, गा. १६
   (ख) कल्पसूत्र चूर्णि, पृ. ८६

पंचमी, दशमी, पंचदशमी इन पर्वों में ही पर्युषणाकल्प करना चाहिए, अपर्व में नहीं। इस प्रकार का सामान्य विधान होने पर भी विशिष्ट कारण से आर्यकालक ने चतुर्थी तिथि में पर्युषणा की प्रवृत्ति की थी, मगर इसे सामान्य नियम नहीं समझना चाहिए।[1]

वर्षावास में भी विशेष कारण से श्रमण विहार कर सकता है। स्थानांग में पाँच कारणों का निर्देश किया गया है। वे कारण ये हैं–(१) ज्ञान के लिए, (२) दर्शन के लिए, (३) चारित्र के लिए, (४) आचार्य और उपाध्याय के काल करने पर, (५) आचार्य और उपाध्याय आदि के वैयावृत्य के लिए।[2]

भाष्य, चूर्णि और टीका साहित्य में कुछ अन्य भी कारण वर्षावास में विहार करने के बताये हैं–जैसे कि दुष्काल के कारण भिक्षा की उपलब्धि न होने से, राजप्रकोप होने से, रोग आदि उत्पन्न होने से, जीवोत्पत्ति का आधिक्य होने से आदि।[3]

वर्षावास समाप्त होने पर श्रमण को विहार करना चाहिए। किन्तु यदि वर्षा का आधिक्य हो, वर्षा से मार्ग दुर्गम व भग्न हो गये हों, कीचड़ अधिक हो, बीमारी आदि कोई कारण हो तो वह अधिक भी ठहर सकता है।[4]

वर्षावास के लिए भी वही क्षेत्र उत्तम माना जाता है जहाँ पर तेरह गुण हों। वे गुण इस प्रकार हैं–(१) जहाँ पर विशेष कीचड़ न हो, (२) अधिक जीवों की उत्पत्ति न हो, (३) शौचस्थल निर्दोष हो, (४) रहने का स्थान शांतिप्रद हो, (५) गोरस की अधिकता हो, (६) जन-समूह विशाल और भद्र हो, (७) सुज्ञ वैद्य हो, (८) औषध सुलभ हो, (९) गृहस्थ वर्ग धन-धान्यादि से समृद्ध हो, (१०) राजा धार्मिक हो, (११) श्रमण ब्राह्मण का अपमान न होता हो, (१२) भिक्षा सुलभ हो, और (१३) जहाँ पर स्वाध्याय-योग्य स्थान हो।[5]

---

१. कल्पसूत्र चूर्णि, पृ. ८६
२. स्थानांग सूत्र, ५वाँ स्थान
३. (क) सभाष्य निशीथचूर्णि, तृ. भा., पृ. १३२-१३३
   (ख) कल्पसमर्थनम्, गा. २४-२५, प. २
   (ग) कल्पसूत्र-कल्पलता, व्याख्यान १, प. २-३
४. (क) निशीथसूत्र सभाष्य चूर्णि, तृ. भा.
   (ख) कल्पसमर्थनम्, गा. २६, पृ. २
   (ग) कल्पसूत्र-कल्पलता, प. ३/१ –समयसुन्दर
५. (क) कल्पसमर्थनम्, गा. ३६, पृ. ३
   (ख) कल्पसूत्र-कल्पलता, पृ. ५
   (ग) कल्पसूत्र-कल्पद्रुमकलिका, पृ. ५

भगवान ऋषभदेव और महावीर के श्रमणों के लिए वर्षावास-पर्युषणा का अनिवार्य विधान है। शेष बावीस तीर्थंकरों के श्रमणों के लिए नहीं। वे वर्षा आदि के कारण ठहरते भी थे और कारणाभाव में विहार भी करते थे।[1]

इन दस कल्पों में (१) आचेलक्य, (२) औद्देशिक, (३) प्रतिक्रमण, (४) राजपिण्ड, (५) मासकल्प, (६) पर्युषणाकल्प–ये छह कल्प अस्थिर हैं।[2] इनके अतिरिक्त (१) शय्यातर पिण्ड, (२) व्रत, (३) पुरुषज्येष्ठ, और (४) कृतिकर्म–ये चार कल्प अवस्थित हैं और चौबीस ही तीर्थंकरों के शासन में होते हैं।[3]

जिज्ञासा हो सकती है कि सभी तीर्थंकर के श्रमणों का लक्ष्य मोक्ष है तो फिर प्रथम तथा अंतिम और बावीस तीर्थंकरों के श्रमणों के आचारकल्प में यह अन्तर क्यों है? अस्थिर और अवस्थितकल्प क्यों?

समाधान है–प्रथम तीर्थंकर के श्रमण जड़ और सरल होते थे। अजित आदि बावीस तीर्थंकरों के श्रमण विज्ञ और सरल होते थे। महावीर के श्रमण जड़ और वक्र होते हैं अतः मोक्षमार्ग एक होने पर भी आचारकल्प में अन्तर किया गया है।

पूर्वाचार्यों ने कल्प का महत्त्व प्रतिपादन करते हुए उसे तृतीय वैद्य की औषध के समान सभी के लिए हितावह बताया है।[4] कल्प एक ऐसी अनमोल रसायन है जो दोष लगने पर भी और दोषमुक्त अवस्था में भी ग्राह्य है। दोष लगा है तो शुद्धि हो जाती है और दोष नहीं है तो जागृति रहने से भूल की धूल नहीं लगती।

कल्प मानव को श्रेय की ओर ले जाने वाला आध्यात्मिक उपक्रम है। आत्मशुद्धि का अमोघ उपाय है। जीवन को निर्मल बनाने की एक कला है। इसके पालन से नये प्रकाश की आभा जगमगा सकती है और अंधकार विलीन हो सकता है।

●●

---

१. कल्पसमर्थनम्, गा. २८, प. २
२. (क) आवश्यकनिर्युक्ति मलयगिरि वृत्ति १२१
   (ख) कल्पसमर्थनम्, गा. २९, पृ. २
३. (क) आवश्यक मलयगिरि वृत्ति, प. १२१
   (ख) कल्पसमर्थनम्, गा. ३०, पृ. ३
   (ग) कल्पद्रुमकलिका, व्या. १, प. ३
४. कल्पसमर्थन, गा. ३१ से ३३, पृ. ३

४. श्रमणों की विविध भूमिकाएँ

श्रमण के सामान्य आचार के सम्बन्ध में पूर्व पृष्ठों में चिन्तन किया जा चुका है। प्रस्तुत अध्याय में हम श्रमण और श्रमणी के विशेष आचार पर चिन्तन कर रहे हैं। जैन वाङ्मय में विशेष प्रकार के श्रमणों के लिए विशेष विधान है। यों श्रमणों के विविध भेद हैं किन्तु यहाँ संक्षेप में सचेल-अचेल, स्थविरकल्प-जिनकल्प, सपात्र और करपात्र का वर्णन कर रहे हैं।

सचेल

जो वस्त्रधारी श्रमण हैं उन्हें 'सचेल' कहते हैं। सचेल श्रमण बहत्तर हाथ वस्त्र रख सकता है और साध्वियाँ छियानवे हाथ वस्त्र रख सकती हैं। आचारांग[1] में एक वस्त्रधारी, द्विवस्त्रधारी, त्रिवस्त्रधारी और चतुर्थ वस्त्रधारी निर्ग्रन्थों का वर्णन है। जो श्रमण तीन वस्त्र रखते हों उन्हें चतुर्थ वस्त्र की इच्छा नहीं करनी चाहिए और न उसकी याचना ही करनी चाहिए। श्रमणों को तीन वस्त्रों में से तीन संघाटिका, चोलपट्टक और आसन, झोली, जल छानने का वस्त्र, मुखवस्त्रिका, रजोहरण की दण्डी पर लगाने का वस्त्र, मांडलिक वस्त्र, स्थंडिलभूमि जाने के लिए जो जल-पात्र रखा जाये उसको रखने के लिए झोली-इस प्रकार अधिक से अधिक बहत्तर हाथ वस्त्र श्रमण रख सकता है। जो श्रमण अंग ठिठुराने वाली शीत और भीष्म ग्रीष्म ऋतु की गर्मी को सहन न कर पाते हों उनके लिए वस्त्र का विधान है। जो तीन वस्त्रधारी श्रमण हैं वे शीत ऋतु व्यतीत हो जाने पर जिन वस्त्रों की आवश्यकता हो उन्हीं का उपयोग करें और जिनकी आवश्यकता न हो उन वस्त्रों को पड़ा रहने दें, उपयोग न करें। जो तरुण भिक्षु हैं, जिनका शरीर शीत परीषह को सहन करने में सक्षम है उनके लिए एक वस्त्र धारण करने का विधान है।

भिक्षुणी के लिए चार संघाटिका रखने का विधान है। जिनका प्रमाण इस प्रकार है–एक संघाटिका दो हाथ की हो, दो संघाटिकाएँ तीन-तीन हाथ की हों, और एक संघाटिका चार हाथ की हो। दो हाथ की संघाटिका जहाँ उपाश्रय आदि में ठहरी हों वहीं पर पहननी चाहिए और तीन-तीन हाथ की दो संघाटिकाओं में से एक भिक्षा के लिए जाते समय और एक शौच के लिए जाते समय पहननी चाहिए।

---

१. आचारांग, श्रुतस्कन्ध १, अध्ययन ८, उद्देशक ४, ५, ६

चार हाथ की संघाटिका धर्मसभा आदि में बैठते समय धारण करनी चाहिए जिससे कि सारा अंगोपांग आच्छादित किया जा सके।

'संघाटिका' या 'संघाटी' शब्द का अर्थ 'साडी' हो सकता है। टीकाकारों ने शरीर पर धारण करने के वस्त्र को संघाटिका बताया है। इन वस्त्रों का उपयोग विभिन्न अवसरों पर किया जाता था। यह वस्त्र अन्तरीय वस्त्र जैसे चोलपट्टा से पृथक् है। वह अन्तरीय वस्त्र श्रमणियों के लिए अत्यावश्यक माना गया है। उसके 'उग्गहंतिग' 'पट्ट', उद्धोरुग, चलनिका, अभ्यन्तर, नियंसिणी और बहिनियंसिणी आदि विविध भेद हैं।

आचारांग[1] में वस्त्रों की एक सूची प्राप्त होती है। जंगिय या जांघिक (ऊन से निर्मित कंबल आदि), भंगिय[2] (यह वस्त्र वृक्ष के तंतुओं से निर्मित किया जाता है), साणिय (सन् से बने हुए वस्त्र), पोत्तग[3] (ताड़ आदि वृक्षों के पत्तों से बने हुए), खोमिय[4] (कपास से निर्मित वस्त्र) और तूलकड[5] (आक आदि की रुई से बना वस्त्र)। स्थानांग[6] और बृहत्कल्प[7] में तूलकड के स्थान पर तिरीडपट्ट नाम मिलता है। वह तिरीड वृक्ष की छाल से बनाया जाता था। मोनियर विलियम्स ने तिरीड का अर्थ शिरोवस्त्र किया है।

जैन श्रमणों के लिए विधान था कि आवश्यकता होने पर इन वस्त्रों को ले सकते थे। कुछ ऐसे वस्त्र थे जो अत्यन्त मूल्यवान होते थे, उन्हें जैन श्रमण ग्रहण नहीं करते थे। जिस वस्त्र की किनारियाँ सोने की भाँति चमकती थीं, बढ़िया बेल-बूटे किये हुए होते थे उनको भी वे धारण नहीं करते थे। आवश्यकता होने पर किनारी निकालकर उन्हें ग्रहण कर सकते थे।[8] रंगीन वस्त्र आदि भी श्रमण-श्रमणियाँ ग्रहण नहीं कर सकते थे।

श्रमणियों के लिए बृहत्कल्पभाष्य[9] में वस्त्रों की सूची मिलती है जो उन्हें लज्जा

---

१. आचारांग, श्रु. २, अ. ५, उ. १, सू. १
तुलना कीजिए–मिलिंद प्रश्न ३६७
२. भारतीय विद्या १/१/४१ (डॉ. मोतीचन्द)
३. बृहत्कल्प भाष्यवृत्ति २-३६६०
४. (क) महावग्ग ८-९-१४, पृ. २९८ (ख) इण्डियन कल्चर १-१-४, पृ. १९४
५. मूलसर्वास्तिवाद, विनयवस्तु, पृ. ९४
६. स्थानांग ५/४४६
७. बृहत्कल्प भाष्य २-२४
८. वही ३-३९०५
९. (क) वही ३-४१०२ (ख) निशीथभाष्य ५-१९८२

निवारण के लिए ग्रहण करना आवश्यक था। उनके अंगोपांग पूर्ण रूप से आच्छादित हो जायें, इस दृष्टि से उनके लिए इन वस्त्रों का विधान था।

(१) **कंचुक**–यह बिना सिला हुआ वस्त्र होता था, कापालिक के कंचुक के सदृश वह अढ़ाई हाथ लम्बा और एक हाथ चौड़ा होता था।

(२) **उर्काच्छय**–यह भी कंचुक सदृश होता था। इसका वस्त्र चौकोर और डेढ़ हाथ का होता था जिससे छाती, दक्षिण पार्श्व और कमर ढकी जाती थी। वाम पार्श्व की ओर इसकी गाँठ लगती थी।

(३) **खण्डकर्णी**–यह चार हाथ लम्बा और चौकोर वस्त्र होता था, जब सनसनाता हुआ पवन चलता था तब इस वस्त्र को धारण किया जाता था जिससे सारा शरीर अच्छी तरह से ढक जाता था। इस वस्त्र का कभी अन्य उपयोग भी होता था। कोई साध्वी अत्यन्त रूपवती होती और उसकी शील रक्षा में बाधा उपस्थित होने की स्थिति होती तो उस साध्वी की पीठ पर रखकर उसे कुबड़ी बनाकर दिखा दिया[1] जाता था।

बृहत्कल्प में यह भी वर्णन है कि श्रमण-दीक्षा ग्रहण करने वाले साधक को रजोहरण, गोच्छक, प्रतिग्रह (पात्र) और पूरे तीन वस्त्र जिनसे सभी आवश्यक उपकरण बनाये जा सकें, लेकर प्रव्रजित होना चाहिए। यदि कोई श्रमण अशुभ कर्म के उदय से साधना-मार्ग से भटक गया हो, यदि वह श्रमण पुनः प्रव्रज्या ग्रहण करता है और उसके पास पुराने वस्त्र आदि हैं तो नये वस्त्र लेने की आवश्यकता नहीं है।

नवदीक्षित श्रमणी के लिए चार पूरे वस्त्रों के साथ प्रव्रजित होने का वर्णन है। रजोहरण के लिए पाँच प्रकार के धागे ग्रहण किये जा सकते हैं–औरणिक, औष्ट्रिक, सानक, वच्चक-विप्पक और मुञ्जचिप्पक। क्रमशः इनका अर्थ इस प्रकार है–ऊन के धागे, ऊँट के बालों के धागे, सन की छाल के धागे, तृणविशेष की कुट्टी से निर्मित धागे और मूँज की कुट्टी से निर्मित धागे।

वस्त्र की गवेषणा भी साधक को अत्यन्त सावधानी से करनी चाहिए। वस्त्र की गवेषणा हेतु आधे योजन से अधिक नहीं जाना चाहिए। जो वस्त्र श्रमण के लिए कृत हो, उसके लिए धोया गया हो, उसे नहीं लेना चाहिए। उसे बहुमूल्य वस्त्र की याचना नहीं करनी चाहिए। जिस वस्त्र के निर्माण में अत्यधिक हिंसा हुई हो वह भी ग्रहण नहीं करना चाहिए। जो वस्त्र सादा हो, निर्दोष हो, उसे ग्रहण करना चाहिए।

---

१. (क) बृहत्कल्पभाष्य ३-४०८२ से ४०९१ तक
(ख) निशीथभाष्य २-१४०० से १४०७ तक

अन्य किसी श्रमण या श्रमणी के पास वस्त्र को देखकर उस वस्त्र को हथियाने के लिए उस श्रमण-श्रमणी से वस्त्र नहीं माँगना चाहिए और न दीनता ही प्रदर्शित करनी चाहिए।

अचेल

'अचेल' या 'अचेलक' शब्द 'अ + चेल' के योग से निर्मित हुआ है। 'अ' का अर्थ अभाव व अल्प दोनों है और चेल का अर्थ वस्त्र है। वस्त्र का अभाव और अल्पवस्त्रधारी, अचेल शब्द के ये दोनों अर्थ हैं। अचेलक श्रमण जीर्ण या अल्प मूल्य वाले वस्त्र धारण करते हैं या वस्त्रों का परिहार करते हैं। यह भी माना जाता है कि वस्त्र रखने पर भी जिसके मन में वस्त्रों के प्रति किंचित् मात्र भी आसक्ति नहीं है उन्हें सिर्फ धर्मोपकरण अथवा धर्म-साधना में सहायक समझकर धारण करता है, वह भी अचेलक है। वह पूर्ण रूप से निर्लिप्त रहता है। यदि वस्त्र जीर्ण-शीर्ण हो चुका है तब भी उसे उसकी चिन्ता नहीं होती। तृण का कठिन स्पर्श तथा शीतोष्ण परीषहों को वह शान्त भाव से सहन करता है। उसके मन में साधना के प्रति गहरी निष्ठा होती है। वह इन्द्रियों का पूर्ण निग्रह करता है। यदि अचेलक को लज्जा का अनुभव हो तो वह कटिबंधन[1] धारण कर सकता है। अचेलक साधक की उपधि कम होने से उसे प्रतिलेखना आदि के लिए अधिक समय लगाने की आवश्यकता नहीं होती। कभी-कभी वह अभिग्रह को धारण करता हुआ उत्कृष्ट नियमों का पालन करता है। आचार्य आदि से अनुमति प्राप्त कर, कर्मों की निर्जरा हेतु वह एकाकी विचरण भी करता है। उसे जो भी भिक्षा प्राप्त हो जाती है, उसे वह अनासक्त होकर ग्रहण करता है। श्मशान आदि निर्जन स्थान आदि में ठहरता है। हिंसक आदि क्रूर प्राणियों से किंचित् मात्र भी भयभीत नहीं होता।

अचेल भी दो प्रकार के होते हैं। एक वे होते हैं जो हमेशा वस्त्र का उपयोग नहीं करते और दूसरे वे होते हैं जो जीर्ण-शीर्ण व अल्प मूल्य वाले वस्त्र धारण करते हैं।

भगवान महावीर के संघ में सचेल और अचेल ये दोनों प्रकार के श्रमण थे। इसलिए यह कहना कि भगवान पार्श्व के सन्त सचेल थे और महावीर के सन्त अचेल थे, युक्तियुक्त नहीं है।

उत्तराध्ययन[2] के केशी-गौतम संवाद में सचेल और अचेल का उल्लेख हुआ है। भगवान पार्श्व के श्रमण बेशकीमती, रंग-बिरंगे वस्त्रों का उपयोग करते थे।

---

१. कप्पेइ कडिबंधणं धारितए। —आचारांग, श्रु. १, अ. ८, उ. ७

२. उत्तराध्ययन २३/२९ से ३६ तक

भगवान महावीर ने श्रमणों के लिए अल्प मूल्य वाले और श्वेत वस्त्रों का विधान किया है। डॉ. हर्मन जेकोबी[1] का मत है कि 'महावीर ने अचेलकता या नग्नत्व का आचार सम्भवतः आजीवक आचार्य गोशालक से ग्रहण किया था।' पर उनका यह कथन युक्तियुक्त नहीं है। भगवान महावीर ने अचेलकत्व किसी अन्य से प्रभावित होकर नहीं अपनाया था। जब महावीर दीक्षित हुए थे तब सचेल थे। उसके पश्चात् वे अचेल हो गये।

भगवान महावीर ने अपने शिष्य-समुदाय के लिए अचेल-व्यवस्था का प्रतिपादन किया; पर वह अचेल-व्यवस्था अन्य नग्न साधुओं की भाँति एकान्तिकता को लिए हुए नहीं थी। जो निर्ग्रन्थ निर्वस्त्र रहने में पूर्ण समर्थ थे, उनके लिए अचेल रहने की व्यवस्था थी। जो उस प्रकार नहीं रह सकते थे, उनके लिए अल्प मूल्य वाले श्वेत वस्त्र रखने की व्यवस्था थी।

भगवान पार्श्वनाथ के हजारों शिष्य महावीर के शासन में सम्मिलित हुए थे। सचेल और अचेल दोनों प्रकार की व्यवस्थाओं को मान्यता देने के कारण वे उसमें खप सके। अंगुत्तरनिकाय[2] में निर्ग्रन्थों को 'एक-शाटक' कहा है। आचारांग[3] में भी एक शाटक रखने का वर्णन प्राप्त होता है। अंगुत्तरनिकाय[4] में निर्ग्रन्थों के नग्न रूप को लक्ष्य करके ही उन्हें 'अहीक' कहा है। आचारांग[5] में निर्ग्रन्थों के लिए अचेल रहने का भी वर्णन है। विष्णुपुराण[6] में जैन श्रमणों को 'निर्वस्त्र' व 'सवस्त्र' कहा है।

स्थविरकल्प

जो स्वयं संयम मार्ग में पूर्ण स्थिर हैं और संयम साधना में अस्थिर अन्य साधकों को इहलोक और परलोक सम्बन्धी हानि बताते हैं कि श्रमणधर्म से च्युत होने पर न इस लोक में शान्ति है न परलोक में ही। इस प्रकार अस्थिर मानस वाले साधक को जो ज्ञान-दर्शन-चारित्र में स्थिर करता है, वह स्थविर है। उस स्थविर का जो कल्प है वह 'स्थविरकल्प' कहलाता है।

---

१. ".....It is probable that he borrowed them from the Achelakas or Ajivikas the followers of Goshalak....." —*दि सेक्रेड बुक ऑफ दि ईस्ट, भाग ४५, पृ. ३२*

२. निग्गण्ठा एक साटका। —*अंगुत्तरनिकाय ६-६-३*

३. अदुवा एग साडे। —*आचारांग १/८/४/५२*

४. अहिरिका भिक्खवे निग्गण्ठा। —*अंगुत्तरनिकाय, नि. १/९/८*

५. अदुवा अचेले —*आचारांग १/८/४/५३*

६. दिग्वाससामयं धर्मो, धर्मोऽयं बहुवाससाम्। —*विष्णुपुराण, अंश ३, अ. १८, श्लो. १०*

यह पूर्ण सत्य है कि जिनकल्पी की अपेक्षा स्थविरकल्पी का बाह्य आचार कम उग्र प्रतीत होता है, वह शिथिल लगता है। पर आचार की उत्कृष्टता का मापदण्ड केवल बाह्य क्रियाकाण्ड ही नहीं है, आन्तरिक जागरूकता है। जिनकल्पी केवल स्वयं का उपकार करता है, उसका संघ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। किन्तु स्थविरकल्पी अपना भी उपकार करता है और साथ ही वह संघ का भी उपकार करता है। वह संघ में रहकर हजारों का उद्धार करता है। इसलिए स्थविरकल्प का भी अपना गौरव है।

जिनकल्प

राग-द्वेष, कषाय, इन्द्रिय, परीषह, उपसर्ग और अष्ट प्रकार के कर्मों को जीतने वाले निर्ग्रन्थ के कल्प को 'जिनकल्प' कहा है। जिनकल्पी श्रमण की साधना अत्यन्त उत्कृष्ट साधना होती है। वह अधिकतर खड़े रहते हैं। यदि बैठने का प्रसंग उपस्थित होता तो कुक्कुड़, गोदुग्ध आदि आसन से बैठते हैं जिससे कि भूमि पर नितम्ब और पीठ का स्पर्श न हो।[1]

जिनकल्पी श्रमण प्रतिदिन लुंचन करता है। एकाकी विचरण करता है। वह तृतीय प्रहर में भक्त-पान ग्रहण करता है। न उसके पहले ग्रहण करता है और न बाद में ही। विहार करते समय जहाँ भी चतुर्थ प्रहर लग जाता है वहीं पर वह रुक जाता है, एक कदम भी आगे नहीं बढ़ता।

एक बस्ती में अधिक से अधिक सात जिनकल्पी श्रमण ठहर सकते हैं। उसमें कोई पूर्व से आता है, कोई पश्चिम से। कोई दिशा से और कोई विदिशा से। इस तरह सात जिनकल्पी एकत्रित हो जाने पर भी परस्पर संभाषण नहीं करते और न धर्मकथा ही करते हैं। वे सदा मौन रहते हैं।

एक मौहल्ले में एक जिनकल्पी भिक्षा के लिए गया हो तो दूसरा जिनकल्पी उस मौहल्ले में भिक्षा के लिए नहीं जाता। आज जिस मौहल्ले में भिक्षा के लिए गया है छह दिन तक कम से कम वह उस मौहल्ले में भिक्षा के लिए नहीं जाता। सातवें दिन जा सकता है। वह जो भोजन ग्रहण करता है उस भोजन का लेप नहीं लगना चाहिए। वह जिस मार्ग से जा रहा हो उस रास्ते में यदि शेर आ जाये, पागल हाथी या मदोन्मत्त हाथी आ जाय तो भी वह अपने पथ से किंचित् भी नहीं हटता। हिंसक पशुओं के भय से एक कदम भी इधर-उधर नहीं मुड़ता। किन्तु चींटी आदि आ जाये तो वह अपने मार्ग को छोड़ देता है। क्योंकि उसके निमित्त से किसी

---

१. जिनकल्पः प्रतिपत्र पुनर्नियमात् उत्कुटुक एवं भाष्यवृत्ति शेषासु तु पौरुषीषु प्रायः कायोत्सर्गेणास्ते। —भा. वृ. १४२४

भी जीव की हिंसा न हो जाय इसका वह सतत ध्यान रखता है। यदि उसकी आँख में या उसके पैरों में काँटा, काँच आदि कुछ लग जाय अथवा गिर जाय तो न वह स्वयं निकालता है और न ही दूसरों को निकालने के लिए कहता है। यदि कोई अपनी भावना से उत्प्रेरित होकर स्वयं ही निकाल देता है तो वह उसे इनकार भी नहीं करता। वह किसी भी प्रकार के दोषों का सेवन नहीं करता है जिससे उसे प्रायश्चित्त ग्रहण कर शुद्धीकरण करनी पड़े। वह अपना शिष्य भी नहीं बनाता। जिनकल्पी श्रमण सूक्ष्म संपराय और यथाख्यात चारित्र की पवित्र भूमिका को भी प्राप्त कर लेता है। किन्तु वह यह सारी भूमिका उपशमश्रेणी के द्वारा ही प्राप्त करता है, क्षपकश्रेणी के द्वारा नहीं। क्षपकश्रेणी द्वारा विकास न करने के कारण केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त नहीं करता। यह स्पष्ट मत पंचवस्तुकार[१] ने और आचार्य क्षेमकीर्ति[२] तथा आचार्य सिद्धसेन[३] ने दिया है। उसे क्षपकश्रेणी क्यों नहीं होती यह प्रश्न चिन्तनीय अवश्य है।

सपात्र

कितने ही श्रमण पात्र रखते थे। सपात्री श्रमण का आचार सचेलक और स्थविरकल्पी के आचार से मिलता-जुलता है। कल्पसूत्र[४] में बताया है अविच्छिन्न वर्षा हो रही हो, छत से पानी गिर रहा हो, पानी से वस्त्र आर्द्र हो जाय उस समय श्रमण भिक्षा के लिए न जाय। यदि जाना हो तो अन्दर सूती वस्त्र और ऊपरी ऊनी वस्त्र ओढ़कर, रजोहरण और पात्र को आवरण से ढककर जाये, पर दशवैकालिकसूत्र[५] में वर्षा बरसते समय भिक्षा के लिए जाने का स्पष्ट रूप से निषेध किया है। आचार्य अगस्त्यसिंह स्थविर[६], जिनदास महत्तर[७], और आचार्य

---

१. उवसमसेढीए खलु वेदे उवसमियम्मि उ अवेदो न हु खविए तज्जम्मे, केवलपडिसेह भावाओ।
—पंचवस्तु, गा. १४९८

२. जिनकल्पिकस्य तद्भवे केवलोत्पत्तिप्रतिषेधादुपशमश्रेण्यां वेदे उपशामिते सत्यवेदत्वम्।
—बृहत्कल्पभाष्य, गा. १४२०

३. स च उपशमश्रेण्यामेव न तु क्षपक श्रेण्याम् 'तज्जम्मे केवलपडिसेह भावओ' इति वचनात्।
—प्रवचनसारोद्धार, गा. ५४०

४. कल्पसूत्र, सूत्र २५६–देवेन्द्र मुनि सम्पादित

५. न चरेज्ज वासे वासंते। —दशवैकालिक ५-१-८

६. ण इति पडिसेहसद्दो चरणं गोचरस्स तं पडिसेहेति 'वासं' मेधो, तम्मि पाणियं मुयंते।
—दशवैकालिक, अगस्त्यसिंह चूर्णि

७. नकारो पडिसेहे वट्टइ चरेज्ज नाम भिक्खस्स अट्ठा गच्छेज्जाति। वासं पसिद्धमेव तंमि वासे वरिसमाणे उ चरियव्वं उत्तिण्णेण य पच्चुट्ठे अहाउग्गाणि सगडगिहाइणि पाविसित्ता ताव अच्छइ जावट्ठिओ ताहे हिंडइ। —दशवै. जिनदास चूर्णि, पृ. १७०

हरिभद्र[1] ने अपनी चूर्णि और टीका में स्पष्ट बताया है कि भिक्षा का काल होने पर भी वर्षा हो रही हो तो श्रमण बाहर न निकले। भिक्षा के लिए निकलने के पश्चात् यदि वर्षा होने लगे तो ढके हुए स्थान में खड़ा हो जाय, आगे न जाय।

श्रमण भिक्षा के लिए ग्रहस्थ के यहाँ पहुँचे उसके पूर्व जो भी पदार्थ तैयार हो गये हों उसे ग्रहण कर सकता है। उसके जाने के पश्चात् गृहस्थ जो पदार्थ तैयार करे या उस श्रमण के लिए तैयार करे, वे पदार्थ श्रमण को ग्रहण नहीं करना चाहिए। भिक्षा के लिए पहुँचने के पूर्व गृहस्थ के घर में मसूर की दाल तैयार हो गई हो और चावल पककर तैयार न हुए हों तो श्रमण को दाल ले लेनी चाहिए, चावल नहीं।[2]

श्रमण और श्रमणी भिक्षा के लिए गये हों उस समय रह-रहकर वर्षा आ रही हो तो आरामगृह अथवा वृक्ष के नीचे ठहरना कल्पता है और जो पहले आहार लाया है, उस आहार को ग्रहण करना कल्पता है। पात्र आदि को साफ करके वर्षा बन्द होने पर सूर्यास्त के पूर्व श्रमण उपाश्रय में चला जाय। रात्रि में गृहस्थ के मकान में उसे रहना नहीं कल्पता।

यदि श्रमणी या श्रमण भिक्षा के लिए गया है और रास्ते में रह-रहकर वर्षा हो रही हो, वृक्ष के नीचे, विकटगृह आदि में ठहरे हुए हों अर्थात् श्रमण और श्रमणी दोनों एक स्थान पर हों तो रहना नहीं कल्पता एक साधु और दो साध्वियाँ हों अथवा दो साधु और एक साध्वी हो, या दो साधु और दो साध्वियाँ हों तो नहीं रहना चाहिए किन्तु यदि वहाँ पर पाँचवाँ गृहस्थ हो तो उस स्थान पर रह सकते हैं।[3] ऐसे स्थान पर भी रुक सकते हैं जहाँ लोग देख सकें।[4]

यदि श्रमण या श्रमणी गृहस्थ के यहाँ पर भिक्षा के लिए गये हों उस घर में एक ही श्राविका हो तो साधु को ठहरना नहीं कल्पता। यदि वहाँ पर कोई स्थविरा या स्थविर साक्षी के रूप में हों तो वहाँ पर ठहर सकते हैं।[5]

श्रमण और श्रमणी को जब तक हाथ भीगे हुए हों, हस्तरेखाएँ गीली हों, नाखून का अग्र भाग, दाढ़ी, मूँछ जब तक पूर्ण रूप से सूख न जायें वहाँ तक आहार आदि लेना नहीं कल्पता।[6]

वर्षावास के लिए सपात्री श्रमण और श्रमणियाँ तीन पात्र और एक मात्रक रख सकते हैं। श्रमण-श्रमणियाँ तीन प्रकार के पात्र धारण कर सकते हैं–तुम्बा,

---

१. न चरेद्वर्षे वर्षति भिक्षार्थं प्रविष्टो वर्षणे तु प्रच्छन्ने तिष्ठेत्।
–दशवै. हारिभद्रीया टीका, पृ. १६४

२. कल्पसूत्र, सूत्र २५७

३. वही, सूत्र २५९

४. कल्पसूत्र चूर्णि, सूत्र २५९, २६१, २६९

५. कल्पसूत्र, सूत्र २६०

६. वही, सूत्र २६४

काष्ठ और मृत् (मिट्टी)।[1] वर्षावास में रहे हुए श्रमण-श्रमणियों को तीन पात्र रखना कल्पता है। शौच के लिए एक पात्र, लघुशंका के लिए एक पात्र और कफादि के लिए एक पात्र।[2]

करपात्र

जो श्रमण पात्र न रखकर केवल हाथ में ही भिक्षा ग्रहण करते हैं वे 'करपात्री' कहलाते हैं। वे पात्र को भी परिग्रह समझकर उसका परित्याग कर देते हैं। पात्र रखने से जो सूक्ष्म हिंसा होती है, वह उस हिंसा से बच जाते हैं। उनका आचार जिनकल्पी श्रमण और अचेलक श्रमण के आचार से मिलता-जुलता है किन्तु कुछ पृथकता भी होती है। जिनकल्पी और अचेलक श्रमण करपात्री हो भी सकते हैं और नहीं भी हो सकते हैं। करपात्री सचेलक और स्थविरकल्पी भी हो सकते हैं।

कल्पसूत्र में बताया है वर्षावास में रहे हुए करपात्री भिक्षु को किंचित् मात्र भी वृष्टि हो रही हो तब उसे गृहपति के कुल की ओर भोजन और पानी के लिए निकलना तथा प्रवेश करना नहीं कल्पता।[3]

वर्षावास में रहे हुए करपात्री भिक्षु को पिण्डपात्र भिक्षा लेकर जहाँ घर न हो अर्थात् खुले आकाश में रखकर भोजन करना नहीं कल्पता। खुले आकाश में रहकर आहार ग्रहण करते समय अचानक वृष्टि हो जाय तो जितने भाग को खा लिया है उसे खाकर के और बचे हुए अवशेष भाग को लेकर उसे एक हाथ से ढककर उस हाथ को सीने से चिपकाकर रखे। या काँख में छिपाकर रखे। और उसके बाद जहाँ पर घर या आच्छादित स्थान हो या वृक्ष के नीचे जाय और पानी की बूँदों की किसी भी प्रकार की विराधना हो वैसा ध्यान रखे।[4]

करपात्री श्रमण के लिए यह भी आदेश है[5] कि जब ओस की बूँदें गिर रही हों या धुँधल छायी हुई हो उस समय गृहस्थों के यहाँ पर भिक्षा ग्रहण करने के लिए न जाय और न अनाच्छादित स्थान पर ही ठहरे।

---

१. कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा तओ पायाइं धारित्ताइ वा परिहरित्तए वा, तं जहा– लाउयपादे वा, दारुपादे वा, मट्टियापादे वा। —*स्थानांग, स्थान ३*

२. कल्पसूत्र, सूत्र २८३

३. (क) वही २५३ (ख) कल्पसूत्र चूर्णि २५३
(ग) कल्पसूत्र–पृथ्वीचन्द, टिप्पण २५३

४. कल्पसूत्र, सूत्र २५४

५. वही, सूत्र २५१

भिक्षु प्रतिमाएँ[1]

प्रतिमा का अर्थ प्रतिज्ञा-विशेष है। यह प्रतिज्ञा-विशेष १२ प्रकार की हैं।

प्रथम प्रतिमाधारी भिक्षु को एक दत्ति अन्न की और एक दत्ति पानी की लेना कल्पता है। श्रमण के पात्र में दिये जाने वाले अन्न और जल की धारा जब तक अखण्ड बनी रहती है, वह दत्ति कहलाती है। धारा समाप्त होने पर या टूटने पर दत्ति भी समाप्त हो जाती है। जहाँ पर एक व्यक्ति के लिए भोजन बना हो वहाँ से ग्रहण करना चाहिए, अधिक व्यक्तियों के लिए बना हो वहाँ से भोजन ग्रहण नहीं करना चाहिए। इस प्रतिमा का समय एक माह का है।

द्वितीय प्रतिमा भी एक मास की है। उसमें श्रमण दो दत्ति आहार की और दो दत्ति पानी की ग्रहण करता है। इसी तरह तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ और सप्तम प्रतिमाओं में क्रमशः ३, ४, ५, ६ तथा ७ दत्ति अन्न की और उतनी ही दत्ति पानी की ग्रहण की जाती हैं। प्रत्येक प्रतिमा का समय एक-एक मास का है। किन्तु उसमें दत्तियों की अभिवृद्धि होती जाती है।

आठवीं प्रतिमा सात दिन-रात्रि की होती है। इसमें श्रमण को एकान्तर चौविहार उपवास करना होता है। गाँव या नगर के बाहर उपवासपूर्वक उत्तानासन (आकाश की ओर मुँह करके सीधा लेटना) या पार्श्वासन (एक करवट से लेटना) अथवा निषद्यासन (पैरों को बराबर करके बैठना)–इन आसनों में बैठकर या लेटे हुए ध्यान लगाना चाहिए। ध्यान लगाते समय किसी भी प्रकार का कोई उपसर्ग आ जाय तो उसे बहुत ही शान्त चित्त से सहन करना चाहिए।

नौवीं प्रतिमा सात दिन-रात्रि की होती है। इसमें चौविहार, बेले-बेले पारणा किया जाता है। गाँव या नगर के बाहर जहाँ पूर्ण एकान्त शान्त स्थान है वहाँ पर दण्डासन, लकुडासन और उत्कटुकासन में ध्यान किया जाता है।

दसवीं प्रतिमा सात दिन-रात्रि की होती है। इनमें चौविहार तेले-तेले पारणा किया जाता है। गाँव या नगर के बाहर गोदोहनासन, वीरासन, आम्रकुब्जासन से ध्यान किया जाता है।

ग्याहरवीं प्रतिमा एक दिन-रात्रि की होती है। आठ प्रहर तक इस प्रतिमा की साधना की जाती है। इसमें चौविहार वेला किया जाता है। गाँव या नगर के बाहर दोनों हाथों को घुटनों तक लम्बा करके दण्डायमान मुद्रा में खड़े होकर कायोत्सर्ग किया जाता है।

---

१. (क) समवायांग, समवाय १२ (ख) दशाश्रुतस्कन्ध, उ. ७

बारहवीं प्रतिमा एक रात्रि की होती है। इसकी आराधना चौविहार तेले के द्वारा की जाती है। गाँव और नगर के बाहर एकान्त शान्त स्थान में सिर को किंचित् झुकाकर किसी एक पुद्गल पर दृष्टि केन्द्रित करके, निर्निमेष नेत्रों से निश्चल होकर कायोत्सर्ग किया जाता है। चाहे कैसे भी उग्र से उग्र उपसर्ग आयें उन उपसर्गों को वह शान्तभाव से सहन करता है।

भिक्षुप्रतिमाओं के सम्बन्ध में विभिन्न मान्यताएँ हैं। कितने ही विज्ञ पहली प्रतिमा से लेकर सातवीं प्रतिमा का काल १-१ मास बढ़ाते हुए सात मास तक मानते हैं। जैसे–द्वितीय प्रतिमा दो मास की, तृतीय प्रतिमा तीन मास की, इस प्रकार सातवीं प्रतिमा सात मास की मानते हैं। आठवीं, नौवीं, दसवीं प्रतिमा के लिए कुछ आचार्यों का मन्तव्य है कि चौविहार उपवास ही एकान्तर के रूप में वे करते हैं। समवायांग के प्रशस्त टीकाकार अभयदेव, आवश्यकसूत्र के टीकाकार हरिभद्र ने और दशाश्रुतस्कन्ध में चौविहार उपवास का ही उल्लेख किया है।

श्रमणियों का विशेष आचार

श्रमण की जो आचार-संहिता है वही आचार-संहिता सामान्य रूप से श्रमणियों की भी है तथापि शारीरिक भिन्नता के कारण कुछ विशेष विधान भी श्रमणियों के लिए निर्धारित किये गये हैं। इन सारे विधानों में उसकी शील-रक्षा की भावना निहित है। श्रमणी को किस प्रकार अधिक से अधिक शीलव्रत पालन करने में सहूलियत हो, इस दृष्टि से उसकी आचार-संहिता में उसे अचेल रहना[१], पात्र-रहित रहना[२], एकाकी रहना[३] और एकान्त स्थान में कायोत्सर्ग करना[४] जिनकल्प की आराधना करना[५], सूर्य की आतापना लेना[६], उकडू आसन में बैठना[७] निषिद्ध है। जो स्थान सुरक्षित हो चाहे वह ग्राम हो, घोष हो, नगरी अथवा द्रोणमुख हो श्रमण को अधिक से अधिक २८ दिन रहना कल्पता है, तो श्रमणियों को दो माह रहना कल्पता है।[८] जहाँ पर दुकानें हों, मानव समुदाय अधिक मात्रा में आता-जाता हो, दो रास्ते, तीन रास्ते, चार रास्ते हों, जहाँ पर तस्करों का भय हो, कामुक व्यक्तियों का अधिक आवागमन होता हो, वहाँ पर उसे नहीं रहना चाहिए।[९] यदि अन्य स्थान के अभाव में उसे वहाँ रहना आवश्यक हो तो बन्द

१. बृहत्कल्प, उ. ५, सू. १९
२. वही, उ. ५, सू. २०
३. वही, उ. १, सू. १५
४. वही, उ. ५, सू. २६
५. वही
६. वही, उ. ५, सू. २२
७. वही, उ. ५, सू. २५
८. वही, उ. १, सू. ८
९. वही, उ. १, सू. १२

मकान में रह सकती है, पर्दा आदि लगाकर रह सकती है, किन्तु खुले रूप में उसे रहना नहीं कल्पता।

जिस मकान में श्रमणी रहती हो वह स्थान पुरुषों से रहित होना चाहिए। यदि स्त्रियाँ हों तो वह वहाँ ठहर सकती हैं।[1] जहाँ पर देश-विदेश से विविध स्वभाव वाले यात्री आते-जाते रहते हों ऐसा स्थान विकट गृह कहलाता है। जिसे आधुनिक भाषा में 'मुसाफिरखाना' कह सकते हैं। वहाँ पर निर्ग्रन्थियों को नहीं रहना चाहिए।[2] निर्ग्रन्थियों को एकाकी न चातुर्मास में रहना चाहिए, न एकाकी स्थण्डिलभूमि आदि के लिए बाहर जाना चाहिए और न एकाकी उसे विचरण करना चाहिए।[3]

श्रमणियों को अभिन्न अविदारित पक्व ताल-प्रलम्ब[4] ग्रहण करना नहीं कल्पता, यदि विधिपूर्वक वह ताल-प्रलम्ब विदारित है तो वह उसे ग्रहण कर सकती है।

इस तरह सभी विधान (आचार-संहिता) उसके शीलव्रत को लक्ष्य में रखकर बनाए गए हैं।

जिस मकान में श्रमण अवस्थित हो वहाँ पर रात्रि में श्रमणियाँ नहीं रह सकतीं और जहाँ पर श्रमणी हो वहाँ श्रमण नहीं रह सकते।

श्रमण और श्रमणियों के लिए नौ विध ब्रह्मचर्य की बाड (गुप्ति) का विधान है। वह इसी बात का द्योतक है कि साधक प्रतिकूल संयोग में कभी साधना से विचलित हो सकता है। इसलिए ऐसे स्थानों से उसे सावधान रहना चाहिए।

भगवान महावीर के शासन की आचार-संहिता अत्यन्त चिन्तन के पश्चात् निर्मित की गई है। श्रमणों के लिए महिलाओं से बचने का पूर्ण विधान है तो श्रमणियों को पुरुष से सम्पर्क न रखने का विधान है। इस विधान के फलस्वरूप ही उनके आचार की निर्मलता रह सकी है।

●●

---

१. वृहत्कल्प, उ. १, सू. २९-३०

२. वही, उ. १, सू. ११

३. वही, उ. १, सू. १६-१७

४. (क) नो कप्पइ निग्गंथीणं पक्के तालपलंबे अभिन्ने पडिग्गाहेत्तए। —*वृहत्कल्प, उ. १, सू. ४*
(ख) कप्पइ निग्गंथीणं पक्के तालपलंबे भिन्ने पडिग्गाहेत्तए। —*वही, उ. १, सू. ५*

५. श्रमण संघ की व्यवस्था और उसके नियामक

धर्म चक्रवर्ती

अतीतकाल से ही जैन श्रमण और श्रमणियों की एक व्यविस्थत व्यवस्था पद्धति रही है जिससे श्रमण और श्रमणियाँ अविच्छिन्न रूप से साधना के पावन पथ पर निरन्तर बढ़ते रहे। यह एक ज्वलन्त सत्य है कि परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ ही व्यवस्था पद्धति में भी आरोह और अवरोह होता रहा। भगवान महावीर के समय संघीय व्यवस्था अत्यन्त सुन्दर थी क्योंकि महावीर धर्म चक्रवर्ती थे। लाखों अनुयायियों के हृदय पर उन्होंने शासन किया था और उनकी आज्ञा का पालन उनके अनुयायी बहुत ही तत्परता के साथ करते थे। भगवान महावीर के शासन में केवल श्रमण-श्रमणियों का ही स्थान नहीं था, अपितु गृहस्थ श्रावक-श्राविकाएँ एवं सम्यग्दृष्टि साधकों का भी स्थान था।

गण-व्यवस्था

भगवान महावीर ने अपने श्रमण समुदाय को नौ विभागों में विभक्त किया था जो श्रमण-गण के नाम से जाना और पहचाना जाता था। इन गणों के अध्यक्ष भगवान महावीर के प्रमुख शिष्य इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति आदि थे, जो गणधर के नाम से विश्रुत थे। श्रमण और श्रमणियों की सम्पूर्ण व्यवस्था गणधरों के अधीन थी। भगवान महावीर का कार्य था प्रवचन करना, शिष्यों की जिज्ञासाओं का समाधान करना, उन्हें धार्मिक नियमोपनियमों का परिज्ञान कराना और जो अन्यतीर्थिक उनसे चर्चा करने आते उनसे चर्चाएँ करना, उन्हें सत्य-तथ्य का परिज्ञान कराना। अवशेष कार्य गणधरों के अधीन था। वे गण का कुशलतापूर्वक संचालन करते थे। व्यवस्था की दृष्टि से यह गण-व्यवस्था थी।

श्रमणों के सात विभाग

गुण की दृष्टि से महावीर के श्रमण सात भागों में विभक्त थे, जो इस प्रकार हैं–

(१) केवली, (२) मनःपर्यवज्ञानी, (३) अवधिज्ञानी, (४) वैक्रियलब्धिधारी, (५) चतुर्दश पूर्वी, (६) वादी, (७) सामान्य श्रमण।

भगवान महावीर के समय केवलज्ञानियों की संख्या ७०० थी। वे सर्वश्रेष्ठ श्रमण थे। वे महावीर के समान ही पूर्ण ज्ञानी थे। वे पूर्ण स्वतन्त्र थे। वे समय पर धर्मोपदेश भी देते थे और आत्मध्यान में तल्लीन रहते थे।

(२) द्वितीय वर्ग के श्रमण मनःपर्यवज्ञानी थे। जितने भी चित्तवृत्ति वाले प्राणी थे उनके मानसिक भावों को वे सम्यक् प्रकार से प्रत्यक्ष रूप में जानते थे। इनकी संख्या ५०० थी।

(३) तृतीय वर्ग के श्रमण अवधिज्ञानी थे। ये सभी रूपी पदार्थों को बिना इन्द्रियों की सहायता के प्रत्यक्ष जानते थे। इनकी संख्या १,३०० थी।

(४) चतुर्थ वर्ग के श्रमण वैक्रियलब्धिधारी थे। ये विविध प्रकार के रूप और आकार धारण कर सकते थे। चाहे तो चींटी के समान लघु रूप बना सकते थे और चाहे तो विराटकाय रूप थी। इनकी संख्या ७०० थी। ये सदा तप, जप में लीन रहा करते थे।

(५) पंचम वर्ग वाले श्रमण जो सम्पूर्ण अक्षरज्ञान के पारंगत थे वे शिष्य वर्ग को शास्त्रों का अभ्यास कराते थे। उनकी संख्या ३०० थी। ये श्रमण पूर्वधर कहलाते थे।

(६) छठे वर्ग के श्रमण जैन दार्शनिक साहित्य के पूर्ण निष्णात होते थे जो अन्यतीर्थियों से वाद-विवाद कर उनके सत्य तथ्य समझाते थे। जब कोई भी व्यक्ति जैन दर्शन पर आक्रमण करता तो वे उन सभी तर्कों का अकाट्य उत्तर देते थे। इनकी संख्या ४०० थी। ये वादी कहलाते थे।

(७) सातवें वर्ग में वह सम्पूर्ण श्रमण समुदाय था जो अध्ययन, तपस्या, ध्यान, सेवा आदि विशिष्ट साधनाएँ किया करते थे। इनकी संख्या क्रमशः श्रमणों की १४,००० थी और श्रमणियों की ३६,००० थी।[1]

संघ व्यवस्था

भगवान महावीर की संघ व्यवस्था अत्यन्त सुन्दर और सुदृढ़ थी। यही कारण है इतने विराट् शिष्य समुदाय में ३० वर्ष में केवल दो श्रमणों का ही उनके मिथ्याभिनिवेश के कारण भगवान महावीर के सिद्धान्त से मतभेद हुआ था। उनमें एक जमाली थे जो भगवान महावीर को केवलज्ञान प्राप्ति के चौदह वर्ष के बाद बहुरतवाद की स्थापना करने के कारण श्रावस्ती में पृथक् किये गये थे। द्वितीय

---

१. कल्पसूत्र–महावीर अधिकार

तिष्यगुप्त थे जो महावीर के कैवल्य के सोलह वर्ष पश्चात् राजगृह में जीव-प्रादेशिकवाद[1] के स्थापक होने से श्रमण संघ से पृथक् किये गये थे।

महावीर के संघ में शंख, शतक आदि एक लाख उनसठ हजार (१,५९,०००)[2] श्रावक थे। सुलसा, रेवती आदि ३,१८,००० श्राविकाएँ थीं।

आगम साहित्य के पर्यवेक्षण से यह स्पष्ट होता है कि श्रमण संघ की शासन व्यवस्था अत्यन्त सुन्दर थी, उसमें नियम और उपनियमों का पालन करना अनिवार्य था। यदि असावधानीवश कोई भी किसी भी प्रकार की स्खलना करता तो उनके लिए छेद और प्रायश्चित्त का विधान था। संघ को सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिए आत्म-नियंत्रण, अनुशासन और व्यवस्था इन तीनों को समान रूप से महत्त्व दिया गया था जिससे कि व्यक्ति की स्वतन्त्र चेतना भी कुण्ठित न हो और न सामुदायिक मूल्यों का ही लोप हो। श्रमणी संघ का दायित्त्व उन्होंने अपनी प्रथम शिष्या महासती चन्दनवाला को सौंपा था। पर प्रवर्तिनी जैसे पद पर उनकी नियुक्ति की हो इस सम्बन्ध में कोई भी प्रमाण आगम साहित्य में उपलब्ध नहीं होता। चन्दना के नाम के साथ केवल अज्ज (आर्या) शब्द का प्रयोग हुआ है। अन्य किसी भी उपाधि का प्रयोग नहीं हुआ।

उपर्युक्त पंक्तियों में जो वर्गीकरण किया गया है वह वर्गीकरण साधना, साधनाजन्य लब्धि और शक्ति जागरण की दृष्टि से किया गया है। महावीर के समय उनके संघ में गणधर के अतिरिक्त किसी पद मर्यादा का सूत्रपात नहीं हुआ था। यदि यह कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि उनका सर्वांगपूर्ण संविधान, अनुशासन, संचालन की विधियाँ और व्यवस्थाएँ अनूठी थीं।

चिन्तनीय प्रश्न यह है कि सम्पूर्ण संघ की या स्वयं के गण की व्यवस्था एकाकी गणधर ही करते थे या अन्य भी उनकी सहायता करते थे।

उत्तर है, सम्भवतया कार्य की सुगमता के लिए गणधरों ने कार्य-विभाजन किया हो, पर उसका स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं है। यद्यपि आत्मानुशासन, संघ के विधि-विधान और आचार के सम्बन्ध में विराट् सामग्री प्राप्त होती है किन्तु अमुक कार्य अमुक के अधीन था और अमुक पद से अमुक श्रमण अलंकृत किये गये थे, इसका उल्लेख नहीं है।

आचार्य-उपाध्याय

अंग साहित्य में आचार्य और उपाध्याय जैसे गरिमापूर्ण पदों का उल्लेख हुआ है। आचार्य और उपाध्याय श्रुत परम्परा को अविच्छिन्न रखने वाले थे। उनका कार्य

१. स्थानांग ७/५८७ की टीका
२. कल्पसूत्र

अध्ययन-अध्यापन था। स्थानांग[1] में वर्णन है–जो श्रमण श्रुत का अध्ययन नहीं करता वह आयु पूर्ण होने पर जहाँ जाता है वहाँ उसके मन में यह अनुताप बना रहता है कि 'बल, वीर्य, पुरुषाकार, पराक्रम, निश्चिन्तता और सुविज्ञ आचार्य एवं उपाध्याय की उपस्थिति में तथा आरोग्य होते हुए भी मैंने श्रुत नहीं पढ़ा।' इस कथन से यह स्पष्ट है कि आचार्य और उपाध्याय से श्रुतज्ञान प्राप्त किया जाता था।[2] सूत्र का पाठन और अर्थ की वाचना आचार्य द्वारा प्राप्त होती थी। किन्तु यह स्पष्ट नहीं होता कि महावीर के समय गणधरों के अतिरिक्त आचार्य और उपाध्याय का स्वतन्त्र अस्तित्व था या नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि हजारों श्रमणों को केवल गणधर की वाचना देते हों यह सम्भव नहीं है। सूत्र और अर्थ का भार विशिष्ट मुनियों पर था, भले ही वे आचार्य और उपाध्याय पद से अलंकृत न हों। बाद में चलकर वे ही श्रमण आचार्य और उपाध्याय कहलाये हों।

वाचकवंश-गणधरवंश

जब श्रमण संघ रूपी विराट् वृक्ष विस्तार पाने लगा तब धर्म के नायकों का ध्यान लोकसंग्रह की ओर आकर्षित हुआ। कार्यक्षेत्र और संघीय प्रवृत्तियाँ बढ़ने लगीं। अन्यान्य प्रवृत्तियों में उलझे रहने के कारण अध्ययन प्रवृत्तियों में शिथिलता आने लगी जिसके कारण श्रुत परम्परा के नष्ट होने की आशंका होने लगी। अतः अधिकारी समुदाय को संकेत किया गया जिसके फलस्वरूप कितने ही आचार्यों को श्रुतवाचन का कार्य दिया गया, कितने ही आचार्यों को गण-संचालन का और कितने ही आचार्यों को प्रचार-प्रसारार्थ धर्मोपदेश आदि का कार्य प्रदान किया गया। कितने ही आचार्य संघ का विस्तार हो इस दृष्टि से सुयोग्य व्यक्तियों को उपदेश प्रदान कर प्रव्रज्या ग्रहण करवाते थे। पट्टावली परम्परा में वाचकवंश, गणधरवंश के जो उल्लेख संप्राप्त होते हैं, वे हमारे इस कथन का समर्थन करते हैं।

विभिन्न पदाधिकारी

आचार्य और उपाध्याय पर भी महान् संघ का उत्तरदायित्व था। इसलिए संघ की सुव्यवस्था हेतु विभिन्न पदाधिकारी श्रमणों की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। इसी कारण आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणी, गणधर और गणावच्छेदक–इन सात पदों का उल्लेख छेदसूत्रों में प्राप्त होता है। छेदसूत्रों के रचयिता श्रुतकेवली भद्रबाहु[3] माने जाते हैं। उनका समय वीर निर्वाण की दूसरी

---

१. स्थानांग ३/३

२. (क) अत्थं वाएइ आयरिओ, सुत्तं वाएइ उवज्झाओ। –*ओघनिर्युक्ति*
(ख) सूत्रप्रदा उपाध्यायाः अर्थप्रदा आचार्याः। –*ओघनिर्युक्ति वृत्ति*

३. देखिए–जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा

सदी है। छेद सूत्रों में और उनके व्याख्या-साहित्य निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीकाओं में इन पदाधिकारियों के कार्य-विभाजन का विस्तार से उल्लेख प्राप्त होता है। यह स्पष्ट है कि आचार्य के अतिरिक्त जो अन्य पद निर्धारित हुए वे पद आचार्य को सहयोग प्रदान करने के लिए हुए थे जिससे संघ के श्रमण-श्रमणियों का अध्ययन, वर्षावास, विहार प्रवास, वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों की व्यवस्था सुचारु रूप से हो सके। हम यहाँ क्रमशः उन पदों के उत्तरदायित्व और महत्त्व पर चिन्तन करेंगे जिससे उन पदों की गौरव गरिमा का सहज परिज्ञान हो सके।

आचार्य

आचार्य श्रमण संघ का एक जीता जागता सजग प्रहरी है। उसके वरिष्ठ व बलिष्ठ कन्धों पर संघ का उत्तरदायित्व होता है। जैसे सघन अन्धकार को सूर्य की चमचमाती रश्मियाँ नष्ट कर देती हैं इसी तरह श्रुत शील और बुद्धि से सम्पन्न आचार्य संघ के अज्ञान अन्धकार को नष्ट कर सूर्य की तरह चमकते हैं तथा जिस प्रकार देवों में इन्द्र शोभा पाता है, उसी प्रकार वे श्रमणों में सुशोभित होते हैं।[1] आर्य शय्यंभव ने आचार्य के व्यक्तित्व और कृतित्व को व्यक्त करने के लिए लिखा है—शरद पूर्णिमा की शुभ रात्रि में ग्रह, नक्षत्र, ताराओं से चन्द्रमा सुशोभित होता है, अमृत की वर्षा करता है, अपनी शीतल चाँदनी से जन-मानस को शांति प्रदान करता है वैसे ही आचार्य भी चतुर्विध संघ के परिवार से सुशोभित होता है।[2] वह जिनवाणी रूपी अमृत-वर्षा करता है, भव-ताप से तापित व्यक्तियों को शीतलता प्रदान करता है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने आचार्य की तुलना चक्रवर्ती के वातानुकूलित शीतगृह से की है[3] जैसे शीतगृह में बाह्य वातावरण का असर नहीं होता, चाहे बाहर भीष्म ग्रीष्म की कितनी ही गर्मी हो, चाहे पौष माह की कितनी ही कँपाने वाली सर्दी हो या मूसलाधार वर्षा हो अथवा आँधी हो वातानुकूलित मकान पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वैसे ही आचार्य पर बाह्य परिस्थितियों का कोई असर नहीं पड़ता। कैसी भी परिस्थिति क्यों न हो, चाहे अनुकूल हो या प्रतिकूल, उनके मन पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

आचार्य का अर्थ है—आचारवान, अर्थात् आचार्य वह है जो आचार का पालन स्वयं करता है और दूसरों से करवाता है। जो आचार्य शास्त्रों के वास्तविक अर्थों

---

१. जहा निसंते तवणच्चिमाली पभासई केवल भारहं तु।
एवायरिओ सुयसील-बुद्धिए विरायई सुरमज्झे व इन्दो॥ —*दशवैकालिक* ९/१/१४

२. जहा ससी कोमुइजोगजुत्तो नक्खत्त तारागण परिवुडप्पा।
खे सोहइ विमले अब्भमुक्के एवं गणी सोहइ भिक्खुमज्झे॥ —*वही* ९/१/१५

३. रागद्दोस विमुक्को सीयघरसमो य आयरिओ। —*निशीथभाष्य* २७९४

का अनुशीलन स्वयं करता है व दूसरों को कराता है और शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन के द्वारा दूसरों की बुद्धि को परिमार्जित करता है।[1] स्थानांग में आचार्य के जीवन का शब्दचित्र उपस्थित करते हुए कहा है कि आचार्य का जीवन आँवले की तरह ज्ञानरूपी रक्त की अभिवृद्धि करने वाला है, अंगूर की तरह मधुर है, खीर की तरह पूर्ण स्वादिष्ट है, और इक्षुखण्ड की तरह रसदार है।[2]

नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेव ने आचार्य के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए लिखा है कि वह सूत्र और अर्थ का ज्ञाता होता है। वह उत्तम लक्षणों वाला होता है। वह गण के लिए आधार-स्तम्भ के रूप में होता है। वह स्वयं ताप से मुक्त होता है और अपने निर्देशन के अनुसार चलते हुए संघ को भी संताप से मुक्त करता है तथा शिष्यों को आगम-साहित्य का मर्म समझाता है।[3]

आचार्य स्वयं ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार, और वीर्याचार इन पाँचों आचारों का पालन करते हैं और दूसरों को आचार पालन करने के लिए उत्प्रेरित करते हैं।[4] इसलिए वे आचार्य कहे जाते हैं।

आठ सम्पदाएँ

दशाश्रुतस्कन्ध में, आचार्य की अनुपम गौरव-गरिमा को अभिव्यक्त करने वाली आठ सम्पदाएँ बताई हैं, जो उनके विराट् व्यक्तित्व और कृतित्व को अभिव्यक्त करती हैं। वे सम्पदाएँ इस प्रकार हैं–

(१) **आचारसम्पदा**–आचार प्रवणता आचार्य का प्रमुख गुण है। आचार्य स्वयं ध्रुव की तरह रहते हैं। कोई भी उन्हें संयम-साधना से विचलित नहीं कर पाता। आचारसम्पन्न होने पर भी उनमें अहंकार नहीं होता। उनके मन में यह विचार नहीं होता कि मैं कितना उत्कृष्ट आचार का पालन कर रहा हूँ और ये सभी निकृष्ट आचारी हैं। आचार्य का आहार-विहार नियमित और प्रतिबद्ध होता है। वे औद्देशिक, नैमित्तिक आहार को ग्रहण नहीं करते। तन से युवक और नवदीक्षित होने पर भी वे वयोवृद्ध व्यक्ति की तरह गम्भीर होते हैं तथा ज्येष्ठ व श्रेष्ठ श्रमणों की तरह संयम नियम में जागरूक रहते हैं।[5]

---

१. आचारं ग्राहयत्याचिनोत्यर्थान् आचिनोति बुद्धमिति वा। –*निरुक्ति, अ. १, खण्ड ४/१२*

२. स्थानांग ४/३/३२०

३. सुत्तत्थविऊ लक्खणजुत्तो गच्छस्स मेढिभूओ य।
गणतत्ति विप्पमुक्को अत्थं वाइ आयरिओ॥ –*भगवती सूत्र १-१-१ मंगलाचरण (वृत्ति)*

४. पंचविहं आयारं आयरमाणा तहा पयासंता।
आयारं दंसंता, आयरिया तेण वुच्चंति॥ –*भगवती सूत्र १-१-१ मंगलाचरण (वृत्ति)*

५. दशाश्रुतस्कन्ध, अ. ४, सू. १

(२) श्रुतसम्पदा–आचार्य बहुश्रुत होते हैं। वे आगम-साहित्य के गम्भीर ज्ञाता होते हैं। आगम साहित्य के अतिरिक्त धर्म, दर्शन, साहित्य, संस्कृति, लोक व्यवहार आदि के बारे में इनका ज्ञान व्यापक होता है। वे जड़ और चेतन, आत्मा और परमात्मा के तलस्पर्शी ज्ञान से जन-जन के मन को मुग्ध कर देते हैं। वे उत्सर्ग और अपवाद मार्ग तथा अन्य दर्शनों के भी गम्भीर व्याख्याता होते हैं। वे सूत्र और अर्थ दोनों का ही सम्यक् प्रकार से अनुशीलन करने वाले होते हैं। आदि से अन्त तक और अन्त से आदि तक इस प्रकार धाराप्रवाह रूप से सूत्र का वाचन करते हैं। उनका उच्चारण पूर्ण शुद्ध होता है। उनकी वाणी 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' से युक्त होती है।[1]

(३) शरीरसंपदा[2]–आचार्य का शरीर सर्वांग सुन्दर सुदर्शन और स्वस्थ होता है; क्योंकि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन का निवास होता है। उनकी इन्द्रियाँ परिपूर्ण होती हैं।

(४) वचनसंपदा[3]–आचार्य के वचन में उपयोगिता रही हुई होती है। उसके वचनों में एक प्रकार की चुम्बकीय शक्ति होती है जो दूसरों को प्रभावित–आकर्षित कर लेती है। उसके वचन मिश्री के समान मीठे होते हैं। महाकवि भारवि ने सत्य ही कहा है–"हितं मनोहारी च दुर्लभं वचः।" ऐसा वचन जो दुर्लभ होने के साथ ही मधुर और हितकारी भी हो। उनका वचन राग-द्वेषरहित और सुस्पष्ट होता है।

(५) वाचनासंपदा[4]–आचार्य अपने अन्तेवासियों और शिष्यों को उनके बौद्धिक विकास और ग्रहणशीलता का विचार कर ही अर्थवाचना देते हैं। अध्येता की क्षमता को निहारकर ही वे अध्ययन करवाते हैं। प्रमाण, नय, हेतु, दृष्टान्त, रूपक व युक्तिपूर्वक अर्थ समझाते हैं। वे इस बात का भी ध्यान रखते हैं कि शिष्य को जो अध्ययन करवाया है वह उसके मस्तिष्क में अच्छी तरह से बैठा है या नहीं। यदि पहले का अध्ययन अच्छी तरह से हृदयंगम न हुआ हो तो वे आगे वाचना नहीं देते किन्तु पुनः उसी विषय को तैयार करवाते हैं। साथ ही तत्त्वों का परिज्ञान इस प्रकार करवाते हैं जिससे शिष्य अच्छी तरह से गूढ़ विषयों को भी सम्यक् प्रकार से समझ ले। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि कारणवशात् यदि उपाध्याय पद की नियुक्ति नहीं हुई हो तो स्वयं आचार्य शिष्यों को सूत्र की वाचना देता है। आवश्यकता होने पर अन्य पदों के भार को भी वहन करता है।

---

१. दशाश्रुतस्कन्ध ४/२०
२. वही ४/४
३. वही ४/५
४. वही ४/६

(६) मतिसंपदा[1] मतिसंपदा का अर्थ बुद्धि वैशिष्ट्य है। आचार्य की बुद्धि बड़ी पैनी होती है। वह संक्षेप में विषय के रहस्य को जान लेता है। उसकी तलस्पर्शी मेधा से कोई भी विषय अज्ञात नहीं रहता।

(७) प्रयोगसंपदा[2] प्रतिवादी के साथ विचार चर्चा करना। यहाँ 'प्रयोग' शब्द वाद-कुशलता के अर्थ में व्यक्त किया गया है। वाद सम्बन्धी पटुता के बिना वाद-विवाद में सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। वाद करने वाले को सर्वप्रथम निरीक्षण करना चाहिए कि उसमें कितनी क्षमता है? वह जिससे वाद करने जा रहा है यदि वह उसकी तुलना में विशेष है तो उससे विवाद नहीं करना चाहिए। अपनी क्षमता को बिना जाने वाद में प्रवृत्त न हो। जिस परिषद में वाद करना हो उस परिषद का जनमानस किस विचारधारा का है? वह किस धर्म का अनुयायी है? वह शिक्षित है या अशिक्षित है? वह हमारी विचारधारा के अनुकूल है या प्रतिकूल है? कुशल वादी के लिए यह आवश्यक है कि वह पहले ही इस सम्बन्ध में सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त कर ले। परिषद के साथ ही जिस क्षेत्र में शास्त्रार्थ करना हो, उस क्षेत्र के निवासियों की भी जानकारी अत्यन्त आवश्यक है। यदि क्षेत्र के निवासी प्रतिकूल विचारधारा के हैं तो विवाद नहीं करना चाहिए। जिस विषय पर वाद करना हो, उस विषय का विभिन्न दृष्टियों से चिन्तन करना चाहिए। क्योंकि विभिन्न प्रकार के प्रश्न उसके सामने आ सकते हैं और उसे उन सबका युक्तियुक्त समाधान करना आवश्यक होता है। इसलिए आचार्य को प्रबल प्रतिभा का धनी होना चाहिए। उसकी विजय संघ की विजय है और उसकी पराजय संघ की पराजय है। अपना और संघ का गौरव बढ़े आचार्य को इस बात का ध्यान रखना होता है।

(८) संग्रहपरिज्ञासंपदा[3]–जैन श्रमण निष्परिग्रही होता है। पर जीवन यात्रा के निर्वाह के लिए उसे कितनी ही वस्तुओं की अपेक्षा होती है। शास्त्रीय मर्यादा के अनुकूल वह वस्तुओं को ग्रहण करता है; किन्तु उन वस्तुओं के प्रति उसके मन में आसक्ति नहीं होती जिसके कारण उसे परिग्रह का पाप नहीं लगता। यदि साधक के मन में उन वस्तुओं के प्रति आसक्ति है तो वह परिग्रह है। यही कारण है, आत्म-साधना में संलग्न रहते हुए भी अनिवार्य आवश्यकताओं के निर्वाह के लिए वह कुछ वस्तुएँ ग्रहण करता है।

संग्रह का अर्थ, यहाँ पर श्रमण-जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं को एकत्रित करना है। आचार्य पर संघ संचालन, संरक्षण और व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व है। इसलिए उसे सतत जागरूक रहने की आवश्यकता है। किन्तु वह

---

1. दशाश्रुतस्कन्ध ४/७ 2. वही ४/११ 3. वही ४/१२

यह भी ध्यान रखता है कि कब किस वस्तु की आवश्यकता पड़ सकती है और उस वस्तु की पूर्ति किस प्रकार संभव है? आचार्य को यह भी देखना होता है कि श्रमणों के लिए कौन से क्षेत्र अनुकूल हैं जहाँ वे वर्षावास कर सकते हैं, शारीरिक अस्वस्थता की अवस्था में अवस्थित रह सकते हैं। जहाँ पर स्वास्थ्य की दृष्टि से आहार-विहार, निवास और चिकित्सा की अनुकूलता हो, अध्ययन आदि की सुविधा हो और प्रवास काल में अनुकूल क्षेत्रों के विषय में भी वह सावधानीपूर्वक विचार करके निर्णय करता है।

श्रमण अपनी आवश्यकता के अनुसार दो प्रकार की वस्तुएँ ग्रहण करता है। एक, वे वस्तुएँ हैं जो लेने के बाद लौटाई नहीं जाती हैं, जैसे–अशन, पान, खादिम, स्वादिम आदि। कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो लेने के बाद पुनः लौटाई जाती हैं। वे वस्तुएँ पातिहारिक कहलाती हैं, जैसे–पीठ, फलक, शय्या-संस्तारक आदि। आचार्य को यह ध्यान रखना होता है कि कौन-सी वस्तु कहाँ पर सुलभ हो सकती है। काल की दृष्टि से किस साधु को किस समय कौन-सा कार्य करना चाहिए? इसका ध्यान रखना भी आचार्य को आवश्यक है जिससे उसके शिष्य श्रमण-जीवन के नियमोपनियम का सम्यक् सम्पादन कर सकें। आचार्य का प्रत्येक कार्य उसके अन्तेवासियों के लिए आदर्श होता है जिसका शिष्यों के मन पर अमिट प्रभाव पड़ता है। उससे ज्येष्ठ दीक्षा पर्याय वाले हैं उन श्रमणों का आचार्य स्वयं आदर करते हैं जिससे अन्य अन्तेवासी भी बड़ों के प्रति आदर और श्रद्धा व्यक्त करें और सौहार्दपूर्ण वातावरण का निर्माण हो सके।

छत्तीस गुण

इस तरह आचार्य आठ संपदा से युक्त होते हैं। आचार्य का जीवन सद्गुणों का आगार है। आचार्य के सद्गुणों का विश्लेषण विभिन्न दृष्टियों से भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है। उसमें विविध गुण होते हैं। आठ संपदाओं के प्रत्येक के चार-चार भेद होने से बत्तीस गुण होते हैं। उन गुणों के साथ आचारविनय, श्रुतविनय, विक्षेपणविनय और दोष परिघातविनय–विनय के ये चार भेद जोड़ने से आचार्य के छत्तीस गुण होते हैं।

दूसरे प्रकार से आचार्य के छत्तीस गुण ये हैं–आचार आदि आठ गुण, अनशन आदि बारह तप, अचेलक आदि दस कल्प और सामायिक आदि छह आवश्यक।[1]

---

१. अष्टावाचारवत्त्वाद्यास्तपांसि द्वादशस्थितेः।
कल्पादशाऽऽवश्यकानि षट्त्रिंशद् गुणाः गणे॥

तीसरे प्रकार से छत्तीस गुण ये हैं–प्रतिरूपादि चौदह गुण–(१) प्रतिरूप (विश्वासपात्र), (२) तेजस्वी, (३) आगम-मर्मज्ञ, (४) मधुर वचन बोलने वाला, (५) गम्भीर, (६) धैर्यवान, (७) उपदेष्टा, (८) अविस्मृति, (९) सौम्य, (१०) संग्रह-शील, (११) अभिग्रह मति वाला, (१२) विकथा न करने वाला, (१३) अचपल, और (१४) प्रशान्त; उत्तम क्षमा आदि दस धर्म–(१) क्षमा, (२) आर्जव (सरलता), (३) मार्दव (कोमलता), (४) मुक्ति निर्लोभता, (५) तप, (६) संयम, (७) सत्य, (८) शौच, (९) अकिंचनत्व (निष्परिग्रहता), और (१०) ब्रह्मचर्य; इन दस श्रमणधर्मों का उत्तम रीति से पालन करने वाला; बारह भावना–(१) अनित्य, (२) अशरण, (३) संसार, (४) एकत्व, (५) अन्यत्व, (६) अशुचि, (७) आस्रव, (८) संवर, (९) निर्जरा, (१०) लोक स्वरूप, (११) बोधिदुर्लभ, और (१२) धर्म; इन द्वादशानुप्रेक्षाओं का सतत चिन्तवन करने वाला।

चतुर्थ रूप में आचार्य के ३६ गुण इस प्रकार हैं–पाँच इन्द्रियों का दमन, ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियाँ, चार कषाय का त्याग, पाँच महाव्रत, पाँच आचार, पाँच समिति, तीन गुप्ति।[1]

आचार्य धर्मसंघ के केन्द्र हैं। इसलिए आवश्यक सूत्र के अवचूर्णिकार ने यहाँ तक लिखा है कि आचार्य तीर्थंकर की अनुकृति है।[2] जैसे तीर्थंकर संघ की व्यवस्था की चिन्ता से मुक्त होते हैं, वे शिष्यों को अर्थ की प्ररूपणा करते हैं वैसे ही आचार्य भी संघ-व्यवस्था की चिन्ताओं से मुक्त होकर शिष्यों को श्रुत के अर्थ की वाचना देते हैं। वे सूत्र के अर्थ की वाचना इस कारण से देते हैं कि अर्थ की वाचना में विशेष रूप से एकाग्रता अपेक्षित है और बुद्धि की तीक्ष्णता भी आवश्यक है; जिससे आगम रहस्यों को नये-नये रूप से उद्घाटित किया जा सके।

संक्षेप में, आचार्य का आचारनिष्ठ होना परमावश्यक है। चतुर्थ महाव्रत को भंग करने वाला श्रमण आचार्य पद के अयोग्य है। मृषावाद का प्रयोग करने वाला भी आचार्य पद को सुशोभित नहीं कर सकता। जिसके जीवन में सद्गुणों का बाग सरसब्ज हो, वही आचार्य पद के लिये सर्वथा उपयुक्त होता है। छेदसूत्रों में आचार्य के दायित्व का विस्तृत विवेचन हुआ है। सद्गुणों का पुञ्ज होने से आर्य सुधर्मा ने भगवतीसूत्र में मंगलाचरण में 'नमो आयरियाणं' कहकर आचार्य की अभिवन्दना की है।

---

१. पंचिंदिय संवरणो तह नवविह बंभचेर-गुत्तिधरो।
चउविह-कसाय-मुक्को, इअ अठारस-गुणेहिं संजुत्तो॥
पंच-महव्वय-जुत्तो, पंच विहायार-पालण समत्थो।
पंच-समिओ ति गुत्तो छत्तीस गुणो गुरु मज्झ॥

२. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १२०९ की अवचूर्णि

उपाध्याय

जैन संघ में आचार्य के पश्चात् दूसरा स्थान उपाध्याय का है। समस्त श्रुतज्ञान का अधिकारी, संयम-योग से अलंकृत, सूत्र और अर्थ दोनों का सम्यक् ज्ञाता, आचार्य पद को अलंकृत करने की योग्यता वाला साधक उपाध्याय पद के योग्य है। वह श्रमणों को सूत्र की वाचना देते हैं। सूत्र-अर्थ के ज्ञाता, ज्ञान-दर्शन-चारित्र की साधना में तत्पर शिष्यों को श्रुतसम्पन्न बनाने में कुशल उपाध्याय होते हैं।[1] आचार्य भद्रबाहु[2] ने लिखा है जिन भगवान द्वारा प्ररूपित बारह अंगों का जो उपदेश करते हैं, वे उपाध्याय हैं। आचार्य हरिभद्र[3] ने लिखा है जिनके पास श्रमण सूत्र का अध्ययन करते हैं, वे उपाध्याय हैं। आचार्य शीलांक[4] ने उपाध्याय को अध्यापक कहा है। भगवती आराधना की विजयोदयावृत्ति[5] में लिखा है ज्ञान-दर्शन-चारित्र-रूप रत्नत्रय की आराधना में स्वयं निपुण होकर दूसरों को आगमों का अध्ययन कराने वाले उपाध्याय हैं। एक आचार्य ने 'उवज्झाय' की निर्युक्ति करते हुए लिखा 'उ' का अर्थ है उपयोगपूर्वक और 'व' का अर्थ है ध्यानयुक्त होना, अर्थात् जो श्रुतसागर के अवगाहन में सदा उपयोगपूर्वक ध्यान करने वाले हैं, वे उवज्झाय हैं।[6] उपाध्याय सूत्रों के पाठों का उच्चारण बहुत ही शुद्धतापूर्वक, स्पष्टता के साथ करता है।

जो महत्त्व आचार्य का है प्रायः वही महत्त्व उपाध्याय का भी है। संघ-व्यवस्था की दृष्टि से भले ही उपाध्याय आचार्य के पश्चात् हैं, पर जो गौरव आचार्य को दिया जाता है वैसा ही गौरव उपाध्याय को दिया जाता है। जैसे आचार्य का उपाश्रय में प्रवेश करने पर चरण-परिमार्जन का उल्लेख है, वैसे ही उपाध्याय का भी है। आचार्य की तरह उपाध्याय पर भी अनेक जिम्मेदारियाँ हैं। शासन-व्यवस्था की दृष्टि से जहाँ आचार्य का महत्त्व है; ज्ञान-विज्ञान को फैलाने वाले की दृष्टि से वैसा ही महत्त्व उपाध्याय का है। उपाध्याय ज्ञान का अधिदेवता है। उपाध्याय

---

१. सुत्तत्थ तदुभयविऊ उज्जुता नाण-दंसण-चरित्ते।
निष्पायग सिस्साणं एयारिया होंति उवज्झाया॥ —व्यवहारभाष्य, पृ. १३४

२. बारसंगो जिणक्खाओ सज्झाओ कहिओ बुहे।
तं उवइस्संति जम्हा, उवज्झाया तेण वुच्चंति॥ —आवश्यकनिर्युक्ति, गा. ९९७

३. उपेत्य अधीयतेऽस्मात् साधवा सूत्रमित्युपाध्यायः॥ —हारिभद्रीया वृत्ति, पृ. ८८३

४. उपाध्याय अध्यापकः। —आचारांग, शीलांकवृत्ति, सूत्र २७९

५. रत्नत्रयेपूद्यता जिनागमार्थ सम्यगुपदिशंति ये ते उपाध्यायाः। —भ. आ. वि., टीका ४६

६. 'उ' त्ति उवगरण 'व' त्ति वेयज्झाणस्स होइ निद्देसे।
एएण होइ उज्झा एसो अण्णो वि पज्जाओ॥ —अभिधान राजेन्द्र कोष, भा. २, पृ. ८८३

संघरूपी नन्दन-वन का कुशल माली है जो ज्ञानरूपी वृक्ष को हरा-भरा रखता है, इसकी शुद्धता-निर्दोषता और विकास का पूर्ण लक्ष्य रखता है। आगम पाठ को सुरक्षित रखने में उपाध्याय का अपूर्व योगदान रहा है।

आठ प्रभावनाएँ

प्रवचनसारोद्धार[1] में उपाध्याय के प्रबल प्रभाव को व्यक्त करने वाली आठ प्रभावनाएँ बताई हैं। वे इस प्रकार हैं–

(१) प्रावचनी–जैन व जैनेतर आगमों का मर्मज्ञ विद्वान्।

(२) धर्मकथी–धर्मकथा करने में कुशल।

(३) वादी–स्वपक्ष के मंडन और परपक्ष के खण्डन में सिद्धहस्त।

(४) नैमित्तिक–भूत, भविष्य और वर्तमान में होने वाले हानि-लाभ के ज्ञाता।

(५) तपस्वी–विविध प्रकार के तप करने में निपुण।

(६) विद्यावान्–रोहिणी, प्रज्ञप्ति आदि चौदह विद्याओं में निष्णात।

(७) सिद्ध–अंजन, पादलेप आदि विविध प्रकार की सिद्धियों के ज्ञाता।

(८) कवि–गद्य, पद्य, कथ्य, गेय–इन चार प्रकार के काव्यों की रचना करने वाले।

उपाध्याय के गुण

आचार्य की तरह उपाध्याय भी गुणों के आगार होते हैं। शास्त्रों में उपाध्याय के गुणों का वर्णन प्राप्त होता है। उन गुणों की गणना दो प्रकार से प्राप्त होती है। प्रथम पद्धति से २५ गुण ये हैं[2]–११ अंग, १२ उपांग, चरण–नित्य आचरण करने वाला चारित्र जैसे महाव्रत आदि और करण–प्रयोजन होने पर आचरण करना जैसे प्रतिलेखन आदि।

दूसरी परिगणना के अनुसार[3] २५ गुण इस प्रकार हैं–(१२) बारह अंगों का वेत्ता, (१३) करण गुण सम्पन्न, (१४) चरण गुण सम्पन्न, (१५-२२) आठ प्रकार की प्रभावना के प्रभावक गुणों से युक्त, (२३-२५) मन, वचन और काय योग को वश में करने वाले।

---

१. प्रवचनसारोद्धार, द्वार १४८, गा. ८३४

२. जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग ६, पृ. २१५

३. चारित्र प्रकाश ११५

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि उपाध्याय ज्ञानदीप को प्रज्वलित रखकर श्रुत परम्परा को आगे बढ़ाने वाला महान् साधक है। आचार्य अमितगति[1] ने उपाध्याय की स्तुति करते हुए लिखा है–जिनका निर्मल तप शरीर पर दीप्त हो रहा है, जिनकी चेतनाशील तत्त्वबुद्धि चित्त में सदा स्फुरित रहती है जिनके मुख-कमल पर सरस्वती क्रीड़ा कर रही है, ऐसे उपाध्याय मेरे मन, वचन को पवित्र करें। वस्तुतः उपाध्याय का जिनशासन में अनूठा स्थान है।

प्रवर्तक

आचार्य के महान् उत्तरदायित्व को निर्वहन में सहयोग देने के लिए प्रवर्तक का भी विशेष महत्त्व रहा है। व्यवस्था और दायित्व की दृष्टि से प्रवर्तक का अपना स्थान है। वह श्रमण संघ की प्रत्येक गति-विधि का पूर्ण ध्यान रखता है। जो श्रमण तप, संयम और प्रशस्त योगमूलक तथा अन्य सत्प्रवृत्तियों में निष्ठावान् हैं, उन्हें वे उस कार्य के लिए उत्प्रेरित करते हैं। यह सत्य है कि जितने भी श्रमण हैं वे साधना तो करते ही हैं किन्तु प्रत्येक की रुचि पृथक्-पृथक् होती है। कोई साधक ध्यान-साधना में लगना चाहता है तो कोई साधक ज्ञान-साधना में लगना चाहता है। किसी का उत्साह सेवा में है तो किसी का उत्साह तप में है। साधक की योग्यता और रुचि के अनुसार, उसी प्रकार की साधना में उसे नियुक्त करने का गुरुतर दायित्व प्रवर्तक पर है। वह प्रतापपूर्ण प्रतिभा का धनी होता है जिससे वह साधक की रुचि, अभीप्सा, लक्ष्य को प्राप्त करने की लगन, क्षमता, धैर्य आदि को परीक्षण करके देखता है और उसकी योग्यता देखकर उस कार्य के लिए उस साधक को नियुक्त करता है।

कई बार साधक भावुकता के प्रभाव में प्रवाहित होकर किसी कार्य को करना चाहता है, किन्तु उस साधक में उतनी शारीरिक क्षमता नहीं है, उस कार्य के लिए परिस्थितियाँ प्रतिकूल हैं तो प्रवर्तक उसे उस कार्य से निवृत्त कर उसकी शक्ति के अनुकूल कार्य में उसे नियुक्त करता है। व्यवहारभाष्य[2] में भी इसी तथ्य को स्पष्ट किया है। प्रवर्तक की योग्यता का विश्लेषण करते हुए व्यवहारभाष्य में कहा है–तप, नियम, विनय प्रभृति गुणों का वह निधान है। श्रमणों को यथायोग्य ज्ञान,

---

१. येषां तपः श्रीरलघ्वी शरीरे, विवेचका चेतसि तत्त्वबुद्धिः।
सरस्वती तिष्ठति वक्त्रपद्मे, पुनन्तु तेऽध्यापक पुंगवा वः॥ –*अमितगति श्रावकाचार १-४*

२. (क) तवसंजमनियमेसु जो जुग्गो तत्थ तं पवेत्तई।
असहू य नियत्तेती गणतत्तिल्लो पवत्तीओ। –*व्यवहारभाष्य*, उ. १, गा. ३४०

(ख) तपः संयमयोगेषु मध्ये यो यत्र योग्यस्तं तत्र प्रवर्तयति, असहांश्च असमर्थांश्च निवर्तयन्ति। एवं गणतृप्तिप्रवृत्ताः प्रवर्तिनः। –*वही, वृत्ति*

दर्शन और चारित्र की साधना में नियोजित करने वाले, संग्रह-अनुग्रह में कुशल श्रमण प्रवर्तक पद को अलंकृत करते हैं।[1] प्रवर्तक तप, संयम में जिसे योग्य समझता है उसे प्रवर्तित करता है और अयोग्य को निवृत्त करता है। इसलिए वह 'प्रवर्तक' कहलाता है।[2] जिसमें संयम, तप आदि के आचरण में धैर्य होता है वही उसका सम्यक् पालन कर सकता है और जिसमें उस प्रकार की योग्यता का अभाव होता है वह प्रवर्तक नहीं बन सकता। प्रवर्तक का कार्य है–ज्ञान, दर्शन और चारित्र में साधक को प्रवृत्त कर उसका विकास करे।[3]

स्थविर

जो स्वयं ज्ञान, दर्शन, चारित्र में स्थिर होता है और दूसरों को ज्ञान, दर्शन, चारित्र में स्थिर करता है वह 'स्थविर' कहलाता है। जब साधक साधना करते हुए डगमगाने लगता है, उसका मन साधना में शिथिल हो जाता है, उस समय स्थविर उसे साधना में पुनः स्थिर करता है। उसमें अभिनव जागृति का संचार करता है, जिससे वह साधक साधना के पथ पर दृढ़ता के साथ कदम बढ़ा सके।[4] आचार्य भद्रबाहु[5] ने कहा है–जो श्रमण समर्थ होते हुए भी प्रवर्तक द्वारा नियोजित कार्य में शिथिल हो जाता है तो स्थविर उन्हें पुनः स्थिर करता है।

'स्थविर' शब्द वृद्ध के अर्थ में व्यवहृत हुआ है; पर निश्चित रूप से स्थविर वय की दृष्टि से ही नहीं, अपितु अनुभव और ज्ञान की दृष्टि से वृद्धत्व को व्यक्त करता है। यही कारण है कि स्थानांगसूत्र[6] में तीन प्रकार के स्थविर बताये हैं–वयःस्थविर, श्रुतस्थविर और पर्यायस्थविर। लघुवय होने पर भी जो ज्ञान का पूर्ण अभ्यासी है वह श्रुतस्थविर है। जिसका दीक्षाकाल २० वर्ष से अधिक हो गया है वह पर्यायस्थविर या दीक्षास्थविर है। जिसकी उम्र ६० वर्ष से अधिक है वह वयःस्थविर है।

---

१. तव, नियम-विनय गुण निहि, पवत्तयाणाण-दंसण चरित्ते।
संगहुग्गह कुसला पवत्ति एयारिसो हुंति। –व्यवहारभाष्य, पृ. १३४

२. तप-संयमयोगेषु योग्यं यो हि प्रवृत्तयेत्।
निवृत्तयेदयोग्यं च, गणचिन्ती प्रवर्तक॥ –धर्मसंग्रह, अधिकार ३, गाथा १४३

३. कल्पसूत्रवृत्ति–टिप्पण, पृ. १०८

४. थेरो एतेसु चेव नाणादिसु सीतंतं थिरी करोति, पडिचोदेति, उज्जमंतं अणुबूहति।
–कल्पसूत्रवृत्ति टिप्पण, पृ. १०८

५. थिरकरणा पुण थेरो पवित्ति वावारिएसु अत्थेसु।
जो तत्थ सीयई जई, सतबलो तं थिरं कुणइ॥ –आवश्यकनिर्युक्ति अवचूर्णि

६. स्थानांगसूत्र, स्थान ३, सू. १६२–अभयदेव वृत्ति

वस्तुतः 'स्थविर' शब्द स्थिरता का प्रतीक है। जो स्वयं स्थिर होता है वही दूसरों को स्थिर कर सकता है। जो स्वयं दृढ़धर्मी होते हैं वे ही दूसरों को ज्ञान, दर्शन, चारित्र में स्थिर करने के लिए सदा जागरूक रहते हैं। प्रवचनसारोद्धार[1] में कहा है—जो श्रमण लौकिक ऐषणा के कारण सांसारिक कार्य-कलापों में प्रवृत्त होते हैं तथा संयम-साधना और ज्ञानाराधना में जो कष्ट का अनुभव करते हैं उन्हें वे स्थविर ऐहिक और पारलौकिक हानि बताकर श्रमण-जीवन में स्थिर करते हैं। वे स्वयं निर्मल चारित्र के धनी होते हैं इसलिए उनके अन्तर्हृदय से निकली हुई वाणी का गहरा असर होता है। स्थविर का स्वभाव अत्यन्त मृदु होता है। उस मधुर स्वभाव के कारण पतनोन्मुख साधकों को वे विकासोन्मुख बनाते हैं।[2]

तप, संयम श्रुताराधना और आत्म-साधना ये सभी कार्य संयमी जीवन की उन्नति के लिए आवश्यक हैं। ये कार्य संघोत्कर्ष की मंगलमय भावना से आयोजित किये जाते हैं। पर जो श्रमण अस्थिर मस्तिष्क के हैं उन्हें प्रस्तुत साधना करते समय कष्ट का अनुभव होता है। उस आचार-संहिता का पालन करना उनके मन को भाता नहीं है। तो स्थविर विविध युक्तियाँ देकर उस साधक को यह समझाता है कि यह कार्य करना तुम्हारे लिए ही अत्यन्त हितावह है। इस प्रकार के शब्दों और युक्तियों से उस साधक को उत्साहित कर उसे आत्मोन्नति के कार्यों में स्थिर करता है।

स्थविर का श्रमण संघ में अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान रहा है। कहीं स्थविर को भगवान की उपमा से अलंकृत किया है 'थेरा भगवन्तो' और कहीं पर 'गणधर' भी कहा है 'थेरा गणहरा' किन्तु यह ध्यातव्य है कि गणधर के लिए जो स्थविर विशेषण लगाया गया है वह उनके गंभीर श्रुतज्ञान को व्यक्त करने के लिए है, प्रस्तुत पद के साथ उनका सम्बन्ध नहीं है। स्थविर को आधुनिक भाषा में न्यायाधीश कह सकते हैं। वह संघीय सभी समस्याओं को बहुत ही अच्छी तरह से सुलझाता था। उसके द्वारा दिये गये निर्णय को आचार्य भी चुनौती नहीं दे सकते थे। जब कभी धर्मसभाएँ होतीं और किसी कारण आचार्य उनमें सम्मिलित नहीं हो पाते तो आचार्य का प्रतिनिधि बनाकर स्थविर को भेजा जाता था। वह छेद सूत्रों का पारंगत विद्वान् होता था।

---

१. प्रवर्तितव्यापारान् संयमयोगेषु सीदतः साधून् ज्ञानादिषु।
ऐहिकामुष्मिकापायदर्शनतः स्थिरीकरोतीति स्थविरः॥ —*प्रवचनसारोद्धार, द्वार २*

२. संविग्गो महविओ पियधम्मो नाणदंसणचरित्ते।
जे अट्ठे परिहायइ, सातो ते हवई थेरो॥

गणी

गणी का सामान्य अर्थ है गण यानी श्रमण समुदाय का अधिपति। आचार्य अभयदेव[१] ने यही अर्थ किया है। अनेक स्थलों पर आचार्य के लिए भी गणी शब्द व्यवहृत हुआ है किन्तु आचारांगचूर्णि[२] में गणी का अर्थ किया है जिनके पास आचार्य स्वयं सूत्र और अर्थ का अभ्यास करते हैं, वह गणी है। अन्य आचार्य भी जिनके पास अध्ययन के लिए रहते हों, वे गणी हैं—ऐसा उपाध्याय विनयविजय जी की मान्यता है।[३] आचार्य और उपाध्याय अन्य सामान्य श्रमणों को अर्थ और सूत्र की वाचना देते हैं। लेकिन जब आचार्य को भी अध्ययन की अपेक्षा होती तो वे हर किसी से अध्ययन नहीं कर सकते। उनको अध्ययन कराने वाले विशिष्ट श्रमण होते हैं। वे श्रमण ही गणी कहलाते हैं। इसी उद्देश्य से गणी की नियुक्ति की जाती थी। इससे गणी के स्थान का गौरव प्रगट होता है। गणी ज्ञान के अधिदेवता होते हैं, जिसके कारण वे आचार्य को भी वाचना दे सकते हैं।

यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है केवल विद्वत्ता के आधार पर ही किसी को आचार्य नहीं बनाया जाता। आचार्य के लिए ओज, प्रभाव अनुशासन में रखने की कला आदि अनेक विशेषताएँ आवश्यक हैं। यदि आचार्य में ज्ञान की कमी है तो वह भी अध्ययन कर सकता है। विशिष्ट ज्ञानी से ज्ञान प्राप्त करने में संकोच का अनुभव नहीं करना चाहिए।

गणधर

शाब्दिक दृष्टि से गणधर का अर्थ है गण को धारण करने वाला आचार्य। गण का अधिपति गणधर है। आचार्य मलयगिरि[४] ने गणधर की परिभाषा करते हुए लिखा है—जो अनुत्तर ज्ञान-दर्शन आदि गुणों के समूह को धारण करते हैं।

आगम साहित्य में गणधर शब्द का व्यवहार दो अर्थों में मिलता है। प्रथम अर्थ है—तीर्थंकरों के जो प्रमुख शिष्य होते हैं और द्वादशांगी की रचना करते हैं, धर्मसंघ के विभिन्न गणों का नेतृत्व करते हैं, अपने गण के श्रमणों को आगम वाचना प्रदान करते हैं, वे गणधर हैं। किन्तु आचार्य के अर्थ में गणधर शब्द का प्रयोग विशेष रूप से नहीं मिलता। ऐसा भी लगता है कि तीर्थंकरों के परिनिर्वाण

---

१. गणो यस्य अस्तीति गणी, गणस्य आचार्यो गणाचार्यो वा। —*स्थानांगवृत्ति, पृ. २३२*

२. यस्य पार्श्वे आचार्याः सूत्रार्थं अभ्यस्यन्ति। —*आचारांगचूर्णि, पृ. ३२६*

३. अण्णे आयरिया सुत्तादि निमित्त उववण्णगा। —*कल्प सुबोधिका*

४. अनुत्तरज्ञानदर्शनादिगुणानां गणं धारयन्तीति गणधराः।
—*आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १०६२ वृत्ति*

के पश्चात् गणधर के साथ भी गणधर शब्द का प्रयोग नहीं होता। उदाहरणस्वरूप गणधर सुधर्मा स्वामी के लिए आगम साहित्य में 'अज्ज सुहम्मे' शब्द ही अधिक मात्रा में व्यवहृत हुआ है। आचार्य के अर्थ में गणधर शब्द का प्रयोग पश्चाद्वर्ती साहित्य में मिलता है।

आचार्य अभयदेव[1] ने गणधर का अर्थ किया है—जो श्रमणियों को प्रतिजाग्रत रखने वाला हो, दूसरे शब्दों में कहा जाये तो जो श्रमणी समूह की अच्छी तरह से देखभाल करे, उन्हें अध्ययन करावे, प्रतिबोध दे और उनका मार्गदर्शन करे, वह गणधर है। पर चिन्तनीय यह है कि भगवान महावीर के काल में श्रमणी समुदाय का नेतृत्व चन्दनबाला करती थी। महावीर के पश्चात् भी प्रवर्तिनी, स्थविरा, महत्तरा आदि विशेषण साध्वियों के लिए व्यवहृत हुए हैं। इसलिए आचार्य ने किस आधार से यह कथन किया? इसके पीछे क्या प्रमाण है और इस कथन के पीछे क्या रहस्य है? यह अन्वेषणीय है।

गणावच्छेदक

श्रमण संघीय सुव्यवस्था के लिए गणावच्छेदक की भी अतीव आवश्यकता है। गणावच्छेदक के लिए 'गच्छ-बच्छ' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसका अभिप्राय यह है कि गणावच्छेदक के मन में गण के प्रति विशेष रूप से वात्सल्य होता है। आचार्य अभयदेव[2] ने लिखा है—जो संघ को सहारा देता है उसे सुदृढ़ बनाने का प्रयास करता है, श्रमणों की संयम-यात्रा के निर्वाह के लिए, श्रमण-जीवन के लिए आवश्यक सामग्री की अन्वेषणा करने के लिए जो एक स्थान से दूसरे स्थान में परिभ्रमण करता है, वह गणावच्छेदक है।

गणावच्छेदक बहुश्रुत, धृति-संहनन संपन्न, संघ हितैषी और विविध गुणों से युक्त होते हैं। संघ की आन्तरिक व्यवस्थाओं का दायित्व गणावच्छेदक पर रहता है। संघ की प्रत्येक अपेक्षाओं को वे पूर्ण करने में तत्पर रहते हैं। आचार्य और उपाध्याय किसी की सेवा के लिए निर्देश नहीं करते हैं और संघ की सेवा के लिए यदि आवश्यकता है तो गणावच्छेदक उस कार्य के लिए प्रवृत्त हो जाते हैं। यदि आवश्यकता समझते हैं तो वे आचार्य से निवेदन करते हैं कि संघ की इस आवश्यकता की पूर्ति आपश्री को करनी है और उसके लिए गणावच्छेदक श्रमणों को लेकर बहिर्विहार भी करते हैं।

---

१. आर्यिका प्रतिजागरको वा साधुविशेषः समय प्रसिद्धः। —स्थानांगसूत्र ४-३-३२३ वृत्ति

२. गणस्यावच्छेदो विभागोऽस्यास्तीति।
यो हि तं गृहीत्वा गच्छोपष्टम्भावबोपधिमार्गणादिनिमित्तं विहरति।
—स्थानांगसूत्र, स्थान ४, उ. ३ (वृत्ति)

गणावच्छेदक के द्वारा संघ की व्यवस्था करने के कारण, उपकरण आदि जुटाने के कारण, आचार्य पर संघ-व्यवस्था का भार कम हो जाता है। जिसके कारण आचार्य संघ-उन्नति के अन्य कार्य सम्यक् प्रकार से संपादन कर सकते हैं।

पद का अधिकारी

उपर्युक्त सातों पद प्रत्येक व्यक्ति को नहीं दिये जा सकते। व्यवहार सूत्र[1] और उसके भाष्य में स्पष्ट रूप से संकेत है कि ये पद उन्हीं को दिये जा सकते हैं जिन्हें प्रव्रज्या ग्रहण किये आठ वर्ष हो गये हों, जो आचार, संयम, प्रवचन, संग्रह, उपग्रह में कुशल हों, जिनका चारित्र निर्मल हो, चारित्र पर अनाचार के धब्बे न लगे हुए हों, जिनकी प्रवृत्ति सात्त्विक हो, जो चारित्र का पालन आत्मोत्थान की दृष्टि से करते हों, जो कम से कम स्थानांग और समवायांग के ज्ञाता हों, उन्हें ये पद देना कल्पता है और जिनमें इन गुणों का अभाव है उन्हें ये पद देना नहीं कल्पता। आचार्य के लिए ५ वर्ष की दीक्षा पर्याय और उपाध्याय के लिए ३ वर्ष की दीक्षा-पर्याय आवश्यक मानी गई है।

ऊपर की पंक्तियों में जो आठ वर्ष की दीक्षा-पर्याय का उल्लेख किया है वह मुख्य रूप से प्रवर्त्तक, स्थविर, गणी और गणावच्छेदक के लिए है। यह दीक्षा काल न्यूनतम काल है। दीक्षा काल के अतिरिक्त अन्य जो योग्यताएँ बताई गई हैं, वे भी आवश्यक हैं। गणधर के लिए दीक्षा काल का उल्लेख नहीं है।

यों तो जिन साधकों को ये पद दिये जाते हैं उनमें स्वाभाविक प्रतिभा की प्रकृष्टता होती है, उनका ओजस्वी व्यक्तित्व और तेजस्वी कृतित्व तथा अनुभव की गहनता उसके पीछे रही हुई होती है तथापि जो समय दीक्षा-पर्याय का बताया गया है वह अनुभव की दृष्टि से है। व्यवहार सूत्र[2] में यह भी कहा है कि विशेष परिस्थिति में एक दिन के दीक्षित श्रमण को भी आचार्य या उपाध्याय पद दिया जा सकता है। वहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि उसी व्यक्ति को आचार्य या उपाध्याय पद पर नियुक्त किया जाता है जो 'निरुद्धवास' पर्याय श्रमण हो; तात्पर्य यह है कि वह श्रमण जिसने पहले दीर्घकाल तक श्रमण पर्याय का पालन किया हो किन्तु दुर्बलतावश श्रमण-जीवन से पृथक् हो गया हो, वह पुनः आत्मोत्थान की भावना से श्रामण्य पर्याय को ग्रहण करता है उसे पूर्व अनुभव होता है। इसलिए उस एक दिन के दीक्षित श्रमण को भी आचार्य पद दिया जा सकता है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि उसके प्रति संघ में निष्ठा होनी चाहिए। वह श्रमण जिसका कुल निर्मल हो, जाति पवित्र हो, अर्थात् जिसके माता-पिता सदाचारी हों, ऐसे

---

१. व्यवहार सूत्र, उ. ३, सू. ३-७ २. वही, उ. ३, सू. १०

व्यक्ति में ही सहज दृढ़ता, स्थिरता, उदात्तता होती है और वही संघीय गुरुतर भार को वहन कर सकता है।

उपाध्याय पद का सम्बन्ध श्रुत से है। उनका कार्य है—श्रुतवाचना देना। अतः व्यापक अध्ययन, प्रतापपूर्ण प्रतिभा तथा प्रकाण्ड पाण्डित्य के साथ ही तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय इसलिए आवश्यक मानी है कि आचार-प्रवणता और जीवन के अनुभव तीन वर्ष में प्राप्त किये जा सकें। पर विशेष परिस्थिति में जिसका श्रमण-पर्याय एक दिन का ही हो, जिसने आचारांग और निशीथ का कुछ ही विभाग पढ़ा हो, चाहे उसमें बहुश्रुतता न हो तथापि वह उनका परिज्ञान करने के लिए अपना दृढ़ निश्चय व्यक्त करे तो आचार्य अथवा उपाध्याय पद उसे दिया जा सकता है। किन्तु यदि वह उक्त आगम ग्रन्थों को न पढ़े तो वह उस पद के योग्य नहीं है।

आचार्य, उपाध्याय आदि पदों के लिए एक बहुत बड़ी शर्त है—आचारनिष्ठ होना। चतुर्थ महाव्रत को भंग करने वाला श्रमण आचार्य आदि पद के लिए अयोग्य है। इसी तरह माया का सेवन करने वाला, मृषावाद का प्रयोग करने वाला और उत्सूत्र की प्ररूपणा करने वाला श्रमण भी आचार्य आदि पद के लिए अयोग्य है। जिसके जीवन में सद्गुण और सरलता है, वही व्यक्ति आचार्य आदि पद को सुशोभित कर सकता है।

व्यवहारभाष्य में कहा गया है कि आचार्य और उपाध्याय ने द्वादशांगी का पूर्ण अध्ययन किया हो; किन्तु संघीय व्यवस्था में व्यस्त रहने से उन आगमों का पारायण नहीं कर पा रहे हों और पठित ज्ञान विस्मरण होने की स्थिति में हो तो सूत्र और अर्थ के स्मरण हेतु दो-एक मुनि को लेकर गण से निर्मुक्त होकर उसका पुनः चिन्तन करे, उसके लिए शारीरिक स्वास्थ्य और मन में धैर्य अपेक्षित माना है।[1]

व्यवहारभाष्य में ही प्रस्तुत कथन का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—आचार्य और उपाध्याय जो प्रवचन कला में दक्ष हैं, वक्तृत्वकला के धनी हैं जिनके ओजस्वी और तेजस्वी प्रवचनों को सुनने के लिए बरसाती नदी की तरह जनता उमड़ती है, राजा से लेकर रंक तक प्रवचन-श्रवण के लिए उपस्थित होते हैं, उन अध्ययनशील आचार्य और उपाध्याय को जनसम्पर्क से अवकाश नहीं मिलता है तथा प्रवचन आदि करने से थकान भी अनुभव होने लगती है, श्रमणों की चर्या का भी उन्हें पूर्ण ध्यान रखना होता है, जो श्रमण भिक्षा लेकर आया है उसकी भिक्षा का अवलोकन

---

१. आयरिय उवज्झाया संघवण-धितीए जेउ उववेया।
सुत्तं अत्थो य बहुं गहितो गच्छे य होइ वावतो॥ —व्यवहारभाष्य, उ. ५, भा. गाथा ८

करना, उनकी आलोचना श्रवण करना, शिष्य आदि आलोचना कर रहे हों और वे स्वयं स्वाध्याय चालू रखें तो वे अच्छी तरह से आलोचना नहीं सुन सकते और पुनः-पुनः स्वाध्याय को छोड़कर उधर ध्यान देने से स्वाध्याय का क्रम नहीं रहता, समय-समय पर शिष्यों की जिज्ञासाओं का समाधान भी उन्हें करना पड़ता है। प्रतिवादी यदि शास्त्रार्थ के लिए प्रस्तुत हों तो उनसे शास्त्रार्थ करना भी आवश्यक होता है; यदि शास्त्रार्थ न करें तो जिनशासन की अवहेलना होने की संभावना रहती है। विशाल संघ में हर तरह के श्रमण होते हैं। कितने ही वयोवृद्ध होते हैं, कितने ही रुग्ण होते हैं। उनकी सेवा का ध्यान भी आचार्य, उपाध्याय को रखना होता है। जिसके कारण श्रम भी होता है और मानसिक थकान भी। ऐसी स्थिति में स्वाध्याय के अभाव में नौवें और दसवें पूर्व की यदि विस्मरण की स्थिति उत्पन्न हो तो एक-एक श्रमण को लेकर आचार्य, उपाध्याय विहार करके एकान्त स्थान पर पहुँचकर उस आगम साहित्य का स्वाध्याय करें। विस्मृत ज्ञान राशि को पुनः उपलब्ध करें।

इससे स्पष्ट है कि छेद सूत्रों के रचनाकाल में आचार्य और उपाध्याय का दायित्व बहुत ही विस्तृत हो गया और उसी के लिए अन्य पदों की नियुक्ति की गई जिससे वे अन्य चिन्ताओं से मुक्त होकर स्वयं संघीय दायित्व को सँभालते हुए श्रुत-सम्पदा का संवर्द्धन और संरक्षण कर सकें।

उपर्युक्त पंक्तियों में हमने जिन सात पदों का उल्लेख किया है वे सातों पद एक ही साथ व्यवस्था के रूप में आये हों, यह बात नहीं है। उसमें क्रमशः विकास हुआ है। कहीं पर केवल आचार्य-उपाध्याय का ही उल्लेख हुआ है। व्यवहारसूत्र[1] में कहीं-कहीं पर आचार्य, उपाध्याय और गणावच्छेदक इन तीन पदों का उल्लेख है। तो चूर्णिकार ने आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणावच्छेदक–इन पाँच अधिकारियों का उल्लेख किया है। कहीं पर गणावच्छेदक के स्थान पर 'गीतार्थ' शब्द व्यवहृत हुआ है। गीतार्थ शब्द सम्भव है गणी, गणधर और गणावच्छेदक इन तीनों के भाव को व्यक्त करता हो। साध्वियों के लिए आचार्य, उपाध्याय और प्रवर्तिनी की आज्ञा ग्रहण करना आवश्यक माना गया है।

भाष्य और चूर्णि साहित्य से यह भी ज्ञात होता है कि अन्य योग्य श्रमण के अभाव में एक ही व्यक्ति अनेक पदों की जिम्मेदारियों को कुशलतापूर्वक वहन करता था।

इन सात पदों के अतिरिक्त ऐसे विशिष्ट श्रमण जो आगम के विशेष ज्ञाता होते थे, आचार-सम्पन्न होते थे, जिनमें विवेक का आलोक जगमगाता था, साथ ही

---

१. व्यवहारसूत्र, २६ से ३२ तक

गम्भीर प्रकृति के धनी होते थे उन श्रमणों को 'रात्निक' या 'रत्नाधिक' भी कहा जाता था। वे रात्निक संघ के विविध कार्यों में तत्पर रहते थे और आचार्य आदि को सतत सहयोग देते थे। रत्नाधिक की विविध सम्पदाओं का भी उल्लेख किया गया है। वह विविध व्रतों को धारण करने वाला, सूत्र-अर्थ श्रवण करने में पटु, दीर्घ श्रमण पर्याय वाला, तपस्वी, अल्पभाषी, संग्रह-कुशल आदि विभिन्न गुणों से वह अलंकृत होता है।

श्रमणी संघ की व्यवस्था

श्रमणसंघ में जिस तरह श्रमणों की व्यवस्था का हमने उल्लेख किया उसी तरह श्रमणियों की व्यवस्था भी आचार्य और उपाध्याय के अधीन होती थी। तथापि श्रमणियों की पृथक् व्यवस्था थी जिससे वह अपने समुदाय में रहकर संयम की आराधना सम्यक् प्रकार से कर सकें। श्रमणी संघ की व्यवस्था के लिए प्रवर्तिनी, अभिषेक-प्राप्तता, स्थविरा, भिक्षुणी, क्षुल्लिका के उल्लेख प्राप्त होते हैं। पर मुख्य रूप से प्रवर्तिनी, गणावच्छेदिनी, अभिषेका और प्रतिहारी इन चार पदाधिकारिणी साध्वियों के उल्लेख मिलते हैं।

प्रवर्तिनी[1]—श्रमणी संघ में प्रवर्तिनी का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। वह आचार्य न होने पर भी आचार्य की तरह प्रतिष्ठा-प्राप्त थी। उसकी दीक्षा-पर्याय कम से कम आठ वर्ष की होनी चाहिए। वह आचार में कुशल, प्रवचन में प्रवीण, संश्लिष्ट चित्त वाली, स्थानांग-समवायांग आदि की ज्ञाता होती थी। प्रवर्तिनी के लिए प्रधान आर्या, गणिनी, महत्तरा आदि विविध शब्द व्यवहृत हुए हैं जो उसके निर्मल व्यक्तित्व को उजागर कर रहे हैं। आठ वर्ष की दीक्षा-पर्याय वाली प्रवर्तिनी के लिए बताया है कि वह एक साध्वी के साथ शीत और उष्ण काल में विचरण नहीं कर सकती; कम से कम दो साध्वियाँ आवश्यक हैं। वर्षावास में उसके साथ तीन साध्वियाँ आवश्यक हैं।

गणावच्छेदिनी—जो स्थान श्रमण संघ में उपाध्याय का है, उसी तरह का स्थान साध्वी संघ में गणावच्छेदिनी का है। गणावच्छेदिनी को शीतोष्ण काल में तीन अन्य साध्वियों के साथ विचरण करना चाहिए। वर्षावास में उसके साथ चार साध्वियाँ आवश्यक हैं।

अभिषेका—श्रमण संघ में जो स्थान स्थविर का है वही स्थान श्रमणी संघ में अभिषेका का है। कहीं-कहीं पर तो अभिषेका को गणिनी के समकक्ष रखा गया है।

---

१. व्यवहारसूत्र

प्रतिहारी–निर्ग्रन्थी प्रतिहारी द्वारपालिका के रूप में मानी गई है। वह रात्रिक की तरह होती है। जहाँ कहीं भी ऐसे स्थान पर रुकना होता, जहाँ साध्वी की सुरक्षा का प्रश्न होता वहाँ वह प्रतिहारी द्वारपालिका के रूप में रहकर अन्य श्रमणियों की रक्षा करती थी। बृहत्कल्प भाष्य में बताया है–श्रमणों की अपेक्षा साध्वियों का जीवन अधिक अनुशासित और नियन्त्रित था। वह साधु की तरह एकाकी नहीं रह सकती। जहाँ पर वे रहें वहाँ पर वसति का द्वार बन्द कर देना चाहिए। यदि वसति का द्वार न हो तो अभिषेका को हाथ में डण्डा लेकर द्वार पर बैठ जाना चाहिए, जिससे कि उपद्रवकारी उपद्रव न कर सकें। उस स्थान पर परदा लगा देना चाहिए। जहाँ तक हो सके खुले स्थान पर नहीं रहना चाहिए क्योंकि शीलभंग का भय बना रहता है। यदि रहने का प्रसंग उपस्थित हो तो कम से कम वस्त्र का परदा तो लगा ही देना चाहिए जिससे कुछ सुरक्षा हो सके।

इस प्रकार श्रमण संघ और श्रमणी संघ की सुव्यवस्था हेतु उपर्युक्त पदों का निर्धारण किया गया है।

●●

६. साधना के दो मार्ग : उत्सर्ग और अपवाद

जैन संस्कृति में साधना का गौरवपूर्ण स्थान है। प्राचीन जैन साहित्य के पृष्ठ साधना के उज्ज्वल-समुज्ज्वल आलोक से जगमगा रहे हैं। साधना को जीवन का प्राण कहा है। सम्यक् साधना से ही साधक अपने साध्य को प्राप्त करता है। साधक के जीवन के कण-कण में त्याग, तप, स्वाध्याय और ध्यान की सरस सरिता बहती है।

उत्सर्ग और अपवाद मार्ग

जैन साधना रूपी सरिता के दो तट हैं–एक 'उत्सर्ग' है और दूसरा 'अपवाद'। उत्सर्ग शब्द का अर्थ 'मुख्य' और अपवाद शब्द का अर्थ 'गौण' है। उत्सर्ग मार्ग का अर्थ है आन्तरिक जीवन, चारित्र और सद्गुणों की रक्षा शुद्धि और अभिवृद्धि के लिए प्रमुख नियमों का विधान, और अपवाद का अर्थ है आन्तरिक जीवन आदि की रक्षा हेतु उसकी शुद्धि वृद्धि के लिए बाधक नियमों का विधान। उत्सर्ग और अपवाद दोनों का लक्ष्य एक है। और वह है साधक को साधना के पथ पर आगे बढ़ाना। सामान्य साधक के मानस में यह विचार उद्‌बुद्ध हो सकते हैं कि जब उत्सर्ग और अपवाद इन दोनों का लक्ष्य एक है तो फिर दो रूप क्यों हैं?

उत्तर में निवेदन है–मानव के शारीरिक और मानसिक दुर्बलता को संलक्ष्य में रखकर ही जैन संस्कृति के मर्मज्ञ मनीषियों ने संघ के समुत्कर्ष को ध्यान में रखकर उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का निरूपण किया है। निशीथ भाष्यकार ने लिखा है–समर्थ साधक के लिए उत्सर्ग स्थिति में जिन द्रव्यों का निषेध किया गया है; असमर्थ साधक के लिए अपवाद की परिस्थिति में विशेष कारण से वह वस्तु ग्राह्य भी हो जाती है।[1]

उत्सर्ग और अपवाद, विरोधी नहीं

आचार्य जिनदासगणि महत्तर[2] ने लिखा है–जो बातें उत्सर्ग मार्ग में निषिद्ध

---

१. उस्सग्गेण णिसिद्धाणि जाणि दव्वाणि संथरे मुणिणो।
कारणजाए जाते, तव्वाणि वि ताणि कप्पंति॥ –निशीथभाष्य ५२४५

२. जाणि उस्सग्गे पडिसिद्धाणि उप्पण्णे कारणे तव्वाणि वि ताणि कप्पंति। ण दोषो ·····।
–निशीथचूर्णि ५२४५

की गई हैं, वे सभी बातें कारण सन्मुख होने पर कल्पनीय व ग्राह्य हो जाती हैं। इसका कारण यह है कि उत्सर्ग अपवाद दोनों का लक्ष्य एक है, वे एक-दूसरे के पूरक हैं। साधक दोनों के सुमेल से ही साधना-पथ पर सम्यक् प्रकार से बढ़ सकता है। यदि उत्सर्ग और अपवाद दोनों एक-दूसरे के विरोधी हों तो वे उत्सर्ग और अपवाद नहीं हैं किन्तु स्वच्छन्दता का पोषण करने वाले हैं। आगम साहित्य में दोनों को मार्ग कहा है। एक मार्ग राजमार्ग की तरह सीधा है तो दूसरा मार्ग जरा घुमावदार है।

सामान्य विधि : उत्सर्ग

उत्सर्ग मार्ग पर चलना यह साधक के जीवन की सामान्य पद्धति है। एक व्यक्ति राजमार्ग पर चल रहा है, किन्तु राजमार्ग पर प्रतिरोध-विशेष उत्पन्न होने पर वह राजमार्ग को छोड़कर सन्निकट की पगडण्डी को ग्रहण करता है। कुछ दूर चलने पर जब अनुकूलता होती है तो पुनः राजमार्ग पर लौट आता है। यही स्थिति साधक की उत्सर्ग मार्ग से अपवाद मार्ग को ग्रहण करने के सम्बन्ध में है और पुनः अपवाद से उत्सर्ग में आने की है।

उत्सर्ग मार्ग सामान्य विधि है। इस विधि पर वह निरन्तर चलता है। बिना विशेष परिस्थिति के उत्सर्ग मार्ग नहीं छोड़ना चाहिए। जो साधक बिना कारण ही उत्सर्ग मार्ग को छोड़कर अपवाद मार्ग को अपनाता है। वह आराधक नहीं अपितु विराधक है। पूर्ण स्वस्थ व्यक्ति यदि औषधि ग्रहण करता है या रोग मिट जाने पर भी बीमारी अभिनय कर औषधि आदि ग्रहण करता है तो वह अपने कर्त्तव्य से च्युत होता है। विशेष कारण के अभाव में अपवाद का सेवन नहीं करना चाहिए। साथ ही जिस कारण से अपवाद का सेवन किया हो, उस कारण के समाप्त होते ही उसे पुनः उत्सर्ग मार्ग को अपनाना चाहिए।

विशिष्ट विधि : अपवाद

हम पूर्व बता चुके हैं कि अपवाद एक विशिष्ट मार्ग है। उत्सर्ग के समान ही वह संयम-साधना का ही मार्ग है। पर अपवाद वास्तविक अपवाद होना चाहिए। यदि अपवाद के पीछे इन्द्रिय-पोषण की भावना है तो वह अपवाद मार्ग नहीं है। अतः साधक को अपवाद मार्ग में सतत जागरूक रहने की आवश्यकता है। जितना अति आवश्यक हो उतना ही अपवाद का सेवन किया जा सकता है, निरन्तर नहीं। अपवाद मार्ग पर तो किसी विशेष स्थिति-परिस्थिति में ही चला जाता है। अपवाद का मार्ग चमचमाती हुई तलवार की तीक्ष्ण धार के सदृश है। उस पर प्रत्येक साधक नहीं चल सकता। जिस साधक ने आचारांग आदि आगम साहित्य का

गहराई से अध्ययन किया है, छेदसूत्रों के गम्भीर रहस्यों को समझा है, उत्सर्ग मार्ग है और अपवाद मार्ग का जिसे स्पष्ट परिज्ञान है, वह गीतार्थ महान् साधक ही अपवाद को अपना सकता है। जिसे देशकाल और स्थिति का परिज्ञान नहीं है, ऐसा अगीतार्थ यदि अपवाद मार्ग को अपनाता है तो वह साधना से च्युत हो सकता है। कुशल व्यापारी आय और व्यय को सम्यक् प्रकार से समझकर ही व्यापार करता है, वह अल्प व्यय कर अधिकाधिक लाभ उठाता है। वैसे ही गीतार्थ श्रमण परिस्थिति-विशेष में दोष का सेवन करके भी अधिक सद्गुणों की वृद्धि करता है।

आचार्य भद्रबाहु[1] ने गीतार्थ के सद्गुणों का विवेचन करते हुए लिखा है– आय-व्यय, कारण-अकारण, आगाढ़ (ग्लान)-अनागाढ़, वस्तु-अवस्तु, युक्त-अयुक्त, समर्थ असमर्थ, यतना-अयतना का सम्यग्ज्ञान गीतार्थ को रहता है और वह कर्तव्य और कार्य का परिणाम भी जानता है।

गीतार्थ पर जिम्मेदारी होती है कि वह अपवाद स्वयं सेवन करे या दूसरों को अपवाद की सेवन की अनुमति दे। अगीतार्थ श्रमण अपवाद सेवन करने का स्वयं निर्णय नहीं ले सकता। गीतार्थ को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का परिज्ञान होता है जिससे वह साधना के पथ पर बढ़ सकता है।

रूपक के माध्यम से

आचार्य संघदासगणि[2] ने सुन्दर रूप के द्वारा उत्सर्ग और अपवाद मार्ग को बताया है। एक यात्री अपने लक्ष्य की ओर द्रुतगति से चल रहा है। वह कभी तेजी से कदम बढ़ाता है। जल्दी पहुँचने के लिए वह दौड़ता भी है। पर जब वह बहुत ही थक जाता है, और आगे उसे विषम मार्ग दिखाई देता है, अतः विश्रांति के लिए कुछ क्षणों तक बैठता है क्योंकि बिना विश्राम किये एक कदम भी चलना उसके लिए कठिन है। लेकिन उस यात्री का विश्राम आगे बढ़ने के लिए है। उसकी विश्रांति विश्रांति के लिए नहीं, अपितु प्रगति के लिए है। साधक भी उसी तरह उत्सर्ग मार्ग पर चलता है; किन्तु कारणवशात् उसे अपवाद मार्ग का अवलंबन लेना पड़ता है। वह अपवाद उत्सर्ग की रक्षा के लिए ही है, उसके ध्वंस के लिए नहीं है। कल्पना कीजिए–शरीर में एक भयंकर जहरीला फोड़ा हो चुका है। शरीर की रक्षा

---

१. आयं कारण गाढं वत्थु जुत्तं ससत्ति जयणं च।
सव्वं च सपडिवक्खं फलं च विधिवं वियाणाह॥ —बृहत्कल्प निर्युक्ति भाष्य ९५१

२. धावंतो उव्वाओ मग्गन्तू किं न गच्छइ कमेणं।
किं वा मउई किरिया, न कीरए असहुओ तिक्खं॥ —बृहत्कल्पभाष्य पीठिका ३२०

के लिए उस फोड़े की शल्य चिकित्सा की जाती है। शरीर का जो छेदन-भेदन होता है वह शरीर के विनाश के लिए नहीं, अपितु शरीर की रक्षा के लिए है।

यदि साधक पूर्ण समर्थ है और विशिष्ट स्थिति उत्पन्न होने पर वह सहर्ष भाव से मृत्यु को वरण कर सकता हो तो वह समाधिपूर्वक वरण करे। यदि मृत्यु को वरण करने में समाधिभाव भंग होता है तो वह जीवन को बचाने हेतु संयम की रक्षा के लिए प्रयत्न करे।

ओघनिर्युक्ति की टीका में आचार्य द्रोण[1] ने लिखा है–'अपवाद सेवन करने वाले साधक के परिणाम पूर्ण विशुद्ध हैं और पूर्ण विशुद्ध परिणाम मोक्ष का कारण है, संसार का नहीं। साधक का शरीर संयम के लिए है। यदि शरीर ही नहीं है तो वह संयम की आराधना किस प्रकार कर सकेगा? संयम की साधना के लिए शरीर का पालन आवश्यक है।[2] साधक का लक्ष्य न जीवित रहना है, न मरना है। न वह जीवित रहने की इच्छा करता है और न मरने की इच्छा करता है। वह जीवित इसलिए रहना चाहता है कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र की वृद्धि हो सके। जिस कार्य से ज्ञान, दर्शन, चारित्र की सिद्धि और वृद्धि हो, संयम-साधना में निर्मलता आये, उस कार्य को वह करना पसन्द करता है। जब देखता है कि शरीर ज्ञान, दर्शन, चारित्र की वृद्धि में बाधक बन रहा है तो वह सस्नेह मरण को स्वीकार लेता है।

स्वस्थान और परस्थान

एक शिष्य ने जिज्ञासा प्रस्तुत की–भगवन्! बताइये, साधक के लिए उत्सर्ग स्वस्थान है या अपवाद? समाधान प्रदान किया गया कि जिस साधक का शरीर पूर्ण स्वस्थ है और समर्थ है उसके लिए उत्सर्ग मार्ग ही स्वस्थान है और अपवाद परस्थान है। पर जिनका शरीर रुग्ण है, असमर्थ है, उनके लिए अपवाद स्वस्थान है और उत्सर्ग परस्थान है।[3]

साधक में जहाँ संयम का जोश होता है वहाँ उसमें विवेक का होश भी होता है। अपवाद मार्ग का निरूपण सिर्फ स्थविरकल्प[4] की दृष्टि से किया गया है। जिनकल्पी श्रमण तो केवल उत्सर्ग मार्ग पर ही चलते हैं।[5]

---

१. न चाऽविरई किं कारणं? तस्याशयशुद्धतया विशुद्धपरिणामस्य च मोक्ष हेतुत्वात्।
–*ओघनिर्युक्ति टीका, गा. २४६*

२. संजमहेउं देहो धारिज्जइ सो कओ उ तदभावे।
संजम फाइनिमित्तं, देह-परिपालना इट्ठा॥
–*ओघनिर्युक्ति ४७*

३. संथरओ सट्ठाणं उस्सग्गो अस हुणो परट्ठाणं।
इय सट्ठाण परं वा, न होइ वत्थु-विणा किंचि॥
–*बृहत्कल्पभाष्य पीठिका ३२४*

४. निशीथभाष्य, गा. ८७

५. वही, गा. ६६९८ उत्थानचूर्णि

अपवाद यानी रहस्य

निशीथचूर्णि में उत्सर्ग के लिए 'प्रतिशेष' शब्द का प्रयोग हुआ है और अपवाद के लिए 'अनुज्ञा'। उत्सर्ग प्रतिषेध है और अपवाद विधि है। संयमी श्रमण के लिए जितने भी निषिद्ध कार्य बताये गये हैं, वे प्रतिषेध के अन्तर्गत आ जाते हैं और परिस्थिति-विशेष में जब उन निषिद्ध कार्यों के करने की अनुज्ञा दी जाती है तब वह निषिद्ध कार्य विधि बन जाते हैं।[१] परिस्थिति-विशेष से अकर्तव्य भी कभी कर्तव्य बन जाता है। साधारण साधक प्रतिषेध को विधि में परिणत करने की शक्ति नहीं रखता। वह औचित्य-अनौचित्य का परीक्षण भी नहीं कर सकता। इसीलिए अपवाद, अनुज्ञा या विधि प्रत्येक साधक को नहीं बतायी जाती। एतदर्थ ही निशीथचूर्णि में अपवाद का पर्यायवाची रहस्य भी है।[२]

जैसे प्रतिषेध (उत्सर्ग) का पालन करने से आचार विशुद्ध रहता है, उसी तरह अपवाद मार्ग का अवलंबन करने पर भी आचरण विशुद्ध ही मानना चाहिए।[३]

अपवाद क्यों और किसलिए ?

अपवाद मार्ग ग्रहण करने के पूर्व अनेक शर्तें रखी गई हैं। उन शर्तों की ओर लक्ष्य न दिया तो अपवाद मार्ग पतन का कारण बन जाएगा। एतदर्थ ही प्रतिसेवना के दो भेद हैं–अकारण अपवाद का सेवन 'दर्पप्रतिसेवना' है और कारण से प्रतिसेवना 'कल्प' है। हम पूर्व बता चुके हैं कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र की साधना व आराधना करता हुआ साधक मोक्ष मार्ग की ओर बढ़ता है। चारित्र का पालन ज्ञान और दर्शन की वृद्धि के लिए है। जिस चारित्र की आराधना से ज्ञान-दर्शन की हानि होती हो, वह चारित्र नहीं। चारित्र वही है जो ज्ञान-दर्शन को पुष्ट करता हो। ज्ञान-दर्शन के कारण चारित्र में अपवाद सेवन करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। वे सभी अपवाद कल्प प्रतिसेवना में इसलिए लिये जाते हैं कि वे साधक को साधना से च्युत नहीं करते। जो भी अपवाद सेवन किया जाय उसमें ज्ञान और दर्शन ये दो मुख्य लक्ष्य होने चाहिए। यदि उन दोनों में से कोई भी कारण नहीं है तो वह प्रतिसेवना दर्प है। साधक का कर्तव्य है दर्प का परित्याग कर कल्प को ग्रहण करे। क्योंकि दर्प साधक के लिए निषिद्ध माना गया है।[४]

---

१. निशीथभाष्य, गा. ५२४५
२. निशीथचूर्णि, गा. ४९५
३. वही, गा. २८७, १०२२, १०६८, ४१०३
४. निशीथभाष्य, गा. ८८ उसकी चूर्णि तथा गा. १४४, ३६३, ४६३

एक जिज्ञासा हो सकती है–निषीथ भाष्य[1] व चूर्णि आदि में दुर्भिक्ष आदि की स्थिति में भी अपवाद सेवन किये जाते रहे हैं, ऐसा उल्लेख है। फिर ज्ञान और दर्शन से ही अपवाद-सेवन की बात कैसे कही गयी? समाधान है–ज्ञान और दर्शन ये दो मुख्य कारण हैं ही। दुर्भिक्ष आदि में साक्षात् ज्ञान और दर्शन की हानि नहीं होती। किन्तु परम्परा से ज्ञान और दर्शन की हानि होने से उन्हें लिया गया है।

दुर्भिक्ष में आहार की प्राप्ति नहीं हो सकती और बिना आहार स्वाध्याय आदि नहीं हो सकता। इसलिए उसे अपवाद के कारणों में गिना है।

निशीथभाष्य में दर्प प्रतिसेवना और कल्प प्रतिसेवना को प्रमाद प्रतिसेवना और अप्रमाद प्रतिसेवना भी बताया गया है। क्योंकि प्रमाद दर्प है और अप्रमाद कल्प है। जिस आचरण में प्रमाद है वह दर्प प्रतिसेवना है और अप्रमाद जिसमें है वह कल्प प्रतिसेवना है।[2]

अहिंसा की दृष्टि से उत्सर्ग व अपवाद

जैन आचार की मूल भित्ति अहिंसा पर आधृत है। अन्य चारों महाव्रत अहिंसा के विस्तार हैं। जिस कार्य में प्रमाद है, वह हिंसा है। संयमी साधक के जीवन में अप्रमाद का प्राधान्य होता है। अप्रमाद प्रतिसेवना के भी दो भेद किये गये हैं– अनाभोग और सहसाकार।[3] अप्रमादी होने पर भी ईर्या आदि समिति की विस्मृति हो जाय, किसी कारण से स्वल्प काल के लिए उपयोग न रहे तो वह अनाभोग है। उसमें प्राणातिपात नहीं है, पर विस्मृति है। प्रवृत्ति हो जाने के पश्चात् यह ज्ञात हो कि हिंसा की संभावना है तो वह प्रतिसेवना सहसाकार है। जैसे संयमी साधक विवेकपूर्वक गमन कर रहा है। पहले जीव दिखाई न दिया हो, पर ज्यों ही कदम उठाया कि जीव पर दृष्टि पड़ी। बचाने का प्रयत्न करने पर भी सहसा जीव के ऊपर पैर पड़ गया और वह प्राणी मर गया तो यह सहसा प्रतिसेवना है। अप्रमाद होने के कारण वह कर्म बन्धन नहीं है। अहिंसा का आराधन करना श्रमण का उत्सर्ग मार्ग है। वह मन, वचन, काया से किसी भी प्रकार की जीव-हिंसा नहीं करता। आचारांग, दशवैकालिक तथा अन्य आगम साहित्य में अहिंसा महाव्रत का सूक्ष्म विश्लेषण है। श्रमण किसी भी सचित्त वस्तु का स्पर्श नहीं कर सकता। पर आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में यह स्पष्ट बताया है एक श्रमण अन्य रास्ते के अभाव में किसी

---

१. निशीथभाष्य, गा. १७५, १८८, १६२, २२०, २२१, ४८४, ४८५, २४४, २५३, ३२१, ३४२, ४१९, ३९१, ३८४, ४२५, ४५३, ४५८, ४८१ आदि

२. वही, गा. ९१

३. वही, गा. ९०-९५

ऊँचे-नीचे, टेढ़े-मेढ़े, ऊबड़-खाबड़ मार्ग या जहाँ पर सेना के पड़ाव पड़े हों, रथ और गाड़ियाँ पड़ी हों, धान्य के ढेर पड़े हों, प्रथम तो ऐसे विषम व संकटापन्न मार्ग से श्रमण को नहीं जाना चाहिए। यदि अनिवार्य कारणवश ऊँचे-नीचे मार्ग से आवश्यक ही हो तो वनस्पति अथवा किसी पथिक के हाथ का सहारा ले सकता है।

उत्सर्ग मार्ग में श्रमण हरित वनस्पति को स्पर्श नहीं कर सकता, पर जो यहाँ पर अपवाद में हरित वनस्पति आदि पकड़ने का विधान है वह विधान वनस्पतिकाय के जीवों की विराधना करने के लिए नहीं है अपितु अहिंसा के लिए ही यह विधान है। यदि श्रमण गिर जाता है तो उसका अंग भंग भी हो सकता है और मन में संकल्प-विकल्प भी हो सकता है। साथ ही गिरने से दूसरे जीवों की विराधना भी हो सकती है। अतः स्व और पर दोनों प्रकार की हिंसा को लक्ष्य में रखकर ही अहिंसा में अपवाद का उल्लेख किया गया है।[1]

इसी तरह सचित्त पानी को श्रमण स्पर्श नहीं कर सकता, पर उमड़-घुमड़कर घटाएँ आ रही हों और जोर से वर्षा हो रही हो उस समय उच्चार प्रस्रवण के लिए वह बाहर जा सकता है।[2] बलात् मल-मूत्र का निरोध करना निषिद्ध है। क्योंकि मल-मूत्र के निरोध से शरीर में आकुलता-व्याकुलता पैदा हो सकती है, रोग भी उत्पन्न हो सकते हैं, जो स्वास्थ्य और शरीर तथा संयम के लिए हानिप्रद है।

सत्य व अन्य महाव्रतों की दृष्टि से उत्सर्ग व अपवाद

अहिंसा महाव्रत की भाँति ही सत्य भी श्रमण का जीवन व्रत है। आचारांग में यह भी विधान है—एक श्रमण विहार करके जा रहा है। सामने से व्याध आदि आ जाय और वह श्रमण से पूछे क्या तुमने इधर किसी पशु आदि को जाते देखा है? श्रमण ऐसे प्रसंग में मौन रहे। यदि मौन रहने की स्थिति न हो तो जानते हुए भी नहीं जानता हूँ इस प्रकार कहे। यह सत्य का अपवाद मार्ग है।[3]

सूत्रकृतांग सूत्र की वृत्ति में आचार्य शीलांक[4] ने स्पष्ट लिखा है—जिसमें पर-वंचना की बुद्धि नहीं है केवल संयम गुप्ति के लिए कल्याण भावना से बोला गया असत्य दोषरूप नहीं है। जो मृषावाद कपटपूर्वक दूसरों को ठगने के लिए बोला जाता है, वह हेय है।[5]

---

१. आचारांग २, श्रुत. ईर्याध्ययन, उ. २
२. योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्ति, तीसरा प्रकाश, ८७वाँ श्लोक
३. (क) आचारांग २-१-३-३-१२९ वृत्ति भी देखें
   (ख) निशीथचूर्णि भाष्य, गा. ३२२
४. सूत्रकृतांग वृत्ति १-८-१९
५. "सादियं णो मुसं बूया, एस धम्मे वुसीमओ।" —सूत्रकृतांग १-८-१९

सत्य की तरह अस्तेय महाव्रत की साधना में बिना दी हुई वस्तु को श्रमण ग्रहण नहीं करता। पर इस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न हो कि श्रमण किसी ऐसे स्थान पर पहुँचा है जहाँ पर स्थान की सुविधा नहीं है, भयंकर शीत और वर्षा है। ऐसी स्थिति में श्रमण पहले बिना आज्ञा ग्रहण किये ठहर जाय। उसके पश्चात् आज्ञा प्राप्त करने का प्रयास करे।[1]

इसी तरह श्रमण ब्रह्मचर्य महाव्रत की रक्षा के लिए नवजात कन्या को भी स्पर्श नहीं कर सकता, पर वही श्रमण नदी में डूबती हुई या विक्षिप्त चित्त वाली भिक्षुणी को पकड़कर निकाल सकता है।[2]

इसी तरह अपरिग्रह महाव्रत में चौदह उपकरणों के अतिरिक्त उपकरण रखना आदि भी परिग्रह में ही है। किन्तु पुस्तक, लेखन-सामग्री आदि ज्ञान के साधन रूप समझकर ग्रहण किये जाते हैं।[3]

दशवैकालिक[4] आदि में यह स्पष्ट विधान है कि श्रमण किसी गृहस्थ के यहाँ पर न बैठे। बैठना अनाचार माना गया है। किन्तु दशवैकालिक में यह भी बताया है जो श्रमण अत्यन्त वृद्ध हो चुका है, अस्वस्थ है, या जो तपस्वी है वह गृहस्थ के घर पर बैठ सकता है।[5] उसे गृह-निषिद्या का दोष नहीं लगता।

आगम साहित्य में श्रमण के आहार की चर्चा करते हुए यह स्पष्ट विधान किया है वह आधाकर्मी आहार ग्रहण नहीं कर सकता। वह पिण्डैषणा के नियमों का सम्यक् प्रकार से पालन करे। आचार्य शीलांक[6] ने सूत्रकृतांग वृत्ति में लिखा है—अपवाद स्थिति में शास्त्र के अनुसार आधाकर्म आहार का सेवन करता है तो वह साधक शुद्ध है। वह कर्म से लिप्त नहीं होता।

निशीथभाष्य में ऐसे अनेक प्रसंग हैं जिनमें यह बताया गया है कि दुर्भिक्ष आदि की स्थिति में अपवाद मार्ग से श्रमण आधाकर्म आदि आहार ग्रहण कर सकता है।[7]

---

१. व्यवहारसूत्र ९-११
२. बृहत्कल्पसूत्र, उ. ६, सू. ७-१२
३. निशीथचूर्णि, भा. ३, प्रस्तावना—उपाध्याय अमर मुनि जी
४. दशवैकालिक, ३-४-६, ८
५. तिण्हमन्नयरागस्स, निसिज्जा जस्स कप्पइ,
जराए अभिभूयस्स वाहिअस्स तवस्सिणो— दश. ६-६०
६. सूत्रकृतांग २-६, ८-९
७. निशीथभाष्य, गा. २६८४

जैन श्रमण के लिए यह विधान है कि वह चिकित्सा की इच्छा न करे।[1] रोग हो जाने पर उसे शान्त भाव से सहन करे। किन्तु जब देखा गया कि श्रमण रोग होने पर समाधिस्थ नहीं रह सकता तो उसकी चिकित्सा के सम्बन्ध में भी चिन्तन हुआ। श्रमण किस प्रकार वैद्यों के वहाँ पर जाय, किस प्रकार औषधि आदि ग्रहण करे, भयंकर, कुष्ठ आदि रोग होने पर किस तरह उनका उपचार किया जाय आदि पर निर्युक्ति, चूर्णि और भाष्य में विस्तार से विवेचन है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि उन अपवादों का सेवन करने पर विरोधियों को टीका-टिप्पणी करने का अवसर न मिले, यदि विरोधी आलोचना-प्रत्यालोचना करेंगे तो उससे जिनधर्म की अवहेलना होगी। अतः उसे गुप्त रखने का[2] भी संकेत किया गया है।

अतिचार और अपवाद

एक बात यहाँ समझनी चाहिए अतिचार और अपवाद में अन्तर है।[3] यद्यपि अतिचार और अपवाद में बाह्य दृष्टि से दोष-सेवन एक सदृश प्रतीत होता है, पर अतिचार व अपवाद में बहुत अन्तर है। अतिचार में मोह का उदय होता है, मोह के उदय से वासना से उत्प्रेरित होकर कषाय भाव के कारण उत्सर्ग मार्ग को छोड़कर जो संयमविरुद्ध प्रवृत्ति की जाती है, वह अतिचार है। अतिचार से संयम दूषित होता है। अतः साधक को यह ज्ञात हो जाय–मैंने दोष का सेवन किया है जो अयोग्य था, तो उसे यथाशीघ्र प्रायश्चित्त लेकर उस दोष की विशुद्धि करनी चाहिए। जो उस दोष की विशुद्धि नहीं करता है वह श्रमण विराधक होता है।

अपवाद में दोष का सेवन होता है, पर वह सेवन विवशता के कारण होता है। सेवन करते समय साधक यह अच्छी तरह से जानता है–यदि मैं अपवाद का सेवन नहीं करूँगा तो मेरे ज्ञान आदि गुण विकसित नहीं हो सकेंगे। उसी दृष्टि से वह अपवाद का सेवन करता है। अपवाद के सेवन करने में सद्गुणों का अर्जन और संरक्षण प्रमुख होता है। अपवाद में कषायभाव नहीं होता, किन्तु संयमभाव प्रमुख होता है। इसलिए वह अपवाद अतिचार की तरह दूषण नहीं है। अतिचार में कषाय का प्राधान्य होने से अधिक कर्मबंधन होता है।

उत्सर्ग और अपवाद में विवेक आवश्यक

उत्सर्ग मार्ग और अपवाद मार्ग दोनों ही मार्ग साधक के लिए तभी तक श्रेयस्कर हैं जब तक उसमें विवेक की ज्योति जगमगाती हो। मूल आगम साहित्य

---

१. (क) उत्तराध्ययन २-२३ (ख) दशवै. ३-४ (ग) निशीथसूत्र ३-२८-४०-१३/४२-४५

२. निशीथचूर्णि, गा. ३४५-३४७

३. निशीथचूर्णि, भा. ३, प्रस्तावना–उपा. अमर मुनि

में उत्सर्ग मार्ग की प्रधानता रही, अपवाद मार्ग का वर्णन आया, किन्तु बहुत ही स्वल्प मात्रा में। लेकिन ज्यों-ज्यों परिस्थितियों में परिवर्तन होता गया त्यों-त्यों आचार्यों ने आगम साहित्य के व्याख्या-साहित्य में अपवादों का विस्तार से निरूपण किया है। अपवादों के निरूपण में कहीं पर अति भी हो गई है, जो उस युग की स्थिति का प्रभाव है।

हमने बहुत ही संक्षेप में उत्सर्ग व अपवाद के सम्बन्ध में विचार प्रस्तुत किया है। उत्सर्ग और अपवाद के मर्म को समझना अत्यन्त कठिन है। जब उत्सर्ग और अपवाद में परिणामीपना और शुद्ध वृत्ति नष्ट हो जाती है तो वह अनाचार बन जाता है। एतदर्थ ही भाष्यकार ने परिणामी, अपरिणामी और अतिपरिणामी शिष्यों का निरूपण किया है। जो वस्तु स्थिति को सम्यक् प्रकार से समझता है, वही साधक उत्सर्ग व अपवाद मार्ग की आराधना कर सकता है और अपने अनुयायी वर्ग को भी सही लक्ष्य पर बढ़ने के लिए उत्प्रेरित कर सकता है। जब परिणामी भाव नष्ट हो जाता है तो स्वार्थ की वृत्ति पनपने लगती है, स्वच्छन्दता बढ़ने लगती है जिससे साधक वीतराग धर्म की आराधना सम्यक् प्रकार से नहीं कर सकता।

बृहत्कल्पभाष्य में आचार्य संघदास गणी ने स्पष्ट लिखा है–जितने उत्सर्ग के नियम हैं उतने ही अपवाद के भी नियम हैं। उत्सर्ग मार्ग के अधिकारी के लिए उत्सर्ग, उत्सर्ग है और अपवाद, अपवाद है, किन्तु अपवाद मार्ग के अधिकारी के लिए अपवाद उत्सर्ग है और उत्सर्ग अपवाद है। इस प्रकार उत्सर्ग और अपवाद अपनी-अपनी स्थिति और परिस्थिति के कारण श्रेयस्कर, कार्यसाधक और बलवान हैं।

उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का इतना समन्वयपरक सूक्ष्म दृष्टिकोण जैन दर्शन के अनेकान्त की अपनी विशेषता है। उत्सर्ग मार्ग जीवन की सबलता का प्रतीक है तो अपवाद मार्ग जीवन की निर्बलता का प्रतीक है। दोनों ही मार्गों में साधक को अत्यन्त जागरूकता रखनी चाहिए। आचार्यों ने स्पष्ट कहा है कि अपवाद मार्ग का सेवन करने वाला जैसे कोई फोड़ा पक गया है उसमें रस्सी पड़ चुकी है तो व्यक्ति किस तरह से कम कष्ट हो यह ध्यान रखकर दबाकर मवाद निकालता है उसी तरह सावधानीपूर्वक अपवाद मार्ग का सेवन किया जाय। सेवन करते समय उसे यह ध्यान रखना होगा कि संयम और व्रत में कम से कम दोष लगे। विशेष परिस्थिति में और कोई मार्ग न हो तो अपवाद का सेवन किया जाय, अन्यथा नहीं। एतदर्थ ही गीतार्थ का उल्लेख है और वही अपवाद का सेवन करने का अधिकारी माना गया है, शेष नहीं।

●●

७. श्रमण-साधना का हार्द : दस श्रमण धर्म

धर्म क्या है ?

धर्म एक त्रिकालाबाधित सत्य है। उसे देश, काल, क्षेत्र और सम्प्रदाय की संकीर्ण सीमाओं में आबद्ध नहीं किया जा सकता। जितनी भी सीमाएँ हैं वे परिवर्तनीय होती हैं। अतः धर्म जैसे चिरन्तन सत्य को उनसे बाँधना सम्भव ही नहीं है। धर्म मंगलमय है। वह विश्व का कल्याणकारक और प्राणी मात्र के योग-क्षेम का वाहक है।

'धर्म' शब्द का विभिन्न अर्थों में प्रयोग

जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों परम्पराओं ने 'धर्म' शब्द पर गहराई से अनुचिन्तन किया है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, ईशावास्योपनिषद्, केनोपनिषद्, कठोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद् प्रभृति वैदिक धर्म के सम्माननीय ग्रन्थों में यत्र-तत्र धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है। धर्म शब्द कहीं पर 'भक्ति' के अर्थ में व्यवहृत हुआ है तो कहीं पर 'दान', 'पुण्य' या 'न्याय' के अर्थ में भी आया है। रामायण, महाभारत और गीता में भी धर्म के सूक्ष्म रहस्यों को उद्घाटित किया गया है।

मीमांसा-दर्शन का सर्वप्रथम सूत्र है 'अथातो धर्मजिज्ञासा'। धर्म वह है जो प्रेरणा प्रदान करे। वैशेषिक दर्शन में 'यतोभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः' कहा गया है। न्याय दर्शन में धर्म शब्द का प्रयोग अनेक बार किया गया है पर वहाँ धर्म की परिभाषा नहीं की गई है। उनकी दृष्टि से धर्म का अर्थ 'तर्क' है। आचार्य पतंजलि ने भी 'योगदर्शन' में धर्म की कोई पृथक् परिभाषा नहीं की है पर योग और धर्म इतना एकमेक हो गया है कि कोश में योग को धर्म का पर्यायवाची माना है। आचार्य मनु ने वेद को ही धर्म माना है।

त्रिपिटक साहित्य में अनेक बार धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है। साधक धर्म की शरण में जाने के लिए लालायित है। 'धम्मपद' में धर्म की परिभाषा भले ही न की गई हो, पर आचरण करने योग्य सभी सद्गुणों की उसमें तालिका दी गई है।

जैन आगम साहित्य में विविध दृष्टियों से धर्म पर चिन्तन किया गया है। धर्म को उत्कृष्ट मंगल माना है। आगम साहित्य के प्रशस्त व्याख्याकारों में हरिभद्र,

अगस्त्यसिंह स्थविर, आचार्य सिद्धसेन दिवाकर, आचार्य हेमचन्द्र प्रभृति अनेक आचार्यों ने धर्म शब्द की व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। वस्तुतः धर्म शब्द धृ–धारणे धातु से निष्पन्न है–जो धारण करता है, जो दुर्गति से प्राणियों को बचाता है, वह धर्म है।

पाश्चात्य चिन्तकों की दृष्टि से धर्म

पाश्चात्य चिन्तकों ने भी धर्म शब्द पर गहराई से चिन्तन किया है। अंग्रेजी में धर्म शब्द के लिए अधिकतर रिलीजन (Religion) शब्द का प्रयोग हुआ है। धर्म शब्द जितना व्यापक अर्थ को लिए हुए है उतना रिलीजन शब्द नहीं। रिलीजन के अतिरिक्त सेक्ट (Sect) और फेथ (Faith) शब्दों का प्रयोग हुआ है। किन्तु 'सेक्ट' विशेष रूप से सम्प्रदाय का बोधक है और 'फेथ' का शाब्दिक अर्थ विश्वास है। अतः ये भी धर्म शब्द की व्यापकता को बताने में असमर्थ हैं। काण्ट की दृष्टि से अपने समस्त कर्तव्यों को 'ईश्वरीय आदेश' समझना 'धर्म' है। हीगेल के मतानुसार धर्म 'सीमित मस्तिष्क के भीतर रहने वाले असीम स्वभाव का परिज्ञान' है। मेयर्स ने लिखा है कि धर्म 'मानव आत्मा का ब्रह्माण्ड विषयक स्वस्थ और साधारण उत्तर' है। 'वाइटहेड' ने धर्म की व्याख्या करते हुए कहा–'मानव अपने एकाकी रूप के साथ जो कुछ व्यवहार करता है, वही धर्म है।' यह धर्म का वैयक्तिक लक्षण है। अमेरिका के मनोविज्ञानशास्त्री आमेस ने धर्म की विशद व्याख्या की है–'जो ईश्वर से प्रेम करता है, वह अपने भाई से अवश्य ही प्रेम करेगा, यह धर्म की सामाजिक व्याख्या है। हर्बर्ट स्पेन्सर के अनुसार धर्म 'विश्व को व्यापक रूप से समझने की काल्पनिक धारणा' है। संसार के समस्त पदार्थ ऐसी शक्ति की अभिव्यक्ति हैं जो हमारे ज्ञान से परे है। मक्टागार्ट ने धर्म की परिभाषा करते हुए कहा–'धर्म चित्त का वह भाव है जिसके द्वारा हम विश्व के साथ एक प्रकार से मेल का अनुभव करते हैं।' जेम्स फ्रेजर ने लिखा है–'धर्म मानव से ऊँची गिनी जाने वाली उन शक्तियों की आराधना है जो प्राकृतिक व्यवस्था और मानव-जीवन का मार्गदर्शन व नियंत्रण करने वाली बन जाती है।' यह धर्म का क्रियात्मक स्वरूप है। विलियम जेम्स के शब्दों में–'धर्म एक श्रद्धा है जिसे धारण कर मानव सोचता है कि जगत् एक अदृष्ट नियम के आधार पर चलता है, जिसके साथ मेल रखने से हमारा हित है।'[1]

इन सभी व्याख्याओं पर विचार करते हुए यह कहा जा सकता है कि धर्म का सर्वसम्मत एक लक्षण बनाना कठिन है। तथापि इतना कहा जा सकता है–'धर्म मानव के विचार और आचार को विशुद्ध बनाने वाला तत्त्व है।'

---

१. वेराइटीस ऑफ रिलिजियस एक्स्पीरियन्स, पृ. ५३

हमने जो धर्म की विविध व्याख्याएँ यहाँ प्रस्तुत की हैं उनका यही अभिप्राय है कि मानव धर्म के व्यापक स्वरूप को समझ सके। इन सभी व्याख्याओं से यह स्पष्ट होता है, 'जीवन के जितने भी निर्मल, दिव्य और भव्य बनाने के विधि-विधान हैं या क्रिया-कलाप हैं, वे सभी धर्म हैं।'

विभिन्न ग्रन्थों में दस धर्म

स्थानांगसूत्र[1] के ५वें स्थान में ३४वें और ३५वें सूत्रों ५-५ धर्मों का उल्लेख किया गया है। दोनों मिलने पर दस धर्म बनते हैं। आचार्य अभयदेव ने अपनी वृत्ति[2] में उनका अर्थ इस तरह किया है–(१) क्षांति–क्रोध का निग्रह, (२) मुक्ति–लोभ का विग्रह, (३) आर्जव–माया का विग्रह, (४) मार्दव–मान का विग्रह, (५) लाघव–उपकरण की अल्पता, ऋद्धि, रस और साता तीन इन गौरवों का परित्याग, (६) सत्य–काया की ऋजुता, भाव की ऋजुता, भाषा की ऋजुता और अविसंवादनयोग अर्थात् कथनी-करनी में समानता, (७) संयम–हिंसा आदि से निवृत्त होना, (८) तप, (९) त्याग–अपने सांभोगिक श्रमणों को भक्त आदि का दान देना, (१०) ब्रह्मचर्य–कामभोगविरति।

स्थानांगसूत्र के १०वें स्थान में[3] दस विध श्रमणधर्म का उल्लेख हुआ है। जो पूर्व ५वें स्थान में क्रम दिया गया है उसी क्रम का ही यह निरूपण है।

आचार्य अभयदेव[4] ने स्थानांग वृत्ति में ही दस धर्म की एक दूसरी परम्परा का भी उल्लेख किया है। वह परम्परा तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार है।

समवायांग[5] में भी स्थानांग की तरह दस धर्म का वर्णन है। आचार्य हरिभद्र[6] ने आवश्यक हरिभद्रीया वृत्ति में प्राचीन संग्रहणी की गाथा उद्धृत की है। आचार्य हरिभद्र[7] ने ही 'अन्येत्वेवं वदन्ति' कहकर दसविध श्रमण धर्म के लिए एक प्राचीन गाथा मतान्तर के रूप में उट्टंकित की है।

---

१. स्थानांग ५-३४/३५
२. स्थानांगवृत्ति, पत्र २८२-८३
३. स्थानांग १०-१६
४. खंती य मद्दवऽज्जव मुत्तीतवसंजमे य बोद्धव्वे।
सच्चं सोयं आकिंचणं च बंभं च जइधम्मो॥ –स्थानांगवृत्ति, पत्र २८३
५. समवायांग, सम. १०
६. खंती य मद्दवज्जव मुत्ती तव संजमे य बोद्धव्वे।
सच्चं सोयं आकिंचणं च बंभं जई धम्मो॥
७. खंती मुत्ती अज्जव मद्दव तह लाघवे तवे चेव।
संजम चियागऽकिंचण, बोद्धव्वे बंभचेरे य॥

आचार्य जिनदासगणि महत्तर[1] ने आवश्यकचूर्णि में श्रमण धर्म का उल्लेख करते हुए क्षमा आदि के पूर्व 'उत्तम' शब्द का प्रयोग किया है, जैसे–उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव आदि। क्षमा आदि तभी धर्म हो सकते हैं जब वे उत्तम हों, शुद्ध भाव से किये गये हों।

वाचक उमास्वाति[2] ने तत्त्वार्थसूत्र में क्षमा आदि दस धर्म का उल्लेख किया है और उसके पूर्व 'उत्तम' विशेषण लगाया है। आचार्य अकलंक[3] ने तत्त्वार्थ राजवार्तिक में दस धर्म की व्याख्या इस प्रकार की है–(१) क्षमा–क्रोध के निमित्त प्राप्त होने पर भी कलुष न होना, शुभ परिणामों के द्वारा क्रोध आदि की निवृत्ति करना, (२) मार्दव–जाति, ऐश्वर्य, श्रुत, लाभ प्रभृति का मद नहीं करना, अन्य के द्वारा परिभव के निमित्त उपस्थित होने पर भी अभिमान न करना, (३) आर्जव–मन, वचन और काया की ऋजुता, (४) शौच–लोभ की अत्यन्त निवृत्ति, लोभ के–जीवन-लोभ, आरोग्य-लोभ, इन्द्रिय-लोभ और उपभोग-लोभ ये चार प्रकार बताये हैं; साथ ही स्वद्रव्य का लाभ, परद्रव्य का अपहरण, धरोहर की हड़प ये लोभ के तीन प्रकार हैं, (५) सत्य, (६) संयम–प्राणी पीड़ा का परिहार और इन्द्रियविजय। संयम के उपेक्षा संयम–रागद्वेषात्मक चित्तवृत्ति का अभाव और अपहृत संयम–भावशुद्धि, कायशुद्धि आदि भेद बताये हैं, (७) तप, (८) त्याग–सचित्त और अचित्त परिग्रह से निवृत्ति, (९) आकिंचन्य–शरीर आदि सभी बाह्य वस्तुओं में ममत्व का त्याग, (१०) ब्रह्मचर्य–काम को उत्तेजित करने वाली वस्तु और दृश्यों का वर्जन तथा सद्गुरु की आज्ञा का पालन।

आचार्य कुन्दकुन्द[4] ने 'द्वादशानुप्रेक्षा' ग्रन्थ में दस धर्मों की जो व्याख्या दी है वह पूर्व व्याख्याओं से कहीं-कहीं भिन्न है–(१) क्षमा–क्रोध की उत्पत्ति के बाह्य कारण प्राप्त हो जायें तो भी क्रोध नहीं करना, (२) मार्दव–कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप, श्रुत और शील का गर्व न करना, (३) आर्जव–कुटिल भाव का परित्याग कर निर्मल हृदय में प्रवृत्ति करना, (४) सत्य–दूसरों को संताप देने वाले वचनों का त्यागकर स्व-पर के लिए हितकारी वचन बोलना, (५) शौच–कांक्षाओं से निवृत्त होकर वैराग्य में रमण करना, (६) संयम–व्रत और समितियों का पूर्ण रूप से पालन करना, दण्ड त्याग और इन्द्रिय विजय, (७) तप–विषय और कषाय

---

१. उत्तमा खमा, मद्दवं, अज्जवं, मुत्ती, सोयं, सच्चो, संजमो, तवो, अकिंचणतणं, बंभचेरमिति।
–आवश्यकचूर्णि

२. तत्त्वार्थसूत्र ९-६

३. तत्त्वार्थराजवार्तिक, पृ. ५२३

४. षट्प्राभृत–द्वादशानुप्रेक्षा, श्लोक ७१-८१

का निग्रह कर स्वयं की आत्मा को स्वाध्याय और ध्यान में भावित करना, (८) त्याग–आसक्ति का परित्याग कर पदार्थों के प्रति मन में वैराग्य रखना, (९) आकिंचन्य–निःसंग होकर स्वयं के सुख-दुःख के भावों का निग्रह कर निर्द्वन्द्व रूप से विचरण करना, (१०) ब्रह्मचर्य–स्त्री के अंग-प्रत्यंगों को निहारते हुए भी मन में दुर्भाव न लाना।

जिनदासगणि महत्तर[1] ने दसविध श्रमण धर्म का मूल गुण अर्थात् महाव्रत और उत्तरगुण में समावेश किया है। संयम का प्रथम महाव्रत प्राणातिपातविरति में, सत्य का द्वितीय महाव्रत मृषावादविरति में अकिंचनत्व का तृतीय महाव्रत अदत्तविरति में और परिग्रह में, ब्रह्मचर्य का चतुर्थ महाव्रत मैथुनविरति में और शेष धर्मों का उत्तरगुणों में समावेश किया है।

आचार्य कार्तिकेय ने भी धर्म के दस प्रकार बताये हैं।

इस प्रकार श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के ग्रन्थों में धर्म के दस प्रकार का उल्लेख है। इनके नाम व क्रम में कुछ अन्तर परिलक्षित होता है।

हम यहाँ तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार दस धर्म का निरूपण कर रहे हैं।

(१) क्षमा

क्षमा मानव की सबसे बड़ी शक्ति है। मानव की मानवता के पूर्ण दर्शन भगवती क्षमा में ही हो सकते हैं। वह मानव क्या जो जरा-सी बात पर ही उबल पड़ता हो, वैर-विरोध की आग भड़काता हो, स्वयं उस आग में जलता हो और दूसरों को भी जलाता हो। क्षमाहीन मानव पशुओं से भी गया गुजरा है। क्षमा का अर्थ है–क्रोध न करना। क्रोध न करने से आत्मा में जो शान्तिरूपी पर्याय प्रकट होती है, वह क्षमा है। क्षमाशील व्यक्ति सहनशील भी होता है। वह किसी के द्वारा किये गये अपराध को विस्मृत हो जाता है। वह दूसरों के अनुचित व्यवहार को किंचित् मात्र भी लक्ष्य न देकर स्नेह की ही वर्षा करता है। बिना क्षमा के मानवता की लता पनप नहीं सकती।

जब मानव क्रोध करता है तब वह अपनी भूल की ओर न देखकर वह दूसरे की भूल को देखता है। यदि स्वयं के हाथ से किसी वस्तु की क्षति हो जाय तब वह यही कहेगा यहाँ पर यह वस्तु किसने रखी? वह दूसरों को उपालंभ देगा। यदि वहीं असावधानी अनुचर की होगी तो वह उसे उपालंभ देगा। क्रोधी व्यक्ति की

---

१. आवश्यकचूर्णि, उत्तर भाग, पृ. ११७

दृष्टि स्व की ओर न होकर पर की ओर होती है। आचार्य ने कहा[1]–जब क्रोध का उदय होता है तब किसकी हानि नहीं होती? क्रोध ऐसा मनोविकार है जिसके द्वारा क्रोध करने वाले की मानसिक शान्ति तो भंग होती ही है साथ ही प्रशान्त वातावरण भी कलुषित व अशान्त हो जाता है। क्रोध का भयंकर रूप वैर है। हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध समालोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है–वैर क्रोध का आचार या मुरब्बा है। क्रोध के आवेश में व्यक्ति उसी क्षण बदला लेना चाहता है। जब क्रोध वैर का रूप धारण कर लेता है तो वह वर्षों तक, यदि शत्रु प्रबल है, दबा रहता है, समय आने पर प्रकट हो जाता है। क्रोध में आवेश होता है। वह कुछ समय तक रहता है पर वैर अनेक पीढ़ियों तक भी चलता है। झल्लाहट, चिड़चिड़ाहट, क्षोभ–ये सभी क्रोध के ही रूप हैं। क्रोध में तत्काल प्रतिक्रिया होती है और वैर में मन में गाँठ बँधी रहती है। वैर वह आग है जो स्वयं को भी जलाती है और दूसरों को भी।

अनेक अनुभूतियों का सम्मिश्रण

क्रोध अकेली अनुभूति नहीं है। उसमें अनेक अनुभूतियों का सम्मिश्रण है। क्रोध उत्पन्न होने के अनेक कारण हैं–असंतोष, असफलता, अभाव, प्रतिकूलताएँ आदि इन विपरीत एवं विषम परिस्थितियों से व्यक्ति के अन्दर ही अन्दर झल्लाहट होती है। अन्दर क्रोध की आग सुलगती रहती है और ऊपर से वह क्षमा का पाखण्ड करता है।

क्षमा ऐसा कवच है जिसको धारण करने के पश्चात् क्रोध के जितने भी प्रहार हैं वे सभी निरर्थक हो जाते हैं। क्षमा अन्दर से उत्पन्न होती है। वह आत्मा का स्वभाव है। क्रोध बाहर से आता है और वह कर्म का स्वभाव है। क्षमा में भय नहीं होता। क्षमाशील व्यक्ति निर्भय होता है। पर क्रोधी व्यक्ति का हृदय काँपता रहता है। क्षमा वीरों का भूषण है। जो जितना अधिक वीर होगा वह उतना ही अधिक क्षमानिष्ठ भी होगा। क्रोध मृत्युमुख है तो क्षमा जीवन का सुख है। क्रोध के मुख में गया व्यक्ति राख बन जाता है; किन्तु क्षमा के मुँह में गया हुआ व्यक्ति लाखों वर्षों तक चमकता रहता है।

क्षमा और बुजदिली में अन्तर

कोई भी संकट क्षमावान को हिला नहीं सकता। सहन करना बुजदिली नहीं है। क्षमा और बुजदिली में तो आकाश-पाताल का अन्तर है। बुजदिली में घबराहट

---

१. क्रोधोदयात् भवति कस्य न कार्य हानि। –आत्मानुशासन, छन्द २१६

होती है, चंचलता होती है। क्षमावान् में धैर्य होता है, अविचलता होती है। जिसका हृदय पृथ्वी की तरह स्थिर होता है, वही क्षमावान हो सकता है।

क्षमा एवं पृथ्वी

कोश में पृथ्वी (धरती) का एक पर्यायवाची शब्द क्षमा भी दिया गया है। पृथ्वी अचला होती है। वह घोरातिघोर प्रहारों से भी विचलित नहीं होती। मनुष्य खान खोदता है, कुएँ खोदता है, पृथ्वी की छाती चीरता है फिर भी पृथ्वी स्वर्ण, कोयला, जल, अन्न आदि देकर उसके जीवन की रक्षा करती है, फल-फूल आदि प्राकृतिक सौन्दर्य से उसके जीवन को सरस बनाती है।

पृथ्वी की तरह क्षमा भी सर्वरसा है; उसके कण-कण में सरसता है। क्षमा भी जीवन में सरसता का संचार करती है। वह विश्वंभरा की तरह विश्व के सभी प्राणियों का भरण-पोषण करती है। यदि क्षमा न हो तो व्यक्ति का भावात्मक विकास ही अवरुद्ध हो जाय। यद्यपि आधुनिक विज्ञान ने पृथ्वी को परिव्राजिका की भाँति अस्थिर माना है, वह प्रतिपल-प्रतिक्षण घूमती रहती है, पर प्राचीन भारतीय मनीषियों ने उसे स्थिरा कहा है। उस पर चाहे कितना भी आक्रमण किया जाय वह कभी भी अस्थिर नहीं होती। आघात-प्रत्याघात होने पर भी न वह अडिग रहती है। क्षमा संसार की संचालिका महान् शक्ति है। पृथ्वी की भाँति उसमें भी अनेक गुण रहे हुए हैं। क्षमा एक ऐसा कल्पवृक्ष है जो सभी मनोवांछित सद्गुण प्रदान कर सकता है।

क्षमा : दैवी सद्गुण

क्षमा बड़प्पन की निशानी है। महान् व्यक्ति में क्षमा होती है और लघु व्यक्ति में उत्पात होता है। गलती करना मानव का स्वभाव है पर क्षमा करना दैवी सद्गुण है। गहराई से चिन्तन करें, तो बुराई किसमें नहीं होती। किसी की गलती पर हम झल्ला उठें, उससे दूसरों को क्षति हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती; पर स्वयं को तो क्षति होती ही है। जैन इतिहास को उठाकर देखें तो ज्ञात होगा कुछ व्यक्ति तनिक-तनिक बात पर क्रोध करते रहे। उन्होंने क्रोध से निर्मम नर-संहार किया। वे स्वयं भी दुःखी हुए और दूसरों को भी दुःखी करते रहे। जैसे सोमिल ब्राह्मण ने क्रोध की ज्वाला में प्रज्वलित होकर धधकते हुए अंगारे गजसुकुमाल के सिर पर रखे, दूसरी ओर क्षमा के देवता गजसुकुमाल ने क्षमा का ज्वलन्त आदर्श उपस्थित किया। चण्डकौशिक सर्प के जीव ने पूर्वभव में क्रोध किया जिससे वह सर्प बना। महावीर की क्षमा का प्रभाव उस पर पड़ा तो उसने भी क्षमा धारण की और स्वर्ग प्राप्त किया।

जैन धर्म तो सदा ही क्षमा का पक्षधर रहा है। जैन धर्म का वज्र आघोष है– विरोधी के प्रति भी उदार बनो। उदार, सहृदय और शान्त बनो। प्रमाद के कारण मानव से भूल हो जाती है तब किसी के अपराध को गाँठ बाँधकर हृदय में रखना अनुचित है। साधक विशुद्ध हृदय से पहले स्वयं क्षमा करता है, फिर दूसरों से क्षमा कराता है। न साधक के हृदय में विद्वेष की ज्वाला धधकती है और न दूसरों के हृदय में।

क्षमा के अभाव में जप-तप व्यर्थ

उग्र तप और जप भी क्षमा के अभाव में केवल देह-दण्ड है। ईसामसीह ने कहा है–"यदि तुम आहुति चढ़ाने हेतु देव-मन्दिर में जाते हो और द्वार पर पहुँचकर तुम्हें स्मरण हो जाय कि तुम्हारा अमुक पड़ोसी से मन-मुटाव है तो तुम आहुति को देव-मन्दिर के द्वार पर छोड़कर अपने पड़ोसी के पास जाकर क्षमा माँगो। पड़ोसी से मैत्री करने के बाद ही देवता को भेंट चढ़ानी चाहिए।" कितना भव्य और उच्च आदर्श है ! बिना क्षमा के हृदय कोमल नहीं बनता और बिना हृदय कोमल बने धर्म का बीज अंकुरित नहीं हो सकता। बृहत्कल्प[1] में लिखा है– यदि श्रमण संघ में किसी से किसी का कलह हो जाय तो जब तक परस्पर क्षमा न माँग लें तब तक आहार-पानी लेने नहीं जा सकते, शौच नहीं जा सकते और स्वाध्याय भी नहीं कर सकते। क्षमा के लिए कितनी कठोर आज्ञा है ! किसी भी प्रकार से किसी को भी मानसिक, वाचिक या कायिक पीड़ा पहुँचाई हो तो उसके लिए अन्तःकरण से क्षमायाचना करनी चाहिए।

(२) मार्दव

क्षमा की भाँति मार्दव भी आत्मा का निज स्वभाव है। 'मृदोर्भावः मार्दवम्'– मृदुता यानी कोमलता का नाम मार्दव है। मान-कषाय के कारण आत्मा में कोमलता का अभाव हो जाता है जिससे वह अपने को बड़ा और दूसरे को छोटा समझने लगता है। क्रोध और मान–ये दोनों कषाय द्वेष के अन्तर्गत हैं; पर दोनों में अन्तर है। यदि कोई अपशब्द कहता है तो व्यक्ति को क्रोध आता है और कोई उसकी प्रशंसा का गीत गाता है तो मान आता है। मिथ्यात्वी निन्दा और स्तुति दोनों में ही कर्म बाँधता है। जिन व्यक्तियों का स्वास्थ्य पूर्ण स्वस्थ नहीं होता उन व्यक्तियों को अत्यन्त शीत हवा और अत्यन्त गरम हवा ये दोनों परेशान करती हैं। उष्ण हवा से

---

१. भिक्खूय अहिगरणं कट्टु तं अहिगरणं अविओसवेत्ता, नो से कप्पइ गाहावइ कुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा, बहिया विचारभूमिं वा वियारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा। —बृहत्कल्पसूत्र, चतुर्थ उद्देशक

उन्हें लू लग जाती है और शीत हवा से जुकाम हो जाता है। इसी प्रकार जो साधक आध्यात्मिक दृष्टि से पूर्ण स्वस्थ नहीं हैं उन्हें निन्दा का गरम पवन लगते ही क्रोध की लू लग जाती है और प्रशंसा की ठण्डी हवा लगते ही मान का जुकाम हो जाता है।

शत्रु और मित्र में अन्तर

निन्दा शत्रु लोग किया करते हैं और प्रशंसा मित्र लोग। शत्रु क्रोध को उत्पन्न करने में निमित्त बनते हैं तो मित्र मान के निमित्त बनते हैं। शत्रु का स्वभाव सामान्य मक्खी की तरह होता है जो मिठाई आदि को छोड़कर गंदगी पर बैठना पसंद करती है। वैसे ही शत्रु गुणों को छोड़कर अवगुणों की गन्दगी को पसन्द करता है। वह राई जितने दुर्गुण को पहाड़ के सदृश प्रस्तुत करता है पर मित्र अवगुण को ढकता है और गुण को बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत करता है। वह चापलूसी भी करता है। शत्रु और मित्र में यही अन्तर है। निन्दा हमेशा पीठ के पीछे की जाती है और प्रशंसा मुँह के सामने की जाती है। इसीलिए निन्दा से भी प्रशंसा अधिक भयावह है।

प्रतिकूलता में क्रोध उभरता है और अनुकूल स्थिति में मान उद्‌बुद्ध होता है। असफल होने पर व्यक्ति को क्रोध आता है और सफल होने पर मान। सफलता-असफलता दोनों ही कषाय को उत्पन्न करती हैं। लोग क्रोध से घृणा करते हैं और मान को प्यार करते हैं। मानपत्र सभी लेना पसन्द करते हैं किन्तु क्रोधपत्र नहीं। अज्ञानी मानपत्र को ज्ञानपत्र समझकर सजाकर, सँवारकर अपने पास रखता है। मान मीठा जहर है। क्रोध जिस निमित्त से आता है व्यक्ति उस निमित्त को नष्ट करना चाहता है। पर मान जिस निमित्त से आता है उसे सदा अपने पास में रखना चाहता है; किन्तु दबाकर जिससे कि उसके अहंकार का पोषण हो। क्रोध वियोग को पसंद करता है मान संयोग को पसंद करता है। क्रोध दूसरे को समाप्त करता है पर मान उसे अपने समीप बनाये रखना चाहता है।

मान और दीनता

शास्त्रकारों ने मान कषाय की उत्पत्ति के आठ निमित्त बताये हैं—जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ और ऐश्वर्य। इन्हीं आठ निमित्तों से मान उत्पन्न होता है। इसी तरह क्रोध भी किसी न किसी आश्रय से होता है। पर यहाँ यह समझना चाहिए कि मान और दीनता ये मार्दव धर्म नहीं है। जिसमें मार्दव धर्म होता है, वह दीन नहीं होता। ज्ञान होने पर भी ज्ञानियों में ज्ञान का अहंकार नहीं होता। निमित्त होने पर मान हो ही यह बात नहीं है। मार्दव धर्म में सहज कोमलता होती है। मानी

व्यक्ति पीछे की ओर झुकता है। उसके प्रत्येक क्रिया-कलाप में अहंकार झलकता है। दीन व्यक्ति आगे की ओर झुकता है। उसका सारा क्रिया-कलाप ऐसा होता है मानो उस पर अत्यधिक दबाव हो। मैं बड़ा हूँ, और सभी छोटे हैं–ये भाव मान में होते हैं तथा मैं छोटा हूँ, और सभी बड़े हैं यह भाव दीनता में होता है। किन्तु मार्दव में दोनों ही नहीं होते। जिसमें मार्दव धर्म होता है वह पदार्थ को पृथक् समझता है और अपने को पृथक्। वह समझता है पदार्थ क्षणभंगुर है। क्षणभंगुर होने के कारण वह उसमें आसक्त नहीं होता। वह क्रोध आदि कषाय को हेय समझता है।

मान और स्वाभिमान

मान और स्वाभिमान में भी अन्तर है। जिस आत्मा ने स्वशक्तियों को पहचान लिया है उसे स्वाभिमान होता है। स्वाभिमान में अहंकार नहीं होता। इसके विपरीत, सम्मान व असम्मान दोनों में मान रहता है। मानव में मान की प्रमुखता होती है। वह स्वजन, परिजन आदि का सहज रूप से परित्याग कर सकता है, पर मान छोड़ना कठिन होता है। जब 'पर' को 'स्व' माना जाता है तब मान होता है किन्तु जब 'पर' को 'पर' और 'स्व' को 'स्व' मान लेते हैं तब ममत्वबुद्धि छूट जाती है।

अधूरा छलकता है

एक वैदिक महर्षि ने लिखा है–शेषनाग अपने फन पर पृथ्वी के भार को उठाये हुए है। उसके पास हजारों तोला जहर भी है, किन्तु उन्हें अपनी शक्ति और महत्ता पर अहंकार नहीं कि मेरे पास कितना सामर्थ्य है, पर बिच्छू[1] के पास स्वल्प जहर होता है। यदि उसे कोई पकड़ ले तो वह अपने आपको छुड़ा भी नहीं सकता, पर अभिमान के कारण वह अपना डंक सदा ऊपर उठाये रखता है। वह अपने जहर का प्रदर्शन करना चाहता है। वैसे ही अल्पज्ञ के भी पैर जमीन पर नहीं रहते। पर वह स्मरण रखना चाहिए उत्तमांग सदा अधमांग की ओर झुकता है। पैरों की ही पूजा होती है। चरण-कमल में ही झुका जाता है।

शिष्य ने जिज्ञासा प्रस्तुत की–मान को जीतने से मृदुता आती है। और मृदुता आने पर जीव को किस गुण की उपलब्धि होती है?

समाधान देते हुए भगवान महावीर ने कहा–मृदुता से जीव अनुद्धत भाव को ग्रहण करता है। अनुद्धत अर्थात् विनय।

एक बार किसी ने महात्मा आगस्टाइन से पूछा–धर्म का सर्वप्रथम और मुख्य लक्षण क्या है?

---

१. विधभारसहस्रेण वासुकि नैव गर्विता।
वृश्चिको स्तोकमात्रेण ऊर्ध्वं वहति कंटकम्॥

उन्होंने कहा–धर्म का प्रथम, द्वितीय और तृतीय ही नहीं जितने भी लक्षण हैं वे सभी विनय के गुण में निहित हैं।

(३) आर्जव

क्षमा और मार्दव की भाँति आर्जव भी आत्मा का स्वभाव है। 'ऋजोर्भावः आर्जवम्।'–ऋजुता यानी सरलता का भाव ही आर्जव है। माया के कारण जीवन में जटिलता आती है। मायावी के जीवन में एकरूपता नहीं होती। उसके मन, वचन व आचरण में विविधता होती है। वह माया के द्वारा ही सफलता प्राप्त करना चाहता है। वह यह विस्मृत हो जाता है कि काठ की हांडी दुबारा नहीं चढ़ती। एक बार माया प्रकट हो जाने पर उस पर फिर कोई विश्वास नहीं करता।

आज सभ्यता के नाम पर मायाचार पनप रहा है। सभ्यता के विकास के कारण मानव ऊपर से मीठा बोलता है किन्तु अन्दर से एक-दूसरे को काटता है। कपटी व्यक्ति के मन में सदा संशय बना रहता है कि कहीं उसकी दुरंगी नीति प्रकट न हो जाय। वह भयाक्रान्त रहता है जिससे उसका चित्त आकुल-व्याकुल रहता है।

पवित्रता की निशानी : सरलता

सरलता जीवन की पवित्रता की निशानी है। स्थानांग[१] में चौभंगी के द्वारा ऋजुता को पुरुषों के माध्यम से व्यक्त किया गया है। कितने ही व्यक्ति अन्दर और बाहर दोनों ओर से सरल होते हैं। कितने ही अन्दर से सरल और बाहर से वक्र होते हैं। कितने ही अन्दर से वक्र और बाहर से सरल होते हैं। कितने ही अन्दर-बाहर दोनों रूपों में वक्र होते हैं।

प्रथम प्रकार के व्यक्ति सरल होते हैं। उनके विचार स्फटिक की भाँति अत्यन्त स्वच्छ होते हैं और उसी तरह उसका आचरण भी होता है।

द्वितीय प्रकार का व्यक्ति अन्दर से सरल होता है किन्तु बाहर से वक्र होता है। बाहर से वक्र होने का अर्थ है कि उसका व्यवहार ऐसा होता है कि उससे प्रतीत होता है कि इसके अन्दर कुटिलता होगी। किन्तु उसकी बाह्य कठोरता में भी आन्तरिक भलाई रही हुई होती है जैसे अभिभावकगण, गुरुजन जो शिष्य को ऊपर से ताड़ना देते हैं किन्तु उनके हृदय में भलाई रही होती है। वह व्यक्ति बादाम की तरह होता है जो ऊपर से कठोर पर अन्दर से कोमल। बादाम की गरी की तरह वह दूसरों को लाभ पहुँचाता है।

---

१. स्थानांग ४

तीसरे प्रकार के व्यक्ति अन्दर से वक्र होते हैं किन्त बाहर से सरल प्रतीत होते हैं। ऊपर से उनका आचरण अत्यन्त मधुर होता है किन्तु उनके अन्दर हलाहल जहर भरा रहता है।

मन मलीन तन सुन्दर ऐसे। विष रस भरा कनक घट जैसे।

सन्त कबीर ने भी कहा है कि मायावी व्यक्ति अनार की तरह होता है। उसका तन रक्त होता है पर मन श्वेत है। माया अन्दर रहती है, ऊपर से उसका कोई चिह्न दिखाई नहीं देता। जैसे भूत-प्रेत अदृश्य रहकर कष्ट देते हैं वैसे ही मायावी भी कष्ट देता है।

चौभंगी का चतुर्थ प्रकार वह है जो अन्दर-बाहर वक्र रहता है। उसके प्रत्येक कार्य में वक्रता होती है। एतदर्थ ही शास्त्रकारों ने माया को त्यागने पर बल दिया है। माया को सरल भाव यानी ऋजुता से जीता जा सकता है। शिष्य की जिज्ञासा पर भगवान ने कहा–ऋजुता से जीव भाव की सरलता, भाषा की सरलता और असंविवाद को प्राप्त करता है जिससे वह कर्मों को क्षय करता है।

सरलता जोड़ती, माया काटती

निर्मलता उसे प्राप्त होती है जो ऋजु होता है। कपटी मानव का मन कभी निर्मल नहीं होता। बालक के मन में सरलता होती है इसीलिए उसके प्रति सहज स्नेह होता है। ज्यों-ज्यों मन में माया का आवरण आता है त्यों-त्यों मानव-मानव के बीच दूरी बढ़ जाती है। एक संस्कृत कवि ने लिखा है–'संधत्ते सरला सूची, वक्रा छेदाय कर्तरी'–सूचिका सरल है अतः वह जोड़ती है–दो को एक कर देती है किन्तु कैंची टेढ़ी-मेढ़ी होती है, वह काटती है, जो एक है उसे दो कर देती है। सरलता एक-दूसरे के मन को साधती है किन्तु माया कैंची के सदृश है जो एक-दूसरे के मिले हुए मन को पृथक् कर देती है।

भोले नहीं, भले

हमारे प्राचीन नीतिविदों ने कहा है–मानव को अत्यन्त सरल नहीं होना चाहिए। जो वृक्ष अत्यन्त सरल और सीधे होते हैं वे काट दिये जाते हैं और जो टेढ़े-मेढ़े होते हैं उन्हें कोई नहीं काटता। पर मैं सोचता हूँ नीतिविदों ने जो कहा है वह राजनीति एवं सामाजिक तथा सांसारिक व्यवहार की दृष्टि से उचित हो सकता है किन्तु धर्मनीति की दृष्टि से नहीं। किसी का शरीर अष्टावक्र की भाँति टेढ़ा-मेढ़ा हो तो कोई उसे पसन्द नहीं करता तो मन की कुटिलता को जो तन से भी बढ़कर है कौन पसन्द करेगा?

भोले नहीं भले बनिये। मायावी नहीं सरल बनिए। सरलता मन का दिव्य प्रकाश है जिसके दिव्य आलोक में कोई भटकता नहीं।

(४) मुक्ति (निर्लोभता-शौच)

मुक्ति का अर्थ है अपने अस्तित्व की ओर प्रवाहित होने वाला सहज स्नेह। उसमें स्वार्थ से संकुचित सीमा नहीं होती। अपने अस्तित्व के लिए वह दूसरों को बंधन में नहीं डाल सकता। दूसरों को वे ही लोग बंधन में डालते हैं जिन्हें स्वयं की मुक्ति का परिज्ञान नहीं है।

मुक्ति के लिए निर्लोभता और शौच शब्द का भी प्रयोग हुआ है। वही मुक्त होता है जो तृष्णा से आबद्ध नहीं है। नीतिकारों ने कहा है–तृष्णा ऐसी अद्‌भुत साँकल है जिसमें बँधा हुआ प्राणी सदा त्रसित रहता है। विश्व में अनेक बंधन हैं पर तृष्णा जैसा गाढ़ बंधन दूसरा नहीं है। इस धर्म में लोभ कषाय पर विजय प्राप्त की जाती है। पूर्व प्रतिपादित धर्मों में एक-एक कषाय का प्रतिपक्षी धर्म बताया गया है।

इसे शौच भी कहते हैं–'शुचेर्भावः शौचम्।' आचार्य जिनदास[1] ने शौच का अर्थ धर्मोपकरण में भी अनासक्त भाव किया है। लोभ को पाप का बाप भी कहा है। ज्यों-ज्यों लाभ होता है त्यों-त्यों लोभ की मात्रा बढ़ती जाती है। लोभ केवल पैसे का ही नहीं होता, यश का भी होता है, रूप या नाम का भी होता है।

जैन मनीषियों ने कहा है नारकी जीवों में क्रोध की प्रधानता होती है, मानवों में मान की, तिर्यंचों में माया की और देवों में लोभ की प्रधानता होती है। देवों में पैसे का प्रचलन नहीं है किन्तु वहाँ लोभ की अधिकता है। पैसा केवल विनिमय का साधन है। इसीलिए उसकी प्रतिष्ठा है। तात्त्विक दृष्टि से विचार किया जाय तो पैसा अपने आप में कुछ भी नहीं है जिसको लोभ से संग्रह किया जाय। यदि उसके माध्यम से भोगोपभोग सामग्री प्राप्त नहीं हो सकती है तो उसे कौन लेना पसन्द करेगा? बाजार में पहले १,००० रुपये, ५,००० रुपये तथा १०,००० रुपये के नोट चलते थे। अब वे बन्द हो गये हैं। उन नोटों की बाजार में कोई कीमत नहीं, इसलिए उन नोटों को कोई लेना पसन्द नहीं करता।

रूप के लोभी पैसों को पानी की तरह बहाते हैं। नाम के लोभी भी उनसे पीछे नहीं रहते। अपना नाम अमर रहे इसके लिए वे मर-मिटते हैं।

आचार्य अकलंक[2] ने लोभ के–जीवन-लोभ, आरोग्य-लोभ और उपभोग-

---

१. सोयं अलुद्धा धम्मोवगरणेसु वि। —आवश्यकचूर्णि

२. तत्त्वार्थराजवार्तिक

लोभ–ये तीन प्रकार; और आचार्य अमृतचन्द्र[1] ने–भोग, उपभोग, जीवन और इन्द्रियों का विषय–इस प्रकार लोभ के चार प्रकार बताये हैं।

लोभी व्यक्ति क्रोध का प्रसंग उपस्थित होने पर भी क्रोध नहीं करता और मानापमान का भी विचार नहीं करता। वह योगियों की भाँति इन्द्रियों का दमन कर सकता है, सुख व वासना का त्याग कर सकता है। यदि कुछ प्राप्त होने की आशा हो तो वह दस गालियाँ भी सहन कर सकता है। करुण स्वर सुनकर भी उसका हृदय पसीजता नहीं, न वह तुच्छ व्यक्ति के सामने हाथ पसारने से संकोच ही करता है।

लोभ की विद्यमानता में वीतरागता नहीं होती। क्रोध चले जाने पर भी मान, माया, लोभ ये तीन कषाय रहते हैं। पर लोभ कषाय यदि क्षीण हो गया है तो अन्य सभी कषाय स्वयमेव क्षीण हो जाते हैं। गुणस्थानों के क्रम में भी दसवें गुणस्थान तक ही क्रोध, मान, माया–इन तीन कषायों का सद्भाव रहता है और ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थान में उपशांत एवं क्षीण लोभ की सत्ता रहती है। जब बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में लोभ का सर्वथा अभाव हो जाता है, तब जीव तेरहवें गुणस्थान में आरोहण करके वीतराग एवं सर्वज्ञ बनता है। इसीलिए लोभ के अभाव को शौच धर्म कहा है। जितना कषाय भाव कम होगा उतनी ही आत्मा की निर्मलता प्रकट होगी। शौच धर्म आत्मा का धर्म है। शरीर तो मल-मूत्र का पिण्ड है।

वीतरागी और सर्वज्ञ बनने के लिए वीतदेह होना आवश्यक नहीं किन्तु राग का नष्ट होना आवश्यक है। इसलिए प्रस्तुत धर्म में लोभ कषाय को पूर्ण नष्ट करना साधक का लक्ष्य होता है।

(५) सत्य

जैनाचार्यों ने सत्य के सम्बन्ध में गहराई से चिन्तन किया है। महाव्रतों में उसे द्वितीय महाव्रत बताया गया है और समिति और गुप्ति में भी उसका क्रम द्वितीय है। सर्वप्रथम बोलने का ही निषेध है जिसे वचनगुप्ति कहा गया है। यदि बोलना ही है तो 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' हो ऐसा वचन ही बोलना है। वचन को विधेयात्मक (Positive) और निषेधात्मक (Negative) दोनों ओर से ग्रहण किया है। वाणी में उसका विधेयात्मक रूप है और गुप्ति में उसका निषेधात्मक रूप है। बोलना और नहीं बोलना–वाणी के इन दोनों पहलुओं पर चिन्तन किया गया है। पर सत्य केवल

---

१. परिभोगोपभोगत्व जीवितेन्द्रियभेदतः।
चतुर्विधस्य लोभस्य निवृत्तिः शौचमुच्यते॥ –*तत्त्वार्थसार*

वचन तक ही सीमित नहीं है। वाणी तो केवल पुद्गल की पर्याय है, किन्तु सत्य आत्मा का धर्म है। उसका स्थान शरीर व वाणी में नहीं है, उसका निवास तो आत्मा में है, वचन और शरीर से तो उसकी अभिव्यक्ति होती है।

सत्य में सत् है, जिसकी सत्ता है। जिस पदार्थ की जिस रूप में सत्ता है उस पदार्थ को उसी रूप में जानना सम्यग्ज्ञान है, सत्य श्रद्धान् है और उसी रूप से बोलना सत्य वचन है।

सत्य धर्म : वीतराग भाव में रमण

आत्मस्वरूप का सत्य ज्ञान और श्रद्धापूर्वक वीतराग भाव की उत्पत्ति होना सत्य धर्म की प्राप्ति है। प्रत्येक पदार्थ स्वचतुष्टय की अपेक्षा से सत् है और परचतुष्टय की अपेक्षा से असत् है। अपेक्षादृष्टि से सत् और असत् होता है किन्तु द्रव्यदृष्टि और स्वचतुष्टय की अपेक्षा लोक में सभी सत् है। जो जैसा है उसे वैसा ही मानना, जानना और उसी रूप में राग-द्वेष से रहित होकर वीतराग भाव में परिणत होना सत्य धर्म है।

सत्य : जीवन व्रत

सत्य बोलने के लिए सत्य को जानना आवश्यक है। बिना सत्य को जाने सत्य बोलना संभव ही नहीं है।

व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाय तो भी सत्य बोलना सरल है पर असत्य बोलने के लिए योजना बनानी पड़ती है। एक झूठ के लिए हजार झूट बोलने पड़ते हैं। किन्तु सत्य के लिए किसी भी प्रकार के प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती। असत्य भी सत्य का मुखौटा पहनकर ही प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। गारंटी सदा असत्य की होती है। सत्य की कोई गारंटी नहीं होती। यदि वस्तु तथ्य की सही जानकारी नहीं तो बोलने के बजाय चुप रहना ही अधिक श्रेयस्कर है।

सत्य बोलना साधक के लिए जीवन व्रत है। जब यह जीवन व्रत जीवन के कण-कण में रम जाता है तो वह सत्य धर्म हो जाता है।

(६) संयम

संयम मुक्ति का साक्षात् कारण है। सम्यक्त्व के बिना संयम नहीं होता। संयम के साथ सम्यक्त्व का अविनाभावी सम्बन्ध है। तीर्थंकरों को भी मोक्ष प्राप्त करने के लिए संयम धारण करना होता है। संयम एक बहुमूल्य रत्न है। पाँच इन्द्रियों के विषय और कषाय रूपी तस्कर संयम रत्न को लूटने के लिए सदा तत्पर रहते हैं इसलिए उनसे संयम-रत्न की रक्षा करना अति आवश्यक है।

संयम जीवन की अद्भुत कला है। कहते हैं कि देवगण भी संयम के लिए तरसते हैं। उनके अन्तर्मानस में ये विचार-लहरियाँ चलती हैं कि मानव कितना सौभाग्यशाली है जो संयम ग्रहण कर सकता है, पर हम कितनी अभागी हैं जो संयम को ग्रहण नहीं कर पाते।

यहाँ यह समझना आवश्यक है कि केवल बाह्य दृष्टि से घर को छोड़ देना, कुछ दिन तप-जप की साधना कर लेना मात्र ही संयम नहीं है। केवल सिर मुँड़ा लेने से कोई श्रमण नहीं होता। श्रमण तब होता है, जब इन्द्रियों के विषय-विकारों का मुण्डन होता है, राग-द्वेष का मुण्डन होता है।

संयम के प्रकार

आगम साहित्य में सत्रह प्रकार[1] के संयम का उल्लेख है–(१) पृथ्वीकाय, (२) अप्काय, (३) तेजस्काय, (४) वायुकाय, (५) वनस्पतिकाय, (६) द्वीन्द्रिय, (७) त्रीन्द्रिय, (८) चतुरिन्द्रिय, और (९) पंचेन्द्रिय–जीवों की हिंसा न करना, न कराना, न अनुमोदन करना, (१०) अजीव संयम–अजीव होने पर भी जिन वस्त्र, पात्र आदि से असंयम होने की संभावना हो उन्हें ग्रहण न करना, (११) प्रेक्षासंयम–जीव सहित स्थान में उठना, बैठना, शयन आदि न करना, (१२) उपेक्षासंयम–गृहस्थ के पापों का अनुमोदन न करना, (१३) अपहृत्यसंयम–सविधि से परठना। इसे परिष्ठापना संयम भी कहते हैं, (१४) प्रमार्जनासंयम–वस्त्र पात्र का प्रमार्जन करना, (१५) मनःसंयम–मन में दुर्भाव न रखना, (१६) वचनसंयम–कुवचन न बोलना, (१७) कायसंयम–गमनागमन आदि में सावधानी रखना।

अन्य विविक्षा से सत्रह संयम इस प्रकार हैं–(१-५) हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य, परिग्रह, पाँच आस्रव द्वारों पर नियंत्रण, (६-९) चार कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) निरुन्धन, (१०-१४) पाँच इन्द्रिय-विषयों (श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्श) पर विजय, और (१५-१७) तीन योगों (मन, वचन, काय) का शुभ प्रवर्तन।

स्थानांग[2] में मन संयम, वचन संयम, काय संयम और उपकरण संयम–ये चार प्रकार संयम के बताये हैं। कहीं पर संयम के दो प्रकार भी बताये हैं–प्राणी संयम और इन्द्रिय संयम। छह काय के जीवों के हनन और हनन करने के भावों को त्याग करना प्राणी संयम है। पाँचों इन्द्रियों और मन के विषयों को त्यागना इन्द्रिय संयम है।

---

१. समवायांग १७

२. स्थानांग ४-४ मणसंजमे, वइसंजमे, कायसंजमे, उवगरणसंजमे

संयम : आन्तरिक वृत्ति की पवित्रता

यह एक सहज जिज्ञासा हो सकती है कि बाह्य हिंसा का परित्याग और इन्द्रियों के विषयों की प्रवृत्ति न होना यदि इसी का नाम संयम है तो फिर सर्वार्थसिद्ध आदि के देव भी संयमी होंगे। वहाँ पर इन्द्रियविषयों की प्रवृत्ति अत्यन्त अल्प होती है। तैंतीस सागरोपम तक उनके मन में विषय वासना का संकल्प भी नहीं उठता। आचार्य उमास्वाति[1] ने भी कहा है कि उनके मन में किसी भी प्रकार की विषय-वासना नहीं होती। यहाँ तक की भगवती[2] आदि से यह भी पता चलता है कि तैंतीस हजार वर्ष तक उन्हें खाने-पीने की इच्छा भी नहीं होती। तैंतीस हजार वर्ष के बाद ज्यों ही उन्हें इच्छा होती है त्यों ही उनकी तृप्ति हो जाती है। अन्य इन्द्रियों के विषय का भी उनमें प्रायः अभाव है। उनके कषाय भी मंद होते हैं। एकान्त शुक्ललेश्या होती है। पापों में प्रवृत्ति नहीं होती। तथापि वहाँ संयम नहीं है। उन देवों को असंयमी ही कहा है। श्रावक पूर्ण महाव्रतों का पालन नहीं कर सकता, उसके पाँच अणुव्रत ही होते हैं। फिर भी उसे असंयमी न कहकर संयमासंयमी कहा है। श्रमण को ही पूर्ण संयमी कहा है। संयम देवों में नहीं अपितु मानवों में ही बताया है।

इस जिज्ञासा का समाधान है–केवल बाह्य प्रवृत्ति का त्याग ही संयम नहीं अपितु आन्तरिक वृत्ति की पवित्रता ही संयम है और वह आन्तरिक पवित्रता सम्यग्दर्शन से उत्पन्न होती है व अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय के अभाव से संयम की प्राप्ति होती है। अनुत्तर-विमानवासी देवों में केवल अनन्तानुबन्धी चतुष्क का अभाव होता है, शेष कषाय की प्रकृतियाँ विद्यमान रहती हैं। इसलिए बाह्य प्रवृत्ति संयम सदृश प्रतीत होने पर भी वहाँ संयम नहीं होता। यदि अंतरंग में संयम है तो वह संयम बहिरंग में स्वतः ही झलक उठेगा। किन्तु बहिरंग में संयम दृग्गोचर होने पर भी संयम हो ही यह निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता।

संयम : इन्द्रियों के बहिर्मुखी प्रवाह को अन्तर्मुखी बनाना

इन्द्रिय संयम पर जब हम चिन्तन करते हैं तो यह स्पष्ट परिज्ञात होता है कि सभी आत्माएँ इन्द्रियों के विषय-सुख को प्राप्त करने के लिए ललक रही हैं और उसी में आनन्द की अनुभूति करती हैं। पर वस्तुतः इन्द्रियों में सच्चा आनन्द नहीं मिलता; आनन्द मिलता है जितेन्द्रिय बनने पर। इन्द्रियाँ विषयों में उलझाती हैं इसीलिए वे संयम में बाधक हैं।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र ४, १० स्वोपज्ञभाष्य २. भगवती

रसना इन्द्रिय के अधीन होकर व्यक्ति खाने में भक्ष्याभक्ष्य का विवेक नहीं रखता। भरपेट बढ़िया भोजन कर लेने पर भी रसनेन्द्रिय के अधीन होकर पान, सुपारी आदि पदार्थ खाता रहता है। इसी प्रकार वह प्रत्येक इन्द्रिय के विषयों में अधीन बनता रहता है। पर संयमी साधक इन्द्रियों के विषयों से हटकर निज भाव में लीन होता है। आत्मा में जमना और रमना संयम है। इन्द्रियों को वश में करने का अर्थ इन्द्रियों को नष्ट करना नहीं अपितु उनके बहिर्मुखी प्रवाह को आत्माभिमुखी बनाना है।

उपाध्याय यशोविजय जी[1] से किसी ने पूछा–हमें मोक्ष प्राप्त करने के लिए क्या करना चाहिए? उन्होंने कहा–इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रबल पुरुषार्थ करना चाहिए।

संयम का अर्थ ही है सं + यम = विवेकपूर्वक अपनी इच्छाओं का नियमन। बिना संयम के आध्यात्मिक जीवन का सर्वतोमुखी विकास नहीं हो सकता। मन, वाणी और शरीर पर नियंत्रण संयम से ही किया जा सकता है। संयम उन पर अंकुश लगाता है, एतदर्थ ही कहा[2]–साधक अपने हाथों को तू संयम में रख, पैरों को सयंम में रख, वाणी को सयंम में रख, इन्द्रिय को संयम में रख।

जैन संस्कृति का सार–संयम

आचार्य संघदास गणि ने लिखा है[3]–मन, वचन, काया के योग अयुक्त होने पर दोषों को उत्पन्न करते हैं। जब ये तीनों योग नियंत्रित होते हैं तो गुणों की अभिवृद्धि करते हैं। आचार्य हेमचन्द्र से एक जिज्ञासु साधक ने पूछा–आप जैन संस्कृति के महान् द्रष्टा व स्रष्टा हैं। जैन वाङ्मय उस विराट् सागर की तरह है जिसका कहीं भी ओर-छोर नहीं है। मेरी बुद्धि इतनी तीक्ष्ण नहीं है जिससे कि मैं उसकी गहराई में प्रविष्ट हो सकूँ। मैं जैन संस्कृति का मर्म जानना चाहता हूँ। कृपया बताइए उसका सार तत्त्व क्या है ? आचार्य ने मधुर स्वर में कहा[4]–वत्स ! आस्रव संसार की अँधेरी गलियों में भटकाने का कारण है और संवर यानी संयम मोक्ष का साधन है। यही जैन संस्कृति का सार है कि असंयम से हटकर संयम को अपनाओ।

---

१. विभेषि यदि संसारात् मोक्षप्राप्तिं च कांक्षसि।
तदेन्द्रियजयं कर्तुं स्फोरय स्फार पौरुषम्॥
–उपाध्याय यशोविजय, ज्ञानसार इन्द्रिय-जयाष्टक, श्लोक १

२. हत्थसंजए, पायसंजए, वायसंजए, संजइंदिए। *–दशवैकालिक ९–५*

३. मणो य वायकाओ य, तिविहो जोगसंगहो।
ते अजुत्तस्स दोसाय, जुत्तस्स उ गुणावहा॥ *–बृहत्कल्प ४४४९*

४. आस्रवो भवहेतुः स्यात् संवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्या प्रपंचनम्॥ *–वीतराग स्तोत्र*

(७) तप

तप के सम्बन्ध में विस्तार से विश्लेषण इससे पहले अध्याय में किया जा चुका है।

तप वह है जिसमें वीतराग भाव की वृद्धि होती है। इसमें शुद्ध उपयोग रूप वीतराग भाव की प्रधानता होती है। तप में बाह्य और अन्तरंग दोनों ही तपों का समावेश होता है। उदारण के रूप में किसी ने एकाशन किया। एकाशन में एक बार ऊनोदरी तप होता है किन्तु आज दूनोदर (दुगुना भोजन) हो गया है। एकाशन में एक समय भी गरिष्ठ भोजन नहीं होना चाहिए। रस-परित्याग उसके लिए आवश्यक है।

इस तरह स्पष्ट है तप में इच्छाओं का निरुन्धन किया जाता है। इच्छाओं का निरुन्धन होने से वीतराग भाव की वृद्धि होती है और वही तप की आत्मा है।

(८) त्याग

आचार्य अकलंक[1] ने सचेतन और अचेतन परिग्रह की निवृत्ति को त्याग माना है। जितने भी मोक्ष के साधन हैं उनमें त्याग को सर्वोत्तम साधन माना है।[2] राग में दुःख है और त्याग में सुख है। आचार्य कुन्दकुन्द[3] ने कहा है–अपने से भिन्न सभी पर-पदार्थों को ये पर हैं इस प्रकार जानकर जब त्याग किया जाता है तब वह प्रत्याख्यान त्याग होता है।

आचार्य अभयदेव[4] ने 'चियाए'–त्याग सभी प्रकार के आसंगों का त्याग अथवा श्रमणों को दान देना किया है। अन्यत्र त्याग[5] का अर्थ केवल दान भी किया है।

त्याग और दान

त्याग और दान में अन्तर है। त्याग जो अनुपयोगी है, अहितकारी है उसका किया जाता है किन्तु दान जो उपयोगी है, हितकारी है, उस वस्तु का दिया जाता है। उपकार के लिए वस्तु का देना दान है। दान में परोपकार मुख्य होता है। किन्तु त्याग में स्वयं का उपकार मुख्य होता है।

---

१. परिग्रहस्य चेतनाचेतनलक्षणस्य निवृत्तित्यागः इति निश्चीयते।
–*तत्त्वार्थराजवार्तिक, अ. ९, सू. ६*

२. त्याग एव सर्वेषां मोक्षसाधनमुत्तमम्।

३. सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाइ परे ति णाइणं।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वं॥ –*समयसार ३४*

४. त्यागः सर्वसंगानां संविग्नमनोज्ञ साधुदानं वा।

५. चियाएत्ति त्यागो दानधर्म इति।

दूसरों के उपकार के लिए राग-द्वेष आदि का त्याग नहीं किया जाता किन्तु स्वयं के उपकार के लिए ही त्याग किया जाता है। त्याग दान का पर्यायवाची नहीं है। दान में कम से कम दो व्यक्ति चाहिए और दोनों को जोड़ने वाला पदार्थ भी चाहिए। यदि वस्तु नहीं है तो वह क्या देगा। पर त्याग के लिए किसी की भी आवश्यकता नहीं। दान पराधीन क्रिया है जबकि त्याग पूर्ण स्वाधीन क्रिया है। कितनी ही वस्तुएँ ऐसी हैं जिनका त्याग होता है दान नहीं, कुछ वस्तुएँ ऐसी भी हैं जिनका त्याग भी होता है और दान भी। जैसे राग-द्वेष, स्त्री-पुत्री आदि का त्याग हो सकता है, दान नहीं। ज्ञान और अभय आदि का दान होता है, त्याग नहीं। औषध, आहार आदि का त्याग भी होता है और दान भी होता है।

कहीं-कहीं पर त्याग और दान को पर्यायवाची माना गया है, किन्तु यहाँ त्याग श्रमण धर्म के रूप में आया है। श्रमण आहार दान आदि नहीं करता। वह ज्ञान दान आदि कर सकता है।

दान से बढ़कर त्याग है। दानियों से भी अधिक सम्मान त्यागियों का है। त्याग ऐसा धर्म है जिसे धारण कर आत्मा परम आनन्द को प्राप्त करती है।

(९) आकिंचन्य

आभ्यन्तर और बाह्य परिग्रह का परित्याग कर आत्मभाव में रमण करना आकिंचन्य है। जैन दृष्टि से केवल बाह्य परिग्रह का ही परित्याग प्रमुख नहीं है। प्रमुख है आभ्यन्तर परिग्रह का परित्याग। जब तक आसक्ति नहीं मिटती वहाँ तक बाह्य परिग्रह का परित्याग करके भी आभ्यन्तर परिग्रह विद्यमान है तो बाह्य परिग्रह स्वतः आ जाएगा। परिग्रह बहुत बड़ा पाप है। विश्व में जितनी हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि की प्रवृत्तियाँ निहारी जाती हैं उन सबको मूल में परिग्रह ही है।

आवश्यकचूर्णि[1] में आकिंचनत्व का अर्थ अपने देह आदि में भी निःसंगता रखना किया है।

बाह्य परिग्रह

बाह्य परिग्रह यथा धन, वस्तु आदि केवल विनिमय या कृत्रिम साधन है, अथवा आवश्यकता-पूर्ति के माध्यम हैं। वस्तुतः वस्तु स्वयं में कोई परिग्रह नहीं, किन्तु उसके ग्रहण का भाव और संग्रह की इच्छा परिग्रह है। यदि पर-पदार्थों के ग्रहण व संग्रह की भावना नहीं है, केवल पर-पदार्थ की उपस्थिति है तो वह परिग्रह

१. नत्थि जस्स किंचणं सो अकिंचणो तस्स भावो आकिंचणियं।

नहीं। जैसे तीर्थंकरों के समवसरण में बाह्य परिग्रह का जमघट होता है तथापि वे परिग्रही नहीं होते। इसीलिए भगवान महावीर ने तथा जैन शास्त्रों में मूर्च्छा को परिग्रह कहा है।[1]

पर-पदार्थ न होने पर भी यदि उसके प्रति ममत्व है तो वह परिग्रह है। इस संसार में ममत्व वृत्ति के कारण व्यक्ति पर-पदार्थों को जोड़ने में आनन्द की अनुभूति करता है। पुण्य की प्रबलता होने पर पदार्थ सहज ही में उपलब्ध हो जाते हैं। किन्तु पुण्य के अभाव में प्रबल प्रयास करने पर भी नहीं मिल पाते।

अपरिग्रह और समाजवाद में अन्तर

कितने ही आधुनिक चिन्तक अपरिग्रह की तुलना समाजवाद से करते हैं, पर दोनों में महान् अन्तर है। समाजवाद का सम्बन्ध बाह्य वस्तुओं से है। उनके समान वितरण से है। किन्तु अपरिग्रह में ममता का त्याग मुख्य है। समाजवाद की दृष्टि से यदि भोग-सामग्री की न्यूनता नहीं है, सभी को उनकी आवश्यकता और इच्छानुसार उपलब्ध है तो फिर उसका त्याग करना या उस पदार्थ का सीमित उपयोग करना कोई अर्थ नहीं रखता। पर परिग्रह में यह बात नहीं है। अपार वैभव प्राप्त होने पर भी उसमें अपनी इच्छाओं को सीमित करना अपरिग्रह है। अन्न की कमी से भोजन न करना अलग बात है, किन्तु सभी प्रकार की भोज्य-सामग्री तथा सुख-सुविधा होने पर भी आहार का परित्याग करना दूसरी बात है। इसलिए आकिंचन्य में दोनों प्रकार के परिग्रह से मुक्त रहने का भाव आवश्यक है।

(१०) ब्रह्मचर्य

दसवाँ श्रमण धर्म ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में प्रस्तुत ग्रंथ में विस्तार से लिखा है। आगम साहित्य में काम-भोग के त्याग को ब्रह्मचर्य माना है। काम-भोग ये दोनों पर्यायवाची नहीं हैं। स्पर्शन, रसना, इन दो इन्द्रियों के विषयों को 'काम' कहा गया है तथा घ्राण, चक्षु और कर्ण इन्द्रियों के विषयों को 'भग' माना गया है। काम और भोग में पाँचो इन्द्रियों के विषय का परित्याग ही ब्रह्मचर्य है।

---

१. (क) दशवैकालिक ६-२० (ख) मूर्च्छा परिग्रहः। —तत्त्वार्थसूत्र ७-१२
(ग) 'मूर्च्छा परिग्रहः' इति सूत्रं यथाध्यात्मानुसारेण मूर्च्छारूपरागादि-परिणामानुसारेण परिग्रहो भवति, न च बहिरंगपरिग्रहानुसारेण।'
—प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति टीका, गा. २७८
(घ) मूर्च्छा तु ममत्वपरिणामः। —पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, छन्द १११
(च) ममेदमिति संकल्पः परिग्रहः। —सर्वार्थसिद्धि, अ. ७, सूत्र. १७

कितने ही स्थलों पर स्पर्शेन्द्रियविजय को ब्रह्मचर्य माना है, किन्तु स्पर्शेन्द्रिय-विजय से तात्पर्य भी सभी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना है। क्योंकि जिसके पास स्पर्श-इन्द्रिय है उसके पास अन्य सभी इन्द्रियाँ हो सकती हैं। अन्य जितनी भी इन्द्रियाँ हैं वे सभी स्पर्श-इन्द्रिय के आधार पर ही रही हुई हैं। इसलिए जिसने स्पर्श-इन्द्रिय पर विजय-वैजयन्ती फहरा ली उसने पाँचों इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली है।

इन्द्रियों का प्रवाह बहिर्मुखी है। वे 'स्व' को नहीं 'पर' को जानती हैं। सभी इन्द्रियों के द्वार बाहर ही खुलते हैं, अन्दर नहीं। आँख से आँख के अन्दर रही हुई वस्तु दिखाई नहीं देती। रसना भी बाह्य पदार्थ के रसों को ग्रहण करती है। घ्राण भी शरीर के अन्दर में रही हुई दुर्गन्ध को ग्रहण नहीं करती। स्पर्शेन्द्रिय भी बाहर के स्पर्श को ही अपना विषय बनाती है। जब इन्द्रियों का प्रवाह अन्तर्मुखी बनता है तब ब्रह्मचर्य की साधना होती है। इन्द्रियों के विषय में उलझना अब्रह्म है और उसे सुलझाना अर्थात् इन्द्रियों को आत्मस्वरूप में लीन करना ब्रह्मचर्य है।

बहुमूल्य रत्नों को बहुत ही सँभालकर रखा जाता है वैसे ही ब्रह्मचर्यरूपी रत्न की रक्षा के लिए भी शास्त्रकारों ने सतत जागरूक रहने का आदेश दिया है। जैसे खेती की सुरक्षा के लिए बाड़ अपेक्षित होती है, खेत में जितनी बहुमूल्य वस्तु होगी उतनी ही उसकी बाड़ मजबूत बनाई जाती है जिससे कि तस्कर खेती को बरबाद न कर सके उसी तरह ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए नौ बाड़ों का विधान किया गया है।

जैसे हाथी के पैर में सभी सद्गुण समा जाते हैं, वैसे ही ब्रह्मचर्य में सभी सद्गुण समा जाते हैं। जिसने ब्रह्मचर्य की सम्यक् आराधना कर ली है उसने सम्पूर्ण शील, तप, विनय, संयम, क्षमा, निर्लोभता, गुप्ति आदि सभी व्रतों के गुणों की आराधना कर ली है।

श्रमण के दस धर्म के उल्लेख से श्रमण-जीवन की महत्ता स्पष्ट हो जाती है। ये वे सद्गुण हैं जिन्हें धारण कर साधक का जीवन चमक उठता है।

●●

८. साधना की सप्राणता : भावना योग

मानव चिन्तनशील प्राणी है। वह चिन्तन-शक्ति के कारण ही अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ और ज्येष्ठ माना गया है। चिन्तन-शक्ति से ही मानव महान् बनता है और वह चिन्तन-शक्ति के सदुपयोग से ही अन्य शक्तियों को नियन्त्रित तथा संचालित करता है। चिन्तन-शक्ति का ही परिणाम वैज्ञानिक विकास है और वैज्ञानिक विकास के फलस्वरूप यान्त्रिक शक्तियों का विकास हुआ है तथा हर प्रकार की जीवन-सुविधाएँ उपलब्ध हो गई हैं। द्रुतगामी संचार-साधनों ने जिन्दगी की धड़कन को तीव्रतर बना दिया है। क्षेत्र की परिधि का अत्यधिक विस्तार हो चुका है। किन्तु उदात्त भावनाओं का विकास न होने से जीवन में द्वन्द्व और तनाव उत्पन्न हो गया है। जिससे जन-जीवन संशयग्रस्त, भयाक्रान्त, असुरक्षित और भावना शून्य हो गया है।

मानव भौतिक जगत् के नित्य नूतन रहस्यों को जानने के लिए जल, थल और नभ की अतल गहराइयों को नापने के लिए और निस्सीम ऊँचाइयों को स्पर्श करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील है। भौतिक जगत् की यात्रा ने उसे आध्यात्मिक जगत् से दूर कर दिया है। वह एक क्षण भी रुककर अपने अन्तर्जगत् पर दृष्टिपात नहीं कर रहा है। फलस्वरूप भौतिक वैभव तथा वैज्ञानिक उपलब्धियों के अंबार लगने पर भी उसे शान्ति नहीं है।

जब भी मानव स्वभाव को भूलकर विभाव में विचरण करता है, तभी उसे विकास के स्थान पर विनाश के संदर्शन होते हैं। शान्ति के स्थान पर अशान्ति ही हाथ लगती है।

अनुप्रेक्षा और भावना

बहिर्भाव से अन्तर्भाव में रमण करना ही अनुप्रेक्षा है। अनुप्रेक्षा में मानव जीव और जगत् के सम्बन्ध में गहराई से चिन्तन-मनन करता है। अनुप्रेक्षा के अर्थ में ही जैन आगम साहित्य में भावना शब्द भी व्यवहृत हुआ है।

भाव और भावना

भाव और भावना ये दो शब्द हैं। भाव एक विचार है, मन की तरंग है। वह जल-बूँद की तरह है। जब भाव प्रवाह रूप में प्रवाहित होता है, तब वह भावना के

रूप में परिणत होता है। भावना में अखण्ड प्रवाह होता है, जिससे मन में संस्कार स्थायी हो जाते हैं। भाव पूर्व रूप है तो भावना उत्तर रूप है। सद्विचार, सुविचार से जीवन का परिष्कार होता है और जीव जन्म-मरण के प्रवाह से मुक्त होकर मुक्ति को वरण करता है।

भाव का महत्त्व

भव और भाव इन दोनों शब्दों में केवल एक मात्रा का अन्तर है। भव संसार है[1] और भाव विचार है। इस संसार से मुक्त होने के लिये भाव आवश्यक है। अध्यात्म जगत् के दिव्य नक्षत्र आचार्य कुन्दकुन्द[2] ने स्पष्ट कहा है भावनारहित आत्मा कितना ही प्रयास करे, वह मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकती। आचार्य भद्रबाहु[3] ने कहा है–बिना पवन के श्रेष्ठतम जहाज भी समुद्र में चल नहीं सकता। जैसे नौका को चलाने के लिए पवन आवश्यक है वैसे ही संसार-सागर से पार उतरने के लिए भावना आवश्यक है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर[4] ने भी कहा–भावशून्य क्रिया कभी भी फल-प्रदाता नहीं होती। भाव एक कुंजी है, जिससे धर्मरूपी द्वार उद्घाटित हो जाता है। भाव एक औषध है, जिससे भवरूपी रोग नष्ट होते हैं।

आयुर्वेद में औषधियों को प्रभावशाली बनाने के लिए उसे विविध रसों में डाला जाता है। विविध रसों में डालना 'भावना' कहलाती है। जितनी अधिक भावना दी जायेगी, उतनी ही अधिक औषध गुणकारी होगी। इसी तरह मन को निर्मल विचारों के रस से भावित किया जाये तो मन भी पूर्ण संस्कारित बनता है। विमल-विचारों के पुनः-पुनः चित्त में आते रहने से संस्कार सुदृढ़ होते हैं। सतत अभ्यास से भावना ही ध्यान का रूप ग्रहण करती है।

भावना के दो भेद

भावना के दो भेद हैं–एक ऊर्ध्वमुखी भावना, दूसरी अधोमुखी भावना। सद्भावना ऊर्ध्वमुखी भावना है और असद्भावना अधोमुखी भावना है। आचार्य पतंजलि ने भावनारूपी सरिता की दो धाराएँ मानी हैं। वह ऊपर भी जाती है और नीचे भी जाती है। वह शुभ की ओर भी गति करती है तो अशुभ की ओर भी बहती है। जल की धारा से इक्षु, द्राक्षा, आम, मौसम्बी आदि मधुर रसदार फल भी पैदा होते हैं और तम्बाकू, अफीम आदि नशीली वस्तुएँ भी उत्पन्न होती हैं। यदि

---

१. भवन्त्यस्मिन् कर्मवशवर्तिनः प्राणिन इति भवः संसारः। –पंचाशक १

२. भावरहिओ न सिज्झइ। –भावपाहुड ४

३. आवश्यकनिर्युक्ति ९५

४. यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः। –कल्याणमन्दिरस्तोत्र ३८

चित्त वृत्ति में शुभ विचारों का प्राधान्य होगा तो सुख, शान्ति और आनन्द का सरसब्ज बाग लहलहा उठेगा। इसके विपरीत, यदि अशुभ विचारों का प्राधान्य होगा तो अशान्ति, दुःख, दैन्य आदि दानवी वृत्तियाँ पनपेंगी। आचार्य संघदास गणि[1] ने भावना पर चिन्तन करते हुए उसके दो प्रकार बताये हैं–असंक्लिष्ट भावना और संक्लिष्ट भावना अर्थात् शुभ भावना और अशुभ भावना। साधक को अशुभ भावना से बचने के लिए निरन्तर शुभ भावना की ओर अग्रसर होना चाहिए। शुभ भावना ध्यातव्य है और अशुभ भावना हातव्य है। कोई भी विवेकी यह नहीं चाहता कि कूड़े-कचरे को अपने घर में भरा जाये। प्रत्येक व्यक्ति यही चाहता है उसका आवास पूर्ण स्वच्छ हो, इसी तरह सुन्दर भावना से हृदय-मन्दिर को सजाना-सँवारना चाहिए।

अशुभ भावना के प्रकार एवं स्वरूप

अशुभ भावना के नौ[2] और पाँच प्रकार बताये हैं वे इस प्रकार हैं–

(१) हिंसानुबन्धी भावना
(२) मृषानुबन्धी भावना
(३) स्तेयानुबन्धी भावना
(४) मैथुन सम्बन्धी भावना
(५) परिग्रह सम्बन्धी भावना
(६) क्रोधानुबन्धी भावना
(७) मानानुबन्धी भावना
(८) मायानुबन्धी भावना
(९) लोभानुबन्धी भावना

आचार्य संघदास गणी[3] ने अशुभ भावनाओं के पाँच प्रकार बताये हैं, वे इस प्रकार हैं–

(१) कंदर्पी भावना
(२) किल्विषी भावना
(३) आभियोगी भावना
(४) आसुरी भावना
(५) सम्मोही भावना

कुछ नाम-भेद के साथ स्थानांग[4] और उत्तराध्ययन[5] में चार-चार भेदों के उल्लेख हैं–

---

१. दुविहाओ भावणाओ असंकिलिट्ठा य संकिलिट्ठा य।
मुत्तूण संकिलिट्ठा असंकिलिट्ठाहि भावंति॥ –बृहत्कल्पभाष्य १२९१

२. अभिधान राजेन्द्र कोष–भावना शब्द

३. (क) बृहत्कल्पभाष्य १२९३ (ख) ज्ञानार्णव ४-४१

४. स्थानांगसूत्र, स्थान ४, उ. ४, सू. ३५४

५. उत्तराध्ययन, अ. ३६, गा. २६१-२६४

स्थानांग सूत्र	उत्तराध्ययन सूत्र
(१) आसुरी भावना	(१) कन्दर्प भावना
(२) आभियोगी भावना	(२) आभियोगी भावना
(३) संमोही भावना	(३) किल्विषी भावना
(४) देव-किल्विषी भावना	(४) आसुरी भावना

नाम और क्रम में परिवर्तन होने पर भी इनके स्वरूप में कोई भेद नहीं है। अशुभ भावना चारित्र को दूषित करती है। दुष्ट चिन्तन का प्राधान्य होने से अशुभ भावना दुर्गति का कारण है। अप्रशस्त भावना के प्रवाह में बहकर जीव नूतन पाप-कर्मों का बन्ध करता है। जब उसके अन्तर्मानस में हिंसानुबन्धी भावना उद्‌बुद्ध होती है तब दया का निर्मल नीर सूख जाता है। मन करुणा से रहित कठोर बन जाता है। असत्य-सम्बन्धी विचारों से मन सतत अस्थिर, चंचल और भयभीत बना रहता है। स्तेय भावना से दूसरों के अर्थ और अधिकार हरण के लिए मनुष्य जाल बुनता रहता है। अहर्निश वह इन्हीं विकल्पों में उलझा रहता है। अब्रह्मचर्य की कलुषित भावना के कारण वह पागल की भाँति पर-स्त्रियों की ओर ताकता रहता है। परिग्रह की ममता से ग्रस्त बना हुआ मनुष्य प्राणों की बाजी लगाकर धनार्जन के लिए चिन्तित रहता है। क्रोधादि कषायों की भावना भी मनुष्य को अशांत और भ्रान्त बनाये रखती है।

कन्दर्प का अर्थ 'काम' है। काम-चेष्टा को बढ़ाने वाले सभी प्रबल कन्दर्प-भावना के अन्तर्गत हैं। स्वास्थ्य के लिये हँसना आवश्यक है। खिला हुआ फूल सभी को लुभाता है। बिना नमक की रोटी स्वादिष्ट नहीं होती। पर अधिक नमक डालने से रोटी का स्वाद भी बिगड़ जाता है। वैसे ही पुनः-पुनः अट्टहास करना या कहकहा लगाकर हँसना मूर्खता का प्रतीक होता है। अतः साधक को इस प्रकार की कोई भी कुचेष्टा नहीं करनी चाहिए। इसी तरह अन्य अप्रशस्त भावनाएँ भी साधक की प्रगति के लिए बाधक हैं। शुभ भावनाओं का फल आम के फल की तरह है जो दीर्घकाल के पश्चात् फल प्रदान करता है। अशुभ भावनाएँ बबूल और धतूरे की तरह शीघ्र फल प्रदान करने वाली होती हैं।

उत्तराध्ययन[१], स्थानांग[२], दशाश्रुतस्कन्ध[३] और बृहत्कल्पभाष्य[४] आदि में अशुभ भावनाओं का जो उल्लेख हुआ है, वह सम्पूर्ण वर्णन श्रमण को लक्ष्य में

१. उत्तराध्ययनसूत्र, अ. ३६
२. स्थानांग ४/४
३. दशाश्रुतस्कन्ध १
४. बृहत्कल्पभाष्य १३२७

लेकर किया गया है। आचार्य संघदास गणि[1] ने स्पष्ट शब्दों में कहा–जो श्रमण होकर अशुभ भावनाओं का आचरण करता है। मलिन भावनाओं से आत्मा को दूषित करता है, तो वह उसी भावना के अनुरूप गति में जन्म लेता है। यदि देवगति में गया तो किल्विषी देव बनता है। जो चरणहीन है यदि वह मनुष्य गति में जन्म लेता है तो विदूषक, भाण्ड तथा अन्य निम्न जातियों में जन्म लेकर असदाचरण करता है। तिर्यंच और नरक गति में भी अशुभतर स्थान में ही उत्पन्न होता है। अशुभ भावना हलाहल विष के समान है, जो अपना प्रभाव दिखाये बिना नहीं रहती।

हम पूर्व ही बता चुके हैं कि चित्तवृत्ति का नाम 'भावना' है। भावना के अशुभ और शुभ ये दो मुख्य भेद हैं। यों भावना के असंख्य रूप हो सकते हैं। जितनी भी चित्तवृत्तियाँ हैं, उतनी ही भावना हो सकती हैं। पर मूर्धन्य मनीषियों ने उन भावनाओं को प्रमुख प्रकारों की सीमा में आबद्ध किया है। अशुभ भावना साधक के लिये वर्ज्य है। शुभ भावना ही उसके लिये उपादेय है।

शुभ भावनाओं के भेद-प्रभेद

शुभ भावनाओं को दो भागों में विभक्त किया गया है–एक चारित्र की भावना है, दूसरी वैराग्य भावना है। चारित्र भावनाओं में महाव्रतों को सुदृढ़ बनाने के लिये प्रत्येक महाव्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ हैं। उत्तराध्ययन[2] में स्पष्ट कहा है–जो श्रमण पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं में सदा यत्नशील रहता है, मनोयोगपूर्वक उनका गहराई से अनुचिन्तन करता रहता है वह संसार में परिभ्रमण नहीं करता है। इन भावनाओं के अनुचिन्तन से महाव्रतों में स्थिरता आती है।[3] मनोबल पूर्ण रूप से सुदृढ़ होता है। मन में पवित्र संस्कार सुस्थिर होते हैं। महाव्रतों की भावनाओं का विवेचन हम महाव्रतों के वर्णन के सन्दर्भ में करेंगे। अतः उसकी पुनरावृत्ति करना यहाँ अपेक्षित नहीं है।

धर्मध्यान और शुक्लध्यान की अनुप्रेक्षाएँ

स्थानांग सूत्र में चारित्र की विशुद्धि के लिये ही धर्मध्यान और शुक्लध्यान की चार-चार अनुप्रेक्षाएँ बतायी हैं।[4] उन अनुप्रेक्षाओं से चारित्र में विशुद्धि और स्थिरता आती है। धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ इस प्रकार हैं–

(१) एकत्वानुप्रेक्षा–आत्मा के एकत्व पर अनुचिंतन।

---

१. बृहत्कल्पभाष्य १२९४
२. उत्तराध्ययनसूत्र ३१-१७
३. तत्त्वार्थसूत्र ७-३
४. स्थानांग ४-१-२४७

(२) अनित्यानुप्रेक्षा–बाह्य संयोगों की अनित्यता पर चिंतन।

(३) अशरणानुप्रेक्षा–सांसारिक अशरणता का चिन्तन।

(४) संसारानुप्रेक्षा–संसार-विषयक विचित्रता का चिंतन।

इसी तरह शुक्लध्यान की भी चार अनुप्रेक्षाएँ हैं–

(१) अनन्तवर्तित अनुप्रेक्षा–अनादि भव परम्परा पर चिन्तन।

(२) विपरिणामानुप्रेक्षा–पदार्थों की परिणमनशीलता पर चिंतन।

(३) अशुभानुप्रेक्षा–बाह्य संयोगों की अशुभता पर चिंतन।

(४) अपायानुप्रेक्षा–बंध हेतु आश्रव आदि के कटुफलों पर चिन्तन।

इन अनुप्रेक्षाओं से आत्मा अशुभ ध्यान से हटकर शुभ ध्यान में स्थिर होती है। इनके चिंतन से संसार से विरक्ति होती है। इन आठ अनुप्रेक्षाओं में वैराग्य भावनाओं का समावेश हो जाता है। पर आगम साहित्य में एक स्थान पर वैराग्य की द्वादश भावनाओं का व्यवस्थित वर्णन नहीं मिलता, बीज रूप में अनेक स्थलों पर इन भावनाओं का वर्णन है। बारह भावनाओं में वैराग्य का प्राधान्य होने से और वैराग्यमूलक चिंतन होने से आचार्यों ने इन्हें वैराग्य भावना कहा है।[1]

आगम साहित्य में से विकीर्ण भावनाओं को आचार्यों ने संकलित कर उसे व्यवस्थित रूप दिया। सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द ने 'बारस अणुवेक्खा' ग्रंथ का निर्माण किया। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में बहुत ही संक्षेप में अनुप्रेक्षा का सूचन किया है। किन्तु 'प्रशमरित प्रकरण' में अनुप्रेक्षाओं का विस्तार से वर्णन किया है। आचार्य कुन्दकुन्द के और उमास्वाति के वर्णन क्रम में कुछ अन्तर है; पर भाव एक सदृश है।

अनेक जैनाचार्यों ने इन अनुप्रेक्षाओं पर अपनी-अपनी शैली से अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया है। आचार्य वट्टकेर ने मूलाचार की रचना की। आचार्य नेमिचन्द ने 'बृहद्द्रव्यसंग्रह' ग्रंथ का सर्जन किया। आचार्य सोमदेव ने 'यशस्तिलक चम्पू' की रचना की। आचार्य शुभचन्द्र ने 'ज्ञानार्णव' का निर्माण किया। आचार्य हेमचन्द्र ने 'योगशास्त्र' की रचना की। स्वामी कार्तिकेय ने 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' ग्रन्थ का सर्जन किया। उपाध्याय विनयविजय जी ने 'शांत सुधारस' ग्रंथ लिखा और शतावधानी पण्डितरत्न श्री रत्नचन्द्र जी ने 'भावना शतक' ग्रन्थ का निर्माण किया। आचार्य आनन्द ऋषि जी ने 'भावनायोग : एक परिशीलन' का प्रणयन किया। इस तरह विविध मनीषियों ने ग्रंथों का निर्माण कर अपनी प्रतिभा का परिचय

---

१. तत्त्वार्थसूत्र ७-७

प्रदान किया। हम यहाँ बहुत ही संक्षेप में उन वैराग्य भावनाओं पर चिन्तन प्रस्तुत कर रहे हैं।

द्वादश वैराग्य भावनाएँ

वैराग्य को उद्‌बुद्ध करने वाली जितनी भावनाएँ हैं, उन सभी का समावेश वैराग्य भावना में होता है। वैराग्य का वर्णन आगम साहित्य में सर्वत्र मुखरित हुआ है। इन भावनाओं के चिन्तन से वैराग्य भावना परिपुष्ट होती है और उसकी प्रेरणा प्राप्त होती है। आचार्यों ने वैराग्य भावना के बारह प्रकार बताये हैं, वे इस प्रकार हैं–

(१) अनित्य भावना	(५) अन्यत्व भावना	(९) निर्जरा भावना
(२) अशरण भावना	(६) अशुचि भावना	(१०) धर्म भावना
(३) संसार भावना	(७) आश्रव भावना	(११) लोक भावना
(४) एकत्व भावना	(८) संवर भावना	(१२) बोधिदुर्लभ भावना

इन भावनाओं में जो क्रम प्रतिपादित किया गया है वह बहुत ही वैज्ञानिक है। जैसे भव्य भवन पर चढ़ने के लिये सीढ़ियाँ होती हैं वैसे ही भावनाओं के महल पर आरूढ़ होने के लिये ये कर्मबद्ध सीढ़ियाँ हैं। इन सीढ़ियों पर आरूढ़ होता हुआ साधक सहज ही आध्यात्मिक उत्कर्ष को प्राप्त होता है।

(१) अनित्य भावना

इस विराट् विश्व में परिभ्रमण का मूल कारण मोह है। मोह से मुग्ध बना हुआ मानव जो वस्तुएँ या पदार्थ नित्य नहीं है, उन्हें नित्य मानता है। क्षणभंगुर जीवन को शाश्वत समझता है। मोह के चक्रव्यूह को भेदने के लिये ही अनित्य भावना आवश्यक है। अनित्य भावना का अर्थ है–कि संसार में जितने भी भौतिक पदार्थ हैं, वे सभी अनित्य हैं। चाहे तन हो, चाहे धन हो, चाहे परिजन हों, चाहे भवन हों–वे सभी विनाशवान हैं। बिजली की चमक की तरह क्षणभंगुर हैं। जिस शरीर, यौवन, रूप और सम्पत्ति पर मानव आसक्त है और अहर्निश उसकी सुरक्षा का ध्यान रखता है। लेकिन वह यह चिन्तन नहीं करता कि यह शरीर विविध व्याधियों का घर–"शरीरं व्याधि मन्दिर" है। यौवन, वृद्धावस्था में परिवर्तन होने वाला है। यह शरीर जो प्रतिक्षण गल रहा है, फिर उस पर इतना आसक्त क्यों है? शरीर की भाँति ही अन्य पदार्थ भी नश्वर हैं। धन भी कहाँ एक स्थान पर स्थिर रहता है। इसीलिये लक्ष्मी को चंचला कहा है। एक पाश्चात्य विचारक ने लिखा है–"रिचेज हेव विंग्स" (Riches have wings) समृद्धि के पंख होते हैं। वह पक्षी की

तरह सदा उड़ती रहती है। एक स्थान पर स्थिर होकर नहीं रहती है। जिस धन के लिये विविध प्रकार के छल-छद्म किये, माता-पिता, परिजन से वैर भी मोल लिया। वह धन भी अस्थायी है। परिजनों की प्रीति भी स्वार्थ पर आधारित है। जब तक स्वार्थ है वहाँ तक वे अपने हैं। स्वार्थ नष्ट होने पर वे भी शत्रु की तरह व्यवहार करने लगते हैं। अतः साधक अनित्य भावना का चिन्तन करता है और संसार के वास्तविक अनित्य स्वरूप को समझकर उससे वह विरक्त होता है।

(२) अशरण भावना

अनित्य स्वरूप का चिन्तन करने से मन का ममत्व कम होता है। साथ ही यह भी सत्य है कि जो वस्तु अनित्य है वह कभी भी शरणभूत नहीं हो सकती। अस्थिर नींव पर स्थिर भवन कैसे बन सकता है? जो पदार्थ प्रतिपल-प्रतिक्षण विनष्ट हो रहा है, वह हमें किस प्रकार शरण दे सकता है? जैसे शेर के मुँह में जाते हुए मृग को दूसरा मृग बचा नहीं सकता वैसे ही काल के गाल में समाते हुए प्राणियों को कोई दूसरा प्राणी बचा नहीं सकता, चाहे वह कितना ही शक्ति सम्पन्न यहाँ तक कि देवी-देवता ही क्यों न हो। यदि कोई प्राणी चाहे कि मैं मृत्यु से बच जाऊँ और उसके लिये वह संगीन मकान का निर्माण भी कर ले, मृत्यु को देखकर वह अत्यन्त दीन शब्दों में अभ्यर्थना भी करे कि 'मुझे मत मारो', माता-पिता भी करुण क्रन्दन करें तो भी काल उसे नहीं छोड़ता। काल एक तानाशाह की तरह अचानक हमला करता है और प्राणी को उठा ले जाता है। मृत्यु के आने का कोई भी समय निश्चित नहीं है। जो जन्मा है, वह अवश्य मरेगा।[1] जो फूल खिला है, वह कुम्हलायेगा। जो सूर्य उदित हुआ है, वह अस्त होगा। मृत्यु का आगमन न हो, यह कभी भी सम्भव नहीं है।[2]

यदि कोई व्यक्ति यह सोचे कि मेरे पास धन का अम्बार है। मेरा बहुत लम्बा-चौड़ा परिवार है। मेरे अनेक मित्रजन हैं। वे मुझे मृत्यु से बचा लेंगे। मुझे वे शरण प्रदान करेंगे। पर उसका यह सोचना केवल भ्रम है।

उत्तराध्ययन सूत्र में अनाथी मुनि का बड़ा सुन्दर प्रसंग है। अनाथी मुनि को श्रमण बनने के पूर्व आँखों में भयंकर पीड़ा हुई थी। उस पीड़ा से वह अत्यन्त व्यथित हो उठा। सभी प्रकार के उपचार किये गये, पर पीड़ा शांत नहीं हुई। स्वजन और परिजन भी शरणभूत न हो सके। अन्त में सभी को अशरण समझकर अनाथी मुनि ने धर्म की शरण ग्रहण की तब उसकी पीड़ा शांत हुई और वे अनगार बने।

---

१. जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः। —*गीता* २-२७

२. नाणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि। —*आचारांग* १-४-२-४४५

महारानी कमलावती ने इषुकार राजा से कहा–राजन ! एक धर्म ही हमारा त्राता है। इसके अतिरिक्त हमारा कोई भी रक्षक नहीं है।[1]

भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा के केशी श्रमण ने गणधर गौतम से कहा–एक विराट्काय महासमुद्र है, जिसमें भयानक तूफान उठ रहे हैं, मच्छ-कच्छ मुँह फैलाकर निगलने को लपलपा रहे हैं। बताइये, ऐसा कौन-सा द्वीप है, जहाँ आत्मा पूर्ण निर्भय हो सके और उस शरण को ग्रहण करने पर शांति और निर्भयता के साथ रह सके। गणधर गौतम ने जिज्ञासा का समाधान करते हुए कहा–जरा और मृत्यु के वेग में प्रवाहित होते हुए प्राणी के लिये धर्म ही एकमात्र शानदार द्वीप है। ऐसी शरण है, जहाँ प्राणी शांति और निर्भयता से रह सकता है।[2] धर्म परलोक में भी साथ-साथ जाता है। इसलिये साधक अशरण भावना का अनुचिन्तन करते हुए सच्चे धर्म को स्वीकार करता है।

(३) संसार भावना

जन्म-मरण का चक्र संसार है। आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने संसार की परिभाषा करते हुये लिखा है–एक भव से दूसरे भव में, एक गति से दूसरी गति में परिभ्रमण करते रहना 'संसार' है।[3] संसरणशील संसार है। स्थानांग[4] में संसार के चार प्रकार बताये हैं–'द्रव्य संसार', 'क्षेत्र संसार', 'काल संसार' और 'भाव संसार'। षट्द्रव्यात्मक रूप संसार द्रव्य संसार है। चौदह रज्जुप्रमाण संसार क्षेत्र संसार है। दिन-रात्रि, पक्ष, मास, पुद्गल परावर्तन रूप काल संसार है। कर्म के कारण जीव के राग-द्वेषात्मक जो परिणाम होते हैं जिससे जीव संसार में परिभ्रमण करता है, वह भाव संसार है। दूसरी दृष्टि से संसार के नैरयिक संसार, तिर्यंच संसार, मनुष्य संसार और देव संसार–ये चार गति रूप संसार हैं।[5] आचार्य हरभद्र[6] ने लिखा है कि अनादि काल से यह जीव इस संसार में परिभ्रमण कर रहा है। ऐसा कोई भी स्थान नहीं। जहाँ पर इस जीव ने जन्म और मरण नहीं किया हो। एक-एक योनि में–अनेक बार जन्म-मरण ग्रहण करता रहा है।

निगोद में जीव का शरीर बहुत ही सूक्ष्म होता है। सूचिका के नोंक जितने भाग पर असंख्यात शरीर समाविष्ट हो जाते हैं और उन शरीरों में भी एक-एक

---

१. उत्तराध्ययन १४-४०
२. वही २३, ६७-६८
३. संसरणं संसारः, भवाद् भवगमनं नरकादिषु पुनर्भ्रमणं वा। –*विशेषावश्यकभाष्य*
४. स्थानांग ४-१-२६१
५. वही ४-२-२९४
६. अनादिरेष संसारो नानागति समाश्रयः। –*योगबिन्दु ७०*

शरीर में अनन्त जीव रहते हैं। उन जीवों को अपार वेदना होती है। इस जीव ने अनन्त काल तक निगोद की घोर वेदना सहन की। पृथ्वी, पानी आदि स्थावरकाय में असंख्यात काल तक रहा है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय और नरक में भी घोर वेदना सहन की है। स्थानांग सूत्र में स्पष्ट निर्देश है–नरक में भयंकर सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास, खुजली, पराधीनता, भय, शोक, जरा और विविध व्याधियाँ जीव ने सहन की हैं। आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर नरक के जीवों का रोमांचक वर्णन है। मानव-जीवन में भी अनेक प्रकार के कष्ट भरे पड़े हैं। कोई शारीरिक दुःख से संत्रस्त है तो कोई मानसिक दुःख से व्यथित है। कहीं भी सुख नहीं है। सर्वत्र हृदय विदारक हाहाकार है। बड़ा विचित्र संसार है। किसी को वह अपना मित्र मानता है तो किसी को शत्रु समझता है। किसी को माता, किसी को बहन, किसी को पुत्री और किसी को पत्नी मानता है। विविध प्रकार के उसने रिश्ते बना दिये हैं।

प्रस्तुत संसार भावना में संसार के विचित्र स्वरूप को समझकर वह संसार से विरक्त बनता है।

(४) एकत्व भावना

संसार जन्म-मरण, जरा और व्याधियों की आग से जल रहा है। उस झुलसते हुए संसार में साधक सोचता है कि मैं अपनी आत्मारूपी रत्नकरंडक को इस संसार से बाहर निकाल दूँ और अपनी आत्म-निधि की सुरक्षा करूँ। यह निधि बड़ी ही अनमोल है। इस निधि को न तस्कर चुरा सकता है और न स्वजन-परिजन ही इसका बँटवारा कर सकते हैं, न रोग इसे विनष्ट कर सकता है। संसार में सभी वस्तुएँ नश्वर हैं, वे नष्ट होती हैं। किन्तु आत्मा ही एक ऐसा तत्त्व है जो कभी नष्ट नहीं होता। मेरी आत्मा ही शाश्वत है। वह ज्ञान और दर्शन से युक्त है। ज्ञान और दर्शन के अतिरिक्त जितने भी भाव हैं वे सभी बाह्यभाव हैं। वे सभी संयोग लक्षण वाले हैं।[1]

एकत्व भावना में साधक यह चिन्तन करता है कि कोई भी पर-वस्तु मेरी नहीं है। जितनी भी पर-वस्तु हैं, वे सभी जड़ हैं और मैं स्वयं चेतन हूँ, जड़ वस्तुएँ मेरी कैसे हो सकती हैं? संसार में रहते हुए भूत, भविष्य और वर्तमान काल में भी दुःख थे, होंगे और हैं। वे सभी संयोगजनित हैं। पर-वस्तु के साथ आत्म-तत्त्व का संयोग और वियोग ही दुःख है।[2] स्वजन-परिजन आदि बाह्य संयोग हैं। कषाय, ममत्व, कर्म आदि आभ्यन्तर संयोग हैं। इन संयोगों के कारण ही आत्मा संसार में

१. आतुर प्रत्याख्यान प्रकीर्णक २६
२. अमितगति द्वात्रिंशिका २८

परिभ्रमण कर रही है। अतः साधक यह चिन्तन करता है कि मैं अकेला हूँ, एक हूँ, इस संसार में मेरा कोई नहीं है और मैं भी किसी का नहीं हूँ।[1] मैं एक हूँ। शुद्ध स्वरूपी हूँ। अरूपी हूँ। ज्ञान-दर्शन मेरा स्वरूप है। माता-पिता, पुत्र—ये सभी मेरे से पृथक् हैं। यहाँ तक यह शरीर भी मेरा नहीं है। वह भी आत्मा से भिन्न है।[2] मुझे आत्मा का रक्षक बनकर और अप्रमत्त होकर विचरण करना चाहिए।[3] तभी मुझे सच्ची शांति प्राप्त होगी। इस प्रकार का चिन्तन करना एकत्व भावना है।

(५) अन्यत्व भावना

आत्मा और अनात्मा का विवेक करना अन्यत्व भावना का विषय है। आत्मा पृथक् है और देह पृथक् है। जैसे दूध और दूध का पात्र पृथक्-पृथक् हैं वैसे ही शरीर और आत्मा का सम्बन्ध है। दोनों का आधार-आधेय सम्बन्ध है। कर्म के कारण शरीर और आत्मा का सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध वास्तविक नहीं है। इस सम्बन्ध को वास्तविक समझना ही अज्ञान है।

अध्यात्म रामायण में लिखा है—मैं देह हूँ। इस बुद्धि का नाम अविद्या है। मैं देह नहीं हूँ। चेतन आत्मा हूँ। इस प्रकार की पवित्र बुद्धि ही विद्या है।[4]

जैसी शुद्ध आत्मा सिद्धों की है, शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से वैसी ही आत्मा संसारस्थ प्राणियों की है। आत्मा के मूल स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। यदि शुद्ध स्वरूप का चिन्तन किया जाये तो शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि होगी। किन्तु संसारी आत्मा कर्मों के आवरण के कारण अपने शुद्ध स्वरूप को पहचान नहीं पाता है। जैसे दूध और पानी एकमेक होने पर सामान्य व्यक्ति दूध और पानी को पृथक् नहीं कर सकता किन्तु राजहंस अपनी चोंच से दूध और पानी को पृथक् कर देता है। राजहंस की भाँति आत्मा और अनात्मा को विवेक से पृथक् समझना अन्यत्व भावना है।

यात्रा करने वाले यात्री को मार्ग में अनेक मुसाफिर मिल जाते हैं। वह कुछ समय तक उनके साथ रहता है और कुछ समय के पश्चात् वे बिछुड़ जाते हैं। बिछुड़ते समय यदि वह व्यक्ति रोने-धोने लगे तो लोग उसे मूर्ख समझेंगे। वैसे ही आत्मा एक यात्री है। संसार की यात्रा कर रहा है। अनेक व्यक्तियों के साथ उसका

---

१. आचारांगसूत्र १-८-६

२. सूत्रकृतांग १-२-२३

३. (क) अप्पाणरक्खी व चरेप्पमत्तो। (ख) अमितगति द्वात्रिंशिका २६-२७

४. देहोऽहमिति या बुद्धिरविद्या सा प्रकीर्तिता।
नाहं देहश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति भण्यते॥ —*अध्यात्म रामायण, अयोध्याकाण्ड ३३*

सम्बन्ध होता है। विछोह भी होता है। विछोह का दुःख उसी को होता है, जो बहिरात्मा है। बहिरात्मा पर-पदार्थ को अपना समझता है। वह बाह्य वस्तु में आत्मभाव रखता है। किन्तु अन्तरात्मा बाह्य पदार्थों में से आत्मभाव हटा लेता है। वह निजत्व भाव में—आत्मस्वरूप में रमण करता है। बाह्य भाव से मुक्त होने के लिए ही साधक अन्यत्व भावना का चिन्तन करता है। उसे यह पूर्ण निश्चय हो जाता है कि पर-भाव में मम-भाव करना विविध चिन्ताओं को निमंत्रण देना है। अतः वह सदा आत्मभाव में रमण करता है।

(६) अशौच भावना

आत्मा जिस शरीर में रह रहा है, वह शरीर कारागृह की भाँति है। जैसे कैदी वर्षों तक कारागृह में रह जाता है तो उसे उस कारागृह में अपनत्व हो जाता है और वह उसे अपना समझने लगता है। अन्यत्व भावना में यह चिन्तन किया जाता है कि जीव अन्य है और शरीर अन्य है तथा अशौच भावना में शरीर के स्वरूप पर चिन्तन किया जाता है। ऊपर से देखने पर यह शरीर बहुत ही सुहावना, सुगठित प्रतीत होता है। पर वस्तुतः यह शरीर सुन्दर नहीं है। वस्त्राभूषणों के कारण यह सुन्दर ज्ञात होता है। यदि मानव वस्त्राभूषण से रहित नंगा खड़ा हो जाय तो वीभत्स दिखाई देगा। वह कृत्रिम साधनों से अपने आपको सौन्दर्ययुक्त समझता है। वह शरीर-सौन्दर्य पर इठला रहा है पर उस गोरी चमड़ी के अन्दर शरीर दुर्गन्ध से भरा पड़ा है। यह शरीर रस, रक्त, माँस, चर्बी, मज्जा, वीर्य, आँत, विष्ठा आदि अशुद्ध पदार्थों का भाजन है।[1] यदि कहीं शरीर पर या वस्त्र आदि पर मल-मूत्र आदि का छींटा लग जाये तो मानव उसे धोकर साफ करता है। उस अशुचि को देखकर उसका मन मिचलता है। पर इस शरीर में वे ही पदार्थ भरे पड़े हैं। मानव का उदर मल-मूत्र, कृमि आदि का भण्डार है। सड़े चमड़े की तीव्र दुर्गन्ध से भी हमारे शरीर में रहे हुए पदार्थों की गन्ध घिनौनी है। साथ ही यह शरीर व्याधियों का घर है। सड़ना-गलना इसका स्वभाव है। यह ऐसा कारखाना है, जो पवित्र वस्तु को भी अपवित्र बनाता है। मधुर और सुगन्धित पदार्थ पेट में जाते ही जुगुप्सित बन जाते हैं। इस अशुचिमय भण्डार को कितना ही साफ किया जाय फिर भी यह स्वच्छ नहीं हो सकता। इस तरह शरीर की अशुचिमयता का चिन्तन करने से शरीर के प्रति ममत्वबुद्धि नष्ट होती है और निज स्वरूप में रमण करता है।

---

१. (क) रसासृग् मांस मेदोऽस्थि मज्जा शुक्रांत्रवर्चसाम् ।
अशुचीनां पदं कायः, शुचित्वं तस्य तत्कुतः॥ —योगशास्त्र ४-७२
(ख) ज्ञानार्णव २, १-४

(७) आश्रव भावना

जीव शुद्ध स्वरूपी है, पर अज्ञान के कारण वह कर्मों का संचय कर अशुद्ध बन रहा है। अज्ञान के कारण ही जीव कर्मों का कर्ता है। कर्मों के आगमन का जो मार्ग है, वह आश्रव है।[1] जैसे वस्त्र के निर्माण में तन्तु कारण है, घड़े के निर्माण में मिट्टी कारण है, वृक्ष के लिए बीज निमित्त है, वैसे आत्मा के साथ कर्मों का संयोग होने के कारण 'आश्रव' है। आश्रव से ही शुभाशुभ कर्म आत्म-प्रदेशों में प्रविष्ट होते हैं। जिस प्रकार तालाब में नाली के द्वारा पानी आता है वैसे ही आश्रव के द्वारा कर्मरूपी पानी आता है। आश्रव और कर्म ये दोनों एक नहीं हैं। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, प्रभृति के द्वारा आत्मा कर्मों को ग्रहण करता है। आश्रव कारण है और कर्म कार्य है। आश्रव जीव का परिणाम है। आश्रव बन्ध नहीं हैं। चूँकि योग के निमित्त के प्रथम क्षण में जो कर्मस्कन्धों का आगमन होता है, वह आश्रव है।[2] और जो कर्मस्कन्ध आत्म-प्रदेशों में एक क्षेत्रावगाह होकर स्थिर हो जाते हैं, वह बन्ध है।

आश्रव के द्रव्याश्रव और भावाश्रव ये दो भेद हैं। योग (मन-वचन-काया) के निमित्त से ज्ञानावरण आदि कर्मों के योग्य जो कार्मण वर्गणा के पुद्गल आते हैं, वह द्रव्याश्रव है। आत्मा के स्व-स्वरूप से पृथक् जिन शुभ-अशुभ परिणामों से पुद्गल द्रव्य कर्म बनकर आत्मा में आते हैं, वे परिणाम भावाश्रव हैं।

भावाश्रव के भी ईर्यापथ आश्रव और साम्परायिक आश्रव ये दो भेद हैं।

कषाय का सर्वथा अभाव होने पर योग के निमित्त से जो कर्म आते हैं और बिना फल दिये ही वे कर्म नष्ट हो जाते हैं, उन्हें **ईर्यापथ आश्रव** कहते हैं। ईर्यापथ आश्रव केवल योग के निमित्त से ही होता है।

सम्पराय का अर्थ संसार है। जो कर्म संसार की वृद्धि करने वाले हों, वह साम्परायिक है। संसारी जीवों में कषायों की प्रमुखता है जिससे योग के निमित्त से आने वाले कर्म आत्मा से चिपक जाते हैं। अतः कषाय सहित योगों की प्रवृत्ति द्वारा जब कार्मण-वर्गणाओं का आगमन होता है, तब वह आश्रव **सांपरायिक आश्रव** कहलाता है। सांपरायिक आश्रव में मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग–ये सभी होते हैं।

यों आश्रव के अनेक भेद-प्रभेद हो सकते हैं। वे सभी भेद-प्रभेद इन पाँचों में समाविष्ट हो जाते हैं। शास्त्र में मिथ्यात्व के २५, अव्रत के १२, प्रमाद के ५,

---

१. अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होई। —*समयसार* ९२

२. कायवाङ्मनः कर्मयोगः । स आश्रवः। —*तत्त्वार्थ* ६, १-२

कषाय के २५, योग के १५ इस तरह कुल ८२ भेदों का भी प्रतिपादन किया गया है। इनमें १५ योगों में से शुभ योगों को छोड़कर शेष सभी प्रकार के आश्रव साधक के लिए त्याज्य हैं।

प्रस्तुत भावना के अनुचिन्तन द्वारा इन आश्रव द्वारों को जानकर साधक इन कारणों से बचकर आत्मस्थ होता है। वह द्रव्य और भाव दोनों आश्रवों से मुक्त होता है।

(८) संवर भावना

आत्म-प्रदेशों में स्थिरता संवर है। स्थैर्य होने से नूतन कर्मों का आगमन नहीं होता जिससे आश्रव रुक जाता है। आश्रव का रुक जाना संवर है।[१] संवर आश्रव का विरोधी तत्त्व है। आश्रव कर्मरूप जल के आने की नाली के सदृश है। उसी नाली को रोककर कर्मरूपी जल के आने का रास्ता बन्द कर देना संवर का कार्य है।

संवर के द्रव्यसंवर और भावसंवर ये दो भेद हैं।[२] कर्म-पुद्गल के ग्रहण का छेदन या निरोध करना द्रव्यसंवर है और संसार-वृद्धि में कारणभूत क्रियाओं का त्याग करना, आत्मा का शुद्धोपयोग अर्थात् समिति-गुप्ति आदि भावसंवर है। संवर की सिद्धि गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र आदि से होती है।[३]

संवर के सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय, योगनिग्रह ये मुख्य पाँच भेद हैं।[४] आचार्य अभयदेव ने संवर के पाँच समिति, तीन गुप्ति, देश धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बावीस परीषहजय और पाँच चारित्र-ये कुल ५७ भेद किये हैं।[५] प्रश्नव्याकरण[६] आदि में संवर के बीस भेद भी बताये हैं। उन सभी में सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय और अयोग–ये मुख्य भेद हैं। शेष भेद इन्हीं के अन्तर्गत आ जाते हैं। विरति में ही समिति, गुप्ति, दस धर्म, बारह अनुप्रेक्षाएँ, बावीस

---

१. (क) निरुद्धासवे संवरो। –उत्तराध्ययन २९-११
(ख) तत्त्वार्थसूत्र ९-१ (ग) योगशास्त्र ४-७६
२. (क) वही ४, ७९-८० (ख) स्थानांग १-१४ टीका
(ग) सप्ततत्त्वप्रकरण ११२ –आचार्य हेमचन्द्र (घ) तत्त्वार्थ सर्वार्थसिद्धि ९-१
(ङ) द्रव्यसंग्रह २-३४ (च) पंचास्तिकाय २-१४२ –अमृतचन्द्र वृत्ति
३. तत्त्वार्थसूत्र ९-२
४. (क) स्थानांग ५-२-४१८ (ख) समवायांग ५
५. स्थानांगवृत्ति, स्थान १
६. (क) प्रश्नव्याकरणसूत्र–संवर द्वार (ख) स्थानांग १०-७०९

परीषहजय और पाँच चारित्र–इन सभी का समावेश हो जाता है। विस्तार दृष्टि से संवर के भेद-प्रभेदों की चर्चा की गई है।

कर्मरूपी रोग को नष्ट करने के लिये संवर आवश्यक है। संवर से अशुभ प्रवृत्तियों की निवृत्ति होती है और शुभ वृत्तियों में वृद्धि होती है। कर्मबन्धन के जो मूल पाँच कारण हैं। उन सभी का इसमें परिहार होता है जिससे आत्मा में विशुद्धता बढ़ती है। संवर में नये कर्मों का प्रवाह बिल्कुल ही रुक जाता है। इसलिए साधक इस भावना का चिन्तन करता है।

(९) निर्जरा भावना

संवर से नूतन-कर्मों का प्रवाह रुक जाता है किन्तु जो कर्म पहले से ही आत्मा के साथ चिपके हुए हैं, उन कर्म-पुद्गलों को–एक देश से नष्ट करना निर्जरा है। निर्जरा का अर्थ है–जर्जरित करना, पूर्वबद्ध कर्मों को झाड़ देना, पृथक् कर देना।[1] अकेला संवर मुक्ति के लिये पर्याप्त नहीं है। क्योंकि नौका के छिद्रों को बन्द कर पानी के आगमन को रोक देना ही संवर है, किन्तु जो पानी आ चुका है उसे निकालना भी आवश्यक होता है, तभी नौका डूबने से बच सकती है। उस पानी को शनैः-शनैः उलीचकर बाहर निकाल देना निर्जरा है। निर्जरा शुद्धता की प्राप्ति के लिये सोपान के सदृश है। सोपान पर क्रमशः कदम रखने पर ही व्यक्ति सही मंजिल पर पहुँचता है। वैसे ही निर्जरा कर्म-क्षय के लिये अति आवश्यक है।

निर्जरा के सकाम और अकाम ये भेद हैं।[2] स्वतः ही विपाक होने पर, कर्मस्थिति समाप्त होने पर कर्मों का खिरना या नाश होना अकाम निर्जरा है। ज्ञानपूर्वक तप आदि क्रियाओं के द्वारा कर्मों का नाश करना सकाम निर्जरा है। अकाम का अर्थ कामनारहित है। सकाम का अर्थ कामनायुक्त है। कामना के भी दो प्रकार हैं–एक भौतिक कामना, जिसमें भौतिक वस्तुओं की इच्छाएँ रहती हैं; और दूसरी आध्यात्मिक कामना।

साधक के लिये '**मोक्खाभिकंखो**' एवं '**तम्हा अणाबाहसुहाभिकंखी**' आदि विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। इससे यह स्पष्ट है कि वह संसार से विरक्त होकर शाश्वत और अव्याबाध सुख की कामना करता है। साधक के लिये भौतिक कामनाएँ त्याज्य मानी गयी हैं।

---

१. (क) तत्त्वार्थराजवार्तिक ७-१४-४०-१७ (ख) द्रव्यसंग्रह ३६-१५०
(ग) देशेन यः संचितकर्मणां क्षयः सा निर्जरा। –*भावना शतक, ६७*

२. योगशास्त्र ४-८६

अकाम निर्जरा में परवश होकर क्षुधा, पिपासा आदि विविध कष्टों को सहन करने से यह निर्जरा होती है। नरक, तिर्यंच आदि गतियों में जीव तीव्र भूख-प्यास सहन करता है। उसे अनिच्छापूर्वक घोरातिघोर यातनाएँ सहन करनी पड़ती हैं और उन यातनाओं से मुक्त होने के लिये वह पापाचरण भी कर लेता है। औपपातिक सूत्र में स्पष्ट बताया है कि लोकनिन्दा व लोकभय से जो महिलाएँ शील का पालन करती हैं, वे अकाम निर्जरा करती हैं। इच्छा के विरुद्ध जो भी भूख-प्यास आदि सहन किया जाता है, वह सभी कायक्लेश के अन्तर्गत है और इस कायाकष्ट के द्वारा अकाम निर्जरा करने के कारण वे जीव वाणव्यन्तर देव बनते हैं। यह अकाम-निर्जरा अनिच्छापूर्वक होती है।

दूसरी अकाम निर्जरा अज्ञानपूर्वक होती है। जिन जीवों को सम्यक्त्व की उपलब्धि नहीं हुई है, जिन्होंने आत्मा, महात्मा और परमात्मा का सही स्वरूप नहीं समझा है—वे भौतिक सुखों की कामना से उत्प्रेरित होकर अज्ञान तप करते हैं। अज्ञान तप के फलस्वरूप उन्हें स्वर्ग आदि की प्राप्ति हो जाती है।

अकाम निर्जरा अनिच्छापूर्वक हो या अज्ञानपूर्वक हो, उससे यथेच्छ फल अर्थात् मोक्ष प्राप्त नहीं होता। जितने कर्मों को अज्ञानी जीव करोड़ों वर्षों तक साधना करके भी खपा नहीं सकता उतने कर्म ज्ञानपूर्वक निर्जरा से क्षण मात्र में ही खपा देता है।[1] अज्ञानी साधक मास-मास खमण तक तप करके और पारणे में कुशाग्र की नोंक पर आवे उतना अन्न ग्रहण कर उग्र तपस्या करे पर वह ज्ञानी के सोलहवें अंश के बराबर भी कर्म-निर्जरा नहीं कर सकता। ज्ञानी इस लोक के सुख के लिये अथवा परलोक के सुख के लिए तथा कीर्ति, यश, प्रतिष्ठा आदि के लिये तप नहीं करता, किन्तु वह एकान्त निर्जरा के लिए तप करता है। अकाम-निर्जरा अन्धे व्यक्ति की दौड़ है जबकि सकाम-निर्जरा विवेकपूर्वक गति-प्रगति है।

तप को निर्जरा का मुख्य कारण माना गया है। क्योंकि तप में सभी आध्यात्मिक क्रियाएँ आ जाती हैं। तप केवल शरीर को ही कृश नहीं करता वह अन्तर् में रहे हुए कर्मों को भी कृश करता है। कर्मों को कृश करने से आत्मा पूर्ण निर्मल बनता है।

तप के बारह प्रकार हैं। जिनमें छह बाह्य तप हैं और छह आभ्यन्तर तप। इस सम्बन्ध में हमने पृथक् लेख में विस्तार से विश्लेषण किया है।

---

१. (क) महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक १०१
(ख) प्रवचनसार ३-३८

प्रस्तुत भावना का अनुचिन्तन करने से तप के प्रति गहरी निष्ठा पैदा होती है। उससे महान् शक्ति उत्पन्न होती है। आत्मा कर्म-दलिकों को नष्ट कर विशुद्धता को प्राप्त होती है।

(१०) धर्म भावना

दुर्गति में गिरते हुए प्राणी को जो धारण करता है, वह धर्म है। आचार्य समंतभद्र ने धर्म का लक्षण करते हुए बताया है "जो जीवों को संसार के दुःखों से छुड़ाकर उत्तम सुख (मुक्ति) में पहुँचा देता है, वह धर्म है।"[1] व्यास ने धर्म का लक्षण आचार किया है।[2] सदाचार में धर्म के सभी लक्षण समा जाते हैं। जितने भी आचार के नियम हैं, वे सभी उसमें आ जाते हैं। महाव्रत, क्षमा, निर्लोभता, दश विध श्रमण धर्म, आचार के रूप में ही आये हैं और श्रुतधर्म में जितने भी विचार सम्बन्धी नियम है, वे भी इसी में आ जाते हैं। आचार और विचार की उत्कृष्टता ही धर्म है।

फ्रैंकलिन नामक पाश्चात्य विचारक ने लिखा है कि "आज संसार में धर्म विद्यमान है। धर्म की विद्यमानता में ही जब इतनी बुराइयाँ, संत्रास पैदा हो गया है तो यदि संसार में धर्म नहीं रहा तो उसकी क्या दशा होगी? यह कल्पना ही बड़ी भयानक है।"

विचारक का प्रस्तुत कथन चिन्तनीय है। धर्म के रहते हुए धर्म को विस्मृत होकर मानव दानव की तरह क्रूर बन रहा है। यदि धर्म न होता तो मानव की क्या स्थिति होती।

प्रस्तुत धर्म भावना में धर्म के शुद्ध स्वरूप पर चिन्तन किया जाता है। धर्म के सम्बल को लेकर साधक साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ता है और अपने जीवन को पवित्र बनाता है।

(११) लोक भावना

लोक का अर्थ है–धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव।[3] ये द्रव्य जहाँ पर पाये जाते हैं उस स्थान विशेष को अर्थात् इन छह द्रव्यों के समुच्चय को लोक कहते हैं। लोक में ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ ये छह द्रव्य न हों।[4] सभी

---

१. (क) योगशास्त्र २-११ (ख) रत्नकरंडश्रावकाचार, श्लोक २

२. महाभारत अनुशासनपर्व १०४

३. उत्तराध्ययन २८-७

४. तत्त्वार्थसूत्र ५-१२

द्रव्यों का आधार लोक है।[1] षड्द्रव्यों में से आकाश द्रव्य सर्वत्र व्यापक है और अन्य द्रव्य व्याप्य हैं। आकाश के जितने भाग में छह द्रव्य अवस्थित हैं, उतने आकाश-भाग को लोक कहते हैं। जिस आकाश-भाग में षड्द्रव्य न हो, सिर्फ आकाश ही हो, वह अलोक है।

आगम साहित्य को लेकर दार्शनिक युग तक लोक की यह परिभाषा समान रूप से मिलती है। पर द्रव्यों के क्रम में अन्तर है। उत्तराध्ययन सूत्र[2] में धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव यह क्रम है। तत्त्वार्थ सूत्र[3] में धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, जीव और काल यह क्रम दिया है। बृहद्द्रव्य संग्रह[4] में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल–यह क्रम है। उत्तराध्ययन सूत्र में जो क्रम है–वह अजीव और जीव–इन दो मूल भेदों को संलक्ष्य में रखकर किया गया है। उसमें सर्वप्रथम अजीव द्रव्य को लिया है और अजीव में भी पहले अरूपी धर्म, अधर्म, आकाश और काल का कथन करने के उपरान्त रूपी अजीव द्रव्य पुद्गल का कथन किया है। उसके बाद जीव द्रव्य का वर्णन है, क्योंकि जीव द्रव्य का स्वरूप अजीव द्रव्य से बिल्कुल अलग-थलग है। वाचक उमास्वाति जी ने प्रदेशों की अपेक्षा से द्रव्यों के नामों का कथन किया है। धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव ये बहुप्रदेशी हैं और काल द्रव्य एक-प्रदेशी है। अतः उसे सबसे बाद में लिया है। आचार्य नेमिचन्द्र ने जीव द्रव्य को प्रधानता प्रदान की है। संसार में जीव ही शुभाशुभ कर्मों का कर्ता और भोक्ता है। धर्म, अधर्म आदि पाँच अजीव द्रव्य जीव के उपकारक होने से जीव के बाद पुद्गल आदि अजीव द्रव्यों का उन्होंने वर्णन किया है। इस प्रकार अपेक्षा दृष्टि से कथन में भिन्नता है, किन्तु मूल तथ्यों में किसी भी प्रकार की भिन्नता नहीं है।

षट्द्रव्यों का वर्गीकरण अरूपी और रूपी इन दो रूपों में किया गया है। जिसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श का अभाव है, वह अरूपी है और जिसमें इनका सद्भाव है, वह रूपी है।[5] पाँच द्रव्य अरूपी हैं। पुद्गल द्रव्य रूपी है। जीव द्रव्य स्वभाव की दृष्टि से अरूपी है; पर कर्मवर्गणाओं को रागादि परिणामों से ग्रहण करता है अतः वह रूपी भी कहलाता है। उसी से जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है। आध्यात्मिक उत्क्रांति के द्वारा जब जीव कर्मों को पूर्ण रूप से नष्ट कर देता है तब वह अपनी वास्तविक अरूपी अवस्था को प्राप्त कर लेता है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये सदा-सर्वदा अरूपी ही रहते हैं। उनकी क्रियाएँ भी

---

१. उत्तराध्ययन २८-९
२. वही २८-७
३. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५
४. बृहद्द्रव्यसंग्रह १५-१६
५. मुत्तो रुवादिगुणो।
–बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा १५

स्वाभाविक हैं। ये चारों द्रव्य कभी विकारी नहीं होते हैं। पर जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य–इन दोनों में स्वाभाविक और वैभाविक ये दोनों परिणतियाँ होती हैं। संयोग होने से वे वैभाविक अवस्था को प्राप्त होते हैं किन्तु अपने मूल स्वभाव का कदापि त्याग नहीं करते हैं। जीव कभी पुद्गल नहीं होता और पुद्गल कभी जीव नहीं बनता।

गति सहायक द्रव्य 'धर्म' है जो जीव और पुद्गल के गमन में सहयोगी बनता है। स्थिति सहायक द्रव्य 'अधर्म' है जो जीव और पुद्गल की अवस्थिति में सहायक बनता है, सभी पदार्थों को आधार देने वाला द्रव्य 'आकाश' है। जीव आदि समस्त द्रव्य आकाश द्रव्य में ही रहते हैं। जितने स्थान पर धर्मादि द्रव्य रहते हैं उतने स्थान को लोकाकाश कहते हैं। जो द्रव्यों को नूतन और पुरातन प्रभृति अवस्थाओं के परिवर्तन में निमित्त रूप से सहयोग प्रदान करता है, वह कालद्रव्य है। काल क्रियारूप और वर्तनारूप है। मुहूर्त, प्रहर, दिन, रात, मास, पक्ष, वर्ष, प्रभृति क्रियारूप काल है। यह क्रियारूप काल का व्यवहार केवल मानव क्षेत्र में ही है। बाल, वृद्धावस्था आदि का लोक व्यवहार रूप काल वर्तना कहलाता है। जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि पाये जाते हों, वह पुद्गल है। अशन, वसन, चिन्तन, भाषण, श्वासोच्छ्वास सभी पुद्गल द्रव्य की ही पर्याय हैं। पुद्गल पूरण और गलन स्वभाव वाला है। वह स्कन्ध रूप में भी होता है और परमाणु रूप में भी होता है।

उपयोग जीव का असाधारण लक्षण है। जीव में साकारोपयोग और निराकारोपयोग दोनों होते हैं। इन दोनों में आत्मा में रहे हुए अन्य अनन्त गुणों का भी समावेश हो सकता है। कर्मों की प्रबलता के कारण आत्मा के अनन्त गुणों की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। इस तरह जीव के भी दो प्रकार होते हैं–एक कर्मसहित और दूसरा कर्मरहित। कर्मसहित जीव संसारी कहलाता है और कर्मरहित जीव मुक्त कहलाता है।

षड्द्रव्यों में धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव ये प्रदेशवान् हैं। इसलिये अस्तिकाय कहलाते हैं। द्रव्य की दृष्टि से काल की सत्ता तो है किन्तु बहुप्रदेशी न होने से काल को कायवान द्रव्य नहीं माना है। काल को केवल द्रव्य कहा है। कालद्रव्य लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रत्नों की राशि के सदृश एक-एक अणु के रूप में स्थित है। प्रदेशों की अपेक्षा से धर्म और अधर्म के असंख्यात प्रदेश हैं। आकाश के अनन्त प्रदेश हैं। पुद्गल द्रव्य के अपेक्षा दृष्टि से संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं। काल द्रव्य एक प्रदेशी है। जीव द्रव्य की दृष्टि से अनन्त है और प्रत्येक जीव असंख्यात प्रदेशी है। इन छह द्रव्यों की अपने स्वभाव में अवस्थिति हो लोक है।

जैन दृष्टि से लोक का आकार सुप्रतिष्ठ संस्थान वाला कहा है। एक सकोरा उलटा, दूसरा सकोरा सुलटा और उस पर तीसरा सकोरा उलटा रखने से जो आकार बनता है, वह लोक का आकार है। इसे मृदंगाकार भी कहा जाता है। लोक के अधःलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक–ये तीन विभाग हैं। अधोलोक नरक आदि हैं। मध्यलोक में मानव, व्यन्तर, ज्योतिष्क देव और तिर्यंचों का निवास है। ऊर्ध्वलोक में वैमानिक देवों का निवास है। इस लोक में यह जीव निरन्तर परिभ्रमण करता रहा है। लोक के स्वरूप को समझकर साधक लोक में परिभ्रमण न हो, इस प्रकार चिन्तन करता है।

(१२) बोधिदुर्लभ भावना

इस लोक में यह आत्मा अनन्त-काल से भटक रही है। मानव-जन्म अत्यन्त दुर्लभता से प्राप्त हुआ है। मानव ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। मोक्ष प्राप्त करने का एक मात्र साधन है–धर्म। धर्म को ग्रहण कर साधक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। जिस जीव ने अन्तर्मुहूर्त जितने समय के लिए भी सम्यग्दर्शन को स्पर्श कर लिया, वह परित्त संसारी हो जाता है। वह निश्चित रूप से अर्धपुद्गल परावर्तन काल के भीतर ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है।[1] सम्यग्दर्शन को ही बोधिदुर्लभ कहा है। सम्यग्दर्शन से मिथ्यात्व नष्ट होता है। जब भव-भ्रमण का मूल कारण मिथ्यात्व नष्ट हो जाता है तब मुक्ति की प्राप्ति अवश्यंभावी है। अन्य सद्गुण सहज ही मिल सकते हैं। किन्तु बोधिदुर्लभ सम्यक्त्व का प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है। साधक इस भावना में बोधिदुर्लभ सम्यक्त्व पर पुनः-पुनः चिन्तन करता है।

इस तरह यह द्वादश भावनाएँ साधक के अन्तर्मानस में वैराग्य भावना प्रबुद्ध करती हैं। जिससे साधक के जीवन में संसार से विरति होती है और वह साधना के क्षेत्र में निरन्तर आगे बढ़ता रहता है, उसकी साधना प्राणवान बनती है।

धर्मध्यान को पुष्ट करने वाली चार भावनाएँ

द्वादश भावनाएँ जहाँ हृदय को वैराग्य के निर्मल रस में सराबोर करती हैं, वहाँ आचार्यों ने मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्य इन चार भावनाओं का भी उल्लेख किया है। ये चारों भावनाएँ ध्यान को परिपुष्ट करने वाली रसायन के सदृश हैं।[2] चित्त में मित्रता, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थता रहने से योग की विशिष्ट साधना

---

१. अंतो मुहुत्तमित्तंपि फासियं हुज्ज जेहिं सम्मत्तं।
तेसिं अवड्ढपुग्गल परियट्टो चेव संसारो॥ —धर्मसंग्रह, अ. २-२१ टीका

२. योगशास्त्र ४-११७

सम्यक् प्रकार से चलती है। इसीलिए आचार्य अमितगति[1] ने लिखा है–सभी जीवों पर मेरी मैत्री हो, गुणिजनों के प्रति अनुराग और सम्मान की भावना जाग्रत हो, जो हमारे से विरोध रखते हों, उनके प्रति उपेक्षा या मध्यस्थ भाव रहे और प्रतिकूल प्रसंगों में भी राग-द्वेष के विकल्पों से दूर रहकर समत्व भाव में स्थिर रहूँ–यही मेरा चिन्तन रहे। वैराग्य भावना के पश्चात् ही मन में ये संस्कार उद्‌बुद्ध होते हैं। आचार्य उमास्वाति[2] ने भी इन चारों भावनाओं का तत्त्वार्थसूत्र में उल्लेख किया है। आचार्य पतंजलि[3] ने भी इन भावनाओं पर विस्तार से विचार किया है।

इन भावनाओं के विकास से जन-जीवन में द्वेष, ईर्ष्या, संघर्ष और कलह नष्ट हो जाता है। मित्रता, स्नेह, सद्‌भावना, गुणग्राहकता, करुणा और तटस्थता का विकास होता है जिससे जन-जीवन में शान्ति का संचार होता है।

(१) मैत्री भावना

मैत्री जीवन का आदर्श है। मित्र शब्द में ही स्नेह छलक रहा है। मित्रता में स्वार्थ नहीं होता, वहाँ तो निःस्वार्थ स्नेह होता है। जहाँ स्वार्थ है, वहाँ मित्रता नहीं हो सकती। शांत सुधारस भावना के अनुसार दूसरों के हित की चिन्ता करना मैत्री है। इस संसार में कोई भी प्राणी पापकृत्य न करे। कोई भी प्राणी दुःख का भाजन न हो। सभी प्राणी दुःख से मुक्त हो जायें और सुख का अनुभव करें। यह मैत्री भावना का उद्देश्य है।[4]

साधक यही चिन्तन करता है कि जितने भी संसार में जीव हैं, उन सबके प्रति मेरी मित्रता है।[5] किसी के साथ मेरी शत्रुता नहीं है। इस संसार में जितने भी जीव हैं, उनके साथ हमारे विविध सम्बन्ध रहे हैं। वे सभी जीव हमारे कुटुम्बीजन बन चुके हैं। फिर उनके साथ शत्रुभाव किसलिए? इसलिए सभी के साथ मैत्री की भावना करो।

मैत्रीभाव का जितना अधिक विस्तार होगा शत्रुता अपने आप समाप्त हो जायेगी। शत्रु को मित्रता से जीता जा सकेगा। यदि मन में मित्रता है तो शत्रुता का

---

१. सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव॥

२. मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाऽविनयेषु। –*तत्त्वार्थसूत्र* ७-६

३. पातंजलयोगसूत्र ४-११७

४. मा कार्षीत्कोऽपि पापानि, मा च भूत्कोऽपि दुःखितः।
मुच्यतां जगदप्येषा मतिर्मैत्री निगद्यते॥ –*योगशास्त्र* ४-११८

५. मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झ न केणइ।

भाव रखने वाला एक दिन मित्र बन जायेगा। वैदिक महर्षियों ने भी कहा है कि "सभी प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें। मैं भी सभी प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूँ। हम सब परस्पर एक-दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखें।"[1] मैत्री भावना के चिन्तन से विश्व-मैत्री जैसी उदात्त भावना विकसित होगी और वैर-विरोध की निकृष्ट भावना समाप्त होगी।

(२) प्रमोद भावना

मैत्री भावना का विकास होते ही प्रमोद-भावना उद्‌बुद्ध होती है। प्रमोद का अर्थ है—मुख की प्रसन्नता, अन्तरंग की भक्ति, एवं हृदय के असीम अनुराग को व्यक्त करना।[2] गुणों पर चिन्तन करके उन गुणों में हर्ष मानना[3], प्रमोद भावना का लक्षण है। अन्य शब्दों में कहा जाये तो गुणों के प्रति अनुराग रखना।[4]

गुणों के प्रति प्रमोद भाव में सहज परिणति होती है। प्रमोद भाव से जीवन में नवीन ज्योति जगमगाने लगती है। जीवन में अभिनव आनन्द का मार्ग प्रशस्त होने लगता है। प्रमोद भावना वाला व्यक्ति हर वस्तु में गुण ढूँढ़ता है। जैसे मधुमक्खी प्रत्येक वस्तु में से मिठास ग्रहण करती है, हंस जलमिश्रित दूध में से दूध ही ग्रहण करता है वैसे ही वह सद्‌गुणों को लेता है। उसका यह मन्तव्य होता है कि स्वर्ण चाहे नीच व्यक्ति के पास क्यों न हो, वह ग्राह्य है वैसे ही सद्‌गुण जहाँ भी हों, वह उपादेय हैं। अतः जहाँ से भी गुण मिलें वहाँ से उन्हें ग्रहण करना चाहिये। जो गुणज्ञ होता है वह गुणों के दर्शन करता है। उसकी यही निरन्तर भावना रहती है कि सभी प्राणी सुखी हों, सभी रोग-शोक आदि से मुक्त हों, सभी अपना कल्याण देखें, सभी अपने जीवन को अभ्युदय के शिखर पर आरूढ़ करें। कोई प्राणी दुःखी न हो।[5]

गुणज्ञ व्यक्ति में ईर्ष्या नहीं होती। वह सद्‌गुणी के गुणों की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करता है। जिसे महापुरुष बनना हो, वह गुणों का उपासक बने और प्रमोद भावना का पूर्ण विकास करे।

---

१. मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥ —यजुर्वेद ३३-१८

२. वदनं प्रसादादिभिरभिव्यज्यमानान्तर्भावितरागः प्रमोदः। —सर्वार्थसिद्धि ७-११-३४९

३. (क) भगवती आराधना, वृत्ति १६९६-१५१६-१५
(ख) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भाग १, पृ. १४७

४. भवेत् प्रमोदो गुणपक्षपातः। —*शांतसुधारस भावना १३-३*

५. सर्वे भवंतु सुखिनः, सर्वे संतु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यंतु, मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

(३) कारुण्य भावना

जो व्यक्ति सद्गुणी होता है उसका हृदय करुणा से आप्लावित होता है। वह यह चिन्तन करता है कि सभी को अपना जीवन प्रिय है। किसी भी जीव को किसी भी प्रकार का कष्ट न हो। यही उसके अन्तर्मानस की भावना होती है। दूसरों के दुःखों को दूर करने वाली भावना ही करुणा है। दीनों पर दयाभाव रखना करुणा है। आचार्य हेमचन्द्र का अभिमत है कि दीन, दुःखी, भयभीत, प्राणों की भीख चाहने वाले प्राणियों के दुःख को दूर करने की भावना होना 'कारुण्य' है।[1] कारुण्य भावना भाने वाले साधक का हृदय अत्यन्त दयालु होता है। वह किसी के भी कष्ट को देख नहीं सकता। करुणा से अनुप्राणित होकर वह सर्वस्व न्यौछावर कर देता है। इस भावना से हृदय फूल-सा कोमल हो जाता है।

(४) माध्यस्थ्य भावना

मैत्री, प्रमोद और करुणा का विकास होने पर व्यक्ति समभाव का विस्तार करता है। वह सर्वप्रथम अशुभ राग को जीतता है फिर शुभ राग को। राग को जीतने के लिये मध्यस्थता, तटस्थता व अपेक्षा आवश्यक है। चाहे मन के अनुकूल हो या प्रतिकूल हो, उसमें वह आसक्त नहीं होता। वह सोचता है, जिन पदार्थों के प्रति मैं राग करता हूँ वे पवन की भाँति अस्थिर हैं। जो पदार्थ क्षणभंगुर हैं उन पर राग और द्वेष करना सर्वथा अनुचित है। क्या विराट् समुद्र की लहरें पकड़ी जा सकती हैं? क्या पवन को अपनी मुट्ठी में भरा जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति इस प्रकार का प्रयास करता है तो वह मूर्खता की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। वैसे ही अस्थिर पदार्थों पर राग और द्वेष करना, मन के अनुकूल वस्तु को प्राप्त कर हर्ष से उछलना और वियोग होने पर खिन्न होना समझदारी का लक्षण नहीं है।[2]

माध्यस्थ्य भावना वाला सतत यही चिन्तन करता है कि सुख और दुःख, ये घड़ी के काँटे की तरह हैं जो निरन्तर एक अंक से दूसरे अंक पर जाता है। वैसे ही संयोग और वियोग की स्थिति है। संयोग और वियोग की स्थिति में वह माध्यस्थ्य भावना का अनुचिन्तन करता है। न वह किसी पर रोष करता है और न तोष ही करता है।

भगवान महावीर के जीवन प्रसंग इस कथन के ज्वलन्त प्रमाण हैं। तीर्थंकर अनन्त शक्ति-सम्पन्न होते हैं। उनके सामने देव-दानव और मानव की शक्ति नगण्य

---

१. धर्मबिंदु

२. योगशास्त्र ४-१२८

है। बेचारे ग्वाले का क्या साहस जो उन्हें कष्ट दे सके और संगम देव का भी क्या सामर्थ्य जो उनकी ओर आँख उठाकर भी देख सके पर वे सदा उपेक्षा भाव रखते रहे। यदि तीर्थंकर चाहते तो देव शक्ति के बल पर अपना पावन उपदेश जन-जन तक पहुँचा सकते थे, उन्हें बलपूर्वक या प्रलोभन देकर धर्म के अभिमुख बना सकते थे। पर उन्होंने कभी भी शक्ति का उपयोग नहीं किया। जिस किसी ने भी उनके पावन प्रवचनों को श्रवण कर धारण किया, उसका सहज ही कल्याण हो गया। भगवान महावीर ने यहाँ तक कि अपने विचारों का भी आग्रह नहीं रखा। 'मैं कहता हूँ, यही सत्य है' इसके स्थान पर 'सच्चा सो मेरा' इस सिद्धान्त की उद्घोषणा की। वैचारिक जगत् में इस सहिष्णुता के कारण सामाजिक उदारता का विकास हुआ। आज जो जन-जीवन में अशान्ति की आग धधक रही है, उसका मूल कारण असहिष्णुता है। माध्यस्थ वृत्ति से सहिष्णुता की भावना पैदा होती है, उपेक्षावृत्ति और तटस्थता का संचार होता है। माध्यस्थता भावना की यह फलश्रुति है।

यों भावनाओं के अनेक भेद-प्रभेद आचार्यों ने किये हैं। उन सभी का अन्तिम लक्ष्य यही है कि अशुभ से हटकर शुभ में स्थिर होना, शुभ में रमण करने के लिये ही भावनाओं का वर्णन है। इन भावनाओं से भावित आत्मा दूसरों को भी श्रद्धाशील बनाता है। और स्वयं कालजयी बन जाता है। वस्तुतः भावनाओं का फल है आत्मा को आत्मा में रमाना। जब साधक भावनाओं का चिन्तन करता है तो उसकी देहासक्ति शिथिल होकर वह देहातीत अवस्था को प्राप्त होता है। यही श्रमणाचार का मूल है और साधना की सप्राणता है। इसी दृष्टि से यहाँ भावनाओं के सम्बन्ध में बहुत ही संक्षेप में चिन्तन किया गया है।

●●

९. साधना के विघ्न और विजय : परीषह

श्रमण को अपनी संयम साधना के पथ पर बढ़ते हुए विविध कष्ट सहन करने पड़ते हैं। उसका संपूर्ण जीवन तपोमय होता है। तप की सफलता के लिए और सांसारिक बन्धनों से मुक्त होने के लिए कदम-कदम पर उसके समक्ष कष्ट और विघ्न-बाधाएँ आते रहते हैं। कभी मानवों के द्वारा, कभी तिर्यंचों के द्वारा और कभी देव-दानवों के द्वारा। साधक उन कष्टों से घबराता नहीं। आचारांग[1] में कहा है–"बकाया को कसो, उसे जीर्ण करो।" पर यह एकान्त वचन नहीं है। जैन श्रमण बहुत ही उग्र तप की साधना करते हैं। साधना करते हुए विविध प्रकार के कष्ट आते हैं और वे शांति से उन्हें सहन करते हैं। जो शांतिपूर्वक कष्टों को सहन करता है, वह संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

परीषह : परिभाषा

परीषह वह है जो सहा जाय। स्वीकृत मार्ग से च्युत न होने के लिए और निर्जरा के लिए जो कुछ सहा जाता है वह परीषह[2] है। परीषह के अर्थ में ही कहीं-कहीं पर 'उपसर्ग' शब्द भी व्यवहृत हुआ है। परीषह सहन करने का अर्थ शरीर, इन्द्रिय और मन को कष्ट देना नहीं अपितु उन्हें अहिंसा प्रभृति धर्मों की आराधना व साधना के लिए सुस्थिर बनाना है। आचार्य कुन्दकुन्द[3] जो अध्यात्म जगत् के तेजस्वी नक्षत्र रहे हैं, उन्होंने कहा–"सुख से भावित ज्ञान दुःख समुत्पन्न होने पर विनष्ट हो जाता है। एतदर्थ योगी को यथाशक्ति अपने आपको दुःख से भावित करना चाहिए।" बीज तभी अंकुरित होता है, जब जल के साथ चिलचिलाती धूप भी हो, इसी प्रकार साधना की सफलता के लिए अनुकूलता की शीतलता के साथ परीषह की प्रतिकूलता रूपी गर्मी की भी आवश्यकता है। परीषह साधक के लिए बाधक नहीं, साधक है। वह परीषह से घबराता नहीं और न उद्विग्न ही होता है, किन्तु द्रष्टा होकर शान्ति से उसे सहन करता है। परीषह समुपस्थित होने पर साधक सोचता है– यह सुनहरा अवसर मुझे स्वयं को नापने और परखने के लिए प्राप्त हुआ है।

---

१. आचारांग, श्रु. १, सू. १४१

२. मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परीषोढव्याः परीषहाः। –तत्त्वार्थसूत्र ९-८

३. सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि।
तम्हा जहाबलं जोई, अप्पा दुक्खेहि भावए॥ –अष्टपाहुड, मोक्ष प्राभृत ६२

परीषह और कायक्लेश

यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि परीषह और कायक्लेश में अन्तर है। जो स्वयं की इच्छा से कष्ट लिया जाता है, वह कायक्लेश है; और जो बिना इच्छा के क्लेश प्राप्त होता है, वह परीषह है। कायक्लेश आसन करने, भीष्म ग्रीष्म में आतापना लेने, रिमझिम वर्षा में वृक्ष के नीचे ठहरने में, सनसनाती हुई सर्दी में, अपावृत स्थान में सोने, विविध प्रकार की प्रतिमाओं को स्वीकार करने में, शरीर में खाज उत्पन्न होने पर भी न खुजलाने में, शरीर की विभूषा प्रभृति न करने से होता है। कायक्लेश के सतत अभ्यास से शारीरिक कष्ट सहन करने की अपूर्व क्षमता प्राप्त होती है और शारीरिक दुःखों के प्रति अनाकांक्षा के साथ ही जिनधर्म की प्रभावना भी होती है। परीषह सहन करने से जो अहिंसा आदि महाव्रत स्वीकार किये गये हैं उन महाव्रतों की सुरक्षा होती है।

परीषह क्रम में अन्तर

उत्तराध्ययन[1], समवायांग[2] और तत्त्वार्थसूत्र[3] में परीषह की संख्या बाईस मानी गई है। संख्या की दृष्टि से सभी में समानता है, पर क्रम की दृष्टि में कहीं कुछ अन्तर है। समवायांग में परीषह के बाईस भेद इस प्रकार मिलते हैं–

१. क्षुधा	१२. आक्रोश
२. पिपासा	१३. वध
३. शीत	१४. याचना
४. उष्ण	१५. अलाभ
५. दंश-मशक	१६. रोग
६. अचेल	१७. तृण-स्पर्श
७. अरति	१८. जल्ल
८. स्त्री	१९. सत्कार-पुरस्कार
९. चर्या	२०. ज्ञान
१०. निषद्या	२१. दर्शन
११. शय्या	२२. प्रज्ञा

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र, दूसरा अध्ययन
२. समवायांग, समवाय २२
३. तत्त्वार्थसूत्र ९-८

उत्तराध्ययन में १९ परीषहों के नाम व क्रम वही हैं, किन्तु २०, २१ व २२ के नाम में अन्तर है। उत्तराध्ययन में (२०) प्रज्ञा, (२१) अज्ञान, और (२२) दर्शन हैं।

नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेव[1] ने 'अज्ञान' परीषह का क्वचित् श्रुति के रूप में वर्णन किया है। आचार्य उमास्वाति[2] ने 'अचेल' परीषह के स्थान पर 'नाग्न्य' परीषह लिखा है और 'दर्शन' परीषह के स्थान पर 'अदर्शन' परीषह लिखा है। आचार्य नेमिचन्द्र[3] ने 'दर्शन' परीषह के स्थान पर 'सम्यक्त्व' परीषह माना है। दर्शन और सम्यक्त्व इन दोनों में केवल शब्द का अन्तर है, भाव का नहीं।

बाईस परीषहों में 'दर्शन' परीषह और 'प्रज्ञा' परीषह ये दो परीषह मार्ग से अ-च्यवन में सहायक होते हैं और शेष २० परीषह निर्जरा के लिए होते हैं।

(१) क्षुधा

क्षुधा से आकुल-व्याकुल होने पर और शरीर के अत्यन्त कृश हो जाने पर भी श्रमण क्षुधा की शांति के लिए न तो फल आदि को स्वयं तोड़ता है, न दूसरे से तुड़वाता है; न स्वयं पकाता है, न दूसरे से पकवाता है; अपितु क्षुधाजन्य कष्ट को शांति से सहन करता है।[4] श्रमण निरवद्य आहार की अन्वेषणा करता है। आहार के उपलब्ध न होने पर किंचित् मात्रा में मिलने पर भी वह नियमविरुद्ध आहार ग्रहण नहीं करता। वह षट् आवश्यकों की साधना सम्यक् प्रकार से करता है। प्रतिपल-प्रतिक्षण ज्ञान, ध्यान, स्वाध्याय व भावना में लीन रहता है। साथ ही कभी अनशन की साधना करता है, कभी ऊनोदरी तप की आराधना करता है। जो भी उसे नीरस आहार उपलब्ध होता है उसे वह ग्रहण करता है। नीरस आहार के सेवन से उनका शरीर अत्यन्त कृश भी हो जाता है, तो भी वह चिन्ता नहीं करता। भिक्षा के अलाभ में भी वह शांति रखता है। इस प्रकार श्रमण क्षुधा परीषह पर विजय वैजयन्ती फहराता है।

(२) पिपासा

श्रमण प्यास को शांत भाव से सहन करे, पर प्यास को शांत करने के लिए सचित्त जल का उपयोग न करे।[5] जो श्रमण स्नान का सर्वथा परित्याग करता है वह अतिक्षार, अत्यन्त स्निग्ध, अत्यन्त रूक्ष और अत्यन्त विरुद्ध भोजन से शरीर

१. समवायांग २२
२. तत्त्वार्थसूत्र ९-९
३. प्रवचनसारोद्धार, गाथा ६८६
४. उत्तराध्ययन २, २-६
५. वही २, ४-५

में भयंकर आतप (दाहज्वर) और तप की आराधना से अति तीव्र प्यास लगने पर भी सचित्त जल का उपयोग नहीं करता और समभाव से पिपासा परीषह को जीतता है।

(३) शीत

श्रमण सनसनाती सर्दी को सहन करे, पर उस सर्दी के निवारण के लिए अग्नि का सेवन न करे। श्रमण न स्वयं अग्नि जलाता है और न दूसरों द्वारा प्रज्वलित अग्नि का सेवन करता है। स्वयं का वस्त्र जीर्ण-शीर्ण हो जाने पर भी शीत से बचने हेतु अमर्यादित और अकल्पनीय वस्त्रों को ग्रहण नहीं करता।[1] शीत ऋतु में भी श्रमण कई बार वृक्ष के मूल में, पर्वत की चट्टान के नीचे या खुले आवास में निवास करता है। वह ठण्डी हवा और हिम को भी समभाव से सहन करता है।[2]

(४) उष्ण

श्रमण गर्मी को सहन करे, पर भीष्म ग्रीष्म की उष्णता के निवारण हेतु जलावगाहन, स्नान, पंखे से हवा न करे और न छत्र धारण करने की इच्छा करे।[3] श्रमण पवन व जलरहित स्थल पर और वृक्षों से रहित शुष्क प्रदेश में भी विचरण करता है। कभी वह वृक्ष के नीचे ध्यान मुद्रा में खड़ा होता है तो कभी वह पर्वतों की गहन गुफा में भी ध्यान करता है। शरीर में जब पित्त की मात्रा बढ़ जाती है तो उसके शरीर में अन्तर्दाह उत्पन्न होता है और उस दाह से उसके शरीर में भयंकर उष्णता का अनुभव होता है। उष्ण हवा चलने के कारण उसका गला सूख जाता है। उस समय भी वह सचित्त जल का उपयोग नहीं करता। तप्त होने पर भी जलस्नान, जल में अवगाहन नहीं करता और न उस गर्मी से बचने के लिए पंखे आदि का ही उपयोग करता है। भयंकर धूप से बचने के लिए वह छाता भी धारण नहीं करता। समभाव से उष्णता को सहन करता है।

आचारांग के तृतीय अध्ययन का नाम 'शीतोष्णीय' है। शीतोष्णीय का अर्थ है शीत = अनुकूल, उष्ण = प्रतिकूल परीषह। वहाँ बाईस परीषहों को केवल शीतोष्णीय में ले लिया गया है। आचारांगनिर्युक्ति[4] के अनुसार स्त्री परीषह और सत्कार परीषह ये शीत परीषह के अन्तर्गत आते हैं और शेष बीस, उष्ण परीषह में। दोनों को श्रमण समभाव से सहन करता है।

---

१. प्रवचनसारोद्धार वृत्ति, पत्र १९३
२. तत्त्वार्थसूत्र-सुखसागरीया वृत्ति, पृ. २९८
३. उत्तराध्ययन २, ८-९
४. आचारांगनिर्युक्ति, गा. २०१

(५) दंश-मशक

श्रमण दंश-मशक[1] के द्वारा काटने से उत्पन्न हुई वेदना का अनुभव करने पर भी उसके निवारण हेतु दंश-मशकों को सन्त्रस्त नहीं करता, न उसके अन्तर्मानस में उनके प्रति द्वेष भावना ही उद्‌बुद्ध होती है। वह उन दंश-मशकों के प्रति उपेक्षा भाव रखता है, पर उन्हें नष्ट करने के लिए किंचित् मात्र भी चिन्तन नहीं करता। दंश-मशक को नष्ट करने के लिए न वह धुआँ आदि का प्रयोग करता है और न उन्हें किसी तरह से कष्ट हो वैसा उपाय ही सोचता है; अपितु जैसे संग्राम में हाथी अडिग रहता है। वैसे ही वह भी प्रस्तुत परीषह उपस्थित होने पर अडिग रहता है।

(६) अचेल

वस्त्ररहित या अल्प वस्त्रसहित हो जाने पर भी किसी भी प्रकार की चिन्ता न करना, अचेल परीषह है। श्रमण के अन्तर्मानस में ये विचार लहरियाँ उत्पन्न न हों कि मेरे वस्त्र जीर्ण हो चुके हैं, अब मैं अचेल हो जाऊँगा या वस्त्र मिल जाने पर मैं सचेल हो जाऊँगा। इस प्रकार न उसके मन में दीन भावना आये और न हर्ष से उन्मत्त होकर नाचने ही लगे। आचार्य उमास्वाति[2] ने अचेल परीषह के स्थान पर नाग्न्य परीषह का उल्लेख किया है। प्रवचनसारोद्धार[3] में अचेल और नाग्न्य में किंचित् अर्थभेद नग्नता और फटे हुए अल्प मूल्य वाले वस्त्र किया है।

जिनकल्पिक श्रमण प्रायः नग्न रहा करते थे और स्थविरकल्पिक मुनि जीर्ण-शीर्ण अथवा अल्प मूल्य वाले वस्त्र धारण किया करते थे। कभी श्रमणों को मनोनुकूल वस्त्र आदि मिल जाते थे और कभी नहीं भी मिलते थे। किन्तु वह दोनों स्थितियों में सम रहता था।[4]

उत्तराध्ययन के टीकाकार[5] ने लिखा है—अचेल परीषह जिनकल्पी श्रमणों के लिए है और जिन स्थविरकल्पी श्रमणों को वस्त्र मिलना अत्यन्त दुर्लभ है, जिन श्रमणों के पास वस्त्रों का पूर्ण अभाव है या वर्षादि के निमित्त से जिनके वस्त्र जीर्ण-

---

१. उत्तराध्ययन २, १०-११

२. तत्त्वार्थसूत्र ९-९

३. प्रवचनसारोद्धार—
चेलस्य अभावो अचेलं जिनकल्पिकादीनां अन्येषां तु यतीनां भिन्नं स्फुटितं अल्पमूल्यं च चेलमप्यचेलमुच्यते। —*प्र. सा., पत्र १९३, गा. ६८५ की वृत्ति*

४. उत्तराध्ययन २, १२-१३

५. जिनकल्पप्रतिपत्ती स्थविरकल्पेऽपि दुर्लभवस्त्रादौ वा सर्वथा चेलाभावेन सति वा चेले विना वर्षादिनिमित्तमप्रावरणेन जीर्णादिवस्त्रतया वा 'अचेलक' इति अवस्त्रोऽपि।
—*बृहत्‌वृत्ति, पत्र ९२, ९३*

शीर्ण हो चुके हैं उन स्थविरकल्पी श्रमणों के लिए यह परीषह है। प्रवचनसारोद्धार[1] की टीका में भी प्रस्तुत परीषह केवल जिनकल्पी श्रमण के लिए बताया है।

(७) अरति

श्रमण संयम के प्रति समुत्पन्न अधैर्य को सहन करे। ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए या एक स्थान पर अवस्थित रहते हुए यदि उसके अन्तर्मानस में अरति उत्पन्न हो जाय तो सम्यक् धर्म की आराधना से उसका निवारण करे।

'अरति' का अर्थ 'संयम के प्रति अधृति' है। जो श्रमण आसक्त नहीं होता, उसके मन में उसके प्रति उदासीनता होती है। वह कभी शून्य-गृह में रहता है, कभी देवालय में, कभी वृक्ष के नीचे, कभी गिरि-गुफा में। वह सदा स्वाध्याय और ध्यान में अनुरक्त रहता है। विश्व के जितने भी प्राणी हैं उसके मन में उनके प्रति करुणा का सागर लहराता है। वह अपने जीवन में भोगे हुए भोगों का स्मरण नहीं करता और न उसकी रुचि विलासितापूर्ण कथाओं के श्रवण में ही रहती है, ऐसा साधक ही अरति परीषह को जीतता है। यहाँ पर 'अरति' का अर्थ श्रमण चर्या के प्रति अरुचि उत्पन्न न होने देना है।

आचार्य वट्टकेर[2] ने मूलाचार में 'अरति' के स्थान पर 'अरति रति' लिखा है।

(८) स्त्री

स्त्री आदि को निहारकर काम-विह्वल न होना, स्त्री-परीषहजय है।[3] श्रमण यह चिन्तन करे कि स्त्रियों का अत्यधिक परिचय मेरे संयमी जीवन के लिए घातक है। वे अखण्ड ब्रह्मचर्य में बाधक हैं। उनके भ्रू-विलास, नेत्र-विकार और सुन्दर शृंगार साधना में विकार उत्पन्न करने वाले होते हैं। अतः वह उनसे बचता है। वह जानता है कि स्त्रियों की चेष्टाएँ मन को विक्षिप्त करने वाली होती हैं। अतः वह अपनी इन्द्रियों को कूर्म की तरह संकुचित कर लेता है। यहाँ स्त्री शब्द काम-वासना का उपलक्षण है। किसी पुरुष को निहारकर संयमी का काम-विह्वल न होना भी स्त्री-परीषहजय है।

(९) चर्या

यहाँ पर चर्या का अर्थ गमन है। किसी गृहस्थ या घर आदि में आसक्ति न रखते हुए ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए सभी प्रकार के कष्टों का सहन करना

---

१. प्रवचनसारोद्धार, पत्र १९६, गा. ६८५ की वृत्ति
२. मूलाचार ५-७२
३. उत्तराध्ययन २, १६-१७

चर्या परीषह है।[1] जो श्रमण गुरु चरणों में रहता है उसे तत्त्वों का गहरा परिज्ञान होता है। वह संयम हेतु श्रमणों की विनय भक्ति करता है और गुरुजनों के आदेश-निर्देशानुसार विचरण भी करता है। वह पवन की तरह निस्संग होता है। कायक्लेश को सहन करता है। कंटक आदि की बाधा उपस्थित होने पर भी वह यह चिन्तन नहीं करता कि यदि वाहन आदि मिल जाता तो कितना श्रेयस्कर होता। वह तो अप्रतिबद्ध-विहारी होता है। वह ग्राम, नगर, कुल आदि की मोह-ममता से ऊपर उठा हुआ होता है। इस प्रकार वह चर्या परीषह पर विजय प्राप्त करता है।

(१०) निषद्या

श्रमण श्मशान, शून्य गृह आदि स्थानों में ध्यानस्थ होता है। उस समय सिंह की गंभीर गर्जना को श्रवण कर, हाथी की चिंघाड़ को सुनकर या अन्य पशुओं की भयंकर चीत्कार को सुनकर उसमें भय का संचार नहीं होता। वह नियत काल के लिए वीरासन, कुक्कुटासन आदि विविध आसनों को ग्रहण करता है। उस समय देव, तिर्यंच, मानव, अन्य चेतन, या अचेतन पदार्थों से उत्पन्न उपसर्गों को वह शांति से सहन करता है। उपसर्गों के भय से वह किसी भी प्रकार के मंत्रादि से उनका प्रतीकार भी नहीं करता और न उस स्थान का ही परित्याग करता है। प्रवचनसारोद्धार[2] में इसे 'नैषेधिकी' परीषह माना है और टीकाकार ने विकल्प में निषद्या परीषह को मानकर उसकी व्याख्या की है।

(११) शय्या[3]

शयन करते समय यदि शय्या ऊँची-नीची या ऊबड़-खाबड़ हो तो भी सहन करे। श्रमण की शय्या, भले ही कंकड़-पत्थर युक्त हो या रेती से संयुक्त हो तो भी वह उस पर निश्चल सोता रहे। किसी प्रकार का उपसर्ग उपस्थित होने पर भी वह उस शय्या का परित्याग न करे और न मन में उद्विग्न ही हो। वह तो यही सोचे कि एक रात में कुछ भी नहीं होगा। इस प्रकार विचार करता हुआ शय्या परीषह को सहन करे।

(१२) आक्रोश[4]

यदि कोई गाली दे, कोई प्रतिकूल वचन भी कहे तो भी श्रमण उसकी उपेक्षा कर प्रशान्त बना रहे। कोई उसे कितना भी कठोर वचन कहे तथापि वह मन में क्रोध न लाये। प्रतीकार करने का सामर्थ्य होने पर भी वह उसका प्रतीकार न कर

---

१. उत्तराध्ययन २, १८-१९
२. प्रवचनसारोद्धार, गाथा ६८५ टीका, पत्र १९३
३. उत्तराध्ययन २, २२-२३
४. वही २, २४-२५

यह सोचता है कि यदि मेरी भूल है तो इसने मेरा परिष्कार कर मुझ पर महान् उपकार किया है। यदि भूल नहीं है तो भी मुझे आक्रोश करने से क्या लाभ? इस तरह वह आक्रोश पर विजय प्राप्त करता है।

(१३) वध

श्रमण को कोई मारने के लिए तत्पर हो उस समय वह चिन्तन करे–आत्मा और शरीर ये दोनों पृथक्-पृथक् हैं। शरीर विनाशी है, आत्मा अविनाशी है। तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रों से आहत होने पर भी भेदविज्ञान से उसके मन में द्वेष की चिनगारी नहीं उछलती। वह ताड़ना, तर्जना की जाने पर भी सोचता है–यह कर्मों का विपाक है।[1] यदि कोई गाली देता है तो वह सोचता है इसने मुझे पीटा नहीं है। यदि कोई पीटता है तो वह सोचता है कि उसने मुझे प्राणों से अलग नहीं किया है। यदि प्राणों से अलग करने वाला आता है तो वह सोचता है कि इसके निमित्त से मैं मुक्ति को वरण कर रहा हूँ। इस प्रकार द्वेष न करके धर्म का अनुचिन्तन करता हुआ वह वध परिषह पर विजय प्राप्त कर सकता है।[2]

(१४) याचना[3]

श्रमण को कोई भी वस्तु बिना याचना किये प्राप्त नहीं होती। कई बार राजकुमार या सम्राट् तथा संपन्न कुल के व्यक्ति भी श्रमण बन जाते हैं। सम्पन्न कुल के होने के कारण उन्हें माँगने में लज्जा का अनुभव होता है। पर आवश्यकता होने पर धर्म व शरीर की सुरक्षा के लिए उसे माँगना पड़ता है। किन्तु यह स्मरण रहे–तप के द्वारा शरीर अत्यन्त कृश हो जाने पर भी श्रमण दीन वचन न कहे और न इस प्रकार का अभिनय ही करे कि जिससे यह ज्ञात हो कि यह क्षुधा से बहुत ही पीड़ित है। उसे जो भी भोजन मिल जाता है वह शान्त भाव से ग्रहण कर लेता है, किन्तु दीन शब्दों में याचना नहीं करता।

(१५) अलाभ[4]

याचना करने पर भी सभी आवश्यक वस्तुएँ उपलब्ध हो ही जायें, यह संभव नहीं। कई बार आवश्यकता होने पर भी वस्तु प्राप्त नहीं होती। अभिलषित वस्तु की उपलब्धि न होने पर भी श्रमण को खिन्न नहीं होना चाहिए। यहाँ तक कि अनेक दिनों तक आहार न भी मिले तो भी वह सोचे कि मुझे तप का सुनहरा

---

१. आक्रुष्टोऽहं हतो नैव, हतो वा न द्विधाकृतः।
मारितो न हतो धर्मो, मदीयोऽनेन बन्धु वा॥
२. उत्तराध्ययन २, २६-२७
३. वही २, २८-२९
४. वही २, ३०-३१

अवसर मिला है। वह गृहस्थ के यहाँ पर भिक्षा के लिए जाय, पर गृहस्थ के वहाँ पर वस्तु होने पर भी उसे गृहस्थ न दे तो भी वह यही सोचे कि देना और न देना गृहस्थ की इच्छा पर अवलंबित है, मुझे दोनों ही स्थितियों में सम रहना है।

(१६) रोग

रोग समुत्पन्न होने पर उससे जो असह्य वेदना हो, श्रमण समभाव से सहन करे। वह मन में सोचे–"शरीरं व्याधि मन्दिरम्।" यह शरीर व्याधियों का घर है। शरीर में अनेक व्याधियाँ हैं। व्याधि होने पर वह दीन न बने और न व्याधि से विचलित ही हो। वह शरीर को संयम साधना का साधन मानता है। उसका आहार भी उसी दृष्टि से होता है। आहार पराश्रित होने के कारण कभी पथ्यवाला और कभी अपथ्यवाला भी मिल सकता है। पर वह अधीर नहीं होता। यदि रोग उत्पन्न हो जाय तो स्वयं के रोग को नष्ट करने के लिए लब्धि का प्रयोग भी नहीं करता। रोग शांति के लिए चिकित्सा की आवश्यकता होने पर वह शास्त्रोक्त विधि से चिकित्सा करवाता है।[1] उत्तराध्ययनसूत्र में लिखा है कि श्रमण चिकित्सा का अभिनन्दन न करे। पर आचार्य नेमीचन्द्र[2] ने लिखा है–चिकित्सा की आवश्यकता होने पर शास्त्रोक्त विधि का उपयोग किया जाय। किन्तु वहाँ पर उन्होंने शास्त्रोक्त विधि क्या है इसका स्पष्टीकरण नहीं किया। उसमें यह भी लिखा है कि चिकित्सा न करवाना यह जिनकल्पी श्रमणों के लिए है, स्थविरकल्पी श्रमणों के लिए नहीं। श्रमणोपासक श्रमणों को चौदह प्रकार के दान प्रदान करता है, उन दानों में औषध और भेषज ये दो दान भी हैं। यदि श्रमण उनका उपयोग न करता होता तो इनका उल्लेख क्यों होता? आगम साहित्य[3] में श्रमणों की चिकित्सा के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं।

(१७) तृण-स्पर्श

तृणों पर शयन करते समय तृणों का कर्कश स्पर्श शरीर में वेदना उत्पन्न करता है। उनकी तीखी चुभन से साधक विचलित भी हो सकता है। उस समय वस्त्र सेवन की अभिलाषा न करे। श्रमण कुछ गीली भूमि पर तृणों को बिछाकर सोते थे। अथवा जिन श्रमणों के वस्त्र तस्करों ने अपहरण कर लिये हों वे भी उन जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों के अभाव में उस घास पर सोते थे। घास का तीक्ष्णाग्र भाग शरीर में पीड़ा उत्पन्न करता है। ऐसा ज्ञात होता है कि वस्त्र आदि बिछाने की परम्परा अतीत काल में कम रही थी। वस्त्र के स्थान पर घास आदि का ही

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र २, ३२-३३

२. प्रवचनसारोद्धारवृत्ति, पत्र १९९

३. ज्ञातासूत्र, भगवती, आवश्यकचूर्णि, निशीथचूर्णि, बृहत्कल्पभाष्य
देखिए–साहित्य और संस्कृति (देवेन्द्र मुनि शास्त्री), पृ.१४३-१६०

बिछौना अधिक होता था। जैसा कि उत्तराध्ययन के केशी गौतमीय अध्ययन[1] में केशी श्रमण ने गौतम को बैठने के लिए घास का आसन दिया था। उत्तरकाल में श्रमणों के वस्त्र बिछाने की विधि आई है।

(१८) जल्ल[2]

पसीना, कीचड़, धूलि आदि के शरीर पर इकट्ठे हो जाने पर भी उसे दूर करने का प्रयत्न न करना जल्ल परीषह है। घृणित वस्तुओं का सम्पर्क हो जाने पर भी उससे घृणा न करना, शरीर को संस्कारित करने की अभिलाषा न करना जल्ल परीषह है। श्रमणों के लिए स्नान का निषेध है। शरीर में पसीना आने पर और उस पर धूल जम जाने पर भी वह उसे खुजलाता नहीं। वह इस प्रकार चिन्तन नहीं करता—मेरा शरीर मलरहित हो। उसे दूर करने के लिए स्नान आदि की अभिलाषा नहीं करता। इस तरह वह जल्ल परीषह पर विजय पाता है। इसका दूसरा नाम मल परीषह भी मिलता है।

(१९) सत्कार-पुरस्कार[3]

अभिवादन, नमस्कार, निमंत्रण आदि से किसी अन्य श्रमण का सम्मान होते देखकर स्वयं सम्मान की इच्छा न करे। स्वयं का सम्मान न होने पर ईर्ष्या आदि न करे और न मन में किसी प्रकार का अनुताप ही करे। यहाँ पर सत्कार का अर्थ प्रशंसा करना है और पुरस्कार का अर्थ किसी को किसी कार्य में श्रेष्ठ बताना है। अन्य व्यक्तियों द्वारा सत्कार-पुरस्कार न करने पर भी श्रमण ऐसा नहीं सोचता—मैं चिर तपस्वी हूँ। मैंने अनेक बार प्रतिवादियों को विचार-चर्चा में परास्त किया है, तथापि कोई भी मुनि मेरी उपासना नहीं करता, मुझे आसनादि देकर सम्मानित नहीं करता और न मेरे को वन्दन आदि कर सत्कार ही करता है। ये लोग कितने अन्धे हैं, जो अल्पज्ञ हैं, तपस्वी भी नहीं हैं, तथापि लोग इनकी उपासना करते हैं। मैं प्रवचन कला में दक्ष हूँ, मेरे सामने इनका प्रवचन कुछ भी नहीं है। पर इनका सम्मान हो रहा है, मेरा नहीं। कहते हैं कि देवगण भी तपस्वियों की अर्चना करते हैं। किन्तु मैं इतना महान् तपस्वी हूँ, पर मेरी कोई अर्चना नहीं करता। अतः यह बात मिथ्या है। वह इस प्रकार का दुर्ध्यान नहीं करता। इस तरह वह सत्कार-पुरस्कार परीषह पर विजय प्राप्त करता है।

(२०) ज्ञान[4]

श्रमण अज्ञान से समुत्पन्न कष्ट को समभाव से सहन करे। यह चिंतन न करे—"मैं कितना उग्र तप-जप की साधना कर रहा हूँ, तथापि मेरा अज्ञान अभी तक नष्ट

१. उत्तराध्ययन २३, १७
२. वही २, ३६-३७
३. वही २, ३८-३९
४. वही २, ४२-४३

नहीं हुआ है। मुझे दिव्य ज्ञान का आलोक प्राप्त नहीं हुआ है। जिस दिव्य ज्ञान के लिए मैंने कुशील का परित्याग किया, इन्द्रियों का निग्रह किया, मन का निरोध किया, क्या वे सभी व्यर्थ हैं? धर्म कल्याणकारी है- मैंने अभी तक इसका अनुभव नहीं किया है। मैं तो आगम साहित्य का मर्मज्ञ नहीं बन सका हूँ।" इस प्रकार चिन्तन कर वह खिन्न नहीं होता। ऐसा करने से ही वह अज्ञान परीषह को जीत लेता है।

उत्तराध्ययन में 'ज्ञान' परीषह न बताकर 'अज्ञान' परीषह बताया है। और उत्तराध्ययन में अज्ञान परीषह की जो व्याख्या की है वह तत्त्वार्थसूत्र की श्रुतसागरीया[1] वृत्ति में 'अदर्शन' की व्याख्या है। उन्होंने लिखा है दीक्षा ग्रहण किये लंबा समय होने पर भी अवधिज्ञान या ऋद्धि प्रभृति की प्राप्ति न होने पर भी मुनि यह चिन्तन न करे कि यह दीक्षा निष्फल है। मैंने व्रतों का धारण क्यों किया इत्यादि। इस प्रकार वह श्रमण अदर्शन परीषह पर विजय प्राप्त करता है।

(२१) दर्शन[2]

परलोक नहीं है। तप से ऋद्धि की उपलब्धि नहीं होती। मैं श्रमण धर्म ग्रहण करके ठगा गया हूँ। तीर्थंकर पहले नहीं थे और न होंगे ही-इस प्रकार धर्म में अविश्वास न होने देना दर्शन परीषह पर विजय प्राप्त करना है। वह प्रत्येक परिस्थिति में धर्म पर दृढ़ निष्ठा रखता है। चाहे जैसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाय तो भी उसकी श्रद्धा डगमगाती नहीं।

साधक के सामने ज्ञानवादी, अज्ञानवादी, क्रियावादी, अक्रियावादी न जाने कितने मत और मतान्तर आते हैं। उस समय कितने ही साधकों की श्रद्धा विचलित हो जाती है। पर जिसकी श्रद्धा पूर्ण रूप से स्थिर रहती है वह दर्शन परीषह पर विजय प्राप्त करता है। जिसे समवायांग और उत्तराध्ययन में 'दर्शन परीषह' कहा है, तत्त्वार्थ श्रुतसागरीया वृत्ति में अदर्शन परीषह माना गया है। मूलाचार में भी 'दर्शन' के स्थान पर 'अदर्शन परीषह' का उल्लेख हुआ है।

(२२) प्रज्ञा

प्रज्ञा का अर्थ बुद्धि की प्रखरता व तीक्ष्णता है। जो मुनि तर्कशास्त्र में प्रवीण हों, व्याकरण, साहित्य प्रभृति कलाओं में निष्णात हों, और प्रतापपूर्ण प्रतिभा के धनी हों तथापि जिसमें किंचित् मात्र भी ज्ञान का अहंकार हो वह यह चिन्तन करता हो कि चाहे जैसा प्रवादी क्यों न हो वह प्रवादी मेरे सामने उसी तरह से भागता है जैसे सिंह के शब्द को श्रवण करके हरिण चौकड़ियाँ भरते हुए भागते हैं। ऐसा मुनि प्रज्ञा परीषह को नहीं जीतता है।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र ९-९, पृ. २९५ २. उत्तराध्ययन २, ४४-४५

उत्तराध्ययन के अनुसार प्रज्ञा परीषह वह है जब साधक यह चिन्तन करे कि निश्चय ही मैंने पूर्व काल में अज्ञान रूप फल देने वाले कर्म किये हैं। उन्हीं के कारण मैं किसी के जिज्ञासा व्यक्त करने पर भी मैं उसका समाधान नहीं कर सकता, मैं कुछ नहीं जानता। इस प्रकार कर्म-विपाक मानकर उसे सहन करे।

उत्तराध्ययन में यह बताया गया है श्रमण को पूर्वबद्ध कर्मों का फल जानकर जैसे युद्धस्थल में हस्ति स्थिर रहता है, मेरु पर्वत प्रचंड वेग से कंपित नहीं होता, सिंह पीछे कदम रखना नहीं जानता वैसे ही श्रमणों को इन बाईस परीषहों को जीतना चाहिए।

किसमें कितने परीषह?

अधिकारी-भेद की दृष्टि से जिसमें संपराय यानी लोभ कषाय की कम संभावना हो उस दसवें सूक्ष्मसंपराय[1], ग्यारहवें उपशान्त मोह, और बारहवें क्षीणमोह गुणस्थानों में (१) क्षुधा, (२) पिपासा, (३) शीत, (४) उष्ण, (५) दंश-मशक, (६) चर्या, (७) प्रज्ञा, (८) अज्ञान, (९) अलाभ, (१०) शय्या, (११) वध, (१२) रोग, (१३) तृण स्पर्श, और (१४) जल्ल–ये चौदह परीषह ही संभव हैं। शेष आठ परीषह मोहजन्य होने के कारण वहाँ पर मोहोदय का अभाव होने से नहीं है। दसवें गुणस्थान में अत्यल्प मोह रहता है। इसलिए प्रस्तुत गुणस्थान में भी मोहजन्य आठ परीषह संभव न होने से केवल चौदह ही बताये हैं।

तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान[2] में (१) क्षुधा, (२) पिपासा, (३) शीत, (४) उष्ण, (५) दंश-मशक, (६) चर्या, (७) वध, (८) रोग, (९) शय्या, (१०) तृण स्पर्श, और (११) जल्ल–ये ग्यारह परीषह संभव हैं। इन गुणस्थानों में घाती कर्मों का अभाव होने से शेष ११ परीषह नहीं हैं।

यहाँ पर यह स्मरण रखना होगा कि १३वें और १४वें गुणस्थानों में परीषहों के विषय में दिगंबर और श्वेतांबर संप्रदायों में एकमत नहीं है और उसका मूल कारण है–दिगंबर परंपरा केवली में कवलाहार नहीं मानती है। उनके अभिमतानुसार सर्वज्ञ में क्षुधा आदि ११ परीषह तो हैं, पर मोह का अभाव होने से क्षुधा आदि वेदना रूप न होने के कारण उपचार मात्र से द्रव्य परीषह हैं।[3] उन्होंने दूसरी व्याख्या भी की है। 'न' शब्द का अध्याहार करके यह अर्थ लगाया है–जिनमें वेदनीय कर्म होने पर भी तदाश्रित क्षुधा आदि ११ परीषह मोह के अभाव के कारण बाधा रूप न होने से, हैं ही नहीं।

---

१. सूक्ष्म सम्परायाच्छद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश। –तत्त्वार्थसूत्र ९-१०
२. एकादश जिने। –वही ९-११
३. तत्त्वार्थसूत्र (पं. सुखलालजी संघवी), पृ.२१६

छठे गुणस्थान से लेकर नौवें गुणस्थान तक २२ परीषह हैं। चूँकि वहाँ पर परीषहों के कारणभूत सभी कर्म विद्यमान हैं।

एक साथ कितने परीषह ?

एक जीव में एक साथ कितने परीषह हो सकते हैं? इसके उत्तर में कहा गया है–एक आत्मा में एक साथ अधिक से अधिक १९ परीषह संभव हैं। २२ परीषहों में अनेक परीषह परस्पर में विरोधी हैं। उदाहरण के रूप में, जहाँ पर शीत परीषह है वहाँ ऊष्ण परीषह नहीं है और जहाँ पर उष्ण परीषह है वहाँ पर शीत परीषह नहीं है। इसी प्रकार शय्या, चर्या, निषद्या इन तीनों में भी एक समय में एक ही परीषह संभव है। अतः पाँचों में से एक समय में से किन्हीं दो को संभव और तीन को असंभव मानें तो १९ परीषह होते हैं।

परीषह और कर्म

परीषहों की उत्पत्ति के कारण कर्म हैं और वे कर्म हैं ज्ञानावरणीय कर्म, अन्तराय कर्म, मोहनीय कर्म और वेदनीय कर्म। ज्ञानावरण प्रज्ञा और अज्ञान परीषहों का कारण है। अन्तराय कर्म, अलाभ परीषह का कारण है। मोहनीय कर्म में दर्शन मोहनीय अदर्शन का कारण है और चारित्र मोहनीय अचेल, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, सत्कार इन ७ परीषहों का कारण है। वेदनीय कर्म क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण दंश-मशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृण-स्पर्श और जल्ल इन ११ परीषहों का कारण है।[1]

सुत्तनिपात में वर्णन है[2] कि तथागत बुद्ध ने कहा–मुनि शीत, उष्ण, क्षुधा, पिपासा, वात, आतप, दंश और सरीसृप का सामना कर खंगविषाण की तरह अकेला विचरण करे। यद्यपि बौद्ध साहित्य में कायक्लेश को किंचित् मात्र भी महत्त्व नहीं दिया, किन्तु श्रमण के लिए परीषह सहन करने पर उन्होंने भी बल दिया है।

इस प्रकार परीषह के सम्बन्ध में आगम व आगमेतर साहित्य में विस्तार से विश्लेषण किया गया है। हमने यहाँ संक्षेप में उसकी झाँकी प्रस्तुत की है। विशेष जिज्ञासु पाठकगण मूल ग्रंथों का अवलोकन करें। टीकाकारों ने सभी परीषहों को स्पष्ट करने के लिए कथाएँ भी प्रस्तुत की हैं और वे सभी कथाएँ साधक को परीषहों में किस तरह सुदृढ़ रहना चाहिए इस पर चिन्तन करने को उत्प्रेरित करती हैं।

●●

---

१. भगवतीसूत्र ८-८

२. सुत्तनिपात–उरगवग्ग ३-१८–
सीतं च उण्हं च खुदं पिपासं वातातपे डंस सिरिंसपे च।
सब्बानिपेतानि अभिसंभवित्वा एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

१०. समाधिमरण की कला : संलेखना

जीवन और मरण

भारत के मूर्धन्य मनीषियों ने जीवन और मरण के सम्बन्ध में गंभीर अनुचिन्तन किया है। जीवन और मरण के सम्बन्ध में हजारों ग्रंथ लिखे गये हैं। जीवन सभी को प्रिय है[1] और मरण सभी को अप्रिय है।

जब कोई भी व्यक्ति जन्म ग्रहण करता है तब चारों ओर प्रसन्नता का सुहावना वातावरण फैल जाता है। हृदय का अपार आनन्द विविध वाद्यों के द्वारा मुखरित होने लगता है। जब भी उसका वार्षिक जन्म-दिन आता है तब वह अपने सामर्थ्य के अनुसार समारोह मनाकर हृदय का उल्लास अभिव्यक्त करता है। जीवन को आनन्द के सुमधुर क्षणों में व्यतीत करने के लिए गुरुजनों से वह आशीर्वचन प्राप्त करना चाहता है। वैदिक ऋषि प्रभु से प्रार्थना करता है[2] कि "मैं सौ वर्ष तक सुखपूर्वक जीऊँ। मेरे तन में किसी भी प्रकार की व्याधि उत्पन्न न हो। मेरे मन में संकल्प-विकल्प न हो। मैं सौ वर्षों तक अच्छी तरह से देखता रहूँ, सुनता रहूँ, सूँघता रहूँ, मेरे पैरों में, मेरी भुजाओं में अपार बल रहे जिससे मैं शान्ति के साथ अपना जीवन यापन कर सकूँ।"

मानव में ही नहीं, प्रत्येक प्राणी में जिजीविषा है। जिजीविषा की भव्य भावना से उत्प्रेरित होकर ही प्रागैतिहासिक काल से आधुनिक युग तक मानव ने अनुसंधान किये हैं। उसने ग्राम, नगर, भव्य भवनों का निर्माण किया। विविध प्रकार के खाद्य पदार्थ, पेय पदार्थ, औषधियाँ, रसायनें, इंजेक्शन, शल्य क्रियाएँ आदि निर्माण कीं। मनोरंजन के लिए प्राकृतिक सौन्दर्य सुषमा के केन्द्र संस्थापित किये। उद्यान, कला केन्द्र, साहित्य, संगीत, नाटक, चलचित्र, टेलीविजन, टेलीफोन रेडियो, ट्रेन-प्लेन, पृथ्वी की परिक्रमा करने वाले उपग्रह आदि का निर्माण किया। अब वह चन्द्रलोक आदि ग्रहों में रहने के रंगीन स्वप्न देख रहा है।

पर यह एक परखा हुआ सत्य-तथ्य है कि जीवन के साथ मृत्यु का चोली-दामन का सम्बन्ध है। जीवन के अगल-बगल चारों ओर मृत्यु का साम्राज्य है।

---

१. सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं। —दशवैकालिक ६-१०

२. जीवेम शरद शतं। —यजुर्वेद ३६-२४

मृत्यु का अखण्ड साम्राज्य होने पर भी मानव उसे भुलाने का प्रयास करता रहा है। वह सोचता है कि मैं कभी नहीं मरूँगा किन्तु यह एक ज्वलन्त सत्य है कि जो पुष्प खिलता है, महकता है, अपनी मधुर सौरभ से जन-जन के मन को मुग्ध करता है वह पुष्प एक दिन मुरझा जाता है। जो फल वृक्ष की टहनी पर लगता है अपने सुन्दर रंग-रूप से जनमानस को आकर्षित करता है, वह फल भी टहनी पर रहता नहीं, पकने पर नीचे गिर पड़ता है। सहस्ररश्मि सूर्य जब उदित होता है तो चारों ओर दिव्य आलोक जगमगाने लगता है, पर सन्ध्या के समय उस सूर्य को भी अस्त होना पड़ता है।

जीवन के पश्चात् मृत्यु निश्चित है। मृत्यु जब आती है तब अपनी गंभीर गर्जना से जंगल को कँपाने वाला वनराज भी काँप जाता है। मदोन्मत्त गजराज भी बलि के बकरे की तरह करुण स्वर में चीत्कार करने लगता है। अनन्त सागर में कमनीय क्रीड़ा करने वाली विराटकाय व्हेल मछली भी छटपटाने लगती है। यहाँ तक कि मौत के वारण्ट से पशु-पक्षी और मानव ही नहीं स्वर्ग में रहने वाले देव-देवियाँ व इन्द्र और इन्द्राणियाँ भी पके धान की तरह काँपने लगते हैं। जैसे ओलों की तेज वृष्टि से अंगूरों की लहलहाती खेती कुछ क्षणों में नष्ट हो जाती है वैसे ही मृत्यु जीवन के आनन्द को मिट्टी में मिला देती है।

गीर्वाण गिरा के यशस्वी कवि ने कहा—जो जन्म लेता है वह अवश्य ही मरता है—"जातस्य हि मरणं ध्रुवम्।" तन बल, जन बल, धन बल और सत्ता बल के आधार से कोई चाहे कि मैं मृत्यु से बच जाऊँ यह कभी भी संभव नहीं है। आयु-कर्म समाप्त होने पर एक क्षण भी जीवित रहना असंभव है। काल (आयु) समाप्त होने पर काल (मृत्यु) अवश्य आयेगा। बीच कुएँ में जब रस्सी टूट गई हो, उस समय कौन घड़े को थाम सकता है?[1]

मृत्यु का भय सबसे बड़ा

जैन साहित्य में भय के सात प्रकार बताये हैं। उन सभी में मृत्यु का भय सबसे बड़ा है। मृत्यु के समान अन्य कोई भय नहीं है।[2]

एक बादशाह बहुत मोटा-ताजा था। उसने अपना मोटापा कम करने के लिए उस युग के महान् हकीम लुकमान से पूछा—मैं किस प्रकार दुबला हो सकता हूँ?

लुकमान ने बादशाह से कहा—आप भोजन पर नियंत्रण करें, व्यायाम करें और दो-चार मील घूमा करें।

---

१. "रज्जुच्छेदे के घटं धारयन्ति?"

२. (क) मरण समं नत्थि भयं। (ख) भयः सीना मृत्युः।

बादशाह ने कहा–जो भी तुमने उपाय बताये हैं, मैं उनमें से एक भी करने में समर्थ नहीं हूँ। न मैं भोजन छोड़ सकता हूँ, न व्यायाम कर सकता हूँ और न घूम ही सकता हूँ।

लुकमान कुछ क्षणों तक चिन्तन करते रहे, फिर उन्होंने कहा–बादशाह प्रवर ! आपके शारीरिक लक्षण बता रहे हैं कि आप एक माह की अवधि के अन्दर परलोक चले जाएँगे।

यह सुनते ही बादशाह ने कहा–क्या तुम्हारा कथन सत्य है?

लुकमान ने स्वीकृतिसूचक सिर हिला दिया।

एक माह के पश्चात् लुकमान बादशाह के पास पहुँचा तो उसका सारा शरीर कृश हो चुका था। बादशाह ने लुकमान से पूछा–अब मैं कितने घंटों का मेहमान हूँ?

लुकमान ने कहा–अब आप नहीं मरेंगे।

बादशाह ने साश्चर्य पूछा–यह कैसे?

लुकमान ने कहा–आपने कहा था कि मुझे दुबला बनना है। देखिए, आप दुबले बन गये हैं। मृत्यु के भय ने ही आपको कृश बना दिया है।

भगवान महावीर ने प्राणियों की मनःस्थिति का विश्लेषण करते हुए कहा है "प्राणिवधरूप असाता कष्ट सभी प्राणियों के लिए महाभय रूप है।"[1]

मृत्युकला

भारतीय मूर्धन्य चिन्तकों ने जीवन को एक कला कहा है तो मृत्यु को भी एक कला माना है। जो साधक जीवन और मरण–इन दोनों कलाओं में पारंगत है, वही अमर कलाकार है। भारतीय संस्कृति का आघोष है कि जीवन और मरण का खेल अनन्त काल से चल रहा है। तुम खिलाड़ी बनकर खेल रहे हो। जीवन के खेल को कलात्मक ढंग से खेलते हो तो मरने के खेल को भी ठाठ से खेलो। न जीवन से झिझको, न मरण से डरो। जिस प्रकार चालक को मोटर गाड़ी चलाना सीखना आवश्यक है उसी तरह उसे रोकना सीखना भी आवश्यक है। केवल उसे गाड़ी चलाना आये, रोकना नहीं आये, उस चालक की स्थिति गंभीर हो जाएगी। इसी तरह जीवन-कला के साथ मृत्यु-कला भी बहुत आवश्यक है। जिस साधक ने मृत्यु-कला का सम्यक् प्रकार से अध्ययन किया है वह हँसते, मुस्कराते, शान्ति के साथ प्राणों का परित्याग करेगा। मृत्यु के समय उसके मन में किंचित् मात्र भी

---

१. असायं अपरिनिव्वाणं महब्भयं। —आचारांग १-२

उद्वेग नहीं होगा। वह जानता है ताड़ का फल वृन्त से टूटकर नीचे गिर जाता है वैसे ही आयुष्य क्षीण होने पर प्राणी जीवन से च्युत हो जाता है।[1] मृत्यु का आगमन निश्चित है।[2] हम चाहें कितना भी प्रयत्न करें उससे बच नहीं सकते। काल एक ऐसा तन्तुवाय है जो हमारे जीवन के ताने के साथ ही मरण का बाना भी बुनता जाता है। यह बुनाई शनैः-शनैः आगे बढ़ती है। जैसे तन्तुवाय दस-बीस गज का पट बना लेने के पश्चात् ताना-बाना काटकर वस्त्र को पूर्ण करता है और उस वस्त्र को समेटता है। जीवन का ताना-बाना भी इसी प्रकार चलता है। कालरूपी जुलाहा प्रस्तुत पट को बुनता जाता है। पर एक स्थिति ऐसी आती है जब वह वस्त्र (थान) को समेटता है। वस्त्र का समेटना ही एक प्रकार मृत्यु है। जिस प्रकार रात्रि और दिन का चक्र है वैसे ही मृत्यु और जन्म का चक्र है।

एक वीर योद्धा अपनी सुरक्षा के सभी साधन तथा शस्त्रास्त्रों को लेकर युद्ध के मैदान में जाता है, वह युद्ध के मैदान में भयभीत नहीं होता, उसके अन्तर्मानस में अपार प्रसन्नता होती है, क्योंकि वह युद्ध की सामग्री से सन्नद्ध है।

मृत्यु महोत्सव

एक यात्री है। यदि उसके पास पाथेय है तो उसके मन में एक प्रकार की निश्चिन्तता होती है। यदि उसके पास यथेष्ट अन्न और धन हो तो वह कहीं भी चला जाय उसे कोई कष्ट नहीं होता। इसी तरह जिस साधक ने जीवन-कला के साथ मृत्यु-कला भी सीख ली है, उस साधक के मन में मृत्यु से भय नहीं होता। उसकी हृत्तन्त्री के तार झनझनाते हैं—मैंने सद्गति का मार्ग ग्रहण किया है। मैंने जीवन में धर्म की आराधना की है, संयम की साधना की है। अब मुझे मृत्यु से भय नहीं है।[3] मेरे लिए मृत्यु विषाद का नहीं, हर्ष का कारण है। वह तो महोत्सव की तरह है।[4]

जीवन और मृत्यु एक-दूसरे के पूरक

मृत्यु से भयभीत होने का कारण यह है कि अधिकांश व्यक्तियों का ध्यान जीवन पर तो केन्द्रित है, पर वे मृत्यु के सम्बन्ध में कभी सोचना भी नहीं चाहते।

---

१. ताले जह बंधणच्चुए एवं आउखयंमि तुट्टइ। —सूत्रकृतांग २-१-३

२. नाणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि। —आचारांग १-४-२

३. गहिओ सुग्गइ मग्गो नाहं मरणस्स बीहेमि। —आतुर प्रत्याख्यान ६३

४. (क) संसारासक्तचित्तानां मृत्युर्भीतै भवेन्नृणाम्।
मोदायते पुनः सोपि ज्ञान वैराग्यवासिनाम्॥ —मृत्यु महोत्सव १७

(ख) संचित तपोधन न नित्यं व्रत नियमे संयमरतानाम्।
उत्सवभूतं मन्ये मरणमनपराधवृत्तीनाम् ॥ —वाचक उमास्वाति

उनका प्रबल पुरुषार्थ जीने के लिए ही होता है। उन्होंने जीवन-पट को विस्तार से फैला रखा है। किन्तु उस पट को समेटने की कला उन्हें नहीं आती। वे जागकर कार्य तो करना चाहते हैं, पर उन्हें पता नहीं केवल जागना ही पर्याप्त नहीं है, विश्रान्ति के लिए सोना भी आवश्यक है। जिस उत्साह के साथ जागना आवश्यक है, उसी उत्साह के साथ विश्रान्ति और शयन आवश्यक है। जिस प्रकार जागरण और शयन एक-दूसरे के पूरक हैं वैसे ही जीवन और मृत्यु भी।

मरण-शुद्धि

महाभारत के वीर योद्धा कर्ण ने अश्वत्थामा को कहा था कि तू मुझे सूतपुत्र कहता है। पर चाहे जो कुछ भी हो मैं अपने पुरुषार्थ से तुझे बता दूँगा कि मैं कौन हूँ। मेरा पुरुषार्थ तुम देखो।

प्रस्तुत कथन से यह स्पष्ट होता है कि व्यक्ति अपने आपको बनाता है। जिस साधक ने जीवन-कला के रहस्य को समझ लिया है वह मृत्यु-कला के रहस्य को भी समझ लेता है। जिसने वर्तमान को सुधार लिया है उसका भविष्य अपने आप ही सुधर जाता है। आत्म-विशुद्धि के मार्ग के पथिक के लिए जीवन-शुद्धि का जितना महत्त्व है उससे भी अधिक महत्त्व मरण-शुद्धि का है।

पण्डित आशाधरजी ने कहा–जिस महापुरुष ने संसार परम्परा को विनष्ट करने वाले समाधिमरण अर्थात् मृत्यु-कला में पूर्ण योग्यता प्राप्त की है उसने धर्म-रूपी महान् निधि को प्राप्त कर लिया है। वह मुक्ति-पथ का अमर पथिक है। उसका अभियान आगे बढ़ने के लिए है। वह पड़ाव को घर बनाकर बैठना पसन्द नहीं करता किन्तु प्रसन्न मन से अगले पड़ाव की तैयारी करता है–यही मृत्यु-कला है।

मरण के विविध प्रकार

जो व्यक्ति जीवन-कला से अनभिज्ञ है वह मृत्यु-कला से भी अनभिज्ञ है। सामान्य व्यक्ति मृत्यु को तो वरण करता है, पर किस प्रकार मृत्यु को वरण करना चाहिए, उसका विवेक उसमें नहीं होता। जैन आगम व आगमेतर साहित्य में मरण के सम्बन्ध में विस्तार से विवेचन किया गया है। विश्व के जितने भी जीव हैं उन जीवों के मरण को दो भागों में विभक्त किया है–(१) बालमरण, और (२) पण्डितमरण।

भगवती सूत्र[1] में बालमरण के बारह प्रकार बताये हैं और पण्डितमरण के दो प्रकार बताये हैं। इस प्रकार मरण के कुल १४ प्रकार हैं। वे क्रमशः अग्र प्रकार हैं–

१. भगवती २-१

बालमरण

(१) वलय, (२) वसट्ट, (३) अन्तोसल्ल, (४) तब्भव, (५) गिरिपडण, (६) तरुपडण, (७) जलप्पवेस, (८) जलणप्पवेस, (९) विषभक्खण, (१०) सत्थोवाडण, (११) वेहाणस, (१२) गिद्धपिट्ठ।

पण्डितमरण

(१) पावोवगमण, (२) भत्तपच्चक्खाण।

समवायांगसूत्र[1] में और उत्तराध्ययननिर्युक्ति[2] में तथा दिगम्बर ग्रन्थ मूलाराधना[3] में मरण के १७ भेद प्ररूपित किये हैं। समवायांग में उल्लिखित मरण के १७ भेद इस प्रकार हैं–

(१) आवीचिमरण, (२) अवधिमरण, (३) आत्यंतिकमरण, (४) वलायमरण, (५) वशार्तमरण, (६) अन्तःशल्यमरण, (७) तद्भवमरण, (८) बालमरण, (९) पण्डितमरण, (१०) बालपण्डितमरण, (११) छद्मस्थमरण, (१२) केवलीमरण, (१३) वैहायसमरण, (१४) गृद्धपृष्ठमरण, (१५) भक्तप्रत्याख्यानमरण, (१६) इंगिणीमरण, (१७) पादपोपगमनमरण।

मरण के इन सत्रह प्रकारों में 'उत्तराध्ययननिर्युक्ति' और 'मूलाराधना' की विजयोदयावृत्ति में नाम और क्रम में कुछ अन्तर है। इन सत्रह प्रकार के मरण के सम्बन्ध में उत्तराध्ययननिर्युक्ति और विजयोदयावृत्ति में अनेक भेद-प्रभेदों का निरूपण है। हम यहाँ विस्तार में न जाकर संक्षेप में ही इन १७ प्रकार के मरण के अर्थ का प्रतिपादन करेंगे।

(१) आवीचिमरण

आयु कर्म के दलिकों की विच्युति अथवा व्युच्छित्ति को आवीचिमरण कहा है। जैसे अंजलि में लिया हुआ पानी प्रतिपल-प्रतिक्षण घटता रहता है इसी तरह प्रतिक्षण आयु भी कम होता जाता है। यहाँ वीचि का अर्थ समुद्र की लहर है। समुद्र में प्रतिपल-प्रतिक्षण एक लहर उठती है और उसके पीछे ही दूसरी और तीसरी लहर उठती रहती है। असंख्य लहरों का नर्तन समुद्र के विराट् वक्षस्थल पर होता

---

१. समवायांग १७, सूत्र ९ (मुनि कन्हैयालाल कमल)

२. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा २१२-२१३, पत्र २३०

३. मरणाणि सत्तरस देसिदाणि तित्थंकरेहिं जिणवयणे।
तत्थ विय पंच इह संगहेण मरणाणि वोच्छामि ॥

–मूलाराधना आश्वास १, गा. ३५, पत्र ८५

रहता है। समुद्र की लहर की भाँति मृत्यु की लहर भी प्रतिक्षण आती रहती है। एक क्षण की समाप्ति जीवन के क्षण की समाप्ति है। नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेव[1] ने आवीचिमरण की व्याख्या करते हुए लिखा है–प्रत्येक समय अनुभूत होने वाले आयुकर्म के पूर्व-पूर्व दलिकों को भोगकर नित नूतन दलिकों का उदय, फिर उनका भोग, इस प्रकार प्रतिक्षण दलिकों का क्षय होना आवीचि है।

आचार्य अकलंक[2] ने आवीचिमरण को नित्यमरण कहा है। उन्होंने मरण के दो प्रकार बताये हैं–नित्यमरण और तद्भवमरण। प्रतिक्षण आयुष्य आदि का जो क्षय हो रहा है वह नित्यमरण है और प्राप्त शरीर का पूर्ण रूप से छूट जाना अथवा जीव का उस शरीर को छोड़ देना तद्भवमरण है। सामान्य मानव जिसे आयु वृद्धि कहता है, वह वस्तुतः आयु का ह्रास है। हमारा प्रत्येक कदम मृत्यु की ओर ही बढ़ रहा है।

(२) अवधिमरण[3]

जिस गति में जीव एक बार मरण करता है उसी गति में दूसरी बार मरण करना अवधिमरण है।

(३) आत्यंतिकमरण[4]

वर्तमान आयु कर्म के पुद्गलों का अनुभव कर मरण प्राप्त होता है, पुनः उस भव में वह जीव उत्पन्न न हो तो वह मरण आत्यन्तिकमरण है।

(४) वलायमरण[5]

जो संयमी संयम पथ से भ्रष्ट होकर मृत्यु को प्राप्त करता है वह वलन् मरण है या भूख से छटपटाते हुए मृत्यु को प्राप्त करना भी वलायमरण है।

---

१. प्रतिसमयमनुभूयमानायुषोऽपराऽपरायुर्दलिकोदयात् पूर्वपूर्वाऽपरायुर्दलिक विच्युतिलक्षणः।
–अभयदेववृत्ति–भगवती १३, ७

२. तत्त्वार्थराजवार्तिक २-२२

३. (क) समवायांग, पत्र ३२
(ख) उत्तराध्ययननिर्युक्ति २१६
(ग) मूलाराधना विजयोदयावृत्ति, पत्र ८७

४. (क) समवायांग, पत्र ३२
(ख) उत्तराध्ययननिर्युक्ति २१६

५. (क) समवायांग, पत्र ३२
(ख) उत्तराध्ययननिर्युक्ति २१६

(५) वशार्तमरण[1]

दीपशिखा में शलभ की भाँति जो जीव इन्द्रियों के वशीभूत होकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं, उनका मरण वशार्तमरण है। इस मरण में आर्त और रौद्र ध्यान की प्रधानता रहती है।

(६) अन्तःशल्यमरण[2]

शरीर में शस्त्र आदि शल्य रहने पर मृत्यु होना वह द्रव्य अन्तःशल्यमरण है। लज्जा, अभिमान प्रभृति कारणों से अतियारों की आलोचना न कर दोषपूर्ण स्थिति में मरना अन्तःशल्यमरण है।

(७) तद्भवमरण[3]

वर्तमान भव में मृत्यु का वरण करना तद्भवमरण है।

(८) बालमरण[4]

विश्व में आसक्त, अज्ञानांधकार से आच्छादित, ऋद्धि व रसों में गृद्ध जीवों का मरण बालमरण कहलाता है।

(९) पण्डितमरण[5]

संयतियों का मरण पण्डितमरण है। सम्यक् श्रद्धा, चारित्र एवं विवेकपूर्वक मरण पण्डितमरण है।

(१०) बालपण्डितमरण[6]

संयतासंयत मरण बालपण्डितमरण है।

---

१. (क) समवायांग, पत्र ३२ (ख) उत्तराध्ययननिर्युक्ति २१७
(ग) भगवती २-१, पत्र २५२
२. (क) भगवती २-१, अभयदेववृत्ति, पत्र २५२ (ख) समवायांग १७, सूत्र ३२
(ग) उत्तराध्ययननिर्युक्ति २१९
३. (क) भगवती २-१ (ख) समवायांग, पत्र ३२-३३
(ग) मूलाराधना विजयोदया टीका, पत्र ८७
४. (क) समवायांग, पत्र ३३ (ख) उत्तराध्ययननिर्युक्ति २२२
५. मूलाराधना विजयोदया टीका, पत्र ८१
६. (क) समवायांग १७, पत्र ३२ (ख) उत्तराध्ययननिर्युक्ति २२२

(११) छद्मस्थमरण[1]

मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी को छद्मस्थ कहते हैं। ऐसे व्यक्ति का मरण छद्मस्थमरण है।

(१२) केवलीमरण

केवलज्ञानी का मरण केवलीमरण है।

(१३) वैहायसमरण[2]

वृक्ष की शाखा से लटकने, पर्वत से गिरने, झंपा लेने प्रभृति कारणों से होने वाला मरण वैहायसमरण है।

(१४) गृद्धपृष्ठमरण[3]

हाथी आदि के कलेवर में प्रविष्ट होने पर उस कलेवर के साथ उस जीवित शरीर को भी गीध आदि नोंचकर मार डालते हैं। उस स्थिति में जो मरण होता है वह गृद्धपृष्ठमरण है।

(१५) भक्तप्रत्याख्यानमरण[4]

यावज्जीवन के लिए त्रिविध और चतुर्विध आहार के त्यागपूर्वक जो मरण होता है वह भक्त प्रत्याख्यानमरण है।

मूलाराधना में इसका नाम 'भक्त पयिण्णा' है और विजयोदया में 'भक्तप्रतिज्ञा' है।

(१६) इंगिणीमरण[5]

प्रतिनियत स्थान पर अनशनपूर्वक मरण को इंगिणीमरण कहा है। इस मरण में साधक अपनी शुश्रूषा स्वयं कर सकता है पर दूसरे श्रमणों से सेवा ग्रहण न करे,

---

१. उत्तराध्ययननिर्युक्ति २८३

२. (क) भगवती २-१, पत्र २५२ (ख) उत्तरा. नि., गा. २२४

३. (क) भगवती २-१ (ख) उत्तरा. नि. २२४

४. (क) भगवती २-१ (ख) उत्तरा. नि., गाथा २३५
(ग) मूलाराधना, गाथा २९, पत्र ११३ (घ) विजयोदया, पत्र ११३

५. (क) मूला. विजयो., पत्र ११३
(ख) सयमेव अप्पणो सो करेदि आउंटणादि किरियाओ।
उच्चारादीणि तधा सयमेव विकिंदि चे विधिणा॥ —मूला., आ. ८, गा. २०४२

उसे भी इंगिणीमरण कहा है। इस मरण में चतुर्विध आहार का परित्याग आवश्यक होता है।

(१७) पादपोपगमनमरण[1]

वृक्ष के नीचे स्थिर अवस्था में चतुर्विध आहार के त्यागपूर्वक जो मरण होता है वह पादपोपगमनमरण है। पादपोपगमन को ही दिगंबर ग्रंथों में 'प्रायोपगमन'[2] कहा है। जो अपनी परिचर्या स्वयं न करे और न दूसरों से करवावे ऐसे संन्यास-मरण को प्रायोपगमन अथवा प्रायोपवेशमरण कहते हैं।

पादोपगमन[3] अपने पैरों से चलकर योग्य प्रदेश में जाकर जो मरण किया जाता है, उसे पादोपगमनमरण कहा गया है। प्रस्तुत मरण को चाहने वाला श्रमण अपने शरीर की परिचर्या न स्वयं करता है और न दूसरों से ही करवाता है। प्रस्तुत मरण के लिए 'प्रायोग्ग'[4] अथवा 'पाउग्गमण' पाठ भी प्राप्त होता। भव के अन्त करने योग्य संहनन और संस्थान को प्रायोग्ग कहा है। विशिष्ट संहनन और संस्थान वाले ही इस मरण को वरण करते हैं।

भगवतीसूत्र[5] में पादपोपगमन के निर्हारी और अनिर्हारी ये दो भेद बताये हैं। निर्हारी उपाश्रय में मृत्यु को वरण करने वाले श्रमण के शरीर को उपाश्रय से बाहर निकाला जाता है। इसलिए उस मरण को निर्हारी कहते हैं। अनिर्हारी अरण्य में अपने शरीर का परित्याग करने वाले श्रमण के शरीर को बाहर ले जाना नहीं पड़ता, इसलिए उसे अनिर्हारी मरण कहा गया है।

प्रायोपगमन अनशन करने वाला साधक अपने शरीर को इतना कृश कर लेता है कि उसके मल-मूत्र आदि होते ही नहीं।[6] वह अनशन करते समय जहाँ अपने शरीर को टिका देता है वहीं पर वह स्थिर भाव से स्थित हो जाता है। इस तरह वह निष्प्रतिकर्म होता है। वह अचल होता है, अतः अनिर्हार होता है। यदि कोई अन्य व्यक्ति उसे उठाकर दूसरे स्थान पर रख देता है तो भी स्वयंकृत चालन की अपेक्षा वह निर्हारी ही रहता है।[7]

सविचारी और अविचारी, निर्हारी और अनिर्हारी ये शब्द श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में व्यवहृत हुए हैं किन्तु दोनों ही परम्पराओं में इनके

---

१. (क) भगवती २-१, पत्र २५२
(ख) समवायांग, समवाय १७, पत्र ३३
(ग) उत्तरा. नि., गा. २२५
(घ) औपपातिकवृत्ति, पत्र ७१

२. (क) गोम्मटसार, गाथा ६१
(ख) मू.,आ. ८, गा. २०६३

३. मू. आ. वि., पत्र ११३
४. विज., ११३
५. भगवतीसूत्र २-१, पत्र २५२
६. मूला. ८, गा. २०६५
७. मू.,आ. ८, गा. २०६८-२०७०

अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। जैसे श्वेताम्बर में सविचार का अर्थ गमनागमन सहित है[१] तो दिगंबर में अर्हलिंग आदि विकल्प सहित है[२] श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार अविचार[३] का अर्थ गमनागमनरहित है तो दिगंबर के अनुसार[४] अर्हलिंग आदि विकाररहित है। श्वेताम्बर में निर्हारी[५] का अर्थ है–उपाश्रय के एक स्थान में जिसमें मृत्यु के पश्चात् शरीर को निर्हरण किया जाय, और दिगंबर में स्वगण का त्यागकर पर-गण में जा सके वह निर्हारी है। श्वेताम्बर में अनिर्हारी[६] का अर्थ है गिरि गुफा आदि में जिसमें मृत्यु के पश्चात् निर्हरण करना आवश्यक हो, और दिगंबर[७] में स्व-गण का त्यागकर पर-गण में न जा सके वह।

आचार्य शिवकोटि ने प्रायोपगमन के वर्णन में, अनिर्हारी और निर्हारी का अर्थ अचल और चल भी किया है।[८]

भगवतीसूत्र में इंगिणी और भक्तप्रत्याख्यान को एक मानकर उनकी पृथक् व्याख्या की है।[९] किन्तु मूलाराधना[१०] में भक्तप्रत्याख्यान, इंगिणी और पादपोपगम' इन तीनों को पण्डितमरण का भेद माना है।

मरण के जो सत्रह प्रकार बताये हैं उनमें आवीचिमरण प्रतिपल-प्रतिक्षण होता है। वह सिद्धों के अतिरिक्त सभी संसारी प्राणियों में होता है। शेष मरण सभी संसारी जीवों में संभव हो सकते हैं।

मरण के दो प्रकार

उत्तराध्ययनसूत्र में मरण के दो प्रकार बताये हैं–अकाममरण और सकाममरण[११]। टीकाकार ने अकाममरण का अर्थ विवेकरहित मरण किया है और सकाममरण को चारित्र और विवेकयुक्त मरण कहा है। अकाममरण पुनः-पुनः होता है[१२], किन्तु सकाममरण जीवन में एक बार होता है। पंडितमरण एक बार होता है, इसका तात्पर्य है कि साधक कर्म क्षय कर मृत्यु को ऐसे वरण करता है जिससे पुनः मृत्यु प्राप्त न हो। 'मरण विभक्ति' में कहा है–तुम ऐसा मरण मरो जिससे मुक्त बन जाओ।[१३]

---

१. उत्तरा. वृ., पृ. ६०२
२. मू.,आ. २, गा. ६५ विज.
३ उत्तरा. वृ., पृ. ६०२
४. (क) मूला.,आ. २, गा. ६५ विज.
(ख) मू.,आ. ७, गा. २०१५ वृत्ति
५. स्थानांगवृत्ति २-१०२
६. वही २-१०२
७. मू.,आ. ७, गा. २०१५
८. मू.,आ. ८, गा. २०६९
९. भगवतीसूत्र ९-१, पत्र २५३
१०. पायोपगमण मरणं भत्त पइण्णा य इंगिणी चेव।
तिविहं पंडियमरणं साहुस्स जहुत्त चालिस्स॥ –मूला. २९
११. उत्त.,अ. ५, ३-४
१२. वही, अ. ५, ३-४
१३. तं मरणं मरियव्वं चेणमओ मुक्कओ होई।
–मरणविभक्ति, प्रकरण १०-२४५

जिस मरण में विषय वासना की प्रबलता हो, कषाय की आग धधककर सुलग रही हो, विवेक की ज्योति लुप्त हो चुकी हो, हीन भावनाएँ पनप रही हों, वह बालमरण है।

सकाममरण के पंडितमरण और बालपंडितमरण–ये दो भेद किये हैं।[1] पंडितमरण और बालपंडितमरण–इन दोनों में मुख्य भेद पात्र का है। विषयविरक्त संयमी जीवों का मरण पंडितमरण है और श्रावक का मरण बालपंडितमरण है। बालपंडितमरण का भी अन्तर्भाव पंडितमरण के अन्तर्गत ही किया गया है क्योंकि दोनों प्रकार ही के मरण में साधक समाधिपूर्वक प्राणों का परित्याग करता है।

स्थानांग[2] में प्रशस्तमरण के पादपोपगमन और भक्तप्रत्याख्यान ये दो मरण बताये हैं। भगवती[3] में भी आर्य स्कन्धक के प्रसंग में पण्डितमरण के दो प्रकार बताये हैं। उत्तराध्ययन की प्राकृत टीका[4] में पण्डितमरण के तीन प्रकार और पाँच भेद बताये हैं भक्तपरिज्ञामरण, इंगिणीमरण और पादोपगमनमरण, छद्मस्थमरण और केवलीमरण।

भक्तप्रत्याख्यान और इंगिणीमरण में यह अन्तर है कि भक्तप्रत्याख्यान में साधक स्वयं अपनी शुश्रूषा करता है और दूसरों से भी करवाता है। वह त्रिविध आहार का भी त्याग करता है और चतुर्विध आहार का भी त्याग करता है। अपनी इच्छा से जहाँ भी जाना चाहे जा सकता है। किन्तु इंगिणीमरण में चतुर्विध आहार का त्याग होता है, वह नियत प्रदेश में ही इधर-उधर जा सकता है, उसके बाहर नहीं जा सकता। वह दूसरों से शुश्रूषा भी नहीं करवा सकता है।

शान्त्याचार्य[5] ने निर्हारी और अनिर्हारी ये दो भेद पादपोपगमन के बताये हैं, किन्तु स्थानांग[6] में भक्तप्रत्याख्यान के भी दो भेद किये हैं।

आचार्य शिवकोटि[7] ने भक्तप्रत्याख्यान के सविचार और अविचार दो भेद माने हैं। जिस श्रमण के मन में उत्साह है, तन में बल है, जिसकी मृत्यु शीघ्र होने वाली नहीं है, उस श्रमण के भक्तप्रत्याख्यान को सविचार[8] कहा जाता है। आचार्य ने इस सम्बन्ध में चालीस (४०) प्रकरणों के द्वारा विस्तार से विश्लेषण किया है। मृत्यु की आकस्मिक संभावना होने पर जो साधक भक्तप्रत्याख्यान करता है, वह अविचार

---

१. उत्तरा. ५
२. स्थानांग २, ३, ४
३. भगवती २-१
४. उत्तरा. प्राकृत टीका ५
५. उत्तरा. शान्त्याचार्य टीका
६. स्थानांग २
७. मूला., आश्वास २, गाथा ६५
८. वही, आ. २, गा. ६५

भक्तप्रत्याख्यान[1] है। अविचार भक्तप्रत्याख्यान के (१) निरुद्ध, (२) निरुद्धतर, और (३) परम निरुद्ध ये तीन प्रकार हैं।

निरुद्ध

जिस श्रमण के शरीर में व्याधि हो, और वह आतंक से पीड़ित हो, जिसके पैरों की शक्ति क्षीण हो चुकी हो, दूसरे गण में जाने में असमर्थ हो, उस श्रमण का भक्त-प्रत्याख्यान निरुद्ध अविचार भक्तप्रत्याख्यान कहलाता है।[2] जब तक उसके शरीर में शक्ति का संचार हो, वह स्वयं अपना कार्य करने में सक्षम हो वहाँ तक वह अपना कार्य स्वयं करे और जब वह असमर्थ हो जाय तब अन्य श्रमण उसकी शुश्रूषा करें।[3] पैरों का सामर्थ्य क्षीण हो जाने से दूसरे गण में जाने में असमर्थ होने के कारण जो श्रमण अपने गण में ही निरुद्ध रहता है, एतदर्थ उसके भक्तप्रत्याख्यान को अनिर्हारी भी कहा गया है।[4] निरुद्ध के जनज्ञात और जनअज्ञात[5] ये दो प्रकार हैं।

निरुद्धतर

जहरीले सर्प के काट खाने पर, अग्नि आदि का प्रकोप होने पर तथा ऐसे मृत्यु के अन्य तात्कालिक कारण उपस्थित होने पर उसी क्षण जो भक्तप्रत्याख्यान किया जाता है, वह निरुद्धतर है।[6] अथवा ऐसा कोई कारण उपस्थित हो जाय जिससे शारीरिक शक्ति एकदम क्षीण हो जाय तो उसका अनशन निरुद्धतर कहलाता है। यह अनिर्हारी होता है।[7]

परम निरुद्ध

सर्पदंश या अन्य कारणों से जब वाणी अवरुद्ध हो जाती है उस स्थित में भक्तप्रत्याख्यान को परम निरुद्ध[8] कहा है।

आचार्य शिवकोटि द्वारा प्रतिपादित भक्तप्रत्याख्यान के निरुद्ध और परम निरुद्ध की तुलना औपपातिक में आये हुए पादोपगमन और भक्तप्रत्याख्यान के व्याघात सहित से की जा सकती है। औपपातिकवृत्ति में व्याघात का अर्थ किया है– सिंह, दावानल प्रभृति व्याघात उपस्थित होने पर किया जाने वाला अनशन[9]।

---

१. मूला. आ. ७, गा. २०११
२. वही, आ. ७, गा. २०१३
३. वही, आ. ७ गा. २०१४
४. वही, आ. ७ गा. २०१५
५. वही, आ. ७ गा. २०१६
६. वही, आ. ७, गा. २०१५
७. मूला. आ. ७ गा. २०२१
८. वही. आ. ७, गा. २०२२
९. औपपातिक वृत्ति, पृ. ७१– व्याघातवत्–सिंहादावानलाद्याभिभूतो यत्प्रतिपद्यते।

औपपातिक की दृष्टि से पादोपगमन और भक्तप्रत्याख्यान ये दोनों अनशन व्याघात-सहित और व्याघातरहित दोनों ही स्थितियों में होते हैं। सूत्रकृतांग की दृष्टि से शारीरिक बाधा उत्पन्न हो या न हो तब भी अनशन करने का विधान है।

प्रकारान्तर से पण्डितमरण के सागारी संथारा और सामान्य संथारा ये दो प्रकार किये जा सकते हैं। विशेष आपत्ति समुपस्थित होने पर जो संथारा ग्रहण किया जाता है, वह सागारी संथारा है। वह संथारा मृत्यु-पर्यन्त के लिए नहीं होता, जिस परिस्थिति के कारण संथारा किया जाता है वह परिस्थिति यदि समाप्त हो जाती है, आपत्ति के बादल छँट जाते हैं तो उस व्रत की मर्यादा भी पूर्ण हो जाती है। अन्तकृद्दशांगसूत्र में वर्णन है। भगवान महावीर राजगृह नगर के बाहर पधारे। श्रावक सुदर्शन उनके दर्शन हेतु प्रस्थित हुआ। अर्जुन मालाकार, जो यक्ष से आविष्ट था, वह मुद्गर घुमाता हुआ श्रेष्ठी सुदर्शन की ओर लपका। उस समय सुदर्शन श्रेष्ठी ने सागारी संथारा किया और उस कष्ट से मुक्त होने पर उसने पुनः अपनी सम्पूर्ण क्रियाएँ कीं। यह सामान्य संथारा है। इसमें आगार रहता है।[1]

संथारा पोरसी

जैन परम्परा में सोते समय जब मानव की चेतना-शक्ति धुँधली पड़ जाती है, शरीर निश्चेष्ट हो जाता है, वह एक प्रकार से अल्पकालीन मृत्यु ही है। उस समय साधक अपनी रक्षा का किंचित् मात्र भी प्रयास नहीं कर सकता, अतः प्रतिदिन रात्रि में सोते समय सागारी संथारा करने का विधान है, जिसे 'संथारा पोरसी' कहते हैं। सोने के पश्चात् पता नहीं प्रातःकाल सुखपूर्वक उठ सकेगा या नहीं। इसीलिए प्रतिपल-प्रतिक्षण सावधान रहने का शास्त्रकारों ने सन्देश दिया है। मोह की प्रबलता में मृत्यु को न भूला जाय। उसे प्रतिक्षण याद रखा जाय। ममता भाव से मुड़कर समता भाव में रमण किया जाय, बाह्य जगत् से हटकर अन्तर् जगत् में प्रवेश किया जाय। सोते समय यदि विशुद्ध भावना रहती है तो स्वप्न में भी विचार विशुद्ध रहते हैं। इसीलिए साधक सोते समय 'संथारा पोरसी' करता है।

संथारा या पण्डितमरण एक महान् कला है। मृत्यु को मित्र मानकर साधक उसके स्वागत की तैयारी करता है। वह अपने जीवन का अन्तर्निरीक्षण करता है। उसका मन स्फटिक की तरह उस समय निर्मल होता है। पण्डितमरण को समाधिमरण भी कहते हैं। संथारा ग्रहण करने के पूर्व साधक संलेखना करता है। संलेखना संथारे के पूर्व की भूमिका है। संलेखना के पश्चात् जो संथारा किया जाता है उसमें अधिक निर्मलता और विशुद्धता होती है।

---

१. अन्तकृद्दशांग ३

संलेखना का महत्त्व

श्रमण और श्रावक दोनों के लिए संलेखना आवश्यक मानी गई है। श्वेतांबर परम्परा में 'संलेखना' शब्द का प्रयोग हुआ है तो दिगंबर परम्परा में 'सल्लेखना' शब्द का। संलेखना व्रतराज है। जीवन की अन्तिम वेला में की जाने वाली एक उत्कृष्ट साधना है। जीवनभर कोई साधक उत्कृष्ट तप की साधना करता रहे, पर अन्त समय में यदि वह राग-द्वेष के दलदल में फँस जाये[1] तो उसका जीवन निष्फल हो जाता है। उसकी साधना विराधना में परिवर्तित हो जाती है। आचार्य शिवकोटि ने तो यहाँ तक लिखा है-ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप धर्म में चिरकाल तक निरतिचार प्रवृत्ति करने वाला मानव यदि मरण के समय धर्म की विराधना कर बैठता है तो वह संसार में अनन्त काल तक परिभ्रमण करता है।[2]

संलेखना : जीवन की अन्तिम साधना

संलेखना मन की उच्चतम आध्यात्मिक दशा का सूचक है। संलेखना मृत्यु का आकस्मिक वरण नहीं है और न वह मौत का आह्वान ही है, वरन् जीवन के अन्तिम क्षणों में सावधानीपूर्वक चलना है। वह मृत्यु का मित्र की तरह आह्वान करता है-मित्र ! आओ, मैं तुम्हारा स्वागत करता हूँ। मुझे शरीर पर मोह नहीं है। मैंने अपने कर्तव्य को पूर्ण किया है। मैंने अगले जन्म के लिए सुगति का मार्ग ग्रहण कर लिया है।[3] संलेखना जीवन की अन्तिम आवश्यक साधना है। वह जीवन मन्दिर का सुन्दर कलश है। यदि संलेखना के बिना साधक मृत्यु का वरण करता है तो उसे कदापि उचित नहीं माना जा सकता।

संलेखना को एक दृष्टि से स्वेच्छा-मृत्यु कहा जा सकता है। जब वैराग्य का तीव्र उदय होता है। तब साधक को शरीर और अन्य पदार्थ में बन्धन की अनुभूति होती है। वह बन्धन को समझकर उससे मुक्त बनना चाहता है।

महाराष्ट्र के सन्त कवि ने कहा है-"माझे मरण पाही एले डोला तो झाला सोहला अनुपम्य।" मैंने अपनी आँखों से मृत्यु को देख लिया, यह अनुपम महोत्सव है।

वह मृत्यु को आमंत्रित करता है, पर मृत्यु से भयभीत नहीं होता। जैसे कबूतर पर बिल्ली झपटती है तब कबूतर आँखें मूँद लेता है और वह सोचता है अब

---

१. अन्तक्रियाधिकरणं तपः फलं सकलदर्शिनः स्तुवते।
तस्माद्यावद्विभवं समाधिकरणे प्रयतितव्यम्॥ -समन्तभद्र, *समीचीन धर्मशास्त्र* ६-२

२. भगवती आराधना, गाथा १५

३. लहिओ सुग्गइ मग्गो नाहं मुच्चस्स वीहेमी।

बिल्ली झपटेगी नहीं। आँखें मूँद लेने मात्र से बिल्ली कबूतर को छोड़ती नहीं है। इसी तरह यमराज भी मृत्यु को भुला देने वाले को छोड़ता नहीं है। वह तो अपना हमला करता ही है। अतः साधक कायर की भाँति मुँह नहीं मोड़ता अपितु वीर सेनानी की तरह मुस्कराते हुए मृत्यु का स्वागत करता है।

संलेखना : मृत्यु पर विजय पाने की कला

संलेखना मृत्यु पर विजय प्राप्त करने की कला सिखाती है। वह जीवन-शुद्धि और मरण-शुद्धि की एक प्रक्रिया है। जिस साधक ने मदन के मद को गलित कर दिया है जो परिग्रह पंक से मुक्त हो चुका है, सदा सर्वदा आत्म-चिन्तन में लीन रहता है वही व्यक्ति उस मार्ग को अपनाता है। संलेखना में सामान्य मनोबल वाला साधक, विशिष्ट मनोबल प्राप्त करता है। उसकी मृत्यु असमाधि का नहीं, समाधि का कारण है। एक सन्त कवि ने कहा है—जैसे कोई वधू डोले पर बैठकर ससुराल जा रही हो[1] तब उसके मन में अपार आह्लाद होता है, वैसे ही साधक को भी परलोक जाते समय अपार प्रसन्नता होती है।

संलेखना और समाधिमरण

संलेखना और समाधिमरण—ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में प्रथम संलेखना का लक्षण बताया है और द्वितीय श्लोक में समाधिमरण का। आचार्य शिवकोटि ने 'सल्लेखना' और समाधिमरण को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है। आचार्य उमास्वाति ने श्रावक और श्रमण दोनों के लिए संलेखना का प्रतिपादन कर संलेखना और समाधिमरण का भेद मिटा दिया है। आचार्य कुन्दकुन्द समाधिमरण श्रमण के लिए मानते हैं और संलेखना गृहस्थ के लिए।

संलेखना क्या शिक्षाव्रत है?

श्रावक के द्वादश व्रतों में जो चार शिक्षाव्रत हैं उनमें आचार्य कुन्दकुन्द ने संलेखना को चौथा शिक्षाव्रत माना है।[2] आचार्य कुन्दकुन्द का अनुसरण करते हुए शिवार्यकोटि, आचार्य देवसेन, आचार्य जिनसेन, आचार्य वसुनन्दि आदि ने संलेखना को चतुर्थ शिक्षाव्रत में सम्मिलित किया है। किन्तु आचार्य उमास्वाति ने संलेखना को श्रावक के द्वादश व्रतों में नहीं गिना है। उन्होंने संलेखना को अलग

---

१. सजनि ! डोले पर हो जा सवार। लेने आ पहुँचे हैं कहार।

२. सामाइयं च पढमं विदियं च तहेव पोसहं भणियं।
वइयं अतिहिपुज्जं चउत्थ संलेहणा अन्ते॥ —*चारित्र पाहुड, गाथा २६*

नियम व धर्म के रूप में प्रतिपादन किया है। आचार्य समन्तभद्र, पूज्यपाद, आचार्य अकलंक, विद्यानन्दी, आचार्य सोमदेव, अमितगति, स्वामी कार्तिकेय प्रभृति अनेक आचार्यों ने आचार्य उमास्वाति के कथन का समर्थन किया है। इस सभी आचार्यों ने एक स्वर से इस सत्य-तथ्य को स्वीकार किया है कि शिक्षाव्रतों में संलेखना को नहीं गिनना चाहिए क्योंकि शिक्षाव्रतों में अभ्यास किया जाता है। जबकि संलेखना मृत्यु का समय उपस्थित होने पर स्वीकार की जाती है; उस समय अभ्यास के लिए अवकाश ही कहाँ है? यदि द्वादश व्रतों में संलेखना को गिनेंगे तो फिर एकादश प्रतिमाओं को धारण करने का अवसर ही कहाँ रहेगा इसलिए उमास्वाति का मानना उचित है।

श्वेताम्बर जैन आगम साहित्य और आगमेतर साहित्य में कहीं पर भी संलेखना को द्वादश व्रतों में नहीं गिना है। इसलिए समाधिमरण श्रमण के लिए और संलेखना गृहस्थ के लिए है यह कथन युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि आगम साहित्य में अनेक श्रमण-श्रमणियों के द्वारा संलेखना ग्रहण करने के प्रमाण समुपलब्ध होते हैं।

संलेखना की व्याख्या

आचार्य अभयदेव ने 'स्थानांगवृत्ति'[1] में संलेखना की परिभाषा करते हुए लिखा है–जिस क्रिया के द्वारा शरीर एवं कषाय को दुर्बल और कृश किया जाता है, वह संलेखना है। 'ज्ञातासूत्र' की वृत्ति[2] में भी इसी अर्थ को स्वीकार किया है। 'प्रवचनसारोद्धार'[3] में "शास्त्र में प्रसिद्ध चरम अनशन की विधि को संलेखना कहा है।" निशीथचूर्णि व अन्य स्थलों पर संलेखना का अर्थ छीलना–कृश करना किया है।[4] शरीर को कृश करना द्रव्य-संलेखना है और कषाय को कृश करना भाव-संलेखना है।

संलेखना यह 'सत्' और 'लेखना' इन दोनों के संयोग से बना है। सत् का अर्थ है सम्यक् और 'लेखना' का अर्थ है कृश करना। सम्यक् प्रकार से कृश करना। जैन दृष्टि से काय और कषाय को कर्मबन्धन का मूल कारण माना है,

---

१. संलिख्यतेऽनया शरीर कषायादि इति संलेखना। –*स्थानांग २, उ. २ वृत्ति*

२. कषाय शरीर कृशतायाम्। –*ज्ञाता. १-१ वृत्ति*

३. आगमोक्तविधिना शरीराद्यपकर्षणम्। –*प्रवचनसारोद्धार १३५*

४. (क) संलेखनं-द्रव्यतः शरीरस्थभावतः कषायाणांकृशताऽपादनं संलेखसंलेखनेति।
–*बृहद्वृत्ति पत्र*

(ख) मूला. ३-१०८–मूला. दर्पण, पृ. ४२५

इसीलिए उसे कृश करना ही संलेखना है। आचार्य पूज्यपाद[1] ने और आचार्य श्रुतसागर[2] ने काय व कषाय को कृश करने पर बल दिया है। श्री चामुण्डराय ने 'चारित्रसार' में लिखा है–बाहरी शरीर का और भीतरी कषायों का क्रमशः उनके कारणों को घटाते हुए सम्यक् प्रकार से क्षीण करना संलेखना है।[3]

पूर्व पृष्ठों में हमने मरण के दो भेद बताये हैं–नित्यमरण और तद्भवमरण। तद्भवमरण को सुधारने के लिए संलेखना का वर्णन है। आचार्य उमास्वाति ने लिखा है–मृत्यु काल आने पर साधक को प्रीतिपूर्वक संलेखना धारण करनी चाहिए।[4] आचार्य पूज्यपाद[5], आचार्य अकलंक[6] और आचार्य श्रुतसागर[7] ने **मारणांतिकी संलेखना जोषिता'** में जोषिता का अर्थ 'प्रीतिपूर्वक' किया है। जिस संलेखना में प्रीति का अभाव है, वह संलेखना सम्यक् संलेखना नहीं है। जब कभी मृत्यु पीछा करती है उस समय सामान्य प्राणी की स्थिति अत्यन्त कातर होती है, जैसे शिकारी द्वारा पीछा करने पर हरिणी घबरा जाती है। इसके विपरीत वीर योद्धा पीछा करने वाले योद्धाओं से घबराता नहीं, आगे बढ़कर उनसे जूझता है; वह जैसे-तैसे जीवन जीना पसन्द नहीं करता, किन्तु दुर्गुणों को नष्ट कर जीवन जीना चाहता है। एक क्षण भी जीऊँ, किन्तु प्रकाश करते हुए जीऊँ–यही उसके अन्तर्हृदय की आवाज होती है। जो साधक जीवन के रहस्य को नहीं पहचानता है और न मृत्यु के रहस्य को ही पहचानता है, उसका निस्तेज जीवन एक प्रकार से व्यक्तित्व का मरण ही है।[8]

संलेखना के साथ मारणांतिक विशेषण प्रयुक्त होता है। इससे अन्य तपःकर्म से संलेखना का पार्थक्य और वैशिष्ट्य परिज्ञात होता है।

काय संलेखना को बाह्य संलेखना कहते हैं और कषाय संलेखना को आभ्यन्तर संलेखना। बाह्य संलेखना में आभ्यन्तर कषायों को पुष्ट करने वाले कारणों को वह शनैः-शनैः कृश करता है। इस प्रकार संलेखना में कषाय क्षीण होने से तन क्षीण होने पर भी मन में अपूर्व आनन्द रहता है।

---

१. सम्यक्कायकषायलेखना। –*तत्त्वार्थसर्वार्थसिद्धि ७-२२ का भाष्य, पृ. ३६३*

२. सत् सम्यक्लेखना कायस्य कषायाणां च कृशीकरणं तनूकरणं।
–*तत्त्वार्थवृत्ति ७-२२ भाष्य, पृ. २४६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी*

३. बाह्यस्य कायस्याभ्यन्तराणां कषायाणां तत्कारणहायनयाक्रमेण सम्यक्लेखना संलेखना ॥२२॥

४. तत्त्वार्थसूत्र ७-२२

५. तत्त्वार्थसर्वार्थसिद्धि ७-२२, पृ. ३६३

६. तत्त्वार्थराजवार्तिक ७-२२

७. तत्त्वार्थ श्रुतसागरीया, वृत्ति ७-२२

८. यज्जीवति तन्मरणं, यन्मरणं सास्य विश्रान्ति।

संलेखना में शरीर और कषाय को साधक इतना कृश कर लेता है जिससे उसके अन्तर्मानस में किसी भी प्रकार की कामना नहीं होती। उसके अनशन में पूर्ण रूप से स्थैर्य आ जाता है। अनशन से शरीर क्षीण हो सकता है, पर आयुकर्म क्षीण न हो और वह सबल हो तो अनशन दीर्घ काल तक चलता है, जैसे दीपक में तेल और बाती का एक साथ ही क्षय होने से दीपक बुझता है वैसे ही आयुष्यकर्म और देह एक साथ क्षय होने से अनशन पूर्ण होता है।

संलेखना कब करनी चाहिए ?

आचार्य समन्तभद्र[1] ने लिखा है प्रतीकाररहित असाध्य दशा को प्राप्त हुए उपसर्ग, दुर्भिक्ष, जरा व रुग्ण स्थिति में या अन्य किसी कारण के उपस्थित होने पर साधक संलेखना करता है।

मूलाराधना[2] में संलेखना के अधिकारी का वर्णन करते हुए सात मुख्य कारण दिये हैं--

(१) दुश्चिकित्स्यव्याधि–संयम को परित्याग किये बिना जिस व्याधि का उपचार करना सम्भव नहीं हो, ऐसी स्थिति समुत्पन्न होने पर ।

(२) वृद्धावस्था–जो श्रमण-जीवन की साधना करने में बाधक हो।

(३) मानव, देव और तिर्यंच सम्बन्धी कठिन उपसर्ग उपस्थित होने पर।

(४) चारित्र विनाश के लिए अनुकूल उपसर्ग उपस्थित किये जाते हों।

(५) भयंकर दुकाल में शुद्ध भिक्षा प्राप्त होना कठिन हो रहा हो।

(६) भयंकर अटवी में दिग्विमूढ़ होकर पथभ्रष्ट हो जाय।

(७) देखने की शक्ति व श्रवणशक्ति और पैर आदि से चलने की शक्ति क्षीण हो जाय।

इस प्रकार अन्य कारण भी उपस्थित हो जाने पर साधक अनशन का अधिकारी होता है।

वैदिक परम्परा और संलेखना

वैदिक परम्परा में संलेखना के ही अर्थ में। 'प्रायोपवेशन', 'प्रायोपवेश', 'प्रायोपगमन', 'प्रायोपवशानका' शब्द व्यवहृत हुए हैं जिनका अर्थ है वह अनशन

१. उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः संलेखनामार्याः॥ —*समीचीन धर्मशास्त्र, ६-१, पृ. १६०*

२. मूलाराधना २, ७१-७४

व्रत जो प्राण त्यागने के लिए किया जाय; अन्न-जल त्याग करके बैठना।[1] वी. एस. आप्टे के शब्दकोष में 'प्रायोपवेशन' में अन्न-जल त्याग की स्थिति और मृत्यु की प्रतीक्षा पर बल दिया है।[2] पर मानसिक स्थिति के सम्बन्ध में कुछ भी चिन्तन नहीं है। जबकि संलेखना में केवल अन्न-जल त्यागना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु अन्न-जल के त्याग के साथ विवेक, संयम और शुभसंकल्प आदि अत्यन्त आवश्यक हैं। 'प्रायोपगमन' या 'पादोपगमन' एक सदृश शब्द होने पर भी दोनों में गहन अन्तर है। प्रथम का सीधा सम्बन्ध शरीर से है तो दूसरे का सम्बन्ध मानसिक विशुद्धि से है। मानसिक विशुद्धि होने पर शारीरिक स्थिरता स्वाभाविक रूप से आ सकती है।

वैदिक पुराणों में प्रायोपवेशन की विधि का उल्लेख है। मानव से जब किसी प्रकार का कोई महान् पाप कार्य हो जाय या दुश्चिकित्स्य महारोग के उत्पीड़ित होने से देह के विनाश का समय उपस्थित हो जाय, तब ब्रह्मत्व की उपलब्धि के लिए या स्वर्ग आदि के लिए प्रदीप्त अग्नि में प्रवेश करे अथवा अनशन से देह का परित्याग करे। प्रस्तुत अधिकार सभी वर्ण वालों के लिए है। इस विधान में पुरुष और नारी का भी भेद नहीं है।[3]

प्रायोपवेशन का अर्थ अनशनपूर्वक 'मृत्यु का वरण करना' किया गया है।[4] प्रायोपवेशन शब्द में दो पद हैं–'प्राय' और 'उपवेशन'। 'प्राय' का अर्थ है 'मरण के लिए'[5] अनशन' और 'उपवेशन' का अर्थ है 'स्थित होना'।[6]

---

१. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृ. ११३०

२. "Sitting down and abstaining from food thus awaiting the approach of death."

३. समासक्तो भवेद्यस्तु पातकैर्महदादिभिः।
दुश्चिकित्स्यैर्महारोगैः पीड़ितो व भवेत्तुयः।
स्वयं देहविनाशस्य काले प्राप्ते महामतिः।
आब्रह्माणं वा स्वर्गादिमहाफलजिगीषया।
प्रविशेज्ज्वलनं दीप्तं कुर्यादनशनं तथा।
एतेषामधिकारोऽस्ति नान्येषां सर्वजन्तुषु।
नराणामथनारीणां सर्ववर्णेषु सर्वदा॥ —रघुवंश के ८-९४ श्लोक पर मल्लिनाथ टीका

४. प्रायेण मृत्युनिमित्तक अनशनेन उपवेशः स्थिति संन्यास पूर्वकानशन स्थितिः।
—शब्द कल्पद्रुम, पृ. ३६४

५. प्रायश्चानशने मृत्यौ तुल्यबाहुल्ययोरपि इति विश्वः। प्रकृष्टभयनम् इति प्रायः, प्र + अय् + घञ्, मर अर्थमनशनम्। —हलायुधकोश, सूचना प्रकाशन ब्यूरो, उ. प्र.

६. प्रायोपवेशनेऽनशनावस्थाने। —मल्लिनाथ

प्रायोपवेशन किसी तीर्थ स्थान में करने का उल्लेख प्राप्त होता है। महाकवि कालिदास ने तो रघुवंश में स्पष्ट कहा है–'योगेनान्ते तनुत्यजां।'[1] वाल्मीकि रामायण में सीता की अन्वेषणा के प्रसंग में प्रायोपवेशन का वर्णन प्राप्त होता है। जब सुग्रीव द्वारा भेजे गये वानर सीता की अन्वेषणा करने में सफल न हो सके तब अंगद ने उनसे कहा कि हमें प्रायोपवेशन करना चाहिए।[2]

राजा परीक्षित के भी प्रायोपवेशन ग्रहण करने का वर्णन श्रीमद्भागवत में मिलता है।[3] महाभारत, राजतरंगिणी और पंचतन्त्र में भी प्रायोपवेशन का उल्लेख संप्राप्त होता है। रामायण में 'प्रायोपवेशन' के स्थान पर 'प्रायोपगमन' तथा चरक में 'प्रायोपयोग' अथवा 'प्रायोपेत' शब्द व्यवहृत हुए हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में मृत्युवरण में योग की प्रधानता स्वीकार की है।[4]

इस प्रकार वैदिक परम्परा में भी प्रायोपवेशन जीवन की एक अन्तिम विशिष्ट साधना रही है।

आचारांग[5] में संलेखना के सम्बन्ध में बताया है कि जब श्रमण को यह अनुभव हो कि उसका शरीर ग्लान हो रहा है, वह उसे धारण करने में असमर्थ है तब वह क्रमशः आहार का संकोच करे, आहार संकोच करके शरीर को कृश करे।

संलेखना की विधि

संलेखना का उत्कृष्ट काल १२ वर्ष का माना गया है। मध्यम काल एक वर्ष का है और जघन्य काल छह महीने का।[6] 'प्रवचनसारोद्धार' में उत्कृष्ट संलेखना का

---

१. रघुवंश १-८

२. इदानीमकृतार्थानां मर्तव्यं नात्र संशयः।
हरिराजस्य संदेशमकृत्वा कः सुखी भवेत् ॥१२॥
अस्मिन्नतीते काले तु सुग्रीवेण कृते स्वयम्।
प्रायोपवेशनं युक्तं सर्वेषां च वनौकसाम् ॥१३॥
अप्रवृत्ते च सीताया: पापमेव करिष्यति।
तस्मात्क्षममिहाद्यैव गन्तुं प्रायोपवेशनम् ॥१५॥
अहं वः प्रतिजानामि न गमिष्याम्यहं पुरीम्।
इहैव प्रायमासिष्ये श्रेयो मरणमेव मे ॥ –वाल्मीकि रामायण ४, ५५ १२

३. (क) प्रायोपवेशः राजर्षेर्विप्रशापात् परीक्षितः। –भागवत, स्कंध १२
(ख) प्रायोपविष्टं गंगायां परीतं परमर्षिभिः।
–प्रायेण मृत्युपर्यन्तानशनेनोपविष्टम् इति तट्टीकायां–श्रीधर स्वामी
(ग) शब्द कल्पद्रुम, पृ. ३६४

४. श्रीमद्भगवद्गीता ८-१२, ८-१३, ८-५, ८-१०, ५-२३

५. आचारांग १-८-६७

६. सा जघन्या मध्यमा उत्कृष्टा च। –व्यवहारभाष्य २०३

स्वरूप प्रतिपादित करते हुए बताया है कि प्रथम चार वर्षों में चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम आदि तप की उत्कृष्ट साधना करता रहे और पारणे में शुद्ध तथा योग्य आहार ग्रहण करे। अगले चार वर्ष में उक्त विधि से विविध प्रकार से विचित्र तप करता रहे और पारणे में रसनिर्यूढ विगय का परित्याग कर दे। इस तरह आठ वर्ष तक तपःसाधना करता रहे। नौवें और दसवें वर्ष में उपवास करे तथा पारणे में आयंबिल तप की साधना करे। ग्यारहवें वर्ष के प्रथम छह मास में सिर्फ चतुर्थ भक्त, छट्ठ भक्त तप के साथ तप करे और पारणे में आयंबिल तप की साधना करे तथा आयंबिल में भी ऊनोदरी तप करे। अगले छह माह में उपवास, छट्ठ भक्त, अष्टम भक्त दशम भक्त प्रभृति तप करे किन्तु पारणे में आयंबिल तप करना आवश्यक है। इन छह माह में आयंबिल तप में ऊनोदरी तप करने का विधान नहीं है।[1]

संलेखना के बारहवें वर्ष के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों के विभिन्न मत रहे हैं। आचार्य जिनदासगणी महत्तर का अभिमत है कि बारहवें वर्ष में निरन्तर उष्ण जल के आगार के साथ हायमान आयंबिल तप करे। जिस आयंबिल में अन्तिम क्षण द्वितीय आयंबिल के आदि क्षण से मिल जाता है वह कोडीसहियं आयंबिल कहलाता है।[2] हायमान से तात्पर्य है निरन्तर भोजन और पानी की मात्रा न्यून करते जाना। वर्ष के अन्त में उस स्थिति पर पहुँच जाये कि एक दाना अन्न और एक बूँद पानी ग्रहण किया जाय। प्रवचनसारोद्धार की वृत्ति में भी प्रस्तुत क्रम का ही प्रतिपादन किया गया है।

बारहवें वर्ष में भोजन करते हुए प्रतिदिन एक-एक कवल कम करना चाहिए। एक-एक कवल कम करते-करते जब एक कवल आहार आ जाय तब एक-एक दाना कम करते हुए अन्तिम चरण में एक दाने को ही ग्रहण करे।[3] इस प्रकार अनशन की स्थिति पहुँचने पर साधक फिर पादपोपगमन अथवा इंगिणीमरण अनशन व्रत ग्रहण कर समाधिमरण को प्राप्त होवे।

उत्तराध्ययनवृत्ति[4] के अनुसार संलेखना का क्रम इस प्रकार है। प्रथम चार वर्ष में विकृति-परित्याग अथवा आयंबिल, द्वितीय चार वर्ष में विचित्र तप, उपवास,

---

१. चत्तारि विचित्ताइं विगइ निज्जूहियाइं चत्तारि।
संवच्छरे य दोन्नि एगंतरियं च आयाम ॥९८२॥
नाइ विगिट्ठो य तवो छम्मास परिमिअं च आयामं।
अवरे विय छम्मासे होई विगिट्ठं तवो कम्मं ॥९८३॥ —*प्रवचनसारोद्धार*

२. दुवालसयं वरिसं निरन्तरं हायमाण उसिणोदराण आयंबिलं करेइ तं कोडी सहियं भवइ जणेय विलस्स कोडी कोडीए मिलइ। —*निशीथचूर्णि*

३. द्वादशे वर्षे भोजनं कुर्वन् प्रतिदिनमेकैक कवल-हान्यातावदूनोदरतां करोति यावदेकं कवलमहारयति। —*प्रवचनसारोद्धार वृत्ति*

४. उत्तराध्ययन ३६, २५१-२५५

छट्ठ आदि पारणे में यथेष्ट भोजन[1] ग्रहण कर सकता है। नौवें और दसवें वर्ष में एकान्तर उपवास और पारणे में आयंबिल किया जाता है। ग्यारहवें वर्ष के प्रथम छह माह में अष्टम, दशम, द्वादश भक्त आदि की तपस्या की जाती है, जिसे विकृष्ट कहा है।[2] ग्यारहवें वर्ष में पारणे के दिन आयंबिल तप किया जाता है। प्रथम छह माह में आयंबिल में ऊनोदरी तप करते हैं।[3] और द्वितीय छह माह में आयंबिल के समय भर-पेट आहार ग्रहण किया जाता है।[4] बारहवें वर्ष में कोटि-सहित आयंबिल अर्थात् निरन्तर आयंबिल किया जाता है या प्रथम दिन आयंबिल और दूसरे दिन अन्य कोई तप किया जाता है, पुनः तीसरे दिन आयंबिल किया जाता है।[5] बारहवें वर्ष के अन्त में अर्धमासिक या मासिक अनशन भक्त, परिज्ञा आदि किया जाता है।[6]

जिनदास गणि क्षमाश्रमण के अभिमतानुसार संलेखना के बारहवें वर्ष में धीरे-धीरे आहार की मात्रा न्यून की जाती है, जिससे आहार और आयु एक साथ पूर्ण हो सकें। उस वर्ष अन्तिम चार महीनों में मुख-यन्त्र विसंवादी न हो अर्थात् नमस्कार महामन्त्र आदि के जप करने में असमर्थ न हो जाय, एतदर्थ कुछ समय के लिए मुँह में तेल भरकर रखा जा सकता है।[7]

दिगम्बर आचार्य शिवकोटि ने अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी, रसपरित्याग, कायक्लेश, प्रतिसंलीनता इन छह बाह्य तपों को बाह्य संलेखना का साधन माना है।[8] संलेखना का दूसरा क्रम यह भी है कि प्रथम दिन उपवास और द्वितीय दिन

---

१. द्वितीये वर्ष चतुष्के। 'विचित्रं तु' इति विचित्रमेव चतुर्थषष्ठाष्टमादिरूपं तपश्चरेत्, अथ च पारणके सम्प्रदायः–'उग्गमविसुद्ध' सव्वं कप्पणिज्जं पारेति। –*बृहद्वृत्ति, पत्र ७०६*

२. विकृष्टं-अष्टमदशमद्वादशादिकं तपः कर्म भवति। –*प्रवचनसारोद्धारवृत्ति, पत्र २५४*

३. पारणके तु परिमितं किंचिदूनोदरता सम्पन्नमाचाम्लं करोति। –*वही, पत्र २५४*

४. पारणके तु मा शीघ्रमेव मरणं यासिषमितिकृत्वा परिपूर्णप्राण्या आचाम्लं करोति, न पुनरूनोदरयेति। –*वही, पत्र २५४*

५. कोट्यो–अग्रे प्रत्याख्यानाद्यन्तकोणरूपे सहिते-मिलिते यस्मिंस्तत्कोटिसहितं, किं मुक्तं भवति? विवक्षितदिने प्रातराचाम्लं प्रत्याख्यान तच्चाहोरात्रं प्रतिपाल्यं, पुनर्द्वितीयेऽह्नि आचाम्लमेव प्रत्याचष्टे, ततो द्वितीयस्यारम्भ कोटिरादस्य तु पर्यन्त कोटिरूपे अपि मिलिते भवत इति तत्कोटि सहितमुच्यते, अन्येत्वाहुः–आचाम्लमेकस्मिन् दिने कृत्वा द्वितीय दिने च तथोदन्तरमनुष्ठाय पुनस्तृतीय दिन आचाम्लमेव कुर्वतः कोटि सहितमुच्यते।
–*बृहद्वृत्ति पत्र ने ७०६*

६. 'सवत्सरे' वर्षे प्रक्रमाद द्वादशे 'मुनिः साधुः' मास. क्षि सूत्रत्वान्मासं भूतो मासिकरतेनैवमार्द्धमासिकेन आहारेणेत्ति–उपलक्षण त्वादाहार त्यागेन, पाठान्तरतश्च क्षणेन तपः इति प्रस्तावाद् भक्त परिज्ञानादिकमनशनं 'चरेत'। –*वही, पत्र ७०६-७०७*

७. निशीथचूर्णि

८. (क) मूलाराधना ३, २०८ (ख) मूलाराधना दर्पण, पृ. २४५

वृत्तिपरिसंख्यान तप किया जाय।[1] बारह प्रकार की जो भिक्षु प्रतिमाएँ हैं उन्हें भी संलेखना का साधन माना गया है।[2]

काय-संलेखना के इन विविध विकल्पों में आयंबिल तप उत्कृष्ट साधन है। संलेखना करने वाला साधक छट्ठ, अष्टम, दशम, द्वादश आदि विविध तप करके पारणे में बहुत ही परिमित आहार ग्रहण करे, या तो पारणे में आयंबिल करे अथवा कांजी का आहार ग्रहण करे।[3]

मूलाराधना में भक्तपरिज्ञा का उत्कृष्ट काल बारह वर्ष का माना है।[4] उनकी दृष्टि से प्रथम चार वर्षों में विचित्र कायक्लेशों के द्वारा तन को कृश किया जाता है। उसमें कोई क्रम नहीं होता। दूसरे चार वर्षों में विकृतियों का परित्याग कर शरीर को कृश किया जाता है।[5] नौवें और दसवें वर्ष में आयंबिल और विगयों का त्याग किया जाता है। ग्यारहवें वर्ष में केवल आयंबिल किया जाता है। बारहवें वर्ष में प्रथम छह माह में अविकृष्ट तप, उपवास, बेला आदि किया जाता है।[6] बारहवें वर्ष के द्वितीय छह माह में विकृष्टतम तेला, चौला आदि तप किये जाते हैं।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में संलेखना के विषय में यत्किंचित् मतभेद है पर दोनों ही परम्पराओं का तात्पर्य एक सदृश है। मूलाराधना में आचार्य शिवकोटि ने लिखा है—संलेखना का जो क्रम प्रतिपादित किया गया है वही क्रम पूर्ण रूप से निश्चित हो, यह बात नहीं है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और शारीरिक संस्थान आदि की दृष्टि से उस क्रम में परिवर्तन भी किया जा सकता है।[7]

संलेखना में जो तपविधि का प्रतिपादन किया गया है, उससे यह नहीं समझना चाहिए कि तप ही संलेखना है। तप के साथ कषायों की मन्दता आवश्यक है। विगयों से निवृत्ति अनिवार्य है। तपःकर्म के साथ ही अप्रशस्त भावनाओं का परित्याग और प्रशस्त भावनाओं का चिन्तन परमावश्यक है।

---

१. मूलाराधना ३, २४७
२. वही ३, २४९
३. वही ३, २५०-२५१
४. वही ३, २५२
५. (क) मूलाराधना ३, २५३
(ख) निर्विकृतिः रसव्यंजनादिवर्जितमव्यतिकीर्णमोदनादिभोजनम्।
—*मूलाराधना दर्पण ३, २५४, पृ. ४७५*
६. मूलाराधना ३, २५४
७. वही ३, २५५

आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है कि संलेखना व्रत ग्रहण करने के पूर्व संलेखना व्रतधारी को विचारों की विशुद्धि के लिए सभी सांसारिक सम्बन्धों से सम्बन्ध विच्छेद कर लेना चाहिए। यदि किसी के प्रति मन में आक्रोश हो तो उससे क्षमायाचना कर लेनी चाहिए। मानसिक शान्ति के लिए साधक को सबसे पहले सद्गुरु के समक्ष निःशल्य होकर आलोचना करनी चाहिए। आलोचना करते समय मन में किंचित् मात्र भी संकोच नहीं रखना चाहिए। अपने जीवन में तन से, मन से और वचन से जो पापकृत्य किये हों, करवाये हों या करने की प्रेरणा दी हो उनकी आलोचना कर हृदय को विशुद्ध बनाना चाहिए। यदि आचार्य या सद्गुरु का अभाव हो तो अपने दोषों को बहुश्रुत श्रावकों एवं सधर्मी भाइयों के समक्ष प्रकट कर देना चाहिए। पंच परमेष्ठी का ध्यान करना चाहिए।[1]

आचार्य वीरनन्दी ने अपने 'आचारसार'[2] नामक ग्रन्थ में लिखा है कि साधक को संलेखना की सफलता के लिए योग्य स्थान का चुनाव करना चाहिए जहाँ के राजा के मन में धार्मिक भावना हो, जहाँ की प्रजा के अन्तर्मानस में धर्म और आचार्य के प्रति गहरी निष्ठा हो, जहाँ के निवासी आर्थिक दृष्टि से सुखी और समृद्ध हों, जहाँ का वातावरण तपःसाधना के लिए व्यवधानकारी न हो। साथ ही साधक को अपने शरीर तथा चेतन-अचेतन किसी भी वस्तु के प्रति मोह-ममता न हो। यहाँ तक कि अपने शिष्यों के प्रति भी मन में किंचित् मात्र भी आसक्ति न हो। वह परीषहों को सहन करने में सक्षम हो। संलेखना की अवधि में पहले ठोस पदार्थों का आहार में उपयोग करे। उसके पश्चात् पेय पदार्थ ग्रहण करे। आहार उस प्रकार का ग्रहण करना चाहिए जिससे शरीर के वात, पित्त, कफ विक्षुब्ध न हों।

संलेखना ग्रहण करने के पूर्व इस बात की जानकारी आवश्यक है कि जीवन और मरण की अवधि कितनी है। यदि शरीर में व्याधि हो गई हो पर जीवन की अवधि लम्बी हो तो साधक को संलेखना ग्रहण करने का विधान नहीं है।

दिगम्बर परम्परा के तेजस्वी आचार्य समन्तभद्र को 'भस्म रोग' हो गया और उससे वे अत्यन्त पीड़ित रहने लगे। उन्होंने अपने गुरु से संलेखना की अनुमति चाही। पर उनके सद्गुरुदेव ने अनुमति नहीं दी, क्योंकि उन्होंने देखा कि इनका आयु-बल अधिक है, इनसे जिन-शासन की प्रभावना होगी।

संथारे की विधि

संलेखना के पश्चात् संथारा किया जाता है। श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों की दृष्टि से संथाराग्रहण-विधि इस प्रकार है—सर्वप्रथम किसी निरवद्य शुद्ध स्थान में अपना

१. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक १२४-१२८ २. आचारसार १०

आसन जमाये। उसके पश्चात् वह दर्भ, घास, पराल आदि में से किसी का संथारा-बिछौना बिछाए। फिर पूर्व या उत्तर दिशा में मुँह करके बैठे। उसके पश्चात् 'अहं भन्ते ! अपिच्छम मारणंतिय संलेहणा-झूसणां आराहणाए आरोहेमि'-"हे भगवन् ! अब मैं अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना का प्रीतपूर्वक सेवन एवं आराधना करता हूँ" इस प्रकार प्रतिज्ञा ग्रहण करे। उसके बाद नमस्कार महामन्त्र तीन बार, वन्दना, इच्छाकारेणं, तस्स उत्तरी करणेणं, लोगस्स का पाठ व उसके पश्चात् ऊपर का पाठ बोलकर तीर्थंकर भगवान की साक्षी से इस व्रत को ग्रहण करे। तदुपरान्त निवेदन करे कि "भगवन् ! मैं अभी से सागारी या आगाररहित संथारा-भक्तप्रत्याख्यान करता हूँ चारों आहार का त्याग करता हूँ। अठारह पापस्थानों का त्याग करता हूँ। मनोज्ञ, इष्ट, कान्त, प्रिय, विश्वसनीय, आदेय, अनुमत, बहुमत, भाण्डकरण्डक समान, शीत-उष्ण, क्षुधा-पिपासा आदि मिटाकर सदा जतन किया हुआ, हत्यारे, चोरादि से, डाँस-मच्छर आदि से रक्षा किया हुआ, व्याधि, पित्त, कफ, वात, सन्निपातिक आदि से भी बचाया हुआ विविध प्रकार के स्पर्शों से सुरक्षित, श्वासोच्छ्वास की सुरक्षा प्राप्त इस शरीर पर मैंने जो अब तक मोह-ममत्व किया था, उसे अब मैं अन्तिम श्वासोच्छ्वास तक त्यागता हूँ, मुझे कोई भी चिन्ता न होगी। क्योंकि अब यह शरीर धर्म-पालन करने में समर्थ न रहा, बोझरूप हो गया, आतंकित या अत्यन्त जीर्ण, अशक्त हो गया।"

उपासकदशांग में आनन्द श्रमणोपासक बहुत वर्षों तक गृहस्थ-जीवन के सुखों का उपभोग करते रहे। जीवन की सान्ध्यबेला में वे स्वयं पोषधशाला में जाते हैं और 'दब्भ संथारयं संथरइ'-दर्भ का संथारा बिछाते हैं। धर्मप्रज्ञप्ति स्वीकार कर विविध तप-कार्यों द्वारा उपासक प्रतिमाओं की आराधना करते हुए शरीर को कृश करते हैं। जिसे हम संथारा कहते हैं वह अनशन का द्योतक है। आगम साहित्य में संथारा का अर्थ 'दर्भ का बिछौना' है। 'संलेखना' शब्द का प्रयोग "मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता सट्ठि भत्ताइं अणसणए छेदेत्ता" इस सूत्र रूप में किया जाता है।

'प्रवचनसारोद्धार' में लिखा है-साधक द्वादशवर्षीय उत्कृष्ट संलेखना करके तदन्तर कन्दरा, पर्वत, गुफा या किसी निर्दोष स्थान पर जाकर पादपोपगमन या भक्तप्रत्याख्यान या इंगिणीमरण को धारण करे।[1]

---

१. द्वादशवार्षिकीमुत्कृष्टां संलेखना कृत्वा गिरिकन्दरं गत्वा उपलक्षणमेतद् अन्यदपि षट्कायोपमर्दरहितं विविक्तं स्थानं गत्वा पादपोपगमनं वा शब्दाद् भक्तपरिज्ञामिंगिनीमरणं च प्रपद्यते। -*प्रवचनसारोद्धार, द्वार १३४*

सारांश यह है कि संलेखना के पश्चात् संथारा ग्रहण किया जाता था। यदि कोई आकस्मिक कारण आ जाता तो संलेखना के बिना भी संथारा ग्रहण कर समाधिमरण को वरण किया जाता था।

संथारा-संलेखना का महत्त्व

संथारा-संलेखना करने वाला साधक धर्मरूपी अमृत को पान करने के कारण संसार के सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है, तथा निःश्रेयस और अभ्युदय के अपरिमित सुखों को प्राप्त करता है।[१] पण्डित आशाधर जी ने कहा है–जिस महासाधक ने संसार परम्परा को सम्पूर्ण रूप से उन्मूलन करने वाले समाधिमरण को धारण किया है उसने धर्मरूपी महान् निधि को पर-भव में जाने के लिए साथ ले लिया है। इस जीव ने अनन्त बार मरण प्राप्त किया, किन्तु समाधि सहित पुण्यमरण नहीं हुआ। यदि समाधि सहित पुण्यमरण होता तो यह आत्मा संसाररूपी पिंजड़े में कभी भी बन्द होकर नहीं रहती।[२] भगवती आराधना[३] में कहा है–जो जीव एक ही पर्याय में समाधिपूर्वक मरण करता है वह सात-आठ पर्याय से अधिक संसार में परिभ्रमण नहीं करता। आचार्य समन्तभद्र[४] ने कहा है–जीवन में आचरित तपों का फल अन्त समय में गृहीत संलेखना है।

'मृत्यु महोत्सव' में लिखा है–जो महान् फल बड़े-बड़े व्रती, संयमी आदि को कायक्लेश आदि उत्कृष्ट तप तथा अहिंसा आदि महाव्रतों को धारण करने से प्राप्त नहीं होता वह फल अन्त समय में समाधिपूर्वक शरीर त्यागने से प्राप्त होता है।[५]

'गोम्मटसार'[६] में आचार्य नेमिचन्द्र ने शरीर के त्याग करने के तीन प्रकार बताये हैं–च्युत, च्यावित और त्यक्त। अपने आप आयु समाप्त होने पर शरीर छूटता है वह च्युत है, विषभक्षण, रक्तक्षय, धातुक्षय, शस्त्राघात, संक्लेश, अग्निदाह, जल प्रवेश प्रभृति विभिन्न निमित्तों से जो शरीर छूटता है, वह च्यावित है। रोग आदि समुत्पन्न होने पर तथा असाध्य मारणांतिक कष्ट व उपसर्ग आदि उपस्थित होने पर विवेकयुक्त समभावपूर्वक जो शरीर त्याग किया जाता है, वह त्यक्त है। त्यक्त शरीर ही सर्वश्रेष्ठ है। इसमें साधक पूर्ण जाग्रत रहता है। उसके मन में संक्लेश नहीं होता। इसी मरण को संथारा, समाधिमरण, पण्डितमरण, संलेखनामरण प्रभृति विविध नामों से कहा गया है।

---

१. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक १३०
२. सागार धर्मामृत ७, ५८ और ८, २७-२८
३. भगवती आराधना
४. रत्नरकण्ड श्रावकाचार, श्लोक १२३
५. शान्ति सोपान, श्लोक ८१
६. गोम्मटसार–कर्मकाण्ड ५६-५७-५८

आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर कडाई स्थविरों का वर्णन है। वे संथारा-संलेखना करने वाले साधकों के साथ पर्वत आदि पर जाते हैं और जब तक संथारा करने वाले का संथारा पूर्ण नहीं हो जाता, तब तक वे स्वयं भी आहारादि ग्रहण नहीं करते।[1] दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ भगवती आराधना[2] में भी इस प्रकार के साधकों का विस्तार से वर्णन है।

संलेखना के पाँच अतिचार

(१) इहलोकाशंसा प्रयोग–धन, परिवार आदि इस लोक सम्बन्धी किसी वस्तु की आकांक्षा करना।

(२) परलोकाशंसा प्रयोग–स्वर्ग-सुख आदि परलोक से सम्बन्ध रखने वाली किसी बात की आकांक्षा करना।

(३) जीविताशंसा प्रयोग–जीवन की आकांक्षा करना।

(४) मरणाशंसा प्रयोग–कष्टों से घबराकर शीघ्र मरने की आकांक्षा करना।

(५) काम-भोगाशंसा प्रयोग–अतृप्त कामनाओं की पूर्ति के रूप में काम-भोगों की आकांक्षा करना।

सावधानी रखने पर भी प्रमाद या अज्ञान के कारण जिन दोषों के लगने की सम्भावना है उन्हें अतिचार कहा है। साधक इन दोषों से बचने का प्रयास करता है।

जैन परम्परा की तरह ही तथागत बुद्ध ने भी जीवन की तृष्णा और मृत्यु की इच्छा को अनैतिक माना है। बुद्ध की दृष्टि से भवतृष्णा और विभवतृष्णा क्रमशः जीविताशा और मरणाशा का द्योतक है। जब तक ये आशाएँ और तृष्णाएँ चिदाकाश में मँडराती रहती हैं वहाँ तक पूर्ण नैतिकता नहीं आ सकती। इसलिए इनसे बचना आवश्यक है।

साधक को न जीने की इच्छा करनी चाहिए, न मरने की इच्छा करनी चाहिए। क्योंकि जीने की इच्छा में प्राणों के प्रति मोह झलकता है तो मरने की इच्छा में जीने के प्रति अनिच्छा व्यक्त होती है। साधक को जीने और मरने के प्रति अनासक्त और निर्मोह होना चाहिए। एतदर्थ ही भगवान महावीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा–साधक जीवन और मरण दोनों ही विकल्पों से मुक्त होकर अनासक्त बनकर रहे[3]

---

१. ज्ञातासूत्र, अ. १, सूत्र ४९

२. भगवती आराधना, गा. ६५८-६७६

३. जीवियं नाभिकंखेज्जा मरणं नाभिपत्थए।
दुहओ वि न सज्जिज्जा जीविए मरणे तहा॥ –आचारांग ८-८-४

और सदा आत्मभाव में स्थित रहे। वर्तमान जीवन के कष्टों से मुक्त होने के लिए और स्वर्ग के रंगीन सुखों को प्राप्त करने की कमनीय कल्पना से जीवन रूपी डोरी को काटना एक प्रकार से आत्महत्या है। साधक के अन्तर्मास में न लोभ का साम्राज्य होता है, न भय की विभीषिकाएँ होती हैं, न मन में निराशा के बादल मँडराते हैं और न आत्म-ग्लानि ही होती है। वह इन सभी द्वन्द्वों से विमुक्त होकर तथा निर्द्वन्द्व बनकर साधना करता है। उसके मन में न आहार के प्रति आसक्ति होती है और न शारीरिक विभूषा के प्रति ही। उसकी साधना एकान्त निर्जरा के लिए होती है।

संलेखना आत्महत्या नहीं है

जिन विज्ञों को समाधिमरण के सम्बन्ध में सही जानकारी नहीं है, उन विज्ञों ने यह आक्षेप उठाया है कि समाधिमरण आत्महत्या है। पर गहराई से चिन्तन करने पर यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता कि समाधिमरण आत्महत्या नहीं है। जिनका जीवन भौतिकता से ग्रसित है, जो जरा-सा भी शारीरिक कष्ट सहन नहीं कर सकते, जिन्हें आत्मोद्धार का परिज्ञान नहीं है, वे मृत्यु से भयभीत होते हैं, पर जिन्हें आत्म-तत्त्व का परिज्ञान है, जिन्हें दृढ़ विश्वास है कि आत्मा और देह दोनों पृथक् हैं, उन्हें देहत्याग के समय किंचित् मात्र भी चिन्ता नहीं होती, जैसे एक यात्री को सराय छोड़ते समय मन में विचार नहीं आता।

समाधिमरण में मरने की किंचित् मात्र भी इच्छा नहीं होती, इसलिए वह आत्महत्या नहीं है। समाधिमरण के समय जो आहारादि का परित्याग किया जाता है, उस परित्याग में मृत्यु की चाह नहीं होती, पर देह-पोषण की इच्छा का अभाव होता है। आहार के परित्याग से मृत्यु हो तो सकती है, किन्तु साधक को मृत्यु की इच्छा नहीं है। किसी व्यक्ति के शरीर में यदि कोई फोड़ा हो चुका है, डॉक्टर उसकी शल्य-चिकित्सा करता है। शल्य-चिकित्सा से उसे अपार वेदना होती है। किन्तु वह शल्य-चिकित्सा रुग्ण व्यक्ति को कष्ट देने के लिए नहीं, अपितु उसके कष्ट के प्रतीकार के लिए है; वैसे ही संथारा-संलेखना की जो क्रिया है वह मृत्यु के लिए नहीं पर उसके प्रतीकार के लिए है।[1]

एक रुग्ण व्यक्ति है। डॉक्टर शल्य-चिकित्सा के द्वारा उसकी व्याधि को नष्ट करने का प्रयास करता है। शल्य-चिकित्सा करते समय डॉक्टर प्रबल प्रयास करता है कि रुग्ण व्यक्ति बच जाय। उसके प्रयत्न के बावजूद भी यदि रुग्ण व्यक्ति मर

---

१. मरणपडियारभूया एसा एवं च ण मरणनिमित्ता जह गंड छे अकिरिआणो आयविरहागारूवा।
—*दर्शन और चिन्तन, पृ. ५३६ से उद्धृत*

जाता है तो डॉक्टर हत्यारा नहीं कहलाता। इसी तरह संथारा-संलेखना में होने वाली मृत्यु आत्महत्या नहीं हो सकती। शल्य-चिकित्सा दैहिक जीवन की सुरक्षा के लिए है और संलेखना-संथारा आध्यात्मिक जीवन की सुरक्षा के लिए है।

कितने ही समालोचक जैन दर्शन पर आक्षेप लगाते हुए कहते हैं कि जैन दर्शन जीवन से इकरार नहीं करता, वह जीवन से इनकार करता है। पर उनकी यह समालोचना भ्रान्त है। जैन दर्शन जीवन के मिथ्या-मोह से इनकार अवश्य करता है। उसका स्पष्ट मन्तव्य है कि यदि जीवन जीने में कोई विशिष्ट लाभ है, तुम्हारा जीवन स्व और परहित की साधना के लिए उपयोगी है तो तुम्हारा कर्त्तव्य है कि सभी प्रकार से जीवन की सुरक्षा करो। श्रुतकेवली भद्रबाहु ने स्पष्ट शब्दों में साधक को कहा—"तुम्हारा शरीर न रहेगा तो तुम संयम की साधना, तप-आराधना और मनोमंथन किस प्रकार कर सकोगे? संयम-साधना के लिए तुम्हें देह की सुरक्षा का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए। उसका प्रतिपालन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।"[1] संयमी साधक के शरीर की समस्त क्रियाएँ संयम के लिए हैं। जिस शरीर से संयम की विराधना होती हो, मन में संक्लेश पैदा होता हो वह जीवन किस काम का?

जैन दर्शन के मूर्धन्य मनीषियों का यह स्पष्ट मन्तव्य रहा है कि वही जीवन आवश्यक है जिससे संयमी जीवन की शुद्धि होती है, उस जीवन की सतत रक्षा करनी चाहिए। इसके विपरीत जिस जीवन से संयमी जीवन धुँधला होता हो उस जीवन से तो मरना अच्छा है। इस दृष्टि से जैन दर्शन जीवन से इनकार करता है किन्तु प्रकाश करते हुए, संयम की सौरभ फैलाते हुए जीवन से इनकार नहीं करता।

संलेखना व संथारे के द्वारा जो समाधिपूर्वक मरण होता है, उसमें और आत्महत्या में मौलिक अन्तर है। आत्महत्या वह व्यक्ति करता है जो परिस्थितियों से उत्पीड़ित है, उद्विग्न है, जिसकी मनोकामनाएँ पूर्ण नहीं हुई हैं। वह संघर्षों से ऊबकर जीवन से पलायन करना चाहता है या किसी से अपमान होने पर, कलह होने पर, आवश्यकताओं की पूर्ति न होने पर, पारस्परिक मनोमालिन्य होने पर, किसी के द्वारा तीखे व्यंग्य कसने पर, वह कुएँ में कूदकर, समुद्र में गिरकर, पेट्रोल और तेल छिड़ककर, ट्रेन के नीचे आकर, विष का प्रयोग कर, फाँसी आदि लगाकर या किसी शस्त्र से अपना जीवन समाप्त करना चाहता है। आत्महत्या में वीरता नहीं, किन्तु कायरता है; जीवन से भागने का प्रयास है। आत्महत्या के मूल

१. संजमहेउं देहो धारिज्जइ सो कओ उ तदभावे।
संजम धाइनिमित्तं देह परिपालणा इट्ठा॥ —ओघनिर्युक्ति ४७

में भय और कामनाएँ रही हुई हैं। उसमें कषाय और वासना की तीव्रता है उत्तेजना है। पर समाधिमरण में संघर्षों से साधक भयभीत नहीं होता। उसके मन में कषाय, वासना और इच्छाएँ नहीं होतीं। जब साधक के सामने एक ओर देह और दूसरी ओर संयम-रक्षा इन दो में से एक को चुनने का प्रश्न आता है तो साधक उस समय देह को नश्वर समझकर संयम की रक्षा के लिए संयम के पथ को अपनाता है।

जीवन की सान्ध्य वेला में जब उसे मृत्यु सामने खड़ी दिखाई देती है, वह निर्भय होकर उस मृत्यु को स्वीकार करना चाहता है। उसकी स्वीकृति में अपूर्व प्रसन्नता होती है। वह सोचता है कि यह आत्मा अनन्त काल से कर्मजाल में फँसी हुई है। उस जाल को तोड़ने का मुझे अपूर्व अवसर मिला है। वह सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होने के लिए–अविनश्वर आनन्द को प्राप्त करने के लिए शरीर को त्यागता है। समाधिमरण में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के द्वारा यह चिन्तन करता है कि कर्मबन्धन का मूल कारण मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व के कारण ही मैं देह और आत्मा को एक मानता रहा हूँ। जैसे चना और चने का छिलका पृथक् हैं वैसे ही आत्मा और देह पृथक् हैं। मिथ्यात्व से ही पर-पदार्थों में रति होती है। ज्ञान आत्मा का निजगुण है। मिथ्यात्व के कारण वह निजगुण प्रकट नहीं हो सका है। आत्मा सही ज्ञान के अभाव में अनन्त काल से विश्व में परिभ्रमण कर रहा है। जब ज्ञान का पूर्ण निखार होगा तब मुझे केवलज्ञान प्राप्त होगा।

इस प्रकार वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान से आत्मा और देह की पृथक्ता समझकर चारित्र और तप की आराधना करता है। उसकी आराधना में किसी भी प्रकार की आसक्ति और भय नहीं होता। इसलिए समाधिमरण आत्महत्या नहीं है।

संलेखना की विशेषताएँ

संक्षेप में संलेखना व समाधिमरण की निम्न विशेषताएँ हैं–

(१) जैन धर्म की दृष्टि से शरीर और आत्मा ये दोनों पृथक् पृथक् हैं। जैसे–मौसम्मी और उसके छिलके।

(२) आत्मा निश्चय नय की दृष्टि से पूर्ण विशुद्ध है, वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, अनन्त आनन्द से युक्त है। जो शरीर हमें प्राप्त हुआ है उसका मूल कर्म है। कर्म के कारण ही पुनर्जन्म है, मृत्यु है, व्याधियाँ हैं।

(३) दैनन्दिन जीवन में जो धार्मिक साधना पर–तप पर बल दिया गया है, उसका मूल उद्देश्य है आत्मा में जो कर्म-मैल है उस मैल को दूर करना।

प्रश्न हो सकता है–कर्म आत्मा पर चिपके हुए हैं, फिर शरीर को कष्ट क्यों दिया जाय? उत्तर है–घृत में यदि मलिनता है तो उस मलिनता को नष्ट करने के लिए घृत को तपाया जाता है; किन्तु घृत अकेला नहीं तपाया जा सकता, वह बर्तन के माध्यम से ही तपाया जा सकता है। वैसे ही आत्मा के मैल को नष्ट करने के लिए शरीर को भी तपाया जाता है। यही कारण है कि संलेखना में कषाय के साथ तन को भी कृश किया जाता है।

(४) जब शरीर में वृद्धावस्था का प्रकोप हो, रुग्णता हो, अकाल आदि के कारण शरीर के नष्ट होने का प्रसंग उपस्थित हो, उस समय साधक को संलेखना व्रत ग्रहण कर आत्मभाव में स्थिर रहना चाहिए। संलेखना आत्मभाव में स्थिर रहने का महान् उपाय है।

(५) संलेखना व्रत ग्रहण करने वाले को पहले मृत्यु के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए। मृत्यु की जानकारी के लिए श्वेताम्बर आचार्यों ने अनेक उपाय बताये हैं। उपदेशमाला के आम्नाय आदि के द्वारा आयु का समय सरलता से जाना जा सकता है।

(६) संलेखना करने वाले साधक का मन वासना से मुक्त हो, उसमें किसी भी प्रकार की दुर्भावना नहीं होनी चाहिए।

(७) संलेखना करने से पूर्व जिनके साथ कभी भी और किसी भी प्रकार का वैमनस्य हुआ हो उनसे क्षमायाचना कर लेनी चाहिए और दूसरों को क्षमा प्रदान भी कर देनी चाहिए।

(८) संलेखना में तनिक मात्र भी विषम भाव न हो मन में समभाव की मंदाकिनी सतत प्रवाहित रहे।

(९) संलेखना अपनी स्वेच्छा से ग्रहण करनी चाहिए। किसी के दबाव में आकर अथवा स्वर्ग आदि के सुखों की प्राप्ति की इच्छा से संलेखना-संथारा नहीं करना चाहिए।

(१०) संलेखना करने वाला साधक मन में यह न सोचे कि मेरी संलेखना-संथारा लम्बे काल तक चले जिससे लोग मेरे दर्शन हेतु उपस्थित हो सकें, मेरी प्रशंसा हो; और यह भी न सोचे कि मैं शीघ्र ही मृत्यु को वरण कर लूँ। संलेखना का साधक न जीने की इच्छा करता है, न मरने की। वह तो सदा समभाव में रहकर संलेखना की साधना करता है। उसमें न लोकैषणा होती है, न वित्तैषणा होती है, न पुत्रैषणा होती है।

संलेखना आत्म-बलिदान नहीं

शैव और शाक्त सम्प्रदायों में पशु-बलि की भाँति आत्म-बलिदान को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। किन्तु जैन धर्म में उसका किंचित् भी महत्त्व नहीं है। संलेखनायुक्त समाधिमरण आत्म-बलिदान नहीं है। आत्म-बलिदान और समाधिमरण में बहुत अन्तर है। आत्म-बलिदान में भावना की प्रबलता होती है, बिना भावातिरेक के आत्म-बलिदान नहीं होता, जबकि समाधिमरण में भावातिरेक नहीं, किन्तु विवेक व वैराग्य की प्रधानता होती है।

यदि हम श्रमण-जीवन को सूर्य की उपमा से अलंकृत करें तो कह सकते हैं कि आर्हती दीक्षा ग्रहण करना श्रमण-जीवन का उदय काल है; उसके पूर्व की वैराग्य-अवस्था साधक-जीवन का उषाकाल है। जब साधक उत्कृष्ट तप-जप व ज्ञान की साधना करता है उस समय उसकी साधना का मध्यान्ह काल होता है और जब साधक संलेखना प्रारम्भ करता है तब उसका सन्ध्या काल होता है। सूर्योदय के समय पूर्व दिशा मुस्कराती है, उषा सुन्दरी का दृश्य अत्यन्त लुभावना होता है। उसी प्रकार सन्ध्या के समय पश्चिम दिशा का दृश्य भी मन को लुभाने वाला होता है। सन्ध्या की सुहावनी लालिमा भी दर्शक के हृदय को आनन्दविभोर बना देती है। वही स्थिति साधक की है। उसके जीवन में भी संयम को ग्रहण करते समय जो मन में उल्लास और उत्साह होता है वही उत्साह मृत्यु के समय भी होता है।

जिस छात्र ने वर्ष भर कठिन श्रम किया है वह परीक्षा देते समय घबराता नहीं है। उसके मन में एक प्रकार का उत्साह होता है। वह प्रथम श्रेणी में समुत्तीर्ण भी होता है वैसे ही जिस साधक ने निर्मल संयम की साधना जीवन भर की है। वह संथारे से घबराता नहीं, उसके मन में एक आनन्द होता है। एक शायर के शब्दों में–

"मुबारक जिन्दगी के वास्ते दुनिया का मर मिटना।
हमें तो मौत में भी जिन्दगी मालूम देती है॥
मौत जिसको कह रहे वो जिन्दगी का नाम है।
मौत से डरना-डराना कायरों का काम है॥"

जैन आगम साहित्य, उसका व्याख्या साहित्य और जैन कथा साहित्य इतिहास में संलेखनायुक्त समाधिमरण प्राप्त करने वाले हजारों साधक और साधिकाओं का उल्लेख है। तीर्थंकरों से लेकर गणधर, आचार्य, उपाध्याय व श्रमण-श्रमणियाँ तथा गृहस्थ साधक भी समाधिमरण को वरण करने में अत्यन्त आनन्द की अनुभूति करते रहे हैं।

श्वेताम्बर परम्परा की तरह दिगम्बर परम्परा में भी समाधिमरण का गौरवपूर्ण स्थान रहा है। इस तरह सम्पूर्ण जैन परम्परा समाधिमरण को महत्त्व देती रही है।

भगवान महावीर के पश्चात् द्वादश वर्षों के भयंकर दुष्कालों में संयम-साधना में अनेक बाधाएँ उपस्थित होने लगीं तो उन वीर श्रमणों ने संलेखनायुक्त मरण स्वीकार कर ज्वलन्त आदर्श उपस्थित किया। विस्तार भय से हम यहाँ प्रागैतिहासिक काल से आज तक की सूची नहीं दे रहे हैं। यदि कोई शोधार्थी इस पर कार्य करे तो उसे बहुत कुछ सामग्री सहज रूप से उपलब्ध हो सकती है।

संलेखना और आत्मघात में अन्तर

संलेखना और आत्मघात में शरीर-त्याग समान रूप से है, पर शरीर को कौन, कैसे और क्यों छोड़ रहा है? यह महत्त्वपूर्ण बात है। संलेखना में वही साधक शरीर का विसर्जन करता है जिसने अध्यात्म की गहन साधना की है, भेदविज्ञान की बारीकियों से जो अच्छी तरह से परिचित है, जिसका चिन्तन स्वस्थ, सुचिन्तित है। "मैं केवल शरीर ही नहीं हूँ, किन्तु मेरा स्वतन्त्र अस्तित्व है। शरीर मरणशील है और आत्मा शाश्वत है। पुद्गल और जीव ये दोनों पृथक्-पृथक् हैं। दोनों के अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व हैं। पुद्गल कभी जीव नहीं हो सकता और जीव कभी पुद्गल नहीं हो सकता। संलेखना जीव और पुद्गल जो एकमेक हो चुके हैं उसे पृथक् करने का एक सुयोजित प्रयास है।"

संलेखना और आत्मघात इन दोनों में पर्याप्त अन्तर है। आत्मघात करते समय व्यक्ति की मुखमुद्रा, विकृत होती है, उस पर तनाव होता है, उस पर भय की रेखाएँ झलकती रहती हैं किन्तु संलेखना में साधक की मुख-मुद्रा पूर्ण शान्त होती है, उसके चेहरे पर किसी भी प्रकार की आकुलता-व्याकुलता नहीं होती। आत्मघात करने वाले का स्नायु तन्त्र तनावयुक्त होता है जबकि संलेखना करने वाले का स्नायु तन्त्र तनावमुक्त होता है। आत्मघात करने वाले व्यक्ति की मृत्यु आकस्मिक होती है जबकि संलेखना करने वाले की मृत्यु जीवन दर्शन पर आधारित होती है। आत्मघात करने वाला जिस स्थान पर आत्मघात करना चाहता है उस स्थान को वह प्रकट नहीं होने देना चाहता, वह लुक-छिपकर आत्मघात करता है, जबकि संलेखना करने वाला साधक किसी भी प्रकार उस स्थान को नहीं छिपाता है, उसका स्थान पूर्व-निर्धारित होता है, सभी को ज्ञात होता है। आत्मघात करने वाले की वृत्ति में कायरता है, वह अपने कर्त्तव्य से पलायन करना चाहता है जबकि संलेखना वाले की वृत्ति में प्रबल पराक्रम है, उसमें पलायन नहीं वरन् सत्य स्थिति को स्वीकार करना है।

आत्मघात और संलेखना के अन्तर को मनोविज्ञान द्वारा भी स्पष्ट समझा जा सकता है। मानसिक तनाव तथा अनेक सामाजिक विसंगति व विषमताओं के कारण आत्मघात की प्रवृत्तियाँ बढ़ रही हैं। भौतिकवाद की चकाचौंध में पले-पुसे व्यक्तियों

को यह कल्पना भी नहीं हो सकती कि शान्ति के साथ योजनापूर्वक मरण को वरण किया जा सकता है। संलेखना विवेक की धरती पर एक सुस्थित मरण है।

संलेखना में केवल शरीर ही नहीं, किन्तु कषाय को भी कृश किया जाता है। उसमें सूक्ष्म समीक्षण भी किया जाता है। जब तक शरीर पर पूरा नियन्त्रण नहीं किया जाता, वहाँ तक संलेखना की अनुमति प्राप्त नहीं होती। मानसिक संयम, सम्यक् चिन्तन के द्वारा पूर्ण रूप से पक जाता है तभी संलेखना धारण की जाती है। संलेखना पर जितना गहन चिन्तन-मनन जैन मनीषियों ने किया है उतना अन्य चिन्तकों द्वारा नहीं हुआ है। संलेखना के चिन्तन का सम्बन्ध किसी प्रकार का लौकिक लाभ नहीं। उसका लक्ष्य पार्थिव समृद्धि या सांसारिक सिद्धि भी नहीं है, अपितु जीवन-दर्शन है। संलेखना जीवन के अन्तिम क्षणों में की जाती है, पर आत्मघात किसी भी समय किया जा सकता है।

बौद्ध परम्परा में

जैन परम्परा की तरह बौद्ध परम्परा में समाधिमरण के सम्बन्ध में विशेष चिन्तन नहीं किया है। उन्होंने इस प्रकार के मरण को एक प्रकार से अनुचित ही माना है। बौद्ध साहित्य का पर्यवेक्षण करने पर कुछ ऐसे सन्दर्भ भी प्राप्त होते हैं जिसमें इच्छापूर्ण मृत्यु को वरण करने वाले साधक की मृत्यु का समर्थन भी किया गया है। सीठ, सप्पदास, गोधिका, भिक्षु वक्कलि[1] कुलपुत्र और भिक्षु छन्न[2] ये असाध्य रोग से पीड़ित थे। उन्होंने आत्महत्याएँ कीं। जब तथागत बुद्ध को उनकी आत्महत्या का परिज्ञान हुआ तो उन्होंने कहा—ये दोनों निर्दोष हैं। उन दोनों भिक्षुओं ने आत्महत्या करके परिनिर्वाण प्राप्त किया है।

आज भी जापानी बौद्धों में 'हाराकीरी' (स्वेच्छा से शस्त्र द्वारा आत्महत्या) की प्रथा प्रचलित है, जिसके द्वारा मृत्यु को वरण किया जाता है, पर वह समाधिमरण से पृथक् है। बौद्ध परम्परा में शस्त्र के द्वारा तत्काल मृत्यु को वरण करना अच्छा माना गया है। जैन मनीषियों ने शस्त्र के द्वारा मृत्यु को वरण करना सर्वथा अनुचित माना है, क्योंकि उसमें मरण की अभिलाषा विद्यमान है। यदि मरण की अभिलाषा न हो तो शस्त्र के द्वारा मरने की आतुरता नहीं होती।

वैदिक परम्परा में

वैदिक परम्परा के साहित्य का पर्यवेक्षण करने पर ज्ञात होता है कि उन्होंने

---

१. संयुक्तनिकाय २१-२-४-५

२. (क) संयुक्तनिकाय ३४-२-४-४
(ख) History of Suicide in India—Dr. Upendra Thakur, p. 107.

आत्महत्या को महापाप माना है। पाराशरस्मृति[1] में वर्णन है-जो क्लेश, भय, घमण्ड, क्रोध, प्रभृति के वशीभूत होकर आत्महत्या करता है वह व्यक्ति साठ हजार वर्ष तक नरक में निवास करता है।

महाभारतकार[2] की दृष्टि से भी आत्महत्या करने वाला कल्याणप्रद लोक में नहीं जा सकता।

वैदिक ग्रन्थों में मरण के पाँच प्रकार प्ररूपित किये हैं-

(१) कालप्राप्तमरण-आयु पूर्ण होने पर जीव की जो स्वाभाविक मृत्यु होती है वह कालप्राप्तमरण है। संसार के सभी प्राणी इस मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

(२) अनिच्छितमरण-प्राकृतिक प्रकोप, वर्षा की अधिकता, दुर्भिक्ष, विद्युत्पात, नदी की बाढ़, वृक्ष, पर्वत आदि से गिरने पर जो मृत्यु होती है वह अनिच्छित मरण है।[3]

(३) प्रमादमरण[4]-असावधानी से निःशंकावस्था में अग्नि, जल, शस्त्र, रज्जु, पशु आदि से मृत्यु हो जाना प्रमादमरण है। अनिच्छित और प्रमादमरण में यही अन्तर है कि प्रमाद में मृत्यु अकस्मात् होती है।

(४) इच्छितमरण-क्रोध आदि के कारण मरने की इच्छा से जाज्वल्यमान अग्नि में प्रवेश करना, पानी में डूब जाना, पर्वत से गिरना, तीव्र विष का भक्षण करना, शस्त्र से आघात करना आदि से मृत्यु को वरण करना।[5] इस इच्छितमरण का वैदिक ग्रन्थों में विधान नहीं है। स्मृति ग्रन्थों में इस प्रकार मृत्यु को वरण करने वाले को अनुचित माना है। उसका श्राद्ध नहीं करना चाहिए।[6] उनके लिए अश्रुपात और दाहादि कर्म भी न करे।[7]

---

१. अतिमानादतिक्रोधाल्लेहाद्वा यदि वा भयात्।
उद्बध्नीयात्स्त्री पुमान्वा गतिरेषा विधीयते ॥
पूयशोणितसम्पूर्णे अन्धे तमसि मज्जति।
षष्टि वर्षसहस्राणि नरकं प्रतिपद्यते ॥ —पाराशरस्मृति ४-१-२

२. महाभारत, आदिपर्व १७१, २०

३. मध्करिभाष्य १४-११ गौतम

४. (क) वही १४-११ (ख) पाराशर ३-१० माधव टीका —ब्रह्मपुराण से उद्धृत

५. वशिष्ठ, २३, १५

६. याज्ञवल्क्यस्मृति ३-२०

७. अपरार्क द्वारा पृ. ८७७ पर उद्धृत

(५) विधिमरण–जिसका शास्त्रों ने अनुमोदन किया है। यह वह मरण है जो इच्छापूर्वक अग्निप्रवेश, जलप्रवेश आदि से होता है।

गौतम धर्मशास्त्र में मरण की आठ विधियाँ[1] प्रतिपादित हुई हैं–

(१) प्रायः महाप्रस्थान[2]–महायात्रा कर प्राण विसर्जन करना।

(२) अनाशक[3]–अन्न-जल का त्याग कर प्राण त्यागना।

(३) शस्त्राघात–शस्त्र से प्राण त्याग करना।

(४) अग्निप्रवेश–अग्नि में गिरकर प्राणों का परित्याग करना।

(५) विषभक्षण–विष-सेवन से प्राणों का त्याग।

(६) जलप्रवेश–जल में प्रवेश कर प्राण त्याग।

(७) उद्बन्धन–गले में रस्सी आदि से फाँसी लगाकर प्राण त्याग।

(८) प्रपतन–पहाड़, वृक्ष प्रभृति से गिरकर प्राण त्याग।

प्रस्तुत सूत्र में प्रपत, 'नैः' के पश्चात् 'च' शब्द का प्रयोग हुआ है उससे अन्य मरण भी ग्रहण किये जा सकते हैं।[4] वशिष्ठ स्मृति में (९) लोष्ठ, और (१०) पाषाण इन दो मरण-विधियों का भी उल्लेख है।

रामायण और महाभारत में ऐसे अनेक प्रसंग हैं। जब किसी व्यक्ति को अपने मन की प्रतिकूल परिस्थिति का परिज्ञान हुआ अथवा प्रियजनों के वियोग के प्रसंग उपस्थित हुए, निराशा के बादल उनके जीवन में उमड़-घुमड़कर मँडराने लगे, युद्ध में पराजय की स्थिति समुत्पन्न हुई तब वे व्यक्ति मरण की इन विधियों को अपनाने की भावना व्यक्त करते हैं। उदाहरण के रूप में, सीता को जब राम वन में अपने साथ ले जाने के लिए तैयार नहीं हुए तो उसने इन्हीं विधियों द्वारा अपने प्राण त्यागने की भावना व्यक्त की।[5] इसी प्रकार पंचवटी में भी लक्ष्मण को राम की अन्वेषणा के लिए प्रेषित करने हेतु उत्प्रेरित करते हुए सीता ने इसी बात को दुहराया।[6] राम को वनवास देने के कारण भरत[7] अपनी माँ पर क्रुद्ध हुआ

---

१. प्रायोऽनाशक शस्त्राग्निविषोदकोद्बन्धनप्रपतनैश्चेच्छताम्। –*गौतम धर्मशास्त्र, १४-११*

२. प्रायो महाप्रस्थानम्। –*मस्करि भाष्य*

३. (क) अनाशकमभोजनं। –*मस्करि भाष्य*
(ख) अनाशकमनशनम्। –*याज्ञ. ३१६ की मिताक्षरा टीका*

४. चकारादन्यैरप्येवं भूतैरात्महननहेतुभिरिति द्रष्टव्यम्। –*मस्करि भाष्य*

५. रामायण २, २९, २१

६. वही ३, ४५, ३६-३७

७. वही २, ७४, ३३

और उसने आवेश में माँ की भर्त्सना करते हुए कहा–या तो तुम धधकती हुई ज्वाला में प्रविष्ट हो जाओ, या दण्डकारण्य में चली जाओ, या फाँसी लगाकर मर जाओ।

इन सभी उद्धरणों से ज्ञात होता है कि रामायण काल में वे उपाय अपनाये जाते थे। रामायण काल के पश्चात् महाभारत काल में भी आत्मघात के लिए इन उपायों को अपनाने के लिए तैयारी देखी जाती है। दुर्योधन पाण्डवों को देखकर ईर्ष्याग्नि में जलता है। वह पाण्डवों के विराट् वैभव को देख नहीं सकता। उनके वैभव को देखकर वह मन ही मन कुढ़ता है और अपने विचार शकुनि के सामने व्यक्त करता है कि मैं अग्नि में प्रविष्ट हो जाऊँगा, विष-भक्षण कर लूँगा, जल में डूबकर प्राणों का त्याग कर दूँगा, किन्तु जीवित नहीं रह सकता।[1]

सती दमयन्ती नल के रूप और शौर्य पर इतनी मुग्ध हो गई कि उसने नल से स्पष्ट शब्दों में कहा–यदि आप मेरे साथ पाणिग्रहण नहीं करेंगे तो विष, अग्नि, जल या फाँसी द्वारा अपने प्राण समाप्त कर दूँगी।[2] अग्नि, जल आदि के द्वारा प्राणों का परित्याग करने वाला आत्महा, आत्महन्, आत्मत्यागी या आत्मघाती कहलाता है।[3]

वैदिक साहित्य में आत्मघात का निषेध करने वाले कुछ वचन प्राप्त होते हैं जिनमें यह बताया गया है कि आत्मघात करने वाला महापापी है। ईशावास्योपनिषद्[4] में आत्मघात करने वाले व्यक्ति पर-भव में कहाँ जाते हैं उसका चित्रण करते हुए कहा है–जो आत्मघात करते हैं वे मरने के पश्चात् गहन अन्धकार से आवृत आसुरी नाम से पुकारी जाने वाली योनि में जन्म ग्रहण करते हैं। उत्तररामचरित[5] में लिखा है कि राजा जनक को सीतापहरण की सूचना मिलने पर उनका हृदय अत्यन्त व्यथित हो जाता है। वे कहते हैं–मेरी वृद्धावस्था आ चुकी है जिससे मेरा शरीर रस और धातु से नीरस बन चुका है, तथापि यह निंदित शरीर अभी तक नहीं गिर रहा है। ऋषियों ने कहा कि अन्धकारयुक्त सूर्यरहित लोक उनके लिए नियुक्त है जो आत्मघात करते हैं। अतः मुझसे आत्मघात भी किया नहीं जा रहा है।

---

१. महाभारत २, ५७, ३१; ३, ७, ५-६

२. वही ३, ५६, ४

३. काष्ठजललोष्ठपाषाणशस्त्रविषरज्जुभिर्य आत्मानम्– —वशिष्ठ २३, १५

४. असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये केचात्महनो जनाः॥ —ईशा. ३

५. उत्तररामचरित, अंक ४, श्लोक ३ के बाद का अंश

वाल्मीकि रामायण[1], शांकरभाष्य[2], बृहदारण्यकोपनिषद्[3] और महाभारत[4] प्रभृति ग्रन्थों में आत्मघात को अत्यन्त हीन, निम्न एवं निन्द्य माना है। साथ ही जो आत्मघात करते हैं उनके सम्बन्ध में भी मनुस्मृति[5], याज्ञवल्क्य[6], उपनस्मृति[7], कूर्मपुराण[8], अग्निपुराण[9], पाराशरस्मृति[10] प्रभृति ग्रन्थों में बताया है कि उन्हें जलांजलि नहीं देनी चाहिए। वे आत्मघाती अशौच और उदक-क्रिया के पात्र नहीं होते हैं।

एक ओर आत्मघात को निन्द्य माना है, दूसरी ओर विशेष पापों के प्रायश्चित्त के रूप में आत्मघात का समर्थन भी किया गया है और उससे आत्मशुद्धि होती है। ऐसा स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है। जैसे मनुस्मृति[11] में ब्रह्मघाती, मदिरापायी ब्राह्मण, गुरुपत्नीगामी के लिए उग्र शस्त्र, अग्नि आदि के द्वारा आत्मघात करने से शुद्ध होता है-ऐसा विधान है। याज्ञवल्क्यस्मृति[12], गौतमस्मृति[13], वशिष्ठस्मृति[14], आपस्तंबीय धर्मसूत्र[15], महाभारत[16] आदि में इसी तरह के शुद्धि के उपाय बताये गये हैं। सभी में आत्मघात का विधान है। इन विधानों के परिणामस्वरूप ही प्रयाग में अक्षय वट से गंगा में कूदकर और काशी में काशी करवट लेकर आत्मघात की प्रथाएँ प्रचलित हुईं। ये स्पष्ट आत्मघात ही थीं, फिर भी इनसे स्वर्ग-प्राप्ति मानी जाती थी। पापी लोग इस प्रकार की मृत्यु का वरण करते थे और यह समझते थे कि इससे उनके पापों का प्रायश्चित्त हो जायेगा, वे शुद्ध हो जायेंगे और स्वर्ग के दिव्य सुख भोगेंगे।

---

१. वाल्मीकि रामायण ८३, ८३

२. आत्मनं घ्नन्तीत्यात्महनः। के ते जनाः ये ऽविद्वांस ..... अविद्यादोषेण विद्यमानस्यात्मनस्तिरस्करणात् ..... प्राकृत विद्वांसो आत्महन उच्यन्ते।

३. बृहदारण्यकोपनिषद् ४, ४-११

४. महाभारत, आदिपर्व १७८-२०

५. मनुस्मृति ५, ८९

६. याज्ञवल्क्य ३, ६

७. उषनुस्मृति ७, २

८. कूर्मपुराण, उत्त. २३-७३

९. अग्निपुराण १५७, ३२

१०. पाराशरस्मृति ४, ४-७

११. सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णां सुरां पिबेत्।
तया स काये निर्दग्धे मुच्यते किल्बिषात्ततः॥
मनुस्मृति ११, ९०, ९१, १०३, १०४

१२. याज्ञवल्क्यस्मृति ३-२४८, ३-२५३

१३. गौतमस्मृति २३, १

१४. (क) वशिष्ठस्मृति २०, १३-१४
(ख) आचार्य पुत्र शिष्य-भार्यासु चैवम्।
-वशिष्ठस्मृति १२-१५

१५. आपस्तंबीय धर्मसूत्र १९, २५, १-२-३-४-५-६-७

१६. महाभारत-अनुशासन पर्व, अ. १२

इस प्रकार मृत्युवरण को पवित्र और धार्मिक आचरण माना गया है। महाभारत के अनुशासनपर्व[1], वनपर्व[2] और मत्स्यपुराण[3] में अग्निप्रवेश, जलप्रवेश, गिरिपतन, विषप्रयोग या अनशन द्वारा देहत्याग करने पर ब्रह्मलोक अथवा मुक्ति प्राप्त होती है; इस प्रकार का स्पष्ट विधान है।

प्रयाग, सरस्वती, काशी आदि जैसे पवित्र तीर्थ स्थलों में आत्मघात करने वाला संसार से मुक्त होता है। इन तीर्थ स्थलों में जलप्रवेश या अन्य विधियों से मृत्यु प्राप्त करने के विधान भी मिलते हैं। महाभारत में स्पष्ट कहा है–वेद वचन से या लोक वचन से प्रयाग में मरने का विचार नहीं त्यागना चाहिए।[4] इसी प्रकार कूर्मपुराण[5], पद्मपुराण[6], स्कन्दपुराण[7], मत्स्यपुराण[8], ब्रह्मपुराण[9], लिंगपुराण[10], अग्निपुराण[11], में स्पष्ट उल्लेख है कि जो तीर्थस्थलों पर जल-प्रवेश करता है या अन्य साधनों के द्वारा मृत्यु का वरण करता है, भले ही वह किसी भी अवस्था में हो, चाहे स्वस्थ हो, चाहे अस्वस्थ हो, वह अवश्य मुक्ति प्राप्त करता है।

यदि शरीर में असाध्य रोग हो जाय और विहित अनुष्ठान करने में शरीर असमर्थ हो जाय उस समय वानप्रस्थी के महाप्रस्थान का भी उल्लेख विस्तार के साथ आया है। मनुस्मृति[12] में कहा है–असाध्य रोग होने पर वानप्रस्थी ईशान दिशा की ओर मुँह करके योगनिष्ठ होकर पानी और हवा पर रहता हुआ शरीर त्यागने तक निरन्तर गमन करता रहे। याज्ञवल्क्य[13] ने भी मनु के कथन का समर्थन करते हुए कहा वायु भक्षण करता हुआ ईशान दिशा की ओर मुड़कर प्रस्थान करे। महाभारत[14] में पाण्डवों के हिमालय की ओर महाप्रस्थान का वर्णन है। वे द्रौपदी के साथ उपवास का व्रत ग्रहण कर पूर्व दिशा की ओर प्रस्थित हुए। सबसे प्रथम द्रौपदी पृथ्वी पर गिर पड़ी, उसके पश्चात् सहदेव, नकुल, अर्जुन और भीम भूमि पर गिरकर मृत्यु को प्राप्त हुए और सभी स्वर्ग पहुँचे। युधिष्ठिर भी उसी शरीर से स्वर्ग पहुँचे।

---

१. महाभारत, अनुशासनपर्व २५, ६१-६४
२. वही, वनपर्व ८५-८३
३. मत्स्यपुराण १८६, ३४-३५
४. न वेदवचनात् तात न लोकवचनादपि।
मतिरुत्क्रमणीया ते प्रयाग मरणं प्रति ॥
–महाभारत, वनपर्व ८५, ८३
५. कूर्मपुराण १, ३६, १४७; १, ३७३, ४
६. पद्मपुराण, आदिकाण्ड ४४-३, १-१६-१४, १५
७. स्कन्दपुराण २२, ७६
८. मत्स्यपुराण १८६, ३४-३५
९. ब्रह्मपुराण ६८, ७५, १७७, १६-१७, १७७, २५
१०. लिंगपुराण ९२, १६८-१६९
११. अग्निपुराण १११, १३
१२. मनुस्मृति ११६, ३१
१३. याज्ञवल्क्यस्मृति १९३, ५५
१४. महाभारत–महाप्रस्थानिकपर्व २१८, १२-१८-२३; ३, ५-७ तथा ३, ६-२२-२८

डॉ. पांडुरंग वामन काणे[१] ने वाल्मीकि रामायण तथा अन्यान्य वैदिक धर्मग्रन्थों व शिलालेखों के आधार से शरभंग, महाराजा रघु, कलचुरि के राजा गांगेय, चन्देल कुल के राजा गंगदेव, चालुक्य राजा सोमेश्वर प्रभृति के स्वेच्छापूर्वक मृत्यु वरण का उल्लेख किया है।

वानप्रस्थी की तरह गृहस्थ के लिए भी उसी प्रकार का विधान है। जिसके शरीर में व्याधि हो, वृद्धावस्था हो, जो शौचशून्य हो चुका हो वह भी अग्नि-प्रवेश, गिरिपतन या अनशन द्वारा मृत्यु को वरण करे, इस प्रकार का उल्लेख याज्ञवल्क्य-स्मृति[२], अत्रि स्मृति[३] आदि ग्रन्थों में है।

वैदिक ग्रन्थों में पति की मृत्यु के पश्चात् स्त्री को पति के शव के साथ अग्नि में प्रवेश हो जाना चाहिए। अंगिरस ने कहा—ब्राह्मण स्त्री पति की चिता पर उसके शव के साथ मरण कर सकती है। मिताक्षरी[४] टीका में गर्भावस्था आदि विशेष परिस्थितियों के अतिरिक्त पति का अनुगमन करना ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक सभी वर्ग की स्त्रियों के लिए आवश्यक माना है। विष्णुपुराण[५] के अनुसार रुक्मिणी आदि कृष्ण-पत्नियों ने कृष्ण के शव के साथ अग्नि-प्रवेश किया। रामायण[६] काल में सती-प्रथा के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। महाभारत में सती-प्रथा के सम्बन्ध में स्पष्ट विचार प्राप्त होते हैं। महाभारत[७] में कहा है—यदि पतिव्रता स्त्री पति के पूर्व मर जाय तो वह परलोक में जाकर पति की प्रतीक्षा करे और पहले पति मर जाय तो पतिव्रता स्त्री उसका अनुगमन करे।

डॉ. उपेन्द्र ठाकुर[८] का मन्तव्य है कि सती-प्रथा के पीछे धार्मिक भावनाएँ अँगड़ाइयाँ ले रही थीं। हारीत के मन्तव्यानुसार जो स्त्री पति के साथ सती होती है वह स्त्री तीन परिवारों—माता, पिता और पति के परिवारों को पवित्र करती है।

राजस्थान के राजपूतों में भी पति के पीछे सती होने के साथ ही 'जौहर' की प्रथा थी। सती पद्मिनी की कथा और अनेक राजपूतानियों के उत्सर्ग की कथाएँ

---

१. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ. ४८७—डॉ. पा. वा. काणे

२. याज्ञवल्क्यस्मृति ३, ६ की अपरार्क टीका से उद्धृत

३. अत्रिस्मृति २१८-२१९

४. याज्ञ. १, ८६ की मिताक्षरी टीका

५. विष्णुपुराण ५, ३८, २

६. रामायण २, ६६, १२; ५, १३, १९, ३०; ७, १७, १५

७. प्रथमं संस्थिता भार्या पतिं प्रेत्य प्रतीक्षते।
पूर्व-मृतं च भर्तारं पश्चात् साध्व्यनुगच्छति॥ —*महाभारत १, ७४, ४६; ३, १३५, ३०-३१*

८. History of Suicide in India —*Dr. Upendra Thakur, pp. 107, 110-111*

राजस्थान के इतिहास में भरी पड़ी हैं। स्थान-स्थान पर उनके स्मारक भी बने हुए हैं। राजस्थान तथा दक्षिणी भारत में–कर्नाटक, तमिलनाडु और आंध्र में भी अनेक स्मारक हैं। कई महासती कल (महासती शिला स्मारक), वीरगल (वीरों के शिला स्मारक), अपने राजा के लिए अपना बलिदान चढ़ाने वाले वीरों के स्मारक हैं। बंगाल में तो उन्नीसवीं सदी तक सती-प्रथा प्रचलित थी। भारत में ही नहीं प्राचीन ग्रीक और मिस्र में भी यह प्रथा प्रचलित थी। यदि स्त्रियाँ सती होना नहीं चाहतीं तो भी उन्हें बलात् सती होने के लिए बाध्य किया जाता था। चिताओं के आसपास जोर से वाद्य बजाये जाते जिससे उसका करुण क्रन्दन किसी को भी सुनाई न दे सके।

प्राचीनकाल में यूनान में प्लेटो और अरस्तु ने सती-प्रथा का विरोध किया था। आधुनिक काल में भारत में राजा राममोहन राय के विशेष प्रयत्न से तत्कालीन ब्रिटिश सरकार ने सती-प्रथा के विरुद्ध कानून बनाकर इसका अन्त कर दिया था। रूस में १७वीं-१८वीं सदी में धार्मिक उद्देश्य से पूरे के पूरे परिवार अपने को जला देते थे। इस प्रथा का भी विज्ञ व्यक्तियों ने अत्यधिक विरोध किया था।

इस्लाम धर्म में स्वैच्छिक मृत्यु का किंचित् मात्र भी समर्थन नहीं है। उनका मानना है–खुदा की अनुमति के बिना निश्चित समय से पूर्व किसी को भी मरना ठीक नहीं है। इसी प्रकार ईसाई धर्म में भी आत्महत्या का विरोध किया गया है। ईसाईयों का मानना है–न तुम्हें दूसरों को मारना है और न स्वयं मरना है।[1]

वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में एक ओर जहाँ आत्मघात को महापाप बताया है, वहाँ दूसरी ओर आत्मघात से स्वर्ग प्राप्त होता है–ऐसा भी स्पष्ट विधान किया गया है। उदाहरणार्थ वशिष्ठ ने कहा–पर्वत से गिरकर प्राण त्याग करने से राज्य लाभ मिलता है तथा अनशन कर प्राण त्यागने से स्वर्ग की उपलब्धि होती है।[2] व्यास ने कहा–जल में डूबकर प्राण त्याग करने वाला सात हजार वर्ष तक, अग्नि में प्रविष्ट होने वाला चौदह हजार वर्ष तक फल प्राप्त करता है, अनशन कर प्राण त्यागने वाले के लिए तो फल प्राप्ति के वर्षों की संख्या की परिगणना नहीं की जा सकती।[3] महाभारत के अनुशासनपर्व[4] में बताया है–जो आमरण अनशन का व्रत लेता है उसके लिए सर्वत्र सुख ही सुख है। अनशन से स्वर्ग की उपलब्धि होती है।

---

१. "Thou shall not kill, neither thyself nor another."

२. भृगुप्रपतनाद्राज्यं नाकपृष्ठगनाशकात्

३. याज्ञ. ३, ६ की टीका में अपरार्क द्वारा उद्धृत

४. महाभारत–अनुशासनपर्व ७, १८, १-९

समीक्षा

वैदिक परम्परा में मरण की विविध विधाओं का वर्णन है। उनमें परस्पर विरोधी वचन भी उपलब्ध होते हैं। कहीं पर आत्मघात को निकृष्ट माना गया और उसके लिए वैदिक परम्परा मान्य जो भी धार्मिक अनुष्ठान हैं उनका भी निषेध किया गया, दूसरी ओर आत्मघात की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन भी दिया गया है। जिस प्रकार जैन परम्परा में समाधिमरण का उल्लेख है, कुछ इसी प्रकार का मिलता-जुलता वर्णन वैदिक परम्परा में भी कहीं-कहीं पर उपलब्ध होता है। पर उस वर्णन की अपेक्षा जल-प्रवेश, अग्नि-प्रवेश, विष-भक्षण, गिरिपतन, शस्त्राघात द्वारा मरने के वर्णन अधिक हैं।

इस प्रकार जो मृत्यु का वरण किया जाता है उसमें मृत्यु-इच्छा प्रमुख रहती है। कषाय की भी तीव्रता रहती है। इसलिए भगवान महावीर ने इस प्रकार के मरण को बालमरण माना और इस प्रकार मरने के लिए आगम साहित्य में स्पष्ट रूप से इनकारी की। भगवान महावीर का मानना था कि इस प्रकार जो मृत्यु का वरण किया जाता है उसमें समाधि का अभाव रहता है। भगवान महावीर ने युद्ध में मरने वाले को स्वर्ग प्राप्ति की मान्यता का भी खण्डन किया। उन्होंने अनेक अन्धविश्वासों पर प्रहार किया।

समाधिमरण : एक मूल्यांकन

जैन धर्म सामान्य स्थिति में चाहे वह स्थिति लौकिक हो, धार्मिक हो या अन्य किसी भी प्रकार की हो, मरने के लिए अनुमति नहीं देता। किन्तु जब साधक के समक्ष तन और आध्यात्मिक सद्गुण इन दोनों में से किसी एक को ग्रहण करने की स्थिति उत्पन्न हो तो वह देह का परित्याग करके भी आध्यात्मिक सद्गुणों को अपनाता है। जिस प्रकार एक महिला अपने सतीत्व नष्ट होने के प्रसंग पर सर्वप्रथम अपने सतीत्व की रक्षा करती है भले ही उसे शरीर का परित्याग करना पड़े। उसी प्रकार साधक अपने शरीर का मोह त्यागकर अपने आत्मिक सद्गुणों और संयम की रक्षा करता है। जैन धर्म का स्पष्ट विधान है—जब तक तन की और आध्यात्मिक जीवन की रक्षा होती है तो साधक दोनों की ही रक्षा करे और दोनों की रक्षा करने का वह पूर्ण ध्यान रखे। सामान्य मानव और साधक में यही अन्तर है कि साधारण मनुष्य का ध्यान देह पर केन्द्रित होता है, वह देह के लिए ही सतत प्रयास करता है; किन्तु साधक देह की अपेक्षा संयम की साधना का अधिक लक्ष्य रखता है, संयम की साधना के लिए ही वह देह का पालन-पोषण करता है और जब वह देखता है कि शरीर में भयंकर व्याधि उत्पन्न हो चुकी है,

दुष्काल में स्वयं के साथ ही दूसरे व्यक्ति भी परेशान हो रहे हैं तो नैतिकता की सुरक्षा के लिए वह देह-विसर्जन के लिए समाधिमरण को स्वीकार करता है।

श्रीमद्भगवद्गीता[1] में वीर अर्जुन से श्रीकृष्ण ने कहा—वह जीवन किस काम का जिसमें आध्यात्मिक सद्गुणों का विनाश होता है। उस जीवन से मरण अच्छा है।

गाँधीवादी विचारधारा के महान् चिन्तक काका कालेलकर का अभिमत है—जब हमें ऐसा अनुभव हो कि जीवन का प्रयोजन समाप्त होने वाला है तो हमें मृत्यु का तिरस्कार न कर, एक आदरणीय अतिथि समझकर उसका स्वागत करना चाहिए। किन्तु रोते और बिलखते हुए मृत्यु को वरण करना कायरता है। प्रसन्नता के साथ मृत्यु को स्वीकार करना एक नैतिक आदर्श है। महात्मा गाँधी ने भी इस प्रकार की मृत्यु को श्रेष्ठ मृत्यु माना है।

हम पूर्व पृष्ठों में विस्तार के साथ बता चुके हैं कि भारत के तत्त्वदर्शी महर्षियों ने केवल जीने की कला पर ही प्रकाश नहीं डाला किन्तु उन्होंने इस प्रश्न पर भी गहराई से चिन्तन किया कि किस प्रकार मरना चाहिए। जीवन-कला से भी मृत्यु-कला अधिक महत्त्वपूर्ण है। वह नैतिक जीवन की कसौटी है। जीवन जीना यदि अध्ययन-काल है तो मृत्यु परीक्षा-काल है। जो व्यक्ति परीक्षा-काल में जरा-सी भी असावधानी करता है, वह परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाता है। मृत्यु के समय जिस प्रकार की भावना होगी उसी स्थान पर जीव उत्पन्न होता है। जैन कथा साहित्य में आचार्य स्कन्दक का वर्णन आता है। वे अपने ५०० शिष्यों के साथ दण्डकपुर जाते हैं। वहाँ के राजा दण्डक के द्वारा मृत्यु का उपसर्ग उपस्थित होने पर अपने ५०० शिष्यों को समभाव में स्थिर रहकर प्राण त्यागने की प्रेरणा देते हैं। पर स्वयं समभाव में स्थिर न रह सके जिसके कारण वे अग्निकुमार देव बने। अन्तिम समय की भावना अपना प्रभाव दिखाती है। वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में भी जड़भरत का आख्यान है। उसमें यही बताया है भरत की हरिण पर आसक्ति रहने से उसे पशु-योनि में जन्म ग्रहण करना पड़ा।

इन सभी अवतरणों से यह सिद्ध है कि मृत्यु के समय अन्तर्मानस में समभाव रहना चाहिए और समभाव रहने के लिए ही संलेखना का विधान है। संलेखना और संथारा आध्यात्मिक उत्कर्ष का मूल मंत्र है।

श्रमण और श्रावक दोनों के लिए संलेखना और संथारे का उल्लेख है। श्रावक द्वादश व्रतों का पालन करने के पश्चात् एकादश प्रतिमाओं को धारण करता है और आयुष्य पूर्ण होने के पूर्व संलेखना करके शान्ति और स्थिरता से देह त्याग

१. संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते। —गीता २, ३४

करता है। यदि कोई श्रावक शारीरिक शैथिल्य के कारण प्रतिमाओं को धारण नहीं कर सकता है, तो भी वह अन्तिम समय में संलेखना करता है। संलेखना आत्मा को शुद्ध करने की अन्तिम प्रक्रिया है। यह व्रत नहीं, वृतान्त है। संलेखना एक प्रकार से प्राणान्त अनशन है। संलेखना निर्दोष साधना है। यदि उसमें भी दोष लग जाय तो उसी समय आलोचना कर चित्त की विशुद्धि करनी चाहिए।

उपरोक्त विवेचन से संलेखना का महत्त्व स्पष्ट है। यह जीवन भर के व्रत-नियम और धर्म-पालन की कसौटी है। जो साधक इस कसौटी पर खरा उतरता है, वह अपने मानव-जीवन के लक्ष्य मोक्ष के अधिक समीप पहुँच जाता है; फिर मुक्ति रूपी मंजिल उससे दूर नहीं रहती और वह उसे यथाशीघ्र प्राप्त कर लेता है।

●●

मृत्युकल्पद्रुमे प्राप्ते येनात्मार्थो न साधितः।
निमग्नो जन्मजम्बाले स पश्चात् किं करिष्यति ॥

जीर्ण देहादिकं सर्वं नूतनं जायते यतः।
स मृत्यु किं न मोदाय सतां सातोत्थितिर्यथा॥

सुखं दुःखं सदा वेत्ति देहस्थश्च स्वयं व्रजेत।
मृत्युभीतिस्तदा कस्य जायते परमार्थतः ॥

ज्ञानिनोऽमृतसंगाय मृत्युस्ताप करोति सन्।
आमकुम्भस्य लोकेऽस्मिन् भवेत्पाक विधिर्यथा ॥

तप्तस्य तपसश्चापि पालितस्य व्रतस्य च।
पठितस्य श्रुतस्यापि फलं मृत्यु समाधिना ॥

११. जीवन का समग्र विवेक : अहिंसा

विश्व के जितने भी धर्म, दर्शन और सम्प्रदाय हैं उन सभी में अहिंसा के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है। चाहे वैदिक धर्म हो, बौद्ध धर्म हो, यहूदी, पारसी, ताओ, कन्फ्यूशियस, ईसाई, इस्लाम, शिन्तो, सिख और जैन धर्म हो–सभी ने अहिंसा के महत्त्व को स्वीकार किया है। किसी ने अहिंसा का आंशिक रूप प्रस्तुत किया तो किसी ने उस पर सर्वांग रूप से चिन्तन किया। हम यहाँ उन सभी मूर्धन्य मनीषियों के चिन्तन का नवनीत प्रस्तुत कर रहे हैं जिससे यह परिज्ञात हो सके कि अहिंसा की उदात्त भावना प्रागैतिहासिक काल से ही विश्व के विविध अंचलों में किस रूप में फैली हुई थी और अहिंसा धर्म का विकास किस प्रकार हुआ?

जीवन का संगीत : अहिंसा

अहिंसा जीवन का एक सरस संगीत है। उसकी सुमधुर स्वर-लहरियाँ जन-जन के जीवन को ही नहीं वरन् सम्पूर्ण प्राणी-जगत् को आनन्दविभोर बना देती हैं। अहिंसा जीवन को सरसब्ज बनाने वाली एक महा सरिता है। जब वह सरिता मन, वचन और काया में इठलाती हुई कल-कल, छल-छल करती हुई प्रवाहित होती है, तब मानव के जीवन में स्नेह-सद्भावना की हरियाली लहलहाने लगती है, अनुकम्पा के अंकुर फूटने लगते हैं, दया के सुरभित सुमन खिलने लगते हैं और विश्वमैत्री के मधुर फल जन-जन के मन को आकर्षित करने लगते हैं। अहिंसा से जीवन रमणीय एवं दर्शनीय बनता है।

अहिंसा की विमल धाराएँ प्रान्तवाद, भाषावाद, पंथवाद और सम्प्रदायवाद के क्षुद्र घेरे में कभी आबद्ध नहीं हुई हैं और न किसी व्यक्ति-विशेष की निजी धरोहर ही रही हैं। वह विश्व का सर्वमान्य सिद्धान्त है, मानवता का उज्ज्वल पृष्ठ है। इसीलिए भगवान महावीर ने अहिंसा को भगवती कहा है।[1]

यद्यपि अहिंसा तीन अक्षरों का लघु शब्द है किन्तु वह महामुनि विष्णुकुमार के तीन चरणों से भी अधिक व्यापक है, विराट् है। मानव समुदाय ही नहीं, विश्व के

---

१. एसा सा भगवती। –प्रश्नव्याकरण 9/9

जितने भी चर-अचर प्राणी हैं वे सभी इन तीन चरणों में समाये हुए हैं। जहाँ अहिंसा है, वहीं जीवन है। व्यापक दृष्टि से विचार करें तो अहिंसा के अभाव में जीवन का सद्भाव ही सम्भव नहीं है।

जैन दृष्टि से यह विश्व अनादि है। अनादिकाल से प्राणी जगत् है, इसलिए अहिंसा भी अनादि है। अहिंसा और जीवन का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

अहिंसा की अमोघ शक्ति

अहिंसा एक विराट् शक्ति है। अनादिकाल से मानव अपने जीवन के विविध पक्षों में उसका प्रयोग करता रहा है। मानव की कठिन से कठिनतम समस्याओं को अहिंसा ने सुलझाया है, उसके मार्ग को प्रशस्त किया है। अहिंसा वह अमोघ शक्ति है, जिसके सम्मुख संसार की सभी संहारक शक्तियाँ कुण्ठित हो जाती हैं। अहिंसा संस्कृति का प्राण है, धर्म और दर्शन का मूल आधार है। इसीलिए सभी मूर्धन्य मनीषियों ने अहिंसा की महत्ता और उपयोगिता को स्वीकार किया है और उसके स्वरूप पर प्रकाश डाला है।

वैदिक धर्म में अहिंसा

वेदों में अहिंसा

वैदिक परम्परा का आद्य स्रोत वेद हैं। वे मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की वाणी का अद्भुत संकलन हैं। ऋषियों ने प्रार्थना के रूप में अहिंसा शब्द का व्यवहार किया है।[1] ऋषि कहता है–"हम अभिगमन (संगति) प्राप्त करें। मित्रभूत या मित्र के द्वारा दिखाये हुए मार्ग से हम गमन करें। अहिंसक मित्र का प्रिय सुख हमें घर में प्राप्त हो।[2]

अहिंसा अत्यन्त हितकारी है। वह सभी के साथ मैत्री-सम्बन्ध संस्थापित करती है, आत्म-साम्य की विराट् दृष्टि प्रदान करती है। ऋषि कहता है–"हे वरुण ! यदि हम लोगों ने उस व्यक्ति के प्रति अपराध किया है जो हमें प्रेम करता था; यदि उसके प्रति कोई भूल हो गई है जो हमारा मित्र, साथी या पड़ौसी है; या किसी अज्ञात व्यक्ति के प्रति कोई घात किया हो तो हमारे अपराधों को क्षमा करो।[3]

---

१. अहिंसन्ती —ऋग्वेद १०, १२, १३
अहिंसन्तीरमानया —अथर्ववेद ९, ८, १३

२. यन्नूनमश्यां गतिं मित्रस्य यायां पथा।
अस्य प्रियस्य शर्मण्यहिंसानस्य सश्चिरे ॥ —ऋग्वेद ५, ६४, ३

३. अर्यम्यं वरुण मित्र्यं वा सखायं वा सदमिद् भ्रातरं वा।
वेशं वा नित्यं वरुणारुणं वा यत् सीमागश्चकृमा शिश्रथस्तत्॥ —वही ५, ८५, ७

मानव के कर्त्तव्य पर प्रकाश डालते हुए ऋषि ने कहा-वह दूसरों की रक्षा करे।[1]

यजुर्वेद का ऋषि प्रार्थना के स्वर में कहता है-"मैं सभी को मित्र के समान देखूँ। परस्पर सभी एक-दूसरे को मित्र के समान देखें।"[2] शान्ति की भावना को व्यापक बनाते हुए ऋषि कामना करता है-"पृथ्वीलोक से लेकर द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक तक सभी को शान्ति प्राप्त हो, जल, औषधियाँ, वनस्पतियाँ और जितने भी देवता व ब्रह्म हैं वे सभी को शान्ति प्रदान करें। विश्व ही पूर्ण रूप से शान्तिमय हो।"[3]

अथर्ववेद में ऋषि कहते हैं-हम सभी एक साथ इस प्रकार प्रार्थना करें जिससे कि परस्पर सुमति और सद्भाव का प्रसार हो।[4] भगवन् ! आपकी अतीव कृपा से मैं सभी मानवों के प्रति, चाहे मैं उनसे परिचित हूँ अथवा नहीं, सद्भाव रखूँ।[5]

इस प्रकार स्पष्ट है कि वेदयुग के ऋषियों की वाणी में अहिंसा की स्वर-लहरियाँ झनझना रही हैं। मानव मात्र तक ही नहीं, उनकी अहिंसा की विराट् भावनाएँ सभी प्राणियों के प्रति व्यक्त हुई हैं। मैत्री भावना का विकास उत्तरोत्तर व्यापक होता गया है। अहिंसा और मैत्री-ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

उपनिषद् साहित्य में अहिंसा

वेदों के पश्चात् उपनिषद् साहित्य का निर्माण हुआ। वेदों में जिन विषयों पर विचार-चर्चाएँ नहीं हो सकीं या संक्षेप में चर्चाएँ हुईं उनकी चर्चाएँ और विस्तार उपनिषदों में प्राप्त होते हैं। छान्दोग्योपनिषद् में ऋषि ने कहा-"जो आत्मा वेदों का अध्ययन करता है, सम्पूर्ण इन्द्रियों को अपने अन्तःकरण में संस्थापित करता है, शास्त्र की आज्ञा को धारण करता हुआ अन्य प्राणियों की हिंसा नहीं करता है,

---

१. पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः। -ऋग्वेद ६, ७५, १४

२. मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ -यजुर्वेद ३६,१८

३. द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथ्वी
शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्ति-
र्ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः शान्तिरेव
शान्तिः सा मा शान्तिरेधि । -वही, ३६, १७

४. तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः। -अथर्ववेद ३, ३०, ४

५. यांश्च पश्यामि यांश्च न तेषु मा सुमतिं कृधि। -वही, १७, १, ७

आयु की परिसमाप्ति तक इस प्रकार आचरण करता है, वह ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है, वह पुनः कभी संसार में नहीं लौटता।"[1]

छान्दोग्योपनिषद् में ही आत्म-यज्ञ की दक्षिणा के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए कहा गया है–तप, दान, आर्जव (सरलता), अहिंसा और सत्य–ये आत्म-यज्ञ की दक्षिणा हैं।"[2] प्राणाग्निहोत्रोपनिषद्[3] और आरुणिकोपनिषद्[4] में अहिंसा, दया, शान्ति आदि सद्गुण अग्निहोत्र करने वाले व्यक्ति की पत्नी की कमी की पूर्ति करते हैं। ये सद्गुण जिस व्यक्ति में अँगड़ाइयाँ ले रहे हों और यदि उसकी पत्नी नहीं हो तथापि वह यज्ञ कर सकता है। उन्होंने अहिंसा को यज्ञ का इष्ट कहा है। अहिंसा व्रत की परिपूर्णता के लिए ही यज्ञ आदि किये जाते हैं। शाण्डिल्योपनिषद्[5] में दस यम की चर्चा करते हुए अहिंसा को प्रथम स्थान दिया है। यह यमों में प्रथम यम है।

इस प्रकार उपनिषदों में भी यत्र-तत्र अहिंसा के स्वर मुखरित हुए हैं। उन्होंने अहिंसा को महत्त्व प्रदान किया है। आत्म-दर्शन के लिए अहिंसा को अति आवश्यक अंग माना है तथा स्पष्ट कहा है–यदि मन में, वचन में और कर्म में हिंसा की ज्वालाएँ धधकती रहेंगी तो आत्म-दर्शन सम्भव नहीं है।

स्मृति साहित्य में अहिंसा

उपनिषदों के पश्चात् स्मृति साहित्य आता है। स्मृतियों में मनुस्मृति का स्थान मूर्धन्य है। मनुस्मृति में हिंसा-अहिंसा के सम्बन्ध में विस्तार से विश्लेषण किया गया है। यह पूर्ण सत्य है कि मनुस्मृति वैदिक विधानों पर विस्तार से चिन्तन करती रही है।

मनुस्मृति में स्पष्ट कहा गया है–"जो कार्य तुम्हें पसन्द नहीं है, वह कार्य दूसरों के लिए कभी न करो।"[6] जो किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं पहुँचाता उसे बिना प्रयास के ही मनचाहा धर्म उपलब्ध हो सकता है।

---

१. तद्धैतद् ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवेमनुः प्रजाभ्यः आचार्यकुला द्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्याहिंसन्सर्वभूतान्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमाभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते॥ –*छान्दो., उ. ८, १५, १*

२. अथ यत्तापो दानमार्जवमहिंसासत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः। –*वही, उ. ३, १७, ४*

३. स्मृतिर्दया क्षान्तिरहिंसा पत्नी संजायः। –*प्राणाग्निहोत्रोपनिषद्, खण्ड ४*

४. ब्रह्मचर्यमहिंसा चापरिग्रहं च सत्यं च यत्नेन।
हे रक्षतो हे रक्षतो हे रक्षत इति ॥३॥ –*आरुणिकोपनिषद्*

५. तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यदयार्जवक्षमाधृतिमिताहारशौचानि चेति यमा दश ॥३॥
–*शाण्डिल्योपनिषद्*

६. आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्। –*मनुस्मृति*

वैदिक परम्परा में अश्वमेध यज्ञ का अत्यधिक महत्त्व रहा है। आचार्य मनु ने कहा–"एक व्यक्ति सौ वर्षों तक अश्वमेध यज्ञ करता है; दूसरा व्यक्ति माँस नहीं खाता है। वे दोनों ही समान पुण्य के भागी हैं।"[1] उन्होंने यह भी कहा–"प्राणियों के कल्याण के लिए अहिंसा का पूर्ण अनुशासन चाहिए।"[2] "इन्द्रिय-निग्रह, राग-द्वेष-परित्याग और अहिंसा के आचरण से संन्यासी मोक्ष प्राप्त करता है।"[3] "अहिंसा आदि की साधना से ही व्रत की उपलब्धि होती है।"[4] "अहिंसा, सत्य, अस्तेय, पवित्रता और इन्द्रिय-निग्रह ये ऐसे धर्म हैं जो चारों वर्णों के लिए अत्यावश्यक हैं।"[5]

ऐतिहासिक दृष्टि से स्मृति-साहित्य के पश्चात् सूत्र-साहित्य का स्थान है। सूत्रों में अन्य चर्चाएँ विस्तार के साथ की गई हैं किन्तु अहिंसा पर विशेष चर्चा नहीं हुई है। गौतम ऋषि ने सभी जीवों पर दया करना, सहिष्णुता, अक्रोध, पवित्रता, शान्ति, अलोभ आदि आठ आत्मिक गुण बताये हैं और कहा है कि जो इन गुणों को धारण करता है वह ब्रह्मा को प्राप्त होता है या उसे स्वर्ग की उपलब्धि होती है।[6]

महाकाव्यों में अहिंसा

सूत्र-साहित्य के पश्चात् काव्य की दृष्टि से संस्कृत-साहित्य में वाल्मीकि रामायण में मर्यादा पुरुषोत्तम राम का पवित्र चरित्र अंकित है। उस चरित्र के माध्यम से उन्होंने जीवन के विकास के लिए सद्गुणों का उल्लेख किया है। उन्होंने अहिंसा, सत्य, आत्मसंयम, दया, सहिष्णुता, क्षमा, आतिथ्य, शत्रुओं की सहायता, मन-वचन-कर्म की शुद्धि आदि पर अत्यधिक बल दिया है।[7] सामाजिक दृष्टि से अहिंसा पर चिन्तन करते हुए लिखा है–राजा, स्त्री, बालक, वृद्ध और शरणागत की रक्षा करनी चाहिए। उनका वध करना बहुत बड़ा पाप है।[8] इस ग्रन्थ में अहिंसा

---

१. वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः।
मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम् ॥ –मनुस्मृति, अ. ५, ५३

२. अहिंसायेव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्। –वही, अ. २, १५८

३. इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥ –वही, अ. ६, ६०

४. अहिंसयेन्द्रियासंगैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः।
तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम् ॥ –वही, अ. ६, ७५

५. अहिंसासत्यमस्तेयंशौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चतुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥ –वही, अ. १०, ६३

६. गौतम धर्मसूत्र ७०, २२-२५

७. वा. रा. २, १०९, ३१; ६, ११३, ४३-४४; ६, १८-२७-२८

८. राजस्त्री बाल वृद्धानां वधे यत्पापमुच्यते।
भृत्यत्यागे च यत्पापं तत्पापं प्रतिपद्यताम् ॥ –वा. रा. २, ७५, ३७

की चर्चा सीधे रूप से न करके पात्रों के गुणों का उत्कीर्तन करते हुए की गई है। इसके आधार पर भारत की विविध प्रान्तीय भाषाओं में वैदिक परम्परा की दृष्टि से अनेक रामायणों की रचना हुई है और उन रामायणों में अधिक विस्तार से अहिंसा के सम्बन्ध में यत्र-तत्र विश्लेषण हुआ है, राम को केन्द्र बनाकर अहिंसा की प्रबल प्रतिष्ठा की गई है।

रामायण के बाद महाभारत का युग प्रारम्भ होता है। महाभारत वेदव्यास की अद्‌भुत कृति है। ऐतिहासिक दृष्टि से उसका महत्त्व अत्यधिक है। महाभारत में पाण्डव-कौरवों की कथा के माध्यम से मानव-जीवन की दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों का चित्रण हुआ है। यत्र-तत्र अहिंसा का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। अहिंसा की विराट् भावना का महत्त्व बताते हुए वेदव्यास ने कहा–धर्म और अर्थ दोनों ही पुरुषार्थों से अहिंसा उच्च कोटि की है। विश्व में जितने भी धर्म हैं वे सभी अहिंसा में आ जाते हैं। हाथी के पैर में जैसे सभी के पैर समा जाते हैं वैसे ही अहिंसा में सभी धर्म और सद्‌गुण समा जाते हैं। अहिंसा की परिगणना, क्षमा, धीरता, समता प्रभृति दमों में की गई है।[1] अहिंसा एक पूर्ण धर्म है और हिंसा अधर्म है।[2] जो मन, वचन, कर्म से किसी भी प्राणी की जीविका का अपहरण नहीं करते, उसकी हिंसा नहीं करते, उस प्राणी को अन्य प्राणी भी वध या बन्धन के कष्ट में नहीं डालते।[3]

महाभारत के अनुशासनपर्व में अहिंसा का नैतिक व धार्मिक दृष्टि से महत्त्व प्रतिपादन करते हुए कहा गया है–"अहिंसा परम तत्त्व है, परम धर्म है, परम तप है, परम सत्य है। अन्य धर्मों का वह उद्‌गम स्थल है। वह परम संयम, परम दान और परम फल है।"[4]

---

१. सत्यं च समता चैव दमश्चैव न संशयः।
अमात्सर्यं क्षमा चैव ह्रीस्तितिक्षानसूयता ॥८॥
त्यागो ध्यानमथार्यत्वं धृतिश्च सततं स्थिरा।
अहिंसा चैव राजेन्द्र सत्याकारास्त्रयोदश ॥९॥ –*महाभारत, अ. १६२*

२. अहिंसा सकलो धर्मो हिंसाधर्मस्तथाहितः ॥२०॥ –*वही, अ. २७२*

३. यो न हिंसति सत्त्वानि मनोवाक्कर्महेतुभिः।
जीवितार्थापनयनैः प्राणिभिर्न स बद्ध्यते ॥ –*वही, शान्तिपर्व, अ. २७७*

४. अहिंसा परमोधर्मस्तथाहिंसा परं तपः।
अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते ॥
अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परो दमः।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमः तपः ॥
अहिंसा परमो यज्ञस्तथाहिंसा परं फलम्।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसापरमं सुखम् ॥
सर्वयज्ञेषु वा दानं सर्वतीर्थेषु वाऽप्लुतम्।
सर्वदानफलं वापि नैतत् तुल्यमहिंसया ॥
–*वही, अनुशासनपर्व ११५, २३; ११६, २८-३०*

अहिंसा को सेवा, वेदाध्ययन, यज्ञ, तप, दान, गुरुसेवा तथा तीर्थयात्रा से भी विशिष्ट माना गया है। ये सारे कार्य जो बताये हैं, वे अहिंसा धर्म की सोलहवीं कला की भी समानता नहीं कर सकते।[1]

अहिंसा सभी से उत्तम है। वह ऐसा पावन और पवित्र धर्म है। मानव को अहिंसा का महत्त्व समझकर चाहिए कि वह किसी प्राणी की हिंसा न करे।[2] क्योंकि जैसे हमें अपने प्राण प्यारे हैं उसी प्रकार सभी प्राणियों को अपने प्राण प्यारे हैं। एतदर्थ जो पुण्यवान् हैं वे सभी प्राणियों को अपने समान समझें।[3] जिस प्रकार मानव अपने पर दया-भावना की इच्छा करता है उसी प्रकार दूसरे प्राणियों की दया-भावना की कामना करे।[4] दयालु आत्मा ही सभी प्राणियों को अभयदान प्रदान करता है। उसे भी सभी अभयदान प्रदान करते हैं।[5]

इस प्रकार महाभारत में अहिंसा धर्म का स्पष्ट प्रतिपादन हुआ है। व्यास ने एक स्वर से अहिंसा की महत्ता को स्वीकार किया है। उनका यह वज्र आघोष रहा कि अहिंसा ही एक मात्र महान् धर्म है।

गीता में अहिंसा

श्रीमद्भगवद्गीता महाभारत के भीष्मपर्व का एक अंश है। कुरुक्षेत्र के मैदान में वीर अर्जुन को श्रीकृष्ण ने जो उद्बोधन दिया वही प्रेरणादायी संदेश गीता में है। ज्ञान, भक्ति और कर्म-मार्ग का सुन्दर विवेचन इस ग्रन्थ-रत्न में हुआ है। कर्म-मार्ग का निरूपण करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा–तप के विभिन्न प्रकार हैं। देवता, ब्राह्मण,

---

१. अहिंसा परमो धर्मो ह्यहिंसा परमं सुखम्।
अहिंसा धर्मशास्त्रेषु सर्वेषु परमं पदम् ॥
देवतातिथिशुश्रूषा सततं धर्मशीलता।
वेदाध्ययनयज्ञश्च तपोदानं दमस्तथा ॥
आचार्य-गुरु-शुश्रूषातीर्थाभिगमनं तथा।
अहिंसाया वरारोहे कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥ —महाभारत, अनुशासनपर्व, अ. १४५

२. न हिंस्यात् सर्वभूतानि, मैत्रायणगतश्चरेत्।
नेदं जीवितमासाद्य वैरं कुर्वीत् केनचित् ॥ —वही, शान्तिपर्व १७८, ५

३. प्राणा यथात्मनोऽभीष्टाः भूतानामपि वै तथा।
आत्मौपम्येन गन्तव्यं बुद्धिमद्भिर्महात्मभिः ॥ —वही, अनुशासनपर्व ११५, १९

४. नहि प्राणात् प्रियतरं लोके किंचन विद्यते।
तस्माद् दयां नरः कुर्यात् यथात्मनि तथापरे ॥ —वही, अनुशासनपर्व ११६, ८

५. अभयं सर्वभूतेभ्यो यो ददाति दयापरः।
अभयं तस्य भूतानि ददतीत्यनुशुश्रुमः ॥ —वही, अनुशासनपर्व ११६, १३

गुरु और ज्ञानी जनों की पूजा, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा आदि यह शारीरिक तप हैं। इसके विपरीत हिंसायुक्त प्रवृत्ति तामसी और राजसी प्रवृत्ति है।[1]

श्रीकृष्ण का यह दृढ़ मन्तव्य था कि अहिंसा, समता, सन्तोष, दान आदि जितने भी सुकर्म हैं वे सभी मेरे से ही उत्पन्न हुए हैं।[2]

इस तरह गीताकार ने अहिंसा को मुक्ति का साधन माना है।

पुराण साहित्य में अहिंसा

श्रीमद्भगवद्गीता के पश्चात् पुराण-साहित्य की गणना की जाती है। पुराण-साहित्य में अहिंसा का विवेचन यत्र-तत्र हुआ है। वायुपुराण का मन्तव्य है–मन, वाणी और कर्म से सभी जीवों के प्रति अहिंसा का पालन करना चाहिए।[3] विष्णु-पुराण में कहा है–हिंसा अधर्म की स्त्री है। वह सभी पातकों की जड़ है। उसका पुत्र झूठ और पुत्री निकृति (दुष्कर्म) है, इनसे नरक का भय रहता है, अर्थात्–ये तीनों नरक को ले जाने वाले हैं।[4] अग्निपुराण में भी कहा गया है–अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ये पाँचों यम मुक्ति और भुक्ति दोनों प्रदान करने वाले हैं।[5] शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर अर्चना, प्राणियों को किसी भी प्रकार का कष्ट न देना–ये अहिंसा के ही विभिन्न रूप हैं।[6]

मत्स्यपुराण का मन्तव्य है–अहिंसा मुनिव्रतों में से एक है।[7] चार वेदों के गम्भीर अध्ययन से या सत्य भाषण से जितना पुण्य होता है उससे कई गुना अधिक पुण्य

---

१. देव द्विज गुरु प्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीर तप उच्यते ॥
–*गीता १७, १४ तथा देखिए वही, अ. १८, श्लोक २५, २७ तथा २८*

२. अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ –*वही, १०, ५*

३. अहिंसा सर्वभूतानां कर्मणामनसा गिरा। –*वायुपुराण, पूर्वार्द्ध, अ. १८, १३*

४. हिंसा भार्यात्वधर्मस्य ततो तज्ञे तथानृतम्।
कन्या च निकृतिस्ताभ्यां नरकमेव च ॥ –*विष्णुपुराण, प्रथम अंश, अ. ७, ३२-३६*

५. चितवृत्तिनिरोधश्च जीव ब्रह्मात्मनोः पर।
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ ॥
यमा पंच स्मृता विप्र नियमा भुक्तिमुक्तिदा। –*अग्निपुराण, अ. ३७२, २-६*

६. शौचं संतोषतपसी स्वाध्यायेश्वरपूजने।
भूतपीडा ह्यहिंसा स्यादहिंसा धर्म उत्तमः ॥ –*वही, अ. ३७२, ३-४*

७. मुनिव्रतमहिंसादि परिगृह्य त्वयाकृतम्। –*मत्स्यपुराण, अ. ६०, १५*

अहिंसा-व्रत के पालन से होता है।[1] ब्रह्मपुराणकार का अभिमत है—जो मन से किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करता है वह स्वर्गगामी होता है।[2] नारदपुराण में कहा है—वे ही वचन सत्य हैं जिससे किसी का विरोध न हो। किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुँचे। यही अहिंसा का रूप है। इसी अहिंसा की निर्मल भावना से सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण होती हैं।[3] नारदपुराण में ही अहिंसा की गणना यमों में सर्वप्रथम की गई है।[4] शिवपुराण में अहिंसा को पुण्यकर्म में तथा हिंसा की परिगणना पापकर्म में की है। जो व्यक्ति पापकर्मों में रत है वह नरकगामी है। बृहद्धर्मपुराण में श्रद्धा, अतिथि-सेवा, सबसे आत्मीयतापूर्ण सद्व्यवहार, आत्मशुद्धि ये सभी अहिंसा की पृथक्-पृथक् विधियाँ हैं।[5] कूर्मपुराण में भी अहिंसा, प्रियवचन, अपिशुनता आदि गुणों को चारों वर्णों के लिए उपादेय माना है।[6] भागवतपुराण में महर्षि नारद ने धर्मराज से कहा—धर्म के तीस लक्षण हैं। उनमें अहिंसा प्रमुख है।[7]

इस प्रकार पुराण-साहित्य में अहिंसा का वर्णन स्थान-स्थान पर किया गया है। पुराणों में अहिंसा को केवल संन्यासी या ब्राह्मण वर्ण तक ही सीमित न रखकर स्पष्ट निर्देश किया गया है कि अहिंसा का पालन चारों वर्ण वाले यथाशक्ति कर

---

१. चतुर्वेदेषु यत्पुण्यं यत्पुण्यं सत्यवादिषु।
अहिंसायास्तु यो धर्मो गमनादेव तत् फलम् ॥ —मत्स्यपुराण, अ. १०५, ४८

२. सर्वभूत दयावन्तो विश्वास्याः सर्वजन्तुषु।
त्यक्तहिंस्र समाचारास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ —ब्रह्मपुराण, अ. २२४, ९

३. अहिंसा सा नृप प्रोक्ता सर्वकामप्रदायिनी।
कर्मकार्यं सहायत्वनकार्यं परिपन्थता ॥ —नारदपुराण, १६, २६

४. अहिंसा सत्यनक्रोधो ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ।
अनीर्ष्या च दया चैव योगयोरुभयोसमाः ॥३५॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यपरिग्रहौ।
अक्रोधश्चानुसूया च प्रोक्ताः संक्षेपतो यमाः ॥३५॥ —वही, अ. ३३

५. अहिंसात्वासनजयः परपीडाविवर्जनम्।
श्रद्धाचातिथिसेवा च शांतरूपप्रदर्शनम् ॥
आत्मीयता च सर्वत्र आत्मबुद्धिः परमात्मसु।
इति नानाविधाः प्रोक्ता अहिंसेति महामुने॥ —बृहद्धर्मपुराण अ. २, ११-१२

६. अहिंसा प्रियवादित्वमपैशुन्यमकल्कता।
सामासिकमिदं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥ —कूर्मपुराण, अ. २, ६७

७. अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्।
त्रिंशल्लक्षणवान्राजन्सर्वात्मा येन तुष्यति ॥
—भागवतपुराण, प्रथम खण्ड, स्कन्ध ७, अ. ११०, ८-१२

सकते हैं। अहिंसा का पालन सभी के लिए आवश्यक है। वह जीवन को निखारने का अपूर्व साधन है।

दार्शनिक साहित्य में अहिंसा

दार्शनिक युग में तर्क की प्रधानता रही। दर्शन आत्मा-परमात्मा और जगत् के सम्बन्ध में चिन्तन करता रहा है। वैदिक परम्परा के दार्शनिक चिन्तकों की दृष्टि से अहिंसा का विषय चिन्तन की अपेक्षा आचरण का अधिक रहा है। यों अहिंसा पर भी उन्होंने चिन्तन किया है किन्तु उसे अपने चिन्तन का प्रधान केन्द्र-बिन्दु नहीं बनाया। अतः दार्शनिकों ने उस पर चिन्तन एवं तर्क-वितर्क कर उसकी संस्थापना करने का विशेष प्रयास नहीं किया। योगदर्शन में योग के आठ अंग बताये हैं–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। उसमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम के अन्तर्गत हैं।[1] अहिंसा की प्रतिष्ठा होने पर वैर का सर्व-त्याग हो जाता है।[2] हिंसा-अहिंसा के विविध भेद भी योगदर्शन के व्यास-भाष्य में उपलब्ध होते हैं।

वहाँ कहा गया है जो अहिंसक है वह दयालु है और जो दयालु है वह अहिंसक है। अहिंसात्मक दया का ही फल भगवत्प्राप्ति है। सर्व भूत मित्र उसे कहा गया है जो माँस नहीं खाता और किसी जीव की हिंसा व घात नहीं करता है।[3]

सांख्यदर्शन ने यज्ञों के नाम पर भीषण हिंसा को दोषपूर्ण बताया है। उनका यह अभिमत था–जैसे अन्य स्थान पर की गई हिंसा, हिंसा है वैसे ही यज्ञ के लिए की गई हिंसा अहिंसा किस प्रकार हो सकती है? वह भी हिंसा ही है।

वेदान्त दर्शन का यह मन्तव्य था कि 'ब्रह्मसत्यं जगत्मिथ्या।' जब ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है तो हिंसा और अहिंसा का प्रश्न ही उपस्थित नहीं हो सकता। क्योंकि हिंसा करने वाला और हिंसित होने वाला ये दोनों ब्रह्म के ही अंश हैं। वेदान्त की विभिन्न शाखाओं ने अहिंसा पर विशेष विस्तार के साथ कोई चिन्तन नहीं किया।

इस प्रकार हम देखते हैं वैदिक परम्परा का मूल स्वर अहिंसा का रहा है। अहिंसा की धारा कभी सूखकर मंद हो गई तो कभी पुनः तेजी के साथ प्रवाहित होने लगी।

---

१. अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। —*योगसूत्र, अ. २, ३०*

२. अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः। —*वही, अ. २, ३५*

३. पातंजल योगदर्शनभाष्य–साधना पाद, सू. ३५

हमने विहंगम दृष्टि से वैदिक परम्परा के लगभग सभी सम्माननीय ग्रन्थों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि अहिंसा धर्म का मूल स्रोत है। अहिंसा के आचरण से जीवन में सुख और शान्ति की वंशी बजती है।

बौद्ध धर्म में अहिंसा

बौद्ध धर्म भारत का एक प्रमुख धर्म रहा है। भारत की पवित्र भूमि में जन्म लेकर विश्व के विविध अंचलों में इस धर्म ने अपना प्रभाव दिखाया। बौद्ध धर्म में अहिंसा की प्रधानता रही। इस धर्म के प्रसिद्ध एवं मान्य ग्रन्थों में अहिंसा की प्रेरणा दी गई है। मन, वचन और कर्म से अन्य प्राणियों को कष्ट न दिया जाय।[1] अहिंसा का पथिक न स्वयं किसी को कष्ट देता है और न अन्य किसी को कष्ट देने के लिए उत्प्रेरित करता है।[2] स्थूल जीवों की ही बात नहीं, वह पेड़-पौधों को भी कष्ट नहीं पहुँचाता।[3]

'आर्य' की परिभाषा देते हुए तथागत बुद्ध ने कहा–प्राणियों की हिंसा करने से कोई भी व्यक्ति आर्य नहीं कहला सकता, किन्तु जो किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करता है वही वस्तुतः आर्य है।[4]

भिक्षुओं को उपदेश देते हुए बुद्ध ने तीन प्रकार के शील पर प्रकाश डाला और कहा–आरम्भिक, मध्यम और महा ये तीन शील हैं, जो सभी भिक्षुओं के लिए आवश्यक हैं। इन शीलों में अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, सत्य तथा नशीले पदार्थों का परित्याग समाविष्ट है।[5] बुद्ध ने मैत्री भावना, करुणा भावना, मुदिता भावना और उपेक्षा भावना पर बल दिया है।[6] इन भावनाओं में अहिंसा की निर्मल विचार-लहरियाँ तरंगित हो रही हैं।

संयुक्तनिकाय में राजा प्रसेनजित से बुद्ध ने कहा–राजन् ! अपने मन को सभी दिशाओं में घुमाओ। तुम्हें अपने से प्यारा अन्य कोई भी प्राणी नहीं मिलेगा। जैसे तुम्हें अपना जीवन प्रिय है वैसे ही दूसरों को भी अपना जीवन प्रिय है। जो अपनी

---

१. संयुक्त निकाय–अनु. भिक्षु जगदीश काश्यप तथा भिक्षु धर्मरक्षित, पहला भाग, पृ. ७१

२. धम्मपद २५, ९-१०

३. विनयपिटक अनु. राहुल सांकृत्यायन, पृ. २०७

४. न तेन आरियो होति येन पाणानि हिंसति।
अहिंसा सब्बपाणानं आरियोति पवुच्चति॥ –धम्मपद १९, १५

५. दीघनिकाय, अनु. राहुल सांकृत्यायन तथा ज. काश्यप, पृ. २-३

६. दीघनिकाय, पृ. ९०-९२

भलाई चाहते हैं, वे दूसरों को कभी भी नहीं सताते हैं।[१] विश्व के समस्त प्राणियों के साथ असीम मैत्री भावना बढ़ाई जाय।[२] अतः तुम सदा मन में यही भावना भाओ कि विश्व के सभी प्राणी सुखी हों।[३] जिसके अन्तर्मानस में प्राणियों के प्रति दया नहीं है उसे वृषल यानी शूद्र (सही शब्दों में वृष = धर्म, ल = लोप करने वाला = धर्म का लोप करने वाला, धर्म का पालन न करने वाला) समझना चाहिए।[४] जैसा मैं हूँ वैसे ही विश्व के सभी प्राणी हैं और जैसे वे सभी प्राणी हैं उसी प्रकार मैं भी हूँ–इस प्रकार अपने समान सभी प्राणियों को समझकर न किसी का वध करे न दूसरे से वध कराये।[५] क्योंकि मारने वाले को मारने वाला मिलता है और जीतने वाले को जीतने वाला।[६] पहले विश्व में केवल तीन ही रोग थे–इच्छा, भूख और जरा। किन्तु पशुवध प्रारम्भ होने पर अठानवे नये रोग पैदा हो गये।[७]

तथागत बुद्ध ने एतदर्थ ही हिंसापरक यज्ञ को अनुचित कहा। जब राजा प्रसेनजित् हिंसापरक यज्ञ करने के लिए तत्पर हुआ और तथागत बुद्ध को यह वृत्त परिज्ञात हुआ तो उन्होंने राजा से कहा–राजन् ! यज्ञ में हिंसा करने के फल अच्छे नहीं होते। यदि तुम्हें यज्ञ ही करना है तो ऐसा यज्ञ करो जिसमें भेड़-बकरे और गायें न कटती हों। ऐसा यज्ञ ही सुमार्ग पर ले जाने वाला है।[८]

मैत्री भवाना का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए बुद्ध ने कहा–मैत्री भावना को अधिक विकसित करो। जिसमें मैत्री भावना का विकास होता है, वह सुरक्षित रहता है। जैसे किसी कुल में अधिक पुरुष हों और महिलाएँ कम हों, वह कुल हमेशा तस्करों के भय से मुक्त रहता है। वैसे ही जहाँ मैत्री भावना प्रबल होती है, उन्हें किसी भी प्रकार का भय नहीं होता।[९]

---

१. दीघनिकाय, पृ. २४-२८
२. मेत्तं च सब्बलोकस्मिं मानसं भावये अपरिमाणं। –*सुत्तनिपात १, ८, ८*
३. सब्बे सत्ता भवन्तु सुखितत्ता। –*वही १, ८, ३*
४. यस्स पाणे दया नत्थि तं जञ्ञा वसलो इति। –*वही १, ७, २*
५. यथा अहं तथा एते यथा एते तथा अहं।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये ॥ –*वही ३, ३७, २७*
६. हन्ता लभति हन्तारं, जेतारं लभते जयं ॥ –*संयुक्तनिकाय १, ३, १५*
७. तयो रोगा पुरे आसुं इच्छा अनसनं जरा।
पसूनं च समारंभा अट्ठानवुतिमागमु ॥ –*सुत्तनिपात ३, १९, २८*
८. संयुक्तनिकाय, भाग १, पृ. ७२
९. वही, भाग १, पृ. ३०६-३०७

सुत्तनिपात में बुद्ध ने कहा–जंगम या स्थावर, दीर्घ या ह्रस्व, अणु या स्थूल, दृष्ट या अदृष्ट, दूरस्थ या निकटस्थ, उत्पन्न या उत्पद्यमान जितने भी प्राणी हैं वे सभी सुखपूर्वक रहें। वे किसी के साथ वंचना न करें, न किसी का अपमान करें। वे सभी प्राणियों को उसी प्रकार देखें जैसे माता अपने इकलौते पुत्र को देखती है।[1]

एक बार तथागत ने देखा कि कुछ भिक्षु एक-दूसरे को पीट रहे हैं। बुद्ध ने कहा–भिक्षु ! सभी को अपने समान समझो, क्योंकि दण्ड और मृत्यु सभी के लिए कष्टप्रद होते हैं।

एक बार बालकों को साँप मारते हुए देखा तो बुद्ध ने उन्हें समझाते हुए कहा–जो अपना सुख चाहने के लिए दूसरे प्राणियों को मारते हैं, वे मरने के पश्चात् भी सुखी नहीं होते।[2]

इसी प्रकार एक स्थान पर तथागत ने कहा–सभी प्राणी वैर से रहित हों। कोई भी वैर न रखे। सभी प्राणी सुखी हों। कोई दुःख न पावे।[3] मन ज्यों-ज्यों हिंसा से हटता है त्यों-त्यों दुःख शान्त होता है।[4]

तथागत बुद्ध का जीवन एक महाकारुणिक जीवन था। दीन-दुःखियों को देखकर उनका हृदय दया से द्रवित हो जाता है। उन्होंने सामाजिक, राजनैतिक जीवन में ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जिनमें अहिंसात्मक प्रतिकार रहे हैं। उनके अहिंसात्मक प्रतिकार से हजारों प्राणियों के बहते हुए खून रुक गये। बुद्ध ने हिंसा का निषेध कर अहिंसा की प्रतिष्ठा की।

यहूदी धर्म में अहिंसा

यहूदी धर्म विश्व के प्रमुख धर्मों में से एक है। उसका मन्तव्य है–किसी व्यक्ति के आत्म-सम्मान को चोट न पहुँचाओ। किसी के सामने किसी व्यक्ति को अपमानित न करो। उसका अपमान करना उतना ही महान् पाप है जितना कि किसी व्यक्ति का खून करना।[5] वह व्यक्ति दुष्ट कहलाएगा जो किसी व्यक्ति को मारने के लिए हाथ उठाता है, शक्ति के अभाव में भले ही वह न मारे।[6] यदि तुम्हारा कोई शत्रु

---

१. सुत्तनिपात–उरगवग्गो–मेत्तसुत्त १, १०

२. धम्मपद–दण्डवग्गो ३, ४

३. सब्बे सत्ता अवेरिनो होन्तु मा वेरिनो।
सुखिनो होन्तु, मा दुक्खिनो ॥ –पटिसम्भिदामग्गो २, ४-२-६

४. यतो यतो हिंसमनो निब्बत्तीति ततो ततो सम्मतिमेव दुक्खं। –धम्मपद २६, ८

५. ता. बाबा मेतलिया ५८ (ब)

६. सिफरा लैव्य–व्यवस्था १९, २

तुम्हें मारने के लिए तुम्हारे घर आए और यदि वह भूखा-प्यासा है तो तुम्हारा प्रथम कर्तव्य है कि तुम उसे भोजन कराओ और पानी पिलाओ।[1]

बन्धुत्व भाव को विकसित करने के लिए कहा है–बन्धुत्व का प्रेम जाति और धर्म की सीमाओं से ऊपर है। एतदर्थ अपने पड़ौसी को प्यार करो। उनके प्रति तुम्हारे मन में किसी भी प्रकार की घृणा की भावना न रहे। उनसे ईर्ष्या न करो। जब तुम्हारे मानस में एक-दूसरे के प्रति स्नेह-सौहार्दपूर्ण भाईचारे का भाव संस्थापित हो जाएगा तो सहज ही घृणा का भाव नष्ट हो जाएगा। सभी लोग एक ही पिता के पुत्र हैं, अतः सभी से स्नेह करो। पड़ौसियों से प्रेम करो। उनसे घृणा करना ईश्वर से घृणा करने के समान है। यदि तुम्हारे भाई या पड़ौसी निर्धन हैं, तो उन्हें तुम सहयोग करो। तुम अपने पड़ौसियों के साथ वैसा ही व्यवहार करो जैसा तुम अपने प्रति चाहते हो। अपने साथियों की सेवा करना–यह एक प्रकार का सुकर्म है–सुकृति है।[2]

यहूदी धर्म ने मानवता पर बल दिया है। मानवता को विकसित करने के लिए ईमानदारी, ब्रह्मचर्य, सत्य, भक्ति प्रभृति सद्गुणों पर उसने अधिक बल दिया। दया और प्रेम को उन्होंने ईश्वर माना। क्रोध, विलास, अन्याय आदि दुर्गुणों को नष्ट करने की प्रेरणा दी।[3]

इस प्रकार यहूदी धर्म में भी अहिंसा के विधेयात्मक पहलू पर अत्यधिक बल दिया गया जिसके फलस्वरूप यहूदियों का विकास हुआ। उसका स्पष्ट मन्तव्य रहा किसी व्यक्ति पर संकट के बादल उमड़-घुमड़कर मँडरा रहे हों, उस पर हिंसक डाकू प्रहार कर रहे हों, शेर-चीते आदि जंगली पशु उस पर झपट रहे हों तो हमारा कर्त्तव्य है कि हम उनकी रक्षा करें। यदि हमारा देह-बल क्षीण हो, शारीरिक दृष्टि से हम उनका रक्षण करने में असमर्थ हों किन्तु हमारे पास यदि धन है तो हमें चाहिए कि धन-बल से भी उनके प्राणों की रक्षा करें।[4] प्राणीमात्र के प्रति हमारे अन्तर्मानस में किसी प्रकार का वैर-भाव न हो।[5] यह सन्देश देते हुए कहा–किसी के प्रति वैर-भाव न रखो।

इस तरह स्पष्ट है कि यहूदी धर्म में भी अहिंसा की भावनाएँ विकसित हुई हैं।

---

१. नीति २५, २१ परमिदारास
२. Glimpses of World Religions, p. 157
३. (क) Ibid, p. 158
   (ख) Glimpses of World History—Charles Dickens
४. ता. सनहेड्रिन, अ. ७३
५. तोरा–लैव्य व्यवस्था १९, १७

पारसी धर्म में अहिंसा

पारसी धर्म के प्रवर्तक जरथुष्ट्र थे। उनका प्रमुख ग्रन्थ अवेस्ता है। उनके अभिमतानुसार प्रत्येक व्यक्ति के तीन कर्तव्य[1] हैं–

(१) अपने शत्रु को मित्र बनाना।

(२) दानव को मानव बनाना।

(३) अज्ञानी को ज्ञानी बनाना।

यह निर्विवाद सत्य है कि अहिंसा के द्वारा ही शत्रु को स्नेह-सद्भावना के आधार पर मित्र बनाया जा सकता है। यदि शत्रु के प्रति मन में दुर्भावनाएँ होंगी, उसके प्रति हिंसापरक व्यवहार होगा तो उसके अन्तर्मानस में मित्रता की हरियाली नहीं लहलहाएगी। अहिंसा से ही सद्भाव की वृद्धि होगी। जरथुष्ट्र ने कहा–जो व्यक्ति किसी के विकास में बाधाएँ उपस्थित करता है, या किसी भी प्राणी का घात कर प्रसन्न होता है तो उसे अहुरा मज्दा निकृष्ट कोटि में रखते हैं।[2] उन्होंने कहा–किसी से भी बदला लेने की भावना अत्यन्त निम्न वृत्ति है। दूसरे से बदला लेने की भावना से अनेक प्रकार के अहित होने की सम्भावना है। बदले की भावना तुम्हें सतत सताती रहेगी। अतः शत्रु से भी बदला मत लो। बदले की भावना से प्रेरित होकर कभी कोई पाप-कार्य मत करो। सदा-सर्वदा मन में सद्विचारों के दीपक प्रकाशित रखो।

पारसी धर्म ने दान आदि सद्गुणों पर अत्यधिक बल दिया है जो अहिंसा का ही विधेयात्मक पक्ष है।

ताओ धर्म में अहिंसा

ताओ धर्म के प्रवर्तक लाओत्से थे। वे जिस समय पैदा हुए उस समय चीन में राजनीतिक स्थिति अत्यन्त विषम थी। सामाजिक जन-जीवन में भ्रष्टाचार पनप रहा था। सामाजिक और राजनैतिक विकृत स्थिति को देखकर लाओत्से ने चीन छोड़ने का निश्चय किया, किन्तु चीन-निवासियों की प्रेरणा से उन्होंने अपना विचार स्थगित कर 'ताओ-तेहकिंग' नामक ग्रन्थ लिखा।

इस ग्रन्थ में उन्होंने अपने विचारों को मूर्त रूप दिया है। उन्होंने जीवन में सरलता पर अत्यधिक बल दिया। साथ ही उन्होंने इस बात पर भी अधिक बल दिया कि हिंसा से उत्पन्न घाव पर स्नेह का मरहम और दया की पट्टी लगाओ।

---

१. Glimpses of World Religions, p. 130 २. गाथा–हा. ३४-३

राजनैतिक जीवन में हिंसा का प्राधान्य था। बात-बात में रक्त की नदी बहाई जाती थी। मानव-जीवन के साथ खिलवाड़ किया जाता था, यह उन्हें बिलकुल ही पसन्द नहीं था। उसका उन्होंने स्पष्ट शब्दों में विरोध किया। उन्होंने कहा–जो बादशाह जनता की निर्मम हत्या करने में विश्वास रखता है, दूसरों की हत्या करने में आनन्द की अनुभूति करता है, वह कभी भी सुशासक नहीं बन सकता। वह तो कुशासक है।[१]

लाओत्से ने यह भी कहा–जो व्यक्ति मेरे प्रति सद्व्यवहार करते हैं, मैं उनके प्रति सद्व्यवहार करता ही हूँ। पर जो लोग मेरे प्रति सद्व्यवहार नहीं करते हैं उनके प्रति भी मैं सद्व्यवहार करता हूँ।[२]

कन्फ्यूशियस और अहिंसा

कन्फ्यूशियस चीन का एक प्रबुद्ध चिन्तक था। लाओत्से की तरह उसने भी नीति सम्बन्धी अपने विचार प्रस्तुत किये। उसने कहा--एक श्रेष्ठ व्यक्ति के लिए तीन बातें[३] आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य हैं–

(१) जब तक शारीरिक विकास पूर्णता को संप्राप्त न हो जाय तब तक उसे माँस ग्रहण करने में स्वतन्त्र नहीं होना चाहिए।

(२) जब युवावस्था हो, शरीर में रक्त उत्साह से उछल रहा हो, उस समय युद्ध की प्रवृत्ति पर नियंत्रण करना चाहिए।

(३) वृद्धावस्था में अभिलाषाओं पर नियन्त्रण करना चाहिए।

इससे स्पष्ट है कि उन्होंने माँस ग्रहण करने का आंशिक रूप से विरोध किया।

अपने शिष्यों की जिज्ञासा का उत्तर देते हुए कन्फ्यूशियस ने कहा–जीवन के निर्मल प्रवाह से स्नेह की बाढ़ और मैत्री का पूर्ण संचार कर दो।[४] जो लोग श्रेष्ठ होते हैं वे सभी से स्नेह करते हैं। जो तुम्हें नापसन्द है वह कार्य तुम दूसरों के लिए कभी मत करो।[५]

इस प्रकार कन्फ्यूशियस ने अहिंसा के विधेयात्मक पहलू पर चिन्तन किया है।

---

१. Great Asian Religions, p. 153

२. ताओ तेह किंग।

३. Glimpses of World Religions, p. 225

४. Ibid, p. 233

५. 'पारसी धर्म क्या कहता है ?' पुस्तक से

–ले. श्री कृष्णदत्त भट्ट

ईसाई धर्म में अहिंसा

ईसाई धर्म के प्रवर्तक महात्मा ईसा थे। वर्तमान युग में विश्व के विविध अंचलों में यह धर्म फैला हुआ है। ईसा ने कहा–तुम अपनी तलवार म्यान में रख लो, क्योंकि जो लोग तलवार चलाते हैं, वे सभी तलवार से ही नष्ट किये जाएँगे।

किसी के साथ भी दुर्व्यवहार न करो। तुम्हारे गाल पर कोई तमाचा मारता है तो दूसरा गाल भी उसके सामने कर दो।[9]

इसी का यह स्पष्ट मानना था 'जैसा को तैसा' का जो सिद्धान्त है वह सर्वथा अनुचित है। 'आँख के बदले आँख, दाँत के बदले दाँत और सिर के बदले सिर' लेने के सिद्धान्त से समस्या का सही समाधान नहीं हो सकता। इससे शान्ति प्राप्त नहीं होती। उन्होंने आगे चलकर कहा–"पड़ौसी को प्यार करो और शत्रु से घृणा करो।"–इस पुराने सिद्धान्त पर ध्यान न दो, बल्कि शत्रु से प्यार करो। जो तुम्हें शाप दे, उसे तुम वरदान दो। जो तुम्हारा बुरा करे, उसका तुम भला करो। जो तुमसे ईर्ष्या करता है, तुम पर अभियोग लगाता है, उस पर तुम स्नेह की वर्षा करो और इस प्रकार की प्रशस्त भावना करो कि उसके विचारों में परिवर्तन आ जाय।

ईसा ने ईश्वर को प्रेम के रूप में चित्रित किया। वस्तुतः प्रेम ही ईश्वर है, वही अहिंसा है। प्रेम के अभाव में अहिंसा रह नहीं सकती। जहाँ पर द्वेष का दावानल सुलग रहा हो, प्रतिकार की भावनाएँ पनप रही हों, वहाँ पर प्रेम और विनम्रता रह नहीं सकती। जहाँ पर विनम्रता और विश्वबन्धुत्व का साम्राज्य है, वह एक प्रकार से ईश्वरीय राज्य है। ईश्वर-सेवा का अर्थ है–मानव-समाज की सेवा करना। जिसके हृदय में दया का साम्राज्य नहीं है, उसका ज्ञान शुष्क ज्ञान है।

ईसा ने प्रेम, करुणा, सेवा आदि सद्गुणों को जीवन के लिए आवश्यक माना है।

इस तरह ईसाई धर्म में भी अहिंसा की भावनाएँ मानव-सेवा और प्रेम के रूप में विकसित हुई हैं।

इस्लाम धर्म में अहिंसा

इस्लाम धर्म का मुख्य केन्द्र अरब रहा है। इस धर्म का मन्तव्य है कि खुदा सारे जगत् का पिता है और जगत् में जितने भी प्राणी हैं वे सभी खुदा के ही बन्दे और पुत्र हैं। कुरान-शरीफ के प्रारम्भ में अल्ला ताला का विशेषण 'बिस्मिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम' है जिसका अर्थ है खुदा दयामय है। खुदा के मन के कण-कण में दया का निवास है।

9. Bible, Mathew V

मुहम्मद साहब के उत्तराधिकारी हजरत अली ने मानवों को सम्बोधित कर उपदेश देते हुए कहा–"हे मानव ! तू पशु-पक्षियों की कब्र अपने पेट में मत बना।" अर्थात् तू माँस का भक्षण न कर।

इसी प्रकार दीन-ए-इलाही के प्रवर्तक सम्राट् अकबर ने कहा–मैं अपने पेट को दूसरे जीवों का कब्रिस्तान बनाना नहीं चाहता। यदि किसी की जान बचाई, मानो उसने सारे इंसानों को जिन्दगी बख्शी है।[1]

उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट है कि इस्लाम धर्म में भी अहिंसा को प्रधानता दी गई तथा मदिरापान, ईर्ष्या, लालच, असत्य, कृपणता, अभिमान, हिंसा, युद्ध आदि को त्याज्य बताया है। वे जीवन को विकृत करने वाले दुर्गुण हैं। कुरान-शरीफ में जहाँ-तहाँ भ्रातृत्व, दान, क्षमा, मैत्री, दया, प्रेम, कृपा, संयम आदि सद्गुणों के ग्रहण करने पर बल दिया है।[2] ये सद्गुण जीवन को विकसित करते हैं। इन सद्गुणों को धारण करने से जीवन में अहिंसा का पवित्र आचरण करने की भव्य भावना लहराने लगती है। इससे स्पष्ट है कि इस्लाम धर्म में भी अहिंसा की भावनाएँ विकसित होती रही हैं।

सूफी सम्प्रदाय में अहिंसा

इस्लाम धर्म के अन्तर्गत ही सूफी सम्प्रदाय भी विकसित हुआ। सूफियों का मानना है कि मुहम्मद साहब को दो प्रकार के ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त हुए थे। एक ज्ञान को उन्होंने कुरान के द्वारा व्यक्त किया और दूसरा ज्ञान उन्होंने अपने हृदय में धारण किया। कुरान का ज्ञान विश्व के सभी व्यक्तियों के लिए प्रसारित किया गया जिससे वे सद्ज्ञान के द्वारा अपने जीवन को पावन बनावें। पर दूसरा ज्ञान उन्होंने कुछ प्रमुख शिष्यों को ही प्रदान किया। वह ज्ञान अत्यन्त रहस्यमय था। वह रहस्यमय ज्ञान ही सूफी कहलाया है।[3] किताबी ज्ञान जो कुरान का ज्ञान था वह 'इल्म-ई-साफिन' और हार्दिक ज्ञान 'इल्म-ई-सिन' कहलाया।

सूफी दर्शन का रहस्य है–परमात्मा सम्बन्धी सत्य का परिज्ञान करना। परमात्म-तत्त्व की उपलब्धि के लिए सांसारिक वस्तुओं का परित्याग करना।[4] जब परमात्म-तत्त्व की अन्वेषणा सूफियों का लक्ष्य रहा हो, तब हिंसा-अहिंसा का प्रश्न उपस्थित ही नहीं होता। हिंसा-अहिंसा का प्रश्न वहीं समुत्पन्न होता है जहाँ राग का प्राधान्य हो, द्वेष की दावाग्नि सुलग रही हो; वहीं पर हिंसा की प्राधान्यता है।

---

१. व मन् अह्या हा फकअन्नमा अह्यन्नास जमीअन:। —कुरान-शरीफ ५-३५
२. Glimpses of World Religions, p. 203
३. Ibid. p. 258
४. सूफीमत–साधना और साहित्य, पृ. २१२

सूफी सम्प्रदाय में प्रेम के आधिक्य पर बल दिया गया है। वे परमात्मा को प्रियतम मानकर सांसारिक प्रेम के माध्यम से प्रियतम के सन्निकट पहुँचना चाहते हैं। मानवीय प्रेम ही आध्यात्मिक प्रेम का साधन है।[1] प्रेम परमात्मा का सार है। ईश्वर की अर्चना करने का प्रेम ही सर्वश्रेष्ठ और सर्वोत्कृष्ट रूप है।[2]

सूफी सम्प्रदाय में, इस प्रकार, प्रेम के रूप में अहिंसा की उदात्त भावना पनपी। प्रेम के विराट् रूप का जो चित्रण सूफी सम्प्रदाय में हुआ वह अद्‌भुत है।

शिन्तो धर्म में अहिंसा

यह जापान का मुख्य धर्म है। जापान में शिन्तो धर्म का जब प्रादुर्भाव हुआ उस समय तक जापान में अन्य धर्म का आगमन नहीं हुआ था। 'शिन्तो' वस्तुतः चीनी शब्द है जिसका जापानी नाम 'कामी नो मीची' है जिसका तात्पर्य है 'श्रेष्ठ-जन तक ले जाने वाला मार्ग।'

शिन्तो धर्म के मुख्य सिद्धान्तों[3] में पितृजन के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित की गई है। उनका मन्तव्य है अपने पितृजन के प्रति अपनी कृतज्ञता को न भूलो। यह भी न भूलो कि संसार एक परिवार है। दूसरों के क्रुद्ध हो जाने पर भी तुम स्वयं क्रुद्ध न बनो। कार्य करने में आलस्य न करो। देवों के उदार सद्‌गुणों को विस्मृत न बनो।

इस प्रकार इस धर्म में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की निर्मल भावना के रूप में अहिंसा का प्रतिपादन हुआ है।

सिक्ख धर्म में अहिंसा

सिक्ख धर्म का उद्‌भव भारत में हुआ। भारत के प्राचीन धर्म और दर्शन से अनेक विशेषताएँ ग्रहण कर गुरु नानक ने नवीन धर्म की संस्थापना की। सिक्ख धर्म में कर्ममार्ग, योगमार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग–इन चार मार्गों का प्रतिपादन किया गया है। कर्ममार्ग को दो भागों में विभक्त किया है–बंधनप्रद कर्म और मोक्षप्रद कर्म। मोक्षप्रद कर्म में हरिकीर्तन, आध्यात्मिक आदि कर्म आते हैं। सिक्खों ने वैदिक कर्मकाण्ड का विरोध किया जिसमें यज्ञ के नाम पर हिंसा होता थी। उसका उन्होंने खण्डन करते हुए लिखा–हिंसा करने, भस्म लगाने, सिर मुँड़ा देने से

---

१. सूफीमत–साधना और साहित्य, पृ. ३१६

२. Glimpses of World Religions, p. 266

३. Ibid, p. 280

उद्धार नहीं होता। उद्धार उसी का होता है जिसकी दृष्टि में समभाव हो; समभाव वाला व्यक्ति ही वास्तविक योगी है।[1]

अहिंसा के सिद्धान्त को महत्त्व देते हुए गुरु नानक ने कहा–जो सबकी भलाई करता है–सभी की भलाई बिना अहिंसा सिद्धांत को अपनाना सम्भव नहीं है–वही महान् है।[2] अहिंसा की निर्मल भावना से प्रेमभाव की वृद्धि होती है। गुरु गोविन्दसिंह ने प्रेम की महत्ता बताते हुए कहा–बिना प्रेम के प्रभु प्राप्त नहीं हो सकता।[3] गुरु अर्जुनदेव ने कहा–विश्व को अपना समझो, मेरा न कोई शत्रु है, न अपरिचित ही। मेरे लिए सभी समान हैं। मेरी सबसे बनती है।[4]

गुरु ग्रन्थ साहिब में कहा है–रक्त लग जाने से वस्त्र पर दाग लग जाता है, वैसे ही रक्तयुक्त माँस खाने से मन मैला हो जाता है। इसलिए माँस ग्रहण करना दोषपूर्ण है।[5]

सिक्ख धर्म में भी सात्त्विक भोजन पर बल दिया। अहिंसा की भावना वहाँ भी पनपी है। सिक्ख धर्म ने अन्याय को सहन करना हिंसा माना है इसीलिए उसके प्रतिकार के लिए वे सतत तैयार रहे। उनकी यह भावना अन्याय के प्रतिकार के लिए थी। वे युद्ध के लिए युद्ध नहीं करना चाहते थे।

सन्त साहित्य में अहिंसा

भारतीय साहित्य में सन्त साहित्य का अपना विशिष्ट स्थान और महत्त्व है। सन्त भारत के विविध अंचलों में उत्पन्न हुए। पंडरपुर से लेकर पुरी तक और कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक सन्तों ने जन-जीवन में अंधविश्वास, रूढ़ियों के विरोध में क्रान्ति के स्वर बुलन्द किये। क्षत्रिय और ब्राह्मण ही नहीं अपितु

---

१. जोग न हिंसा जोग न डण्डे
....
एक दृष्टि कर समसरु जाणे
जोगी कहिये सोइ ॥

२. नानक नाम चढ़दी कला।
तेरे भाणे सर्बत्त का भला ॥

३. साच कहहुं सुनि लेहु सबहि।
जिन प्रेम कियो तिनही प्रभु पायो ॥ —अकालस्तुति

४. ना को वैरी न ही बेगाना।
सकल संगि हमको बन आई ॥

५. जे रत लग्गे कपड़े जामा होए पलीत।
जे रत पीवें मासा तिन क्यों निर्मल चीत॥

हरिजन-गिरिजन भी सन्त बनकर जन-जन की श्रद्धा के केन्द्र बने। उन्होंने स्पष्टतया जातिवाद का खंडन किया।[1] 'सौ सयाने एक मता' की उक्ति के अनुसार सभी सन्तों ने हिंसा के विरोध में अपने स्वर बुलन्द किये। दक्षिण भारत के नयनार, आल्वार, कर्नाटक के वीर, शैव एवं दासपंथ के सन्त, महाराष्ट्र के सन्त, गुजरात, राजस्थान, बंगाल व उत्तर भारत के सन्त प्रेम, अहिंसा और समता का प्रचार करते रहे। विस्तार भय से उन सभी सन्तों के अहिंसापरक उद्‌गार हम यहाँ नहीं दे रहे हैं। केवल दो-चार प्रमुख सन्तों के ही उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं–

सम दृष्टि तब जानिए, सीतल समता होय।
सब जीवन की आतमा, लखै एक सी होय॥
रज्जब अज्जब काम है, जो दिल न दुखाया जाय।
यहाँ खलक उस पर खुशी, आगे खुशी खुदाय॥ –रज्जब

हम तौ एक-एक करि जाना।
दोइ कहै तिनको है दोजख जिन नाहिन पहचाना॥
एकै पवन एक ही पानी, एक जोती संसारा।
एक ही खाक घड़े सब भाड़े एक ही सिरजनहारा॥ –कबीर

कुंजर चींटी पशू नर, सब में साहब एक।
काटे गला खोदाय का, कहे सूरमा लेख॥ –मलूकदास

निरबैरी सब जीव सौं, सत जन सोई।
दादू एकै आतमा, बैरी नहीं कोई॥ –दादू

मन करि दोष न कीजिए, वचन न लावै कर्म।
घात न करिए देह सों, इहै अहिंसा धर्म॥ –सुन्दरदास

इस प्रकार सन्त-साहित्य में बहुत ही विस्तार के साथ अहिंसा पर चिन्तन हुआ है। सन्तों का अपना स्वतन्त्र चिन्तन स्वानुभूति पर आधृत था।

जैन धर्म में अहिंसा

जैन धर्म ने अहिंसा पर बहुत ही सूक्ष्म विवेचन किया है। हमने पूर्व पृष्ठों में देखा जितने भी धर्म, दर्शन और सम्प्रदाय हैं, उन सभी ने अहिंसा पर चिन्तन किया; किन्तु जब हम गहराई से अध्ययन करते हैं तो सहज ही ज्ञात होता है कि

---

१. जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान।
मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान॥ –कबीर

अहिंसा का जैसा सूक्ष्म विश्लेषण जैन साहित्य में उपलब्ध होता है वैसा अन्य साहित्य में प्राप्त नहीं होता। जैन धर्म के प्रत्येक क्रिया-कलाप में अहिंसा की दिव्य ध्वनि मुखरित हो रही है। चाहे चलना हो, चाहे बोलना हो–सभी में अहिंसा का नाद गूँज रहा है।[1] अहिंसा केवल धार्मिक व्यवहार में ही नहीं, जीवन के प्रत्येक व्यवहार में व आचरण में आनी चाहिए। जैन धर्म का मूल आधार ही अहिंसा है। श्रमण भगवान महावीर ने कहा है–जैसे जीवों का आधार पृथ्वी है वैसे भूत और भावी ज्ञानियों के जीवन दर्शन का आधार अहिंसा है।[2]

हिंसा कभी भी धर्म नहीं हो सकती। इस विराट् विश्व में जितने भी प्राणी हैं वे चाहें छोटे हों या बड़े हों, पशु हों या मानव हों, सभी की एक ही कामना है और वह है जीवित रहने की। सभी जीवित रहना चाहते हैं, कोई भी मरना नहीं चाहता।[3] जिस हिंसक व्यवहार को तुम अपने लिए पसन्द नहीं करते, उस व्यवहार को दूसरा किस प्रकार पसन्द करेगा? जिस दयामय व्यवहार को तुम पसन्द करते हो उसे सभी पसन्द करते हैं। यही जिनशासन का सार है।[4] किसी के प्राणों का नाश करना कभी भी धर्म नहीं हो सकता। भयाकुल प्राणी के लिए शरण की प्राप्ति श्रेष्ठ होती है। वैसे ही प्राणियों के लिए भगवती अहिंसा की शरण विशेष रूप से हितकर है।[5] अतः समस्त जीवों पर मैत्री-भाव रखो। त्रस, स्थावर सभी प्राणियों का मंगल करने वाली अहिंसा है।[6] शत्रु और मित्र सभी प्राणियों पर समभाव की दृष्टि रखना ही अहिंसा है। एतदर्थ प्राणियों के प्रति आत्म-तुल्य भाव रखो। किसी भी प्राणी की हिंसा न करना ही ज्ञानी होने का सार है। क्योंकि सभी के अन्तर में एक सदृश आत्मा है। जैसे हमें अपने प्राण प्यारे हैं वैसे ही सभी को अपने प्राण प्यारे हैं ऐसा समझकर भय और वैर से मुक्त होकर किसी भी प्राणी की हिंसा न करो। जो स्वयं हिंसा करता है। दूसरों से करवाता है या करने की प्रेरणा देता है वह अपने लिए वैर ही बढ़ाता है।[7] अतः प्राणियों के प्रति वैसा ही स्नेह-भाव रखो जैसा कि अपनी आत्मा के प्रति रखते हो।

---

१. जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सये।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं न बंधइ॥ –दशवैकालिक, अ. ४/८

२. जे य बुद्धा अतिक्कंता, जे य बुद्धा अणागया।
संति तेसिं पइट्ठाणं, भूयाणं जगई जहा॥ –सूत्रकृतांग, श्रु. १, अ. ११, गा. ३६

३. सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं। –दशवैकालिकसूत्र ६, १०

४. जं इच्छसि अप्पणतो जं च न इच्छसि अप्पणतो।
तं इच्छ परस्स वि, एत्तियगं जिणसासणयं॥ –बृहत्कल्पभाष्य ४५८४

५. भगवती अहिंसा भीयाणं वि व सरणं। –प्रश्न. २, १

६. अहिंसा तस-थावर-सव्वभूयखेमंकरी। –वही २-१

७. उत्तराध्ययन ८, १०

अहिंसा का मूल आधार समता है। समता से आत्म-साम्य की निर्मल दृष्टि प्राप्त होती है। विश्व में जितनी भी आत्माएँ हैं उन सभी के प्रति ममत्व दृष्टि रखनी चाहिए। यह मेरा है, यह पराया है–इस प्रकार का भेदभाव समाप्त कर, सभी के साथ समतामूलक व्यवहार करना समत्वयोग की एक महान् उपलब्धि है। जितनी भी आत्माएँ हैं तात्त्विक दृष्टि से उन सभी में एक समान ज्योति है, समान ही प्रकाश है, सभी में एक ही तरह की चेतना है, सभी के गुण-धर्म भी समान हैं और सभी को एक ही सदृश सुख-दुःख की अनुभूति होती है। सभी को जीने में आनन्द आता है और मरने में कष्ट होता है। कूकर, शूकर और गन्दगी में कुलबुलाते हुए कीड़ों में भी जिजीविषा है। उन सबकी यही इच्छा है हमें मृत्यु न आये और यही इच्छा स्वर्ग में रहने वाले देव और इन्द्र की भी है। जिसका जीवन सुख के सागर में निमग्न है वह भी जीना चाहता है और दुःख-दावाग्नि में जिसका जीवन सुलग रहा है वह भी जीना चाहता है। जब मानव अपनी आत्मा के समान अन्य प्राणियों की आत्माओं को समझता है तो वह हिंसा जैसे निकृष्टतम कृत्य को नहीं कर सकता। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने उसी को परम योगी माना जो सभी जीवों को अपने सदृश समझता है, उनके सुख-दुःख को अपना समझता है।[1]

आत्मतुल्यता का प्रस्तुत सिद्धान्त अत्यन्त उदार और महान् है। जब साधक के जीवन में करुणा की अमृत वर्षा होती है, अहिंसा का आलोक जगमगाने लगता है, तब वह दूसरे प्राणियों को भी जीने का पूर्ण अधिकार देने के लिए प्रयत्नशील होता है। वह दूसरों को जीने के लिए सहयोग प्रदान करता है, और अपने जीवन की आहुति देकर भी दूसरों की रक्षा करने का प्रयास करता है।

अहिंसा की परिभाषा

व्याकरण एवं रचना की दृष्टि से अहिंसा एक निषेधात्मक शब्द है। समता, सर्वभूतदया, संयम जैसे पवित्र आचरण के लिए वह प्रयुक्त है। सन्देह, अविश्वास, विरोध और क्रूरता का परिहार कर स्नेह, सहानुभूति, उदारता आदि सद्गुण अहिंसा से ही संभव हैं। अहिंसा व्यक्ति और समाज के कटु सम्बन्धों को परिष्कृत करती है; वर्गभेद, जातिभेद, प्रान्तभेद की संकीर्ण विचारधाराएँ, जिनसे विषमताएँ पनपती हैं, शान्ति नष्ट होती है, उन्हें नष्ट कर विराट् भावनाएँ पनपाती हैं तथा मानवीय मूल्यों को विकसित और नीतियुक्त बनाती हैं। अहिंसा प्राणीमात्र को जीने का अधिकार प्रदान करती है। अपने आप में जीना तो एक यान्त्रिक जीवन जीना है। क्षुद्र से क्षुद्र जीव-जन्तु भी अपना जीवन तो जीते ही हैं। वे दूसरों को नष्ट

---

१. गीता ६. ३२

करके भी अपना जीवन सुखपूर्वक व्यतीत करना चाहते हैं। पर जैन संस्कृति उस प्रकार जीवन जीने को उपयुक्त नहीं मानती। उसका स्पष्ट अभिमत है कि दूसरों को कष्ट देकर जीवित रहने का प्रयास करना अनुपयुक्त है।

अहिंसा को भगवान महावीर ने सभी जीवों के लिए कल्याणप्रद देखा। अतः उन्होंने कहा–जिसे तू मारना चाहता है वह तेरे समान ही है। जिसे तू आज्ञा देने की इच्छा करता है वह भी तेरे समान ही है। जिसे तू कष्ट देना चाहता है वह भी तेरे ही समान है। अतः तू किसी भी प्राणी को न सता, न मार, न किसी को ताड़ना प्रदानकर और न किसी को आकुल-व्याकुल ही कर।

हिंसा के अभाव का सूचक अहिंसा है। अहिंसा का अर्थ है हिंसा का न होना, हिंसा की भावनाएँ और हिंसाजन्य क्रियाओं का अभाव होना।

अहिंसा का एक अर्थ 'नकार' पर आधृत है। उसका प्रथम पक्ष निषेधमूलक है, पर वस्तुतः अहिंसा केवल निषेध में ही नहीं, अपितु निषेध और विधेय उभयात्मक रूप में है। वह कार्य जो जन-जीवन को हिंसा से पृथक् रखता है, अहिंसा है और वह कार्य भी अहिंसा है जिसके द्वारा हिंसा, शोषण एवं कष्टों से झुलसते हुए तथा संतृप्त प्राणियों का रक्षण किया जाता है। हिंसा के निषेधात्मक और विधेयात्मक दो पहलू हैं।

अहिंसा का विश्लेषण करने से पूर्व हिंसा के यथार्थ स्वरूप को समझना आवश्यक है जिससे कि अहिंसा के सही स्वरूप को समझने में सरलता रहे।

हिंसा की परिभाषा

आचार्य उमास्वाति ने 'तत्त्वार्थसूत्र' में 'प्रमत्तयोग से प्राणों का व्यपरोपण' को हिंसा कहा है।[1] आचार्य अमृतचन्द्र[2] ने 'कषाय के वशीभूत होकर द्रव्यरूप या भावरूप प्राणों का घात करना' हिंसा माना है। यह ध्यातव्य है कि जहाँ प्रमाद होगा, वहाँ कषाय अवश्य होगी। प्रमाद या 'प्रमत्त' शब्द मन की कलुषता, अज्ञानता, असावधानी का द्योतक है। सर्वार्थसिद्धि[3] और राजवार्तिक[4] में भी इसी कथन का समर्थन किया गया है। जब मन में कषाय भाव उद्‌बुद्ध होता है तब आत्मा की निर्मलता, पवित्रता धुँधली पड़ जाती है। भावनाओं में विकारों की तरंगें

१. प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा। –तत्त्वार्थसूत्र, अ. ७, सू. ८

२. यत्खलु कषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा॥ –पुरुषार्थ., श्लोक ४३

३. सर्वार्थसिद्धि ७-१३, पृ. २६४

४. राजवार्तिक ७-१३

उठने लगती हैं। उन दुष्परिणामों से युक्त व्यक्ति जो भी कार्य करता है, भले ही उस कार्य से अन्य प्राणियों का घात न हो, तथापि उसकी अपनी आत्मा का घात तो अवश्य हो ही जाता है। एक दियासलाई है, वह जलती है, भले ही वह दूसरों को न जलाये, किन्तु स्वयं तो जलकर नष्ट होती ही है।

हिंसा के दो भेद : द्रव्यहिंसा और भावहिंसा

जैन आगम साहित्य में हिंसा को (१) द्रव्यहिंसा, और (२) भावहिंसा दो भागों में बाँटा है। द्रव्यहिंसा वह है जिसमें कोई व्यक्ति किसी के प्राणों को नष्ट करने के लिए उस पर आक्रमण करता है, उसे पीड़ा देता है, उसका शोषण करता है। वह शरीर को अधिक से अधिक यातना देने का प्रयास करता है। उसकी वे सारी प्रवृत्तियाँ जिनसे दूसरे प्राणियों का अहित या विनाश होता हो, द्रव्यहिंसा है। जब मानव के मन में किसी के प्रति विद्वेष की ज्वाला प्रज्वलित हो रही हो, कषाय और ईर्ष्याएँ मन में भड़क रही हों इस प्रकार मनोविकारों की उत्तेजना, भावहिंसा है। द्रव्यहिंसा मुख्यतः दूसरे प्राणियों के जीवन का अहित करती है और भावहिंसा अपनी आत्मा का ही अहित करती है। भावहिंसा चिन्तन-शक्ति को कुण्ठित करती है। वह आत्म-शक्तियों पर आवरण डाल देती है। व्यक्ति मन ही मन अपने विरोधियों का सर्वनाश करने का सोचता है। जिस समय मन में इस प्रकार की दुर्भावनाएँ उठती हैं उसी समय भावहिंसा तो हो ही जाती है। यदि प्रतिपक्षी बहुत ही सबल है, आप उसका विनाश करना चाहते हुए भी उसका बाल भी बाँका नहीं कर सकते, किन्तु कषायपूर्ण दुश्चिन्तन से आपने अपनी आत्मा और आत्मिक गुणों का घात तो कर ही लिया। यही भावहिंसा है।

हिंसा के विविध विकल्प

द्रव्यहिंसा और भावहिंसा के आधार पर आचार्यों ने हिंसा के चार विकल्प[१] किये हैं–

१. भावहिंसा हो, द्रव्यहिंसा न हो।

२. द्रव्यहिंसा हो, भावहिंसा न हो।

३. द्रव्यहिंसा भी हो, भावहिंसा भी हो।

४. न द्रव्यहिंसा हो और न भावहिंसा हो।

प्रथम विकल्प में भावहिंसा का सद्भाव और द्रव्यहिंसा का असद्भाव बताया है। जैसे विरोधी व्यक्ति अधिक शक्तिसम्पन्न हो अथवा अनुकूल साधनों के अभाव

१. दशवैकालिकचूर्णि, प्रथम अध्ययन

में वह भावहिंसा तो करता है किन्तु द्रव्यहिंसा नहीं कर पाता। महात्मा गाँधी ने भी सभी प्रकार की असभ्यताओं, अशिष्टताओं और दुर्भावनाओं को हिंसा कहा था। इस विकल्प में विद्वेषपूर्ण भावना प्रबलतम होती है।

द्वितीय विकल्प में द्रव्यहिंसा का सद्भाव और भावहिंसा का असद्भाव है। साधक जो साधना के पथ पर प्रतिपल-प्रतिक्षण बढ़ रहा है उसके अन्तर्मानस में किसी भी प्राणी को कष्ट देने का किंचित् मात्र भी विचार नहीं है, न उसकी वाणी से ही किसी को कष्ट पहुँचता है और न उसका आचरण ही किसी को कष्ट देने वाला है। वह विवेकपूर्वक प्रत्येक कार्य करता है। तथापि चलते-फिरते, उठते-बैठते अंशतः हिंसा होती ही है। आचार्यों ने कहा है–"पक्ष्मणोपि निपातेन तषां स्यात् स्कन्धपर्यवः।" आँखों के पलक झपकने में भी असंख्य प्राणी मर जाते हैं। जहाँ तक शरीर है वहाँ तक हिंसा पूर्ण रूप से रुक नहीं सकती। यहाँ द्रव्यहिंसा तो है, पर भावहिंसा नहीं है। कल्पना कीजिए–एक डॉक्टर रुग्ण व्यक्ति की शल्य चिकित्सा कर रहा है। वह रुग्ण व्यक्ति को बचाने का पूर्ण प्रयास करता है, तथापि वह मर जाता है। इस स्थिति में द्रव्यहिंसा होने पर भी भावहिंसा नहीं है। इस कोटि की अहिंसा आत्मा के अधःपतन का कारण नहीं बनती।

तृतीय विकल्प में द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की अहिंसा का सद्भाव है। मन में किसी को नष्ट करने का विचार उत्पन्न हुआ और उसे नष्ट भी कर दिया। इसमें दुहरी हिंसा हुई। यह हिंसा प्रथम विकल्प की अपेक्षा अधिक अधःपतन का कारण है।

चतुर्थ विकल्प में न द्रव्यहिंसा है न भावहिंसा ही। यह विकल्प हिंसा की दृष्टि से शून्य है। आत्मा की जब पूर्ण विशुद्ध दशा होती है जिसे जैन परिभाषा में चौदहवें गुणस्थान की स्थिति कहते हैं, उस अयोग अवस्था में आत्मा पूर्ण रूप से मन, वचन और काया के योगों का निरुन्धन कर लेता है अतः हिंसा का मूलतः अभाव हो जाता है।

इन चार विकल्पों में पहला और तीसरा विकल्प हिंसा की कोटि में है। द्वितीय विकल्प में द्रव्यहिंसा होने पर भी भावहिंसा न होने से वह वस्तुतः कर्मबन्धन का कारण न होने से हिंसा नहीं मानी जाती है। चतुर्थ विकल्प में हिंसा का पूर्ण अभाव है।

सारांश यह है कि राग-द्वेष के वशीभूत होकर किसी भी प्राणी को कष्ट देने के जितने भी मानसिक, वाचिक और कायिक प्रकार एवं क्रियाकलाप हैं वे सभी हिंसा में समाविष्ट होते हैं। आचार्य जिनदासगणि महत्तर ने दशवैकालिकचूर्णि[1] में

१. दशवैकालिकचूर्णि, प्र. अ. ३४-४४

लिखा है–मन, वचन, काया के दुरुपयोग से जो प्राणघात होता है, वह हिंसा है। सूत्रकृतांग[1] में 'तिविट्ठेणं' तीन विधियों से हिंसा न करना बताया है। उपासकदशांग में भी मन, वचन और काया से हिंसा न करने का स्पष्ट आदेश है। आचारांग में षट्काय के जीवों की हिंसा न करने का आदेश है।

स्तर की दृष्टि से हिंसा के दो रूप बनते हैं–परस्पर जीवों के भेद और कषाय की मात्रा। एकेन्द्रिय जीवहिंसा में कषाय की मात्रा कम होती है, किन्तु त्रसकाय पंचेन्द्रिय जीवहिंसा में कषाय की मात्रा अधिक होती है। अतः भगवान महावीर ने कहा–"सब प्राणी, सब भूत, सब जीव और सब सत्वों को न मारना चाहिए, न अन्य व्यक्ति के द्वारा मरवाना चाहिए, न बलात्कार से पकड़ना चाहिए, न परिताप देना चाहिए, न उन पर प्राणापहार उपद्रव करना चाहिए–यह अहिंसा रूप धर्म ही शुद्ध है, शाश्वत है।[2]

हिंसा के तीन रूप

हिंसा के तीन रूप बनते हैं–(१) संरंभ, (२) समारंभ, (३) आरंभ।

व्यक्ति के अन्तर्मानस में हिंसा की भावना पैदा होना, हिंसा करने के सम्बन्ध में सोचना, मन में एक योजना बनाना 'संरंभ' है। यह एक प्रकार से वैचारिक और मानसिक हिंसा है। समारंभ–मन में जो हिंसक विचार उत्पन्न हुए उन विचारों को मूर्तरूप देने हेतु हिंसक शस्त्रास्त्रों को संग्रह कर उन्हें व्यवस्थित रूप से रखना 'समारंभ' है। आरंभ–मानसिक या वैचारिक दृष्टि से जो योजना बनाई उस योजना के अनुसार शस्त्रास्त्रों का उपयोग करना 'आरम्भ' है।

इससे यह स्पष्ट है कि हिंसा का जन्म सर्वप्रथम मन में होता है, फिर वचन में आता है और उसके बाद आचरण में। प्रमाद या कषाय के वशीभूत होकर प्रतिशोध की भावना उसके मन में उत्पन्न होती है। फिर वचन के द्वारा वह प्रतिशोध की भावना कटु शब्दों के द्वारा व्यक्ति होती है तत्पश्चात् हिंसा आचरण में व्यक्त होती है।

आचार्य अमृतचन्द्र[3] ने लिखा है–जब मन में कषाय उद्बुद्ध होती है तो सर्वप्रथम शुद्धोपयोग रूप, भावप्राणों का घात होता है। यह प्रथम हिंसा है। उसके पश्चात् कषाय की तीव्रता से दीर्घ श्वासोच्छ्वास, हस्त-पाद आदि से अपने

---

१. सूत्रकृतांग, १-२, गा. १३-१६

२. आचारांग, श्रु. १, अ. ४, उ. १

३. यत्खलु कषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा॥ —पुरुषार्थ., श्लोक ४३

अंगोपांगों को कष्ट पहुँचाता है, यह दूसरी हिंसा है। उसके बाद मर्मभेदी कुवचनों से लक्ष्यपुरुष के अन्तरंग मानस को पीड़ा पहुँचाई जाती है, यह तीसरी हिंसा है। फिर तीव्र कषाय व प्रमाद से उस व्यक्ति के द्रव्यप्राणों को नष्ट करता है, यह चतुर्थ हिंसा है। इस तरह द्रव्य और भाव रूप प्राणों का घात करना हिंसा है।

संरंभ, समारंभ और आरंभ इन तीनों हिंसाओं के मूल में क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय हैं। इन चार कषायों के साथ संरंभ आदि तीनों भेदों का गुणा करने से हिंसा के बारह भेद होते हैं। उन बारह भेदों का मन, वचन और काय योग के तीन भेदों से गुणा करने से हिंसा के ३६ भेद होते हैं। मन, वचन और काया से स्वयं हिंसा करना, दूसरों से करवाना और करते हुए का अनुमोदन करना। इस प्रकार ३६ भेदों को ३ से परिगुणन करने पर हिंसा के १०८ प्रकार होते हैं।

हिंसा के इन समस्त प्रकारों से निवृत्ति होना पूर्ण अहिंसा है।

हिंसा के चार विभाग

जीवन को हिंसा की कालिमा से मुक्त करने के लिए जैनाचार्यों ने अन्य दृष्टि से हिंसा के चार विभाग किये हैं–

(१) संकल्पी हिंसा (३) उद्योगी हिंसा

(२) आरंभी हिंसा (४) विरोधी हिंसा

संकल्पी हिंसा–मारने की भावना से जान-बूझकर किसी प्राणी का वध करना या उसे आघात पहुँचाना, संकल्पी हिंसा है। अपने मनोरंजनार्थ अथवा शक्ति के प्रदर्शन हेतु निर्बल व निर्दोष प्राणियों को परस्पर लड़ाना, उनका शिकार करना, अपने स्वार्थ हेतु अर्थोपार्जन के लिए पशु-पक्षियों का वध करना, उन्हें बन्धन में बाँधना, मानवों को नष्ट करना, यह संकल्पी हिंसा है।

आरम्भी हिंसा–भोजन निर्माण करते समय, घर, दुकान व अन्य स्थानों की सफाई करते समय, वस्त्र आदि का प्रक्षालन करते समय या अन्यान्य कार्य करते समय होने वाली हिंसा, आरम्भी हिंसा है।

उद्योगी हिंसा–मानव को अपने तथा अपने परिवार के व्यक्तियों के जीवन-पोषण हेतु, सामाजिक एवं राष्ट्रीय दायित्व को निभाने के लिए खेती, व्यापार आदि विविध प्रकार के उद्योग करने पड़ते हैं। इन कार्यों में होने वाली हिंसा उद्योगी हिंसा है।

विरोधी हिंसा–राष्ट्र पर शत्रु का आक्रमण होने पर, या अपनी तथा अपनी बहन-बेटियों की इज्जत व सुरक्षा के लिए समाज-विरोधी तत्त्वों से रक्षा करने हेतु

जो युद्ध अथवा संघर्ष आदि के द्वारा हिंसा होती है, वह विरोधी हिंसा है। यह हिंसा गृहस्थ अपने दायित्त्व को निभाने के लिए करता है।

उक्त चारों विकल्पों में सभी प्रकार की हिंसा का समावेश हो जाता है। जैन श्रमण पूर्ण अहिंसक होता है। वह न स्वयं हिंसा करता है न करने के लिए कहता है और न हिंसा करने वाले का अनुमोदन ही करता है, पर श्रमणोपासक प्रथम विकल्प का त्याग करता है। वह ऐसा कोई भी कार्य नहीं करता जिसमें निर्दयता और बर्बरता प्रकट होती हो। निर्दय व्यक्ति ही संकल्पपूर्वक आमोद-प्रमोद, प्रदर्शन तथा मिथ्या अहंकार के पोषण के लिए किसी भी निर्दोष प्राणी का हनन करता है। इसलिए श्रावक संकल्पी हिंसा का त्याग करता है। जीवन-निर्वाह के लिए उसे व्यापार हेतु कोई आरंभ या उद्योग आदि करना पड़ता है। किन्तु इन सभी कार्यों में वह विवेक रखता है। वह सदा यह ध्यान रखता है कि अपने स्वार्थ के लिए किसी भी निर्दोष प्राणी को कष्ट न हो। आरंभ और उद्योग का वह पूर्ण त्याग नहीं कर सकता परन्तु उस हिंसा की भी वह मर्यादा करता है।

इसी तरह अपने जीवन, परिवार और राष्ट्र को शत्रुओं के आक्रमण से बचाना उसका कर्तव्य होता है। उस समय विरोधी हिंसा भी होती है। वह केवल प्रतिशोध लेने के लिए हिंसा नहीं करता। वह यथाशक्ति युद्ध एवं संघर्ष को रोकने के लिए हिंसा करता है। वह स्वयं किसी पर भी आक्रमण नहीं करता, प्रत्युत विवश होकर उसे प्रत्युत्तर देना पड़ता है।

कुछ व्यक्तियों का आरोप है कि जैनों की अहिंसा ने देश को गुलाम बना दिया। पर उनकी यह धारणा भ्रान्त है। जैनों की अहिंसा देश की रक्षा में बाधक नहीं बनी। जैन धर्म की अहिंसा का तो हार्द यह है कि तुम स्वयं किसी भी देश पर आक्रमण न करो, किसी भी देश की आन्तरिक समस्याओं में हस्तक्षेप न करो, किसी भी देश या व्यक्ति को परतन्त्र बनाने का प्रयास न करो। कोई भी समस्या हो, जहाँ तक हो सके वार्तालाप से सुलझाने का प्रयास करो। तुम सदा यही प्रयास करो कि युद्ध न हो। यदि कोई उपाय न हो तो देश की सुरक्षा के लिए यदि तुम्हें शस्त्र उठाना पड़े तो वीरता के साथ शौर्य प्रदर्शित करो। वह युद्ध करता नहीं, उसे अच्छा भी नहीं मानता किन्तु उसे विवशता से करना पड़ता है। वह नर-संहार के लिए शस्त्रों को धारण नहीं करता। पर मानवता की रक्षा के लिए उसे शस्त्र उठाना पड़ता है। उसके विरोध में भी स्नेह रहता है, सद्भावना रहती है।

हिंसा-अहिंसा का विश्लेषण

अहिंसा जैन धर्म का प्राण है। अहिंसा की मूल भित्ति पर ही जैनाचार का भव्य प्रासाद टिका हुआ है। जैन आगम साहित्य में अहिंसा का जो सूक्ष्म निरूपण हुआ है

वह बहुत ही अद्भुत और अनूठा है। विश्व के किसी भी धर्म, दर्शन और परम्परा में इतना सूक्ष्म विश्लेषण नहीं हुआ है, यह साधिकार कहा जा सकता है। आचारांग[1] में षट्काय के जीवों की हिंसा का उल्लेख है। पृथ्वीकाय की हिंसा विषय-कषाय से उत्प्रेरित होकर ज्ञान, विवेक को विस्मृत होकर की जाती है। वे उन जीवों को परिताप देते हैं, संत्रस्त करते हैं और उन्हें संक्लेश पहुँचाते हैं। अपने आप को अनगार व त्यागी कहने वाले भी विविध प्रकार के शस्त्रास्त्रों से पृथ्वीकाय का आरंभ समारंभ करते हैं। प्रशंसा प्राप्त करने के लिए, जन्म-मरण से मुक्त होने के लिए, दुःखों का उन्मूलन करने के लिए पृथ्वीकाय के जीवों की घात की जाती है।

इसी प्रकार अप्काय के जीवों की भी हिंसा की जाती है। अप्काय जीवों का पिण्ड होता है। अप्काय में अप्काय के जीवों के अतिरिक्त असंख्यात द्वीन्द्रिय आदि जीव भी होते हैं। आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार भी जल की एक बूँद में १० खरब सजीव अणु–त्रसकाय के जीव होते हैं। अप्काय की तरह अग्निकाय भी जीवों का पिण्ड है। अग्निसमारंभ अष्ट कर्मों की ग्रंथि है। वह मोह, मृत्यु और नरक का कारण है। विषय-भोगों में आसक्त व्यक्ति अग्निकाय के समारंभ से निवृत्त नहीं होता। वह प्रत्यक्ष रूप में विभिन्न शस्त्रों के द्वारा अग्निकाय के जीवों की हिंसा करता है। अग्निकाय के आरम्भ में विभिन्न जीवों की भी हिंसा होती है। पृथ्वीकाय के आश्रय में तृण, काष्ठ, गोबर, कूड़ा-कर्कट के आश्रय में रहने वाले विभिन्न प्रकार के त्रस जीव, आकाश में उड़ान भरने वाले जीव-जन्तु, कीट-पतंग, पक्षी भी उसमें प्रज्वलित होकर नष्ट हो जाते हैं। अग्नि के संस्पर्श से उनका शरीर संकुचित हो जाता है और वे मूर्च्छित होकर अपने प्राणों का परित्याग कर देते हैं।[2]

सूत्रकृतांग[3] में भी कहा गया है–जो व्यक्ति आग प्रज्वलित करता है वह भी हिंसा करता है और जो आग को बुझाता है वह भी हिंसा करता है; अतः ज्ञानी अग्निकाय के जीवों की घात न करे।

अग्नि की तरह वायुकाय भी जीवों का पिण्ड है। जीवन में सुख-सुविधा के लिए वायुकाय के जीवों को नष्ट किया जाता है। वायुकाय के जीवों का विनाश अनेक कारणों से होता है। वायुकाय की तरह वनस्पतिकाय में भी जीव हैं। जैसे मानव शरीर को धारण करता है, अभिवृद्धि करता है, छेदन-भेदन करने पर मूर्च्छित हो जाता है, आहार ग्रहण करने पर उसमें ताजगी आती है, वह परिवर्तनशील चय-उपचय वाला अनित्य और अशाश्वत है वैसे ही वनस्पतिकाय

---

१. आचारांग १, २-३

२. वही १, ४, ३७-३८

३. सूत्रकृतांग, अध्ययन ७, गाथा ५-७

का शरीर भी है। वह वनस्पतिकाय की भी, मान सम्मान आदि के लिए हिंसा करता है, कराता है और करने का अनुमोदन करता है।

त्रसकाय की भी हिंसा अनेक कारणों से की जाती है त्रस जीव पृथ्वी, पानी, वायु के आश्रित सभी स्थानों पर पाये जाते हैं। प्रमादी जीव पूजा-प्रतिष्ठा, सन्मान के लिए तथा विभिन्न दुःखों से मुक्ति पाने के लिए त्रसकाय के जीवों की हिंसा करते हैं। अनेक मनुष्य देवी-देवताओं की अर्चना के लिए, कितने ही चर्म, माँस, रक्त, हृदय, पित्त, कोश, चर्बी, पंख, पूँछ, केश, सींग, विषाण, दन्त, दाढ़, नाखून, स्नायु, अस्थि, मज्जा आदि पदार्थों के लिए सप्रयोजन या निष्प्रयोजन अनेक प्राणियों का वध करते हैं और दूसरों से करवाते हैं। कितने ही व्यक्ति इस दृष्टि से भी सिंह, सर्प आदि जन्तुओं को नष्ट करते हैं कि इन्होंने मेरे पारिवारिक जनों को मारा है। मेरे स्नेही को इसने खतम किया है, इसलिए मैं इन्हें समाप्त कर दूँ। या यह मुझे भविष्य में मारेगा।[1]

आचारांग के अतिरिक्त सूत्रकृतांग[2], प्रश्नव्याकरण[3], दशवैकालिक[4] प्रभृति श्वेताम्बर आगम साहित्य में और प्रवचनसार[5], मूलाचार[6] आदि दिगम्बर साहित्य में षट्काय के जीवों की हिंसा का उल्लेख हुआ है। हिंसा के कारणों की लम्बी सूची वहाँ दी गई है। वहाँ बताया गया है कि कषाय, हास्य, रति, अरति, शोक, धार्मिक अनुष्ठान के नाम पर, काम, अर्थ और धर्म के लिए स्वतन्त्र या परतन्त्र, बिना कारण, बिना प्रयोजन के या प्रयोजन के कारण स्थावर और त्रस जीवों की हिंसा की जाती है।

कर्मबन्ध की अपेक्षा से हिंसा की तरतमता

हिंसा में तीन बातें प्रधान होती हैं-(१) हिंस्य जिसकी हिंसा की जाती है, (२) हिंसक जो हिंसा करता है, और (३) हिंसा के कारण। प्राणियों को षट्जीवनिकायों में विभक्त किया है-पृथ्वीकाय, अप्कायं, अग्निकाय, वनस्पतिकाय, वायुकाय और त्रसकाय। इन सभी में जीवन हैं। किन्तु सभी की हिंसा बराबर नहीं है। उसमें तरतमता है। एकेन्द्रिय जीव से द्वीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय से त्रीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय से पंचेन्द्रिय जीवन में चेतना अधिक विकसित होती है। इसलिए उनके विनाश से अधिक से अधिक हिंसा लगती है।

---

१. आचारांग १, १-६-५४
२. सूत्रकृतांग, श्रुतस्कन्ध २, अ. ७, सू. १-२-७-८-१०-१६-१९
३. प्रश्नव्याकरणसूत्र, प्र. श्रु., आश्रवद्वार, अ. १
४. दशवैकालिक, अ. ४, षड्जीवनिकाय
५. प्रवचनसार, अ. ३, गा. ४९
६. मूलाचार-पंचाचाराधिकार, गा. २०५-२२५

सूत्रकृतांग में आर्द्रककुमार के साथ हस्ति-तापसों की चर्चा का उल्लेख है। हस्ति-तापसों का यह मन्तव्य था कि जो कन्द-मूल-फल आदि खाकर अपना जीवन निर्वाह करते हैं वे बहुत से स्थावर प्राणियों को और उनके आश्रित रहने वाले जंगम प्राणियों का विनाश करते हैं। गूलर आदि फलों में अनेक जंगम जीवों का निवास है, उन्हें खाने वाले उनका विनाश करते हैं। जो भिक्षुक भिक्षा से अपनी आजीविका चलाते हैं वे इधर-उधर जाते समय चींटी आदि अनेक प्राणियों का विनाश करते हैं। भिक्षा की कामना से उनका मन भी दूषित हो जाता है। पर हम वर्ष में एक विराट्काय हाथी को मारते हैं और उसके माँस से वर्ष भर अपना निर्वाह करते हैं तथा अन्य सभी जीवों की हम रक्षा करते हैं। एतदर्थ हमारा धर्म महान् है। क्योंकि एक प्राणी का विनाश और अनेक प्राणियों की रक्षा होती है।[1]

हस्ति-तापसों का प्रस्तुत मन्तव्य सर्वथा अनुचित है। एक ओर पंचेन्द्रिय प्राणी है और दूसरी ओर स्थावर प्राणी है। स्थावर की अपेक्षा पंचेन्द्रिय के विनाश में अधिक पाप है क्योंकि उसे मारते समय मारने वाले के परिणामों में अधिक क्रूरता होती है। जैसे-जैसे एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय की ओर बढ़ते हैं त्यों-त्यों हिंसक के मन में कषाय की मात्रा बढ़ती जाती है। अपनी हत्या होते समय पंचेन्द्रिय जीव प्राण बचाने के लिए भागता है, छिपता है, शक्ति भर प्रतिरोध करता है, प्रत्याक्रमण करके उस हिंसक व्यक्ति को मारना चाहता है, आहत होकर वह छटपटाता है, चिल्लाता-चिंघाड़ता है। इसलिए हिंसक व्यक्ति को उस जीव की हत्या करने के लिए अपने दिल को अधिक कठोर बनाना पड़ता है, उसे अधिक उपकरण एकत्रित करने होते हैं। पंचेन्द्रिय जीवों में भी अन्य पशु-पक्षियों की अपेक्षा मनुष्य को मारने में और भी अधिक हिंसा होती है। जिसकी जितनी अधिक विकसित चेतना होती है, उसे उतनी ही अधिक कष्ट की संवेदना होगी। एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक उत्तरोत्तर कष्ट की मात्रा अर्थात् संवेदना अधिक होती जाती है। जब दुःख की संवेदना तीव्र होगी तो कर्मबन्ध भी तीव्र होगा। यही कारण है कि भगवती और औपपातिक प्रभृति आगमों में पंचेन्द्रिय-वध को नरक का कारण माना है, एकेन्द्रिय-वध को नहीं।

उत्तराध्ययन में भगवान अरिष्टनेमि के जीवन का प्रसंग है। वे विवाह के लिए तैयार होते हैं। उन्हें एक सौ आठ घड़ों से स्नान कराया जाता है, फूलमालाएँ भी पहनाई जाती हैं। जैन दृष्टि से जल की एक बूँद में असंख्य जीव हैं। फूलों की

---

१. संवच्छरेणावि य एगमगं वाणेण मारेउ महागयं तु।
संसाण जीवाण दयट्ठयाए, वासं वयं विति पकप्पयामो॥

–सूत्रकृतांग, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, षष्ट अध्ययन ५२

पंखुड़ियों में भी अगणित जीव हैं। परन्तु उनके विवाह के लिए इतनी हिंसा हो रही है ऐसा उस समय नहीं कहा और जब उन्होंने एक बाड़े में पशु-पक्षियों को बन्द देखा, उनका करुण क्रन्दन उनके कानों में गिरा। उन्होंने सारथी से पूछा। सारथी ने कहा–ये सारे पशु आपके विवाह के प्रसंग पर भोजनार्थ मारने के लिए लाये गये हैं।[1] यह सुनते ही उनका हृदय दया से द्रवित हो उठा, उन्होंने सभी पशु-पक्षियों को मुक्त कर दिया और स्वयं साधना के महामार्ग पर बढ़ गये। यही कारण है कि आगम साहित्य में सर्वप्रथम त्रस जीवों की हिंसा के त्याग कर बल दिया है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि एकेन्द्रिय स्थावर जीवों की हिंसा की जाय।

जैसे एक श्रेष्ठी के छह पुत्र हैं। किसी कारण राजा उन पर अप्रसन्न हो गया और उसने छहों को मृत्युदण्ड का आदेश प्रदान किया। श्रेष्ठी ने राजा से अभ्यर्थना की कि आप उनके अपराध को भूल जायें और छहों को मुक्त कर दें। पर राजा जब तैयार नहीं हुआ तो उसने अन्त में राजा से निवेदन किया कि राजन् ! वंश वृद्धि के लिए एक पुत्र तो छोड़ ही दें। उसी प्रकार षट्काय के जीवों की हिंसा से बचना आवश्यक है। किन्तु यदि गृहस्थ नहीं बच सकता हो तो कम से कम स्थूल प्राणातिपात यानी त्रसकाय की हिंसा से तो उसे बचना ही चाहिए।

उपासकदशांग[2] में आनन्द श्रमणोपासक–अहिंसा व्रत ग्रहण करते समय स्थूल प्राणातिपात, दो करण और तीन योग से करने का त्याग करता है। अन्य आगमों में भी श्रमणोपासक के लिए इसी प्रकार के उल्लेख मिलते हैं। प्रमाद और कषाय ही हिंसा के मूल कारण हैं। उनसे जितना अधिक बचा जाएगा उतना ही कर्मबन्ध कम होगा। आचारांग[3], सूत्रकृतांग[4], प्रश्नव्याकरण[5] में हिंसा के सम्बन्ध में स्पष्ट कहा है–हिंसा महा भय देने वाली, दीर्घकाल तक कष्टों से परिपूर्ण, विश्रामरहित, विभिन्न प्रकार की पीड़ाओं से युक्त, नरक और तिर्यंच गति प्रदान करने वाली है।

निरयावलिका[6] में भी कालकुमार आदि युद्ध करते हुए मरकर चतुर्थ नरक में उत्पन्न होते हैं। क्योंकि युद्ध करते हुए मन में क्रूर भावना आना स्वाभाविक है।

---

१. अह सारही तओ भणइ, एए भद्दा उ पाणिणो।
तुज्झं विवाह कज्जंमि, भोयावेउं बहुं चणं॥ –उत्तराध्ययन २२-१७

२. तए णं से आणंदे गाहावई समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए तप्पढमयाए थूलगं पाणाइवायं पच्चक्खाइ जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं न करेमि, न कारवेमि मणसा वयसा कायसा। –उपासकदशांग सूत्र, प्र. अ. १३

३. आचारांग १, १-३, सू. २४; उ. ४, सू. ३७; उ. ५, सू. ४६; उ. ६, सू. ५३; उ. ७, सू. ५९

४. सूत्रकृतांग १-२-३, १-५-१, ३-५; अ. ७, सू. ३-१०

५. प्रश्नव्याकरण–आश्रवद्वार–प्रथम अध्ययन, अन्तिम सूत्र

६. निरयावलिका, अ. १, १०९

प्रवचनसारोद्धार[1] में बताया है—जो राग-द्वेष के अधीन होकर अपनी या दूसरों की घात करता है, वह निश्चित रूप से ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि आठों कर्मों की प्रकृतिबंध, स्थितिबंध आदि बाँधता है। हिंसा के आचरण से वह महा उद्यमी, वीतराग से विपरीत हो अशुभोपयोग से मिथ्यात्व को प्राप्त करता है। इसी प्रकार हिंसा के आचरण से मिथ्यात्व को प्राप्त होता है।

मूलाचार[2] में भी आचार्य वट्टकेर स्वामी ने लिखा है—"हिंसा पाप है, दोषों के आगमन का द्वार है। उससे जीवों का नाश होता है।" जैसे छिद्र वाली नौका जल में डूब जाती है, वैसे ही हिंसा आदि आश्रवों से जीव संसार-सागर में डूब जाता है।

आचार्य अमृतचन्द्र[3] ने लिखा है—दो व्यक्ति एक ही समान कार्य कर रहे हैं। एक को तीव्र बंध होता है और दूसरे को कम होता है। कार्य एक होने पर भी भावों की तीव्रता और मन्दता के कारण बन्ध में अन्तर पड़ता है।

एक व्यक्ति के अन्तर्मानस में हिंसा करने की भावना उद्बुद्ध हो परन्तु अवसर प्राप्त न होने से वह हिंसा करने में सफल न हो सका, किन्तु हिंसा के संकल्प रूप कषायिक परिणामों द्वारा बँधे हुए कर्मों का फल उदय में आ गया, उसके बाद जिसकी हिंसा करने की इच्छा की थी उसको करने में सफल हो सका। ऐसी स्थिति में हिंसा करने से पूर्व ही हिंसा का फल वह भोग लेता है।

इसी प्रकार किसी के अन्तर्मानस में हिंसा करने का विचार आया और उस विचार द्वारा बाँधे हुए कर्मों के फल के उदय में आने की अवधि तक वह प्रस्तुत हिंसा करने में समर्थ हो सका तो ऐसी स्थिति में हिंसा करते ही उसका फल भोगना प्रारम्भ हो जाता है। किसी ने हिंसा करने का आरम्भ किया, पर वह किसी कारण हिंसा करने में समर्थ न हो सका, तथापि आरम्भजनित बंध का फल उसे अवश्य ही भोगना पड़ता है।

तात्पर्य यह है कि कषाय-भावों की तीव्रता और मन्दता के अनुसार हिंसा का फल प्राप्त होता है।[4]

---

१. प्रवचनसारोद्धार, अ. २, गा. ५७-६६

२. मूलाचार, बृहत्प्रत्याख्यानसंस्तरस्तवाधिकार, गा. ४१; पंचाचाराधिकार, गा. २३८-२३९; द्वादशानुप्रेक्षाधिकार, गा. ७३६

३. एकस्य सैव तीव्रं दिशति फलं सैव मन्दमन्यस्य।
व्रजति सहकारिणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले॥ —पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ५३

४. प्रागेव फलति हिंसाऽक्रियमाणा फलति च कृतापि।
आरभ्यकर्तुमकृतापि फलति हिंसानुभावेन॥५४॥ —पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

अहिंसा के दो प्रकार : विधेयात्मक और निषेधात्मक

अहिंसा के मुख्य रूप से दो प्रकार हैं-(१) निषेधात्मक, और (२) विधेयात्मक।

निषेध से तात्पर्य है किसी भी चीज को न होने देना। निषेधात्मक अहिंसा का अर्थ है किसी भी प्राणी के प्राणों का हनन न होना, उन्हें किसी भी प्रकार का कष्ट न पहुँचाना। आचारांग, सूत्रकृतांग, प्रश्नव्याकरण, दशवैकालिक, आवश्यक प्रभृति आगमों में षट्काय को तीन करण तीन योग से हानि न पहुँचाने का जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है, वह अहिंसा का निषेधात्मक रूप है। पर अहिंसा का विधेयात्मक रूप भी है। यदि हम केवल अहिंसा के नकारात्मक पहलू पर ही सोचते हैं तो यह अहिंसा की अपूर्ण समझ है। अहिंसा को पूर्ण रूप से समझने के लिए उसके विधेयात्मक पहलू को भी समझना होगा। प्रश्नव्याकरण में अहिंसा के जो ६० नाम आये हैं उनमें दया, रक्षा, अभय आदि नाम अहिंसा के विधेयात्मक पहलू पर प्रकाश डालते हैं।

अहिंसा के व्यावहारिक रूप : दया, अभय आदि

दया, करुणा, अनुकंपा के अभाव में धर्म का बीज अंकुरित नहीं हो सकता। वस्तुतः दया एक ऐसी भाषा है जिसे बहरे सुन सकते हैं और मूक बोल सकते हैं। दया के अभाव में समस्त क्रियाएँ केवल पाखण्ड हैं। दया एक ऐसी महान् शक्ति है जो जीवन को नया मोड़ देती है। वह जीवन को विराट् और व्यापक बनाती है। जन-जन के मन को भय से मुक्त कराती है। उसकी शीतल और सुखद छाया में प्राणी पूर्ण अभय हो जाता है। अहिंसा और दया विश्व के समस्त आतंकों को दूर करने वाली संजीवनी बूटी है।

'दया' की परिभाषा करते हुए ज्ञानविमलसूरि ने कहा है–दया से सभी प्राणियों की रक्षा होती है। दया के चार विभाग किये जा सकते हैं–स्व-दया, पर-दया, द्रव्य-दया और भाव-दया।

स्व-दया का तात्पर्य है–परभाव में न जाना। आत्मा मोह में आसक्त होकर विविध प्रकार के कर्मों का बन्ध करता है। अतः सांसारिक ममता को दूर करने का जो प्रयास है, वह स्व-दया है।

पर-दया दूसरों को दुःखी देखकर उनके दुःख दूर करने का प्रयास करना है। उनके कष्टों को मिटाने का उपक्रम करना पर-दया है।

द्रव्य-दया–कोई भी जीव मानसिक, वाचिक और कायिक किसी भी प्रकार का कष्ट पाना नहीं चाहता, अतः साधक दूसरी आत्माओं को अपनी आत्मा के समान समझकर उन्हें किसी भी प्रकार कष्ट नहीं देता, वह द्रव्य-दया है।

भाव-दया–आत्म-गुणों का विकास करना भाव-दया है। भौतिक पदार्थों में वास्तविक सुख नहीं है, जिसे साधारण संसारी प्राणी सुख समझता है वह अनित्य है, इसलिए साधक शाश्वत सुखों की उपलब्धि हेतु आत्म-गुणों का विकास करता है, वह भाव-दया है।

दया के अभाव में मानव दानव बन जाता है। सुप्रसिद्ध चिन्तक इंगरसोल ने लिखा है–"जब दया का देवदूत दिल से दुत्कार दिया जाता है, तब मानव रेगिस्तान की रेत में रेंगते हुए साँप के सदृश बन जाता है।" तुलसीदास ने 'दया को धर्म का मूल' और कबीर ने 'जहाँ दया, वहाँ धर्म' माना है।

किसी भी प्राणी को कष्ट में देखकर उसकी रक्षा करना साधक का प्रथम कर्त्तव्य है। जैसे राजा मेघरथ ने कपोत की रक्षा हेतु अपने प्राणों को न्योछावर कर दिया था; धर्मरुचि मुनि ने चींटियों की रक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति दे दी। ये सब अहिंसा के ही विधेयात्मक रूप हैं।

अभय–भय जीवन का दूषण है। सम्यक्त्व को नष्ट करने वाला है, इसलिए अभय प्रदान करना श्रेष्ठ माना है। 'दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं'[1] जीवन रक्षण की प्रवृत्ति को दोनों में विशिष्ट स्थान दिया गया है। आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति में भगवान महावीर और गणधर गौतम का सुन्दर संवाद है।[2] गौतम ने भगवान महावीर से विनम्र स्वर में पूछा–भगवन् ! दो व्यक्ति हैं, एक आपकी सेवा करता है और दूसरा दीन-दुःखियों की सेवा करता है। भगवन् ! आपकी दृष्टि से महान् कौन है? समाधान करते हुए भगवान महावीर ने कहा–गौतम ! मेरी सेवा करने वाले की अपेक्षा दीन-दुःखियों की सेवा करने वाले को मैं कहीं अधिक श्रेष्ठ समझता हूँ। वे मेरे सच्चे भक्त नहीं हैं जो केवल नाम ही जपते हैं। मेरे सच्चे भक्त वे हैं जो मेरी आज्ञा का पालन करते हैं।

प्रवृत्ति-निवृत्ति का समन्वय : सम्पूर्ण अहिंसा

इस प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों में अहिंसा समाहित है। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों पहलू अहिंसा के साथ जुड़े हैं। जो केवल निवृत्ति को प्रधान मानकर चिन्तन करता है, वह अहिंसा की आत्मा को परख नहीं सकता। प्रवृत्तिरहित निवृत्ति निष्क्रिय है। वह जीवन का अभिशाप है। जैन श्रमण के उत्तरगुणों में समिति और गुप्ति का विधान है। समिति प्रवृत्तिपरक है तो गुप्ति निवृत्तिपरक है। इससे भी स्पष्ट है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति अहिंसारूपी सिक्के के दो बाजू हैं। एक-

१. सूत्रकृतांग, अ. ६

२. आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति ६६१-६६२

दूसरे के अभाव में पूर्ण नहीं हो सकती। असदआचरण से निवृत्त होकर सदाचरण में प्रवृत्ति करना ही अहिंसा का वास्तविक रूप है।

प्रज्ञामूर्ति पं. सुखलाल जी ने लिखा है—"अशोक के राज्यकाल का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उनके व्यवहार में निवर्तक कार्यों के साथ प्रवर्त्तक कार्यों पर भी बल दिया गया था। हिंसा निवृत्ति के साथ-साथ धर्मशालाएँ बनवाना, पानी पिलाना, पेड़ लगाना आदि परोपकार के कार्य भी हुए हैं। अशोक ने प्रचार किया कि हिंसा न करना तो ठीक है, पर दया धर्म भी करना उचित है। .... व्यक्ति स्वयं दूसरों को कष्ट न दे, किन्तु रास्ते में कोई घायल या भिखारी पड़ा है तो उससे बचकर निकल जाने से अहिंसा की पूर्ति नहीं होती। किन्तु उसे क्या पीड़ा है? क्यों है? उसे क्या मदद दी जाय? इसकी जानकारी और उपाय किये बिना अहिंसा अधूरी है। .... अहिंसा केवल निवृत्ति में ही चरितार्थ नहीं होती। उसका विचार निवृत्ति में से अवश्य हुआ है। किन्तु उसकी कृतार्थता प्रवृत्ति में ही हो सकती है।"[1]

इस प्रकार जैन धर्म के अहिंसा सिद्धान्त का स्रोत विधि और निषेध उभय रूप में प्रवाहित हुआ है। मानव सामाजिक प्राणी है, वह समाज में रहकर ही सांस्कृतिक विकास कर सकता है। वह समाज से लेता है तो देता भी है। अतः उसे अहिंसा के प्रवृत्तिपरक रूप का भी पालन करना चाहिए।

अहिंसा महाव्रत

जैन श्रमण अहिंसा का सर्वश्रेष्ठ और सर्वज्येष्ठ साधक है। वह मन, वाणी और शरीर से हिंसा नहीं करता, न करवाता है और न हिंसा करने वाले का अनुमोदन ही करता है। उसके जीवन के कण-कण में अहिंसा के अमृत का संचार होता है। उसका चिन्तन दया से ओत-प्रोत होता है। उसकी वाणी से स्नेह का अमृत झरता है और उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति में अहिंसा की मधुर झंकार झंकृत होती है। अहिंसा भगवती उसके लिए ब्रह्म के समान आराध्य है। उसके अन्तर्मानस में किसी भी प्राणी के प्रति किंचित् मात्र भी द्रोह नहीं होता और न विद्रोह ही होता है। चाहे दिन हो चाहे रात्रि हो, चाहे सोते हो चाहे जागते हो, चाहे एकान्त में हो चाहे हजारों की परिषद में बैठा हो; उसकी प्रत्येक चर्या अहिंसा से ओतप्रोत होती है।

जैन श्रमण को अहिंसा केवल व्रत नहीं है, वह महाव्रत है, महान् प्राण है। अहिंसा महाव्रत के लिए 'सव्वाओ पाणाइवायाओ विरमणं' का प्रयोग हुआ है। अहिंसा का यह महान् आदर्श है। दशवैकालिक में अहिंसा महाव्रत का विश्लेषण

---

१. 'अहिंसा के आचार और विचार का विकास' पृ. ७-९

करते हुए कहा है–श्रमण सजीव पृथ्वी को न कुरेदे और न उसका भेदन करे।[1] सचित्त मिट्टी, क्षार, हरिताल, हिंगुल आदि से लिप्त हाथ व चम्मच से भिक्षा न ले।[2] सचित्त पृथ्वी और मिट्टी के रजकणों से सने हुए आसन पर न बैठे। मल-मूत्र, श्लेष्म आदि का उत्सर्ग भी अचित्त पृथ्वी पर करे।[3] पृथ्वी का खनन न करे। पृथ्वी की किसी भी प्रकार की हिंसा न करे।[4]

पृथ्वी की भाँति श्रमण सजीव जल का भी स्पर्श न करे। वह सजीव जल से भीगे हुए वस्त्र या शरीर का स्पर्श न करे, न वस्त्रों को निचोड़े, न झटके[5], न तपाये, न सुखाये। शीतोदक का सेवन न करे।[6] तप्त निवृत्त–तप्त होने के पश्चात् जो निर्जीव हो चुका है वैसा जल ग्रहण करे।

सचित्त जल की तरह तेजस्काय जिसमें अग्नि (स्पर्श ग्राह्य), अंगार (ज्वाला-रहित कोयला), मुर्मुर (कंडे, तुष, चोकर, भूसी आदि की अग्नि), अर्चि (अग्नि से विच्छिन्न ज्वाला), अलात (अधजली लकड़ी), शुद्ध अग्नि (ईंधनरहित अग्नि), उल्का (गगनाग्नि) इन सभी को श्रमण न प्रदीप्त करे, न घर्षण करे, न उन्हें बुझाये।[7] प्रकाश करने के लिए या शीत निवारण के लिए अग्नि न जलाये।[8]

श्रमण अग्नि की तरह ही वायुकाय के भी जीवों की रक्षा करता है। वह किसी भी प्रकार से वायुकाय की हिंसा नहीं करता।[9] चामर, पंखा आदि से अपने पर या दूसरे पर हवा न करे। मुँह से फूँक न दे।[10]

वायुकाय के जीवों की तरह ही श्रमण वनस्पतिकाय के जीवों की भी किसी प्रकार की हिंसा नहीं करता है।[11] न वनस्पति पर चलता है, न खड़ा रहता है, न बैठता है, न सोता है।[12] वनस्पति को कुचलकर यदि उसे कोई भिक्षा दे तो उसके हाथ से वह भिक्षा भी ग्रहण नहीं करता।[13] वह कच्ची वनस्पति नहीं लेता।[14] वृक्षों को निहारकर ये वृक्ष, घर, खेती आदि के विविध उपकरण निर्माण करने में उपयोगी हैं–इस प्रकार भी नहीं कहता।[15] वृक्षों को फला-फूला देखकर ऐसा नहीं

---

१. दशवैकालिक ४, १८; ८-४
२. वही ५, १-३३-३५
३. वही ८-१८
४. वही ६, २६-२९
५. वही ४, २०, ८-७
६. ततानिव्वुडभोइणो।
–दशवैकालिक ८-६
७. दशवैकालिक ४, २०; ८-८
८. वही ४-३४
९. वही ६, ३६-३९
१०. वही ४, २१; ८-९
११. वही ६, ४०; ६-४२
१२. वही ४, २२; ५-१-३-२६; ८-११
१३. वही ५, १-२९; ५, २-१४-१७
१४. वही ५ १-७०; ५-१-१८-२४; ८-१०
१५. वही ७, २६-३९

कहता जिससे उसका उपघात हो।[1] वह वृक्ष, फल, मूल का छेदन नहीं करता। स्थूल और सूक्ष्म वनस्पति आदि का भी वध न हो ऐसी सतत सावधानी रखता है।[2]

वनस्पति की भाँति ही कीट, पतंग आदि त्रस जीव यदि साधक के शरीर पर या धर्मोपकरण पर चढ़ जायें तो वह उन्हें अत्यन्त सावधानी से हटाकर एकान्त में रखता है, उनका संघात नहीं करता।[3] कुत्ते, सद्यप्रसूता गाय, मदोन्मत्त बैल, अश्व, हाथी आदि पशुओं के समागम से दूर रहे।[4] मार्ग में जहाँ विविध प्रकार के प्राणी आहार के लिए एकत्रित हुए हों उनके सन्मुख न जाय, क्योंकि उससे उनको त्रास होता है।[5] पशु-पक्षी या मानव आदि को देखकर यह न कहे–यह स्थूल है, हृष्ट-पुष्ट है, इसमें बहुत चर्बी है, यह वध करने योग्य है या पकाने योग्य है, ये गायें दुहने योग्य हैं, ये बैल दमन करने योग्य हैं, हल में जोतने योग्य हैं, भार ढोने में समर्थ हैं, रथ में जोतने योग्य हैं।[6] इस प्रकार बोलने से त्रसकाय की हिंसा होती हो, उन्हें त्रास पहुँचता हो वैसी कोई भी प्रवृत्ति वह नहीं करता।[7]

बाल-जीवों को अहिंसा महाव्रत का मर्म समझाने के लिए उसके भंग बताये हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये नौ प्रकार के संसारी जीव हैं। उनकी न मन से हिंसा करना, न मन से हिंसा न कराना और न मन से हिंसा का अनुमोदन करना, इसी प्रकार वचन और शरीर के सम्बन्ध में भी। इस प्रकार मन के २७, वचन के २७ और शरीर के २७ मिलाकर ८१ भंग होते हैं।

जैन श्रमण की अहिंसा की साधना का यह संक्षिप्त रूप है। वह किसी भी सचित्त वस्तु का उपयोग नहीं करता, चलते समय भी साढ़े तीन हाथ परिमाण भूमि को देखकर नंगे पैरों चलता है। मुख के उष्ण श्वास से वायुकाय के जीवों की विराधना न हो जाय, अतः मुख पर मुखवस्त्रिका रखता है और रात्रि में पैरों के नीचे कोई जन्तु न आ जाय इसलिए रजोहरण रखता है। दिगम्बर परम्परा में मोरपिच्छ रखने का उल्लेख है।

अहिंसा महाव्रत की भावनाएँ

मन, वचन और काया–ये प्रवृत्ति के तीन स्रोत हैं। ये प्रवृत्ति-स्रोत शुभ और अशुभ दोनों ओर बहते हैं। शुभ और अशुभ को मोड़ने वाली भावना है। भावना से

---

१. दशवैकालिक ७, ३०-३५
२. वही ८, १४-१६
३. वही ४-२३
४. वही ५, १-१२
५. वही ५, २-७
६. वही ७-२४
७. वही ५, १-२२

अशुभ प्रवृत्ति को शुभ में बदला जा सकता है और शुभ को अशुभ में। अतः भावना के परिष्कार हेतु सतत सावधानी की आवश्यकता है। अहिंसा महाव्रत की पाँच भावनाएँ हैं। ये भावनाएँ महाव्रत की परिपालना के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। अहिंसा महाव्रत जीवन का केवल नियम या व्रत ही नहीं है, किन्तु संस्कार है। जीवन के प्रत्येक व्यवहार और चिन्तन में अहिंसा उतरनी चाहिए। भावना, अहिंसा को अधिक परिपुष्ट बनाने और उसकी सुरक्षा के लिए है। जैसे माता अपने पुत्रों में उच्च और निर्मल भावनाएँ भरकर सुसंस्कार उत्पन्न करती है, कल्याण मार्ग की ओर बढ़ने के लिए उत्प्रेरित करती है। उसी प्रकार भावनाएँ भी पुनः-पुनः चिन्तन से साधक को संस्कारी बनाती हैं।

भावना-योग से साधक की आत्मा शुद्ध और पवित्र बनती है। जैसे नौका जल पर खड़ी रहकर भी उसमें डूबती नहीं है उसी प्रकार भावना-योग के साधक संसार की कलुषता में डूबते नहीं हैं।[1] प्रश्नव्याकरण में स्पष्ट कहा है—अहिंसा व्रत की पाँच भावनाएँ प्राणातिपात (हिंसा से विरति रूप) विरमण रूप में हैं।[2] महाव्रतरूपी रत्नों की रक्षा के लिए भावनारूपी ये पाँच प्रहरी खड़े किये गये हैं। अगर ये प्रहरी सावधान हैं तो महाव्रतरूपी रत्न को कोई चुरा नहीं सकता। अहिंसा महाव्रत की पाँच भावनाएँ[3] इस प्रकार हैं—

(१) ईर्यासमिति भावना
(२) मनःसमिति भावना
(३) वचनसमिति भावना।
(४) एषणासमिति भावना
(५) आदान-निक्षेपणसमिति भावना

तत्त्वार्थसूत्र[4] के भाष्य में ईर्यासमिति, मनोगुप्ति, एषणासमिति, आदान-निक्षेपण समिति और आलोकित पान भोजन समिति इस प्रकार पाँच भावनाओं के नाम आये हैं। तत्त्वार्थराजवार्तिक[5] और तत्त्वार्थसर्वार्थसिद्धि[6] में एषणासमिति के स्थान पर वाग्गुप्ति का उल्लेख हुआ है।

---

१. भावणाजोग सुद्धप्पा जले णावा व आहिया। —*सूत्रकृतांग*

२. इमा पंच भावणा तो पढमस्स वयस्स होंति पाणातिपातवेरमण परिरक्खणट्ठयाए।
—*प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार १*

३. प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार १

४. तत्त्वार्थसूत्र ७-३, पृ. १६८ (पं. सुखलाल)

५. तत्त्वार्थराजवार्तिक ७, ४-५, ५३७

६. तत्त्वार्थसर्वार्थसिद्धि, पृ. ३४५

(१) ईर्यासमिति भावना

यहाँ पर ईर्या का अर्थ चर्या है। केवल गमनागमन ही नहीं किन्तु सोना, उठना, बैठना, जागना आदि सभी प्रवृत्तियाँ ईर्या के अन्तर्गत हैं। साधक को प्रत्येक प्रवृत्ति करते समय सावधानी की आवश्यकता है। साधक ऐसी कोई प्रवृत्ति नहीं करता जिससे किसी जीव को कष्ट हो। चलते समय या बैठते समय वह पूर्ण ध्यान रखता है जिससे कोई भी जीव संत्रस्त न हो, भयभीत न हो। वह प्रवृत्ति करने के पूर्व सोचता है-मेरे गमन का उद्देश्य क्या है? मुझे कहाँ जाना है? वहाँ जाने पर मेरे ज्ञान, दर्शन, चारित्र की अभिवृद्धि होगी या नहीं? यदि अभिवृद्धि की सम्भावना हो तो वह प्रवृत्ति करता है। वह कुपथ पर न चलकर सुपथ पर चलता है। चलने के पूर्व देखता है कि कीट, पतंग, सर्प, बिच्छू आदि जीव-जन्तु तो नहीं हैं अथवा गड्ढा या पत्थर तो नहीं है। चलते समय केवल चलने में ध्यान रखना चाहिए, स्वाध्याय आदि नहीं करना चाहिए। ईर्यासमिति की भावना से अहिंसा साकार होती है। वह अपनी गति या प्रवृत्ति से इष्ट सिद्धि प्राप्त करता है।

(२) मनःसमिति भावना

मनःसमिति से तात्पर्य है मन को सम्यक् चर्या में लगाना। मन की कुशल प्रवृत्ति मनःसमिति है। मन में जो भी विचार तरंगें उठें उसके पहले ही उसे चिन्तन करना चाहिए कि यह विचार धर्मयुक्त है या अधर्मयुक्त? शुभ है या अशुभ? मेरे इन विचारों से किसी दूसरे का अहित तो नहीं होगा? इस प्रकार मन में तरंगित होने वाले विचारों का विश्लेषण कर दूसरों को प्रीतिवर्द्धन करने वाले विचारों को मन में भावित करने का कार्य मनःसमिति भावना का है। मनःसमिति भावना हमारे मन-मन्दिर का द्वारपाल है। जैसे द्वारपाल अपरिचित और दुष्ट प्रकृति के लोगों को सभा में प्रवेश नहीं करने देता वैसे ही मन में अशुभ विचार प्रवेश न करें इसका ध्यान रखना यही मनःसमिति का काम है।

(३) वचनसमिति भावना

वचनसमिति भावना वाला साधक सोचता है कि मेरी वाणी कर्कश, कठोर, दूसरों को कष्ट देने वाली न हो। वचन एक तीक्ष्ण शस्त्र की भाँति है, जिसका गलत प्रयोग महान् घातक है। तीक्ष्ण शस्त्र का घाव कुछ समय के बाद मिट जाता है, किन्तु वचन का घाव भरा नहीं जा सकता। अतः बोलते समय विवेक की आवश्यकता है। इसलिए साधक शीघ्रता में, साम्प्रदायिक अभिनिवेश में, अहंकार या अविवेक में न बोले।

एक चिन्तक ने लिखा है–"दुर्वचन चेचक रोग की भाँति है। वह जहाँ भी जाता है अपना दुष्प्रभाव दीर्घकाल तक छोड़ता है। चेचक रोग से मुक्त होने पर भी उसके दाग जीवन भर बने रहते हैं और आकृति को विकृत बना देते हैं। वैसे ही दुर्वचन कहने के पश्चात् यदि क्षमा भी माँग ली जाय किन्तु साधारणतया उसकी कटुता जीवन पर नहीं मिटती।"

कटु वचन से मन तो कलुषित होता ही है साथ ही सुनने वाले का हृदय भी खिन्न होता है। अतः कटु वचन नहीं कहना चाहिए। वचनसमिति की भावना से साधक चिन्तन के द्वारा वचन को शुद्ध और मधुर बनाता है जिससे उसके मुँह से कभी भी अप्रियकारी एवं अहितकारी वचन नहीं निकल सकते।

(४) एषणासमिति भावना

धार्मिक साधना के लिए शरीर की आवश्यकता है। शरीर आहार के बिना टिक नहीं सकता। जीवन-यात्रा के पथिक साधक को निर्दोष विधि से आहार प्राप्त करना एषणासमिति है। श्रमण को आहार प्राप्त करते समय भी अत्यन्त विवेक की आवश्यकता है। यह नहीं कि जहाँ भी जैसा भी मिल जाय वैसा ले ले। यद्यपि साधक भिक्षुक कहलाता है किन्तु वह साधारण भिखारी नहीं है। वह स्वाभिमान और मर्यादा का गौरव रखते हुए भिक्षा ग्रहण करता है। भिक्षा विधि में अनेक दोषों से उसे बचना होता है। यदि विधि के अनुसार भिक्षा नहीं मिलती है तो वह भिक्षा ग्रहण नहीं करता, अपितु तप करता है। एषणासमिति की भावना का चिन्तन करते समय श्रमण सोचता है–शुद्ध भिक्षाचर्या किस प्रकार प्राप्त करे? भिक्षा में प्राप्त आहार का सेवन किस प्रकार करे? आहार क्यों और किसलिए किया जाय?

श्रमण मधुकर की तरह थोड़ा-थोड़ा आहार गृहस्थ के घरों से ग्रहण करता है। आहार ग्रहण करते समय वह अपना परिचय भी नहीं देता। आगम साहित्य में बताये हुए ४२ दोषों को टालता हुआ आहार लेता है। जैसे गाय पौधे की जड़ को उखाड़े बिना ऊपर-ऊपर की घास को चरती है, वैसे ही गृहस्थ को बिना कष्ट दिये ही श्रमण आहार ग्रहण करता है। एतदर्थ ही जैन श्रमण की भिक्षा 'गोचरी' कहलाती है। श्रमण को अपना पूर्व परिचय भी नहीं देना चाहिए कि मैं अमुक श्रेष्ठी का पुत्र हूँ, या मैं तुम्हारा सम्बन्धी हूँ। उसे अपने वर्तमान जीवन का भी परिचय नहीं देना चाहिए। क्योंकि अपनी विशेषताएँ बताकर और गृहस्थ को प्रभावित कर दान लेना अनुचित है। गृहस्थ जो भी सद्भावपूर्वक दे, वही उसे ग्रहण करना चाहिए।

परिचय प्रदान करने में श्रेष्ठतम वस्तु प्राप्त करने की आकांक्षा रहती है, जो एक प्रकार से दोष है। जहाँ पर आकांक्षा होती है वहाँ पर अनासक्ति नहीं हो सकती। यदि देने वाला आनाकानी करे तो भी श्रमण को उसके प्रति तनिक मात्र भी रोष नहीं करना चाहिए और न उसकी निन्दा करनी चाहिए। मन में उदास भी नहीं होना चाहिए। दाता के सामने किसी प्रकार की दीनता प्रकट करना भी सर्वथा अनुचित है। दीनता से जिनशासन की अवहेलना होती है। जन-मानस में श्रमणों के प्रति हीन भावना व अश्रद्धा समुत्पन्न होती है। भिक्षा न मिलने पर भी प्रसन्न रहे और मिल जाने पर भी। आहार न मिलने पर यह चिन्तन करे कि आज मुझे सहज ही तप करने का सुअवसर प्राप्त हुआ है और मिल जाय तो यह न सोचे मेरे पुण्य प्रभाव से रसयुक्त पदार्थ प्राप्त हुआ है। इस प्रकार लाभ-अलाभ में संतुष्ट और सदा प्रसन्न रहे।[1]

शुद्ध रीति से निर्दोष भिक्षा प्राप्त कर सर्वप्रथम गुरुजनों के समक्ष रखे, और गमनागमन में जो दोष लग गया हो उसकी आलोचना करे। भोजन के पूर्व मन में बहुत ही पवित्र संकल्प उत्पन्न होना चाहिए और अनासक्त होकर उसे आहार करना चाहिए। भोजन के पूर्व सभी साधुओं को प्रीतिपूर्वक निमन्त्रण भी देना चाहिए और यदि वे निमन्त्रण स्वीकार करें तो उनके साथ आहार करना चाहिए। श्रमण का आहार संयम की प्रवृत्तियों को करने के लिए, संयम के भार को वहन करने के लिए और प्राणों को टिकाये रखने के लिए है।[2] गाड़ी की धुरी में जिस प्रकार तेल देना होता है जिससे धुरी ठीक तरह से काम कर सके, घाव पर मरहम लगाने की तरह, शरीर को आहार देना चाहिए।

इस प्रकार एषणासमिति के तीन पहलुओं पर चिन्तन मनन करने से साधक के अन्तर्मानस में उक्त भावनाएँ संस्कार रूप में जम जाती हैं और वे सहज ही उद्‌बुद्ध हो जाती हैं।

(५) आदान-निक्षेपणसमिति भावना

श्रमण को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु कुछ उपकरण रखने होते हैं। उन उपकरणों पर उसकी मूर्च्छा नहीं होती। अतः वे धर्मोपकरण कहलाते हैं। उपकरणों को यतनापूर्वक ग्रहण करना और रखना आदान-निक्षेपण है। यदि उपकरणों की सम्यक् प्रकार से देखभाल न की जाय तो उनमें अनेक जीवों की उत्पत्ति हो सकती है। मकड़ी आदि के जाले भी जम सकते हैं। उन जीवों को हटाने

---

१. लाभालाभम्मि संतुट्ठे पिण्डवायं चरे मुणी। —उत्तराध्ययन ३५. १६

२. संजमजाया माया निमित्तं, संजमभार वहणट्ठयाए पाणधारणट्ठयाए।

में उनको त्रास हो सकता है, उनकी हिंसा भी सम्भव है। अतः विवेकपूर्वक उसकी प्रतिलेखना करते रहना आवश्यक है।

साधक को यह चिन्तन करना चाहिए कि संयम-यात्रा के लिए ही ये उपकरण हैं, शोभा, विभूषा और प्रदर्शन के लिए नहीं; किन्तु संयम पोषण के लिए है। इसलिए उनकी देखभाल करनी चाहिए जिससे कि जीव-जन्तुओं की हिंसा न हो–इस प्रकार का चिन्तन आदान-निक्षेपणसमिति भावना है।

इन भावनाओं के चिन्तन से अहिंसा महाव्रत परिपुष्ट होता है। अहिंसा महाव्रत की पाँच भावनाओं का उल्लेख आचारांग[1] और समवायांग[2] में भी है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैन धर्म द्वारा प्रतिपादित अहिंसा धर्म एक उच्च कोटि का आध्यात्मिक और सामाजिक धर्म है। वह समग्र चैतन्य जगत् को एक धरातल पर खड़ा करता है और सभी में एकता का संदर्शन करता है। वह सभी प्राणियों में समानता देखता है। "एगे आया"–'आत्मा एक है' की उदात्त भावना से भेदबुद्धि नष्ट कर अभेदबुद्धि के द्वारा कलह, विग्रह, त्रास, संघर्ष, घृणा और शत्रु भावना को समाप्त करता है तथा पारस्परिक सद्भाव, स्नेह और सहयोग उत्पन्न करता है। "संगच्छध्वम्, संवदध्वम्"–'साथ चलो, साथ बोलो' का स्वर झंकृत करता है।

अहिंसा धर्म हृदय-परिवर्तन का एक पावन धर्म है। वह मारने का नहीं, सुधारने का धर्म है। वह निर्वाण (शाब्दिक अर्थ बुझाने) का नहीं निर्माण का धर्म है। अहिंसा के द्वारा ही जन-जन के जीवन में परिवर्तन किया जा सकता है। अपराधी की भावनाओं को निर्मल कर उसका उद्धार किया जा सकता है। जैन धर्म ने अहिंसा का केवल आदर्श ही नहीं दिया, किन्तु जीवन में उतारकर उसकी शत-प्रतिशत यथार्थता तथा व्यावहारिकता भी प्रमाणित की है।

उपसंहार

विश्व धर्म और दर्शन के परिप्रेक्ष्य में हमने अहिंसा के विराट् स्वरूप के सम्बन्ध में एक विहंगम दृष्टि से अवलोकन किया है। विश्व का कोई भी धर्म या दर्शन हो–उसका मूल आधार अहिंसा है। किसी भी धर्म और दर्शन का आधार हिंसा नहीं है। यदि किसी धर्म या दर्शन में हिंसात्मक विधि-विधानों का उल्लेख हुआ है तो वह हिंसा को भी अहिंसा मानकर अपनाया गया है। हिंसा पर भी अहिंसा का मुखौटा पहनाया गया है तभी जन-मानस में वह हिंसा समादृत हुई।

---

१. आचारांग

२. समवायांग २५

जैन आगम साहित्य और इतिहास का अवलोकन करने पर सहज ही परिज्ञात होता है कि आदि युग का मानव अहिंसक था। उसके अन्तर्मानस में तीव्र राग-द्वेष का अभाव था। उस युग का मानव बहुत ही सौम्य प्रकृति का था। न वह शिकार करता था और न माँसाहार ही। वह तो फल-फूलों का आहार करता था। उसमें स्नेह का अत्यधिक साम्राज्य था। धीरे-धीरे विकास के नाम पर मानव में क्रूर भावनाएँ पनपने लगीं। उसमें स्नेह के स्रोत सूखने लगे। जनसंख्या की अभिवृद्धि के साथ मानवता के स्थान पर दानवता का जब विकास हुआ तब उस दानवता पर नियंत्रण करने हेतु शासन व्यवस्था का सूत्रपात हुआ। कुलकर व्यवस्था उसी का प्रतीक थी। उसके बाद भगवान ऋषभदेव तथा अन्य तीर्थंकरों ने और वैदिक युग के सहस्राधिक ऋषि-महर्षियों ने दानवता की भावना को नष्ट करने के लिए मानव को पवित्र प्रेरणाएँ दीं। वेद, उपनिषद्, स्मृति साहित्य और जैन आगम साहित्य में अहिंसा की स्वर-लहरियाँ झनझना रही हैं। यह सत्य है वैदिक-पौराणिक तथा तांत्रिक धर्माचार में कुछ स्वार्थी तत्त्वों ने अपनी लोलुपता के कारण शास्त्रीय कर्मकाण्ड के अन्तर्गत पशु-बलि और नर-बलि जैसे जघन्य कृत्यों को प्रोत्साहन देने का प्रयास किया। बौद्ध धर्म ने प्रारम्भ में प्रस्तुत वैदिक कर्मकाण्ड का खुलकर विरोध किया किन्तु बाद में उसमें भी माँसाहार की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो गई। ईसाई, इस्लाम, पारसी आदि धर्मानुयायियों ने भी माँसाहार के निषेध पर उतना बल नहीं दिया जिसके कारण माँसाहार की प्रवृत्ति उन परम्पराओं में चलती रही।

आधुनिक युग के अन्वेषक चार्ल्स डार्विन ने भौतिकवाद के आधार पर मानव-विकास के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए लिखा—आदिमानव हिंसक प्रकृति का था। वह माँसाहारी था। उसकी प्रकृति क्रूर थी। ज्यों-ज्यों विकास हुआ त्यों-त्यों उसमें स्नेह-सद्भावना की अभिवृद्धि हुई। अहिंसा मानव की प्रकृति नहीं किन्तु विकासवाद की देन है। पर जितने भी भारत के धर्म और दर्शन हैं, वे डार्विन के सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं। उनका यह स्पष्ट मन्तव्य है कि मानव की प्रकृति अहिंसक थी, अहिंसा उसका स्वभाव है, हिंसा करना विकृति है। माँसाहार करना भी मानव का स्वभाव नहीं है। जो माँसाहारी पशु और पक्षी हैं वे कच्चा माँस खाते हैं, वे जबान से पानी पीते हैं। उनके नाखून तीक्ष्ण होते हैं। माँसाहारी को गरमी सहन नहीं होती। उनको सूर्य की रोशनी प्रिय नहीं लगती। कठिन श्रम करने पर भी माँसाहारी पशु के शरीर में पसीना नहीं निकलता। उसके दाँत और दाढ़ों की बनावट में अन्तर होता है। उसकी आँतें छोटी होती हैं। इन सभी तथ्यों के आधार से स्पष्ट है कि मानव माँसाहारी नहीं है, माँसाहार करना उसका स्वभाव नहीं है। अतः इस विकृति को नष्ट करने के लिए धर्म-प्रवर्तकों ने माँसाहार का विरोध किया। हिंसक प्रवृत्तियों को नियन्त्रित करने पर बल दिया। ऐतिहासिक दृष्टि से यह पूर्ण सत्य है कि धर्म का

प्रादुर्भाव भी जन-जीवन की विकृतियों को नष्ट कर जीवन को संस्कारित बनाने के लिए हुआ था। अहिंसा मानव का अपना सिद्धान्त है।

हम पूर्व पृष्ठों में यह बता चुके हैं कि जितने भी धर्म प्रवर्तक और चिन्तक हुए हैं, उन्होंने अहिंसा पर चिन्तन किया है, पर जिसमें जितनी अधिक संवेदना रही, उतनी ही वे अहिंसा की परिभाषा सटीक कर सके। कितने ही चिन्तकों की परिभाषाएँ अत्यन्त सीमित रही हैं। उन्होंने अहिंसा की परिभाषा में केवल मानव को ही रखा। मानव को किसी भी प्रकार का कष्ट न हो, उसके साथ पूर्ण रूप से सद्व्यवहार हो, उसकी सेवा-शुश्रूषा की जाय, यही अहिंसा है। कितने ही चिन्तक मानवों से भी आगे बढ़े और उन्होंने पशुओं की हत्या न करने पर बल दिया। पहले की अपेक्षा उनका अहिंसा सिद्धान्त जरा विकसित हुआ। कितने ही चिन्तकों ने पशु-पक्षी, कीट-पतंगों की भी हिंसा न करने पर जोर दिया, क्योंकि उनमें भी जीव है। पर पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति में भी जीव हैं, उनकी हिंसा भी नहीं करनी चाहिए–इधर उनका ध्यान केन्द्रित हुआ। उन्होंने पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति के अधिकाधिक उपयोग पर बल दिया। उन्होंने कहा–प्रतिदिन ताजा मिट्टी से घर में लेपन करना चाहिए। अधिकाधिक बार स्नान करना चाहिए। स्नान करने से शुद्धि होती है। गंगा, सिन्धु, गोदावरी, कावेरी आदि पवित्र नदियों में स्नान करने से मुक्ति-लाभ होता है। जीते-जी यदि इन तीर्थों में स्नान न कर सको तो मरने के पश्चात् भी उस पानी में तुम्हारी हड्डियाँ बहा दी जायेंगी तो तुम्हारी मुक्ति हो जायेगी। जल से आत्म-शुद्धि मानने वाला शौचधर्म नाम का मत, भगवान महावीर के काल में प्रचलित था, जिसका वर्णन ज्ञातासूत्र आदि में आता है।

पानी की तरह ही अधिक से अधिक अग्नि के उपयोग में भी धर्म माना जाने लगा। उपनयन संस्कार से लेकर जीवन की सान्ध्य बेला तक घर में नियमित रूप से अग्नि प्रज्वलित रहनी चाहिए। पारसी धर्म में अग्नि को पवित्र मानकर उसकी अर्चना की जाती है। इसी तरह संन्यासियों के लिए पंचाग्नि तप को उत्कृष्ट तप माना गया।

अग्नि के समान ही वायु को भी निर्जीव मानकर साधक के लिए उसका आहार श्रेष्ठ आहार माना गया। प्राणायाम आदि की साधना में स्वच्छ हवा को ग्रहण करने का विधान किया गया। वैदिक परम्परा में वायु भक्षण करने वाले योगी की प्रशंसा की गई है।

वनस्पति में भी जीव न मानकर कन्द-मूल-फल-फूल का आहार तपस्वियों के लिए श्रेष्ठ माना गया। पर जैन धर्म ने इन पाँच स्थावरों की हिंसा न की जाय, इस पर भी बहुत ही गहराई से चिन्तन किया। इन पाँचों स्थावरों की हिंसा किन कारणों

ये की जाती है?–इसका आचारांग सूत्र में अत्यन्त गहराई से विश्लेषण किया गया है तथा स्पष्ट शब्दों में कहा है–जो किसी प्रकार की हिंसा नहीं करता है, वही श्रमण है।

अहिंसा जैन धर्म का मुख्य केन्द्र-बिन्दु रहा है और उसी केन्द्र-बिन्दु के आधार पर सम्पूर्ण जैन आचार का विकास हुआ है। आचार के ही नहीं, विचार के विकास में भी अहिंसा प्रमुख रही है। वैचारिक अहिंसा ही अनेकान्तवाद है। उस अनेकान्त दृष्टि को जिस भाषा के माध्यम से व्यक्त किया जाता है, वह स्याद्वाद है।

इस तरह अहिंसा जब विचार रूप में रहती है अब अनेकान्त है, जब वाणी का परिधान पहनती है तब स्याद्वाद है और आचार का रूप लेती है तब अहिंसा है। इस तरह अहिंसा और अनेकान्त एक-दूसरे के पूरक हैं। आवश्यकता है उसे जीवन में अपनाने की।

आज चारों ओर विषमता के काले कजरारे बादल उमड़-घुमड़कर मँडरा रहे हैं। हिंसा का ताण्डव नृत्य हो रहा है। वैज्ञानिक अणु अस्त्रों के माध्यम से विश्व को भय से आक्रान्त कर रहे हैं। इस प्रकार प्राणीमात्र और अहिंसा के मध्य एक तरह से खलनायक की भूमिका अदा कर रहे हैं। विश्व-युद्ध की चिन्ता राजनीति विशारदों को सता रही है। उस अशान्ति को नष्ट करने का एक ही उपाय अहिंसा है। यदि विश्व अहिंसा को अपना ले, तो सर्वत्र शान्ति का आधिपत्य स्थापित हो सकता है।

●●

१२. सत्य की सर्वांग साधना

एक सिक्के के दो पहलू

सत्य विराट् है। वह अनन्त आकाश की तरह व्यापक है। वह आत्मा का शुद्ध स्वरूप है। यथार्थ अभिव्यक्ति है। अतः विश्व के सभी मूर्धन्य मनीषियों ने एक स्वर से सत्य के महत्त्व को स्वीकार किया है। सत्य की आराधना और साधना ही सर्वश्रेष्ठ और सर्वज्येष्ठ आराधना और साधना है। सत्य सूर्य की तरह जन-जन के अन्तर्मानस को आलोकित करने वाला व्रत है, तो असत्य अमा की रात्रि की तरह गहन अन्धकारमय है। सत्य और अहिंसा ये दोनों एक सिक्के के दो पहलू हैं। अहिंसा के अभाव में सत्य अस्तित्वहीन है और सत्य के अभाव में अहिंसा निर्मूल्य। अहिंसा को यदि निषेधात्मक माना जाय तो सत्य उसका विधेयात्मक पक्ष है। सत्य जीवन का मूल तत्त्व है, व्यावहारिक जीवन का मूल आधार है और आध्यात्मिक साधना का प्राण है। सत्य की आराधना बिना सारी साधना मिथ्या है और सारा व्यावहारिक जीवन भी अस्त-व्यस्त है।

सत्य की परिभाषा

भारतीय चिन्तकों ने सत्य पर गहराई से चिन्तन करके उसकी परिभाषा करते हुए लिखा है–जो शब्द सज्जनता का पावन संदेश प्रदान करता है, सौजन्य भावना को उद्‌बुद्ध करता है और जो यथार्थ व्यवहार का पुनीत प्रतीक है, वह सत्य है। जिस शब्द के प्रयोग से जन-जन का हित होता है, कल्याण होता है, आध्यात्मिक अभ्युदय होता है, वह सत्य है।[1] सत् वह है, जिसका कभी भी नाश नहीं होता और जो नष्ट हो जाता है वह सत् नहीं है। कुरुक्षेत्र के मैदान में अर्जुन की जिज्ञासा पर कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने कहा–जो असत् है, उसका कभी जन्म नहीं होता। वह कभी अस्तित्व में नहीं आता और जो सत् है, वह कभी भी नष्ट नहीं हो सकता।[2] सत् हर समय विद्यमान रहता है। वह अतीत काल में भी था, वर्तमान में है और भविष्य में भी रहेगा। वह त्रिकालवर्ती है।

---

१. सद्‌भ्यो हितं सत्यम्। –उत्तराध्ययन टीका, आचार्य शान्तिसूरि

२. नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः। –गीता

जैन दर्शन के महान् चिन्तक आचार्य उमास्वाति ने सत् की परिभाषा करते हुए लिखा है–जो पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है, वह सत् है।[1] जैन दृष्टि से विश्व के सभी पदार्थ या तत्त्व जड़ और चैतन्य इन दो तत्त्वों में समाविष्ट हो जाते हैं। ऐसा कोई समय नहीं, जिनमें इन दोनों तत्त्वों का कोई अस्तित्व न रहा हो, प्रत्येक वस्तु द्रव्यरूप से नित्य है, पर्यायरूप से उसमें उत्पाद भी होता है और विनाश भी होता है। बदलती हुई पर्यायों में भी जो अपने मूल स्वभाव को नहीं छोड़ता, वह द्रव्य है। पदार्थ का मूल गुण हर समय अपने ही स्वरूप में स्थित रहता है। सत्य यथार्थ है, वास्तविक है, उसमें किसी भी प्रकार का सम्मिश्रण नहीं है। इसीलिए सत् से सत्य शब्द निष्पन्न हुआ है। जिसका अस्तित्व तीनों कालों में है वह सत् है वही सत्य है।[2] सत्य शब्द तथ्य के अर्थ में भी व्यवहृत हुआ है। जो वस्तु जैसी देखी है, या सुनी व समझी है उस वस्तु को जन-जन के हित के लिए उसी रूप में कहना, वचन के द्वारा उस तथ्य को प्रकट करना। महर्षि पतंजलि ने व्यासभाष्य में सत्य का लक्षण बताते हुए कहा है–"**सत्यं यथार्थवाङ्मनसी यथादृष्टं यथाश्रुतं।**"[3]

सत्य की महिमा

एक जिज्ञासु ने भगवान महावीर से पूछा–इस विराट् विश्व में ऐसी कौन-सी वस्तु है जो सारपूर्ण हो। भगवान ने कहा–इस लोक में सत्य ही सारभूत है।[4] सत्य-रहित जो भी है, वह निस्सार है क्योंकि सत्य समस्त भावों का प्रकाश करने वाला है।[5] सत्य की महत्ता प्रदर्शित करते हुए भगवान महावीर ने कहा–सत्य महासागर से भी अधिकतम गम्भीर है, चन्द्र से भी अधिक सौम्य है और सूर्यमण्डल से भी अधिक तेजस्वी है।[6]

सत्य केवल वाणी तक ही सीमित नहीं है। वह अभिव्यक्ति का ही प्रकार नहीं है। सत्य का जन्म सबसे पहले मन में होता है और बाद में वह वाणी के द्वारा व्यक्त होता है तथा आचरण के द्वारा वह मूर्त्त रूप लेता है। यदि मन में अलग विचारधारा चल रही है, वाणी से अन्य विचार उगले जा रहे हैं और आचरण दूसरे ही रूप में किया जा रहा है, तो वस्तुतः वह व्यक्ति सत्यनिष्ठ नहीं है। उसके

---

१. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। –*तत्त्वार्थसूत्र* ५-२९
२. कालत्रये तिष्ठतीति सद् तदेव सत्यम्।
३. योगदर्शन साधनापाद, सूत्र ३
४. सच्चं लोगम्मि सारभूयं। –*प्रश्नव्याकरण* २, २
५. सच्चं ..... पभासकं भवति सव्वभावाणं। –*वही* २, २
६. सच्चं ..... गंभीरतरं महासमुद्दाओ, सच्चं ..... सोमतरं चंदमंडलाओ, दित्ततरं सूरमंडलाओ। –*वही* २, २

जीवन में यथार्थता नहीं है। सत्यनिष्ठ व्यक्ति के मन, वचन और आचरण में एकरूपता रहती है, अनेकता नहीं। उसके अन्तर्मानस में जो चिन्तन चलता है, वही वाणी के द्वारा मूर्त्त रूप लेता है और वही आचरण के द्वारा जन-जन को अभिनव प्रेरणा देता है। यदि मन में असत्य का विष व्याप्त है और वाणी से सत्य का अमृत बरस रहा है तो वह केवल वाकछल है। वह वाकछल दूसरों के विनाश के लिये है। ऐसी मधुर वाणी जो सत्य प्रतीत होती है किन्तु यथार्थतः सत्य नहीं है वह किंपाक फल के सदृश है, जिसमें हलाहल विष रहा हुआ है। ऐसे व्यक्ति को भारतीय चिन्तकों ने धूर्त्त माना है।

वह विषकुम्भपयोमुख है। वह महात्मा नहीं, दुरात्मा है। भगवान महावीर ने कहा–सत्य की निर्मल धारा सर्वप्रथम मन में बहनी चाहिए, फिर वचन में और फिर आचरण में।[1] जिसके मन, वचन और काया में सत्य समान रूप से प्रभावित है, वह महात्मा है–पवित्र आत्मा है।[2] सत्य जब तक जीवन के अणु-अणु में व्याप्त नहीं होता तब तक उसमें चमत्कार पैदा नहीं होता है। कोई व्यक्ति प्रतिज्ञा ग्रहण करता है कि मैं अमुक कार्य कर दूँगा, यदि वह कार्य नहीं करता है तो वह सत्य का आचरण नहीं हुआ। राजा हरिश्चन्द्र ने सत्य के लिए ही सब कुछ छोड़ दिया था। प्रश्नव्याकरण में कहा है–जैसा कहा है वैसा क्रिया के द्वारा साकार करना सत्य है 'सच्चं जह भणियं तह य कम्मुणा होइ' (संवरद्वार)।

सत्य प्रज्वलित प्रदीप

सत्य जगमगाता हुआ एक प्रज्वलित प्रदीप है, जो जन-जन को आलोक प्रदान करता है। सत्य की चर्चा नहीं, अर्चा आवश्यक है।

एक बार पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने अपने वक्तव्य में कहा–मैंने डॉक्टर राजेन्द्रप्रसाद जी को जीवन में कभी भी असत्य बोलते हुए नहीं देखा और न सुना ही। राजनीति में रहकर भी सत्य का प्रयोग जीवन में किया जा सकता है। जो लोग यह समझते हैं कि राजनीति में असत्य के बिना कार्य नहीं चल सकता, उनके लिए प्रस्तुत उदाहरण सर्च लाईट की तरह उपयोगी है।

जीवन की ऊष्मा : सत्य

सत्य मानव के उज्ज्वल चरित्र का सजग प्रहरी है। वह प्रहरी जब तक सजग रहता है तब तक बुराइयाँ फटकने नहीं पातीं। शरीर में से ऊष्मा यदि निकल जाये

---

१. मणसच्चे, वयसच्चे, कायसच्चे।

२. मनस्येकं वचस्येकं कार्ये चैकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् कार्ये चान्यद् दुरात्मनाम् ॥

तो व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता। जब तक ऊष्मा है, शरीर के कण-कण में प्राण है, तब तक वह जीवित है, उसमें चमक-दमक है, वह बढ़ता है, सुन्दर बना रहता है और प्राण निकलते ही वह सड़ता है, गलता है, उसमें कीड़े कुलबुलाने लगते हैं, उस मुर्दे शरीर का स्थान घर नहीं होता, श्मशान होता है। शव का चाहे कितना भी शृंगार किया जाये, वह निरर्थक है, वैसे ही सत्यरहित जीवन की स्थिति होती है। वह भी सत्य की ऊष्मा से रहित निष्प्राण हो जाता है। असत्य धुएँ के बादल के सदृश है। वे बादल भले ही उमड़-घुमड़कर आयें, किन्तु वे बिखरने के लिए होते हैं, बरसने के लिए नहीं। उन बादलों से भूमि की प्यास नहीं बुझ सकती और न खेती ही लहलहा सकती है।

असत्य का मूल स्रोत

हमें सर्वप्रथम यह समझना होगा कि असत्य का मूल स्रोत कहाँ है। ऐसी कौन-सी आन्तरिक वृत्तियाँ हैं जिसके कारण असत्य जन्म लेता है। न्याय का यह पूर्ण निश्चित सिद्धान्त है कि बिना कारण के कार्य नहीं हो सकता। कारण में जो गुण होंगे, वे कार्य में भी अपने आप आयेंगे।[1] यदि कारण असत्य है तो कार्य सत्य कदापि सम्भव नहीं है।

कल्पना कीजिये–एक कुम्भकार मिट्टी के बर्तन बना रहा है। वे मिट्टी के बर्तन जिनके मूल में मिट्टी है, वे सोने-चाँदी के नहीं बन सकते। जैसा कारण होगा, वैसा ही कार्य होगा। कारण-कार्य के नियमों में परिवर्तन नहीं हो सकता।

जैन दार्शनिकों ने कहा–असत्य का मूल कारण मिथ्यात्व है। मिथ्यादृष्टि के सत्य भाषण को व्यवहार की भाषा में सत्य कहा जा सकता है किन्तु वास्तविक दृष्टि से वह सत्य नहीं है, क्योंकि उसे सत्य दृष्टि प्राप्त नहीं है। एक व्यक्ति जिसने मदिरा पी रखी हो और उस मदिरा के नशे में उन्मत्त बना हुआ हो। उस समय वह पिता को पिता, पुत्र को पुत्र, पत्नी को पत्नी और भ्राता को भ्राता कहता है और उनके साथ उसी प्रकार का व्यवहार भी करता है। स्थूलदृष्टि से वह सत्य प्रतीत होता है, तथापि वह अपने होश में नहीं है, उसका दिमाग दुरुस्त नहीं है। अतः वह दूसरे क्षण दूसरी बात भी कह सकता है। भाग्य के भरोसे जो कुछ भी मुँह से निकल जाये। पर वह स्वयं नहीं समझता कि मैं क्या बोल रहा हूँ। ऐसी ही स्थिति एक पागल व्यक्ति की भी होती है। वह एक क्षण में प्रेम से वार्तालाप करता है तो दूसरे क्षण खूँखार भेड़िये के समान मारने के लिए भी लपक सकता है। उसके मुँह से निकली हुई सत्य बात भी प्रमाण रूप में नहीं मानी जा सकती। क्योंकि उसमें

---

१. कारणगुणपूर्वको हि कार्यगुणो दृष्टः।

विवेक और विचार का आलोक नहीं है। जिसकी दृष्टि में मिथ्यात्व की मलिनता है, अज्ञान का गहन अन्धकार है, उसका सत्य, सत्य नहीं है। सत्य वही होता है जिसे विवेकदृष्टि प्राप्त हो चुकी है और जिसे सत्य दृष्टि उपलब्ध हो जाती है, वह अनन्त, अपरिमित और असीम सत्य के संदर्शन कर सकता है।

सत्यदृष्टि और सत्य

सत्य और सत्य की दृष्टि में अन्तर है। जो सम्यग्दृष्टि साधक है, उसकी दृष्टि सम्यक् होती है जिसके कारण वह जो भी ग्रहण करता है वह सत्य के लिए होता है। यदि सम्यग्दृष्टि भ्रान्ति के वश असत्य का आचरण कर भी ले किन्तु ज्ञात होने पर वह अपनी भ्रान्ति और तज्जन्य आचरण को स्वीकारने में भी संकोच नहीं करता और उसी समय उस आचरण को छोड़ देता है। जब उसे यह परिज्ञात हो जाये कि उसका कथन सत्य नहीं है तो वह उसी क्षण सत्य को स्वीकार कर लेता है। आचार्य देववाचक ने स्पष्ट शब्दों में कहा है[1]—"यदि मिथ्यादृष्टि सम्यक्श्रुत को भी ग्रहण करेगा तो वह भी सम्यक्श्रुत उसके लिए मिथ्या में ही परिणत होगा और यदि सम्यग्दृष्टि मिथ्याश्रुत को ग्रहण करेगा तो वह भी उसके लिए सम्याश्रुत के रूप में परिणत होगा।" जैसे गाय घास को भी दूध के रूप में परिणत करती है और सर्प दूध को भी जहर के रूप में परिणत कर देता है, वैसे ही जिसकी दृष्टि सम्यक् है उसके द्वारा जो भी ग्रहण किया जायेगा, वह सम्यग् ही होगा और मिथ्यादृष्टि द्वारा ग्रहण किया हुआ मिथ्या बनेगा। सम्यग्दृष्टि जहर को भी अमृत के रूप में परिणत कर देता है और मिथ्यादृष्टि अमृत को जहर के रूप में। यदि हमारा मन सत्य को ग्रहण करने में समर्थ नहीं है तो हम सत्य को ग्रहण नहीं कर सकते। यदि हमारे में सत्य दृष्टि है तो हमें प्रत्येक परिस्थिति और वस्तु में सत्य के दर्शन हो सकते हैं।

असत्य बोलने के कारण

भगवान महावीर ने असत्य भाषण के कारणों पर चिन्तन करते हुए कहा है—मुख्य रूप से असत्य चार कारणों से बोला जाता है—क्रोध से, लोभ से, भय से और हास्य से।[2] जब मन में क्रोध की आँधी चल रही हो, लोभ का बवण्डर उठ रहा हो, भय का भूत मन पर हो और हास्य का प्रसंग हो, उस समय मानव सहज ही असत्य भाषण करता है, क्योंकि ये विकार जीवन की पवित्रता और मानव के विवेक को नष्ट कर देते हैं, जिससे उसकी वाणी और व्यवहार में असत्य प्रस्फुटित होता है।

---

१. एयाणि मिच्छादिट्ठिस्स मिच्छत्तपरिग्गहियाइं मिच्छासुयं।
एआणि चेव सम्मदिट्ठिस्स सम्मत्तपरिग्गहियाइं सम्मसुयं ॥ —नन्दीसूत्र

२. सव्वं भंते ! मुसावायं पच्चक्खामि—से कोहा वा, लोहा वा, भया वा, हासा वा नेव सयं मुसं वएज्जा ..... । —दशवैकालिक ४-१२

यदि मन में दया की स्रोतस्विनी प्रवाहित नहीं हो रही हो अपितु प्रतिशोध की अग्नि भड़क रही हो, एक-दूसरे को हीन बताने का प्रयत्न चल रहा हो तो मनुष्य कर्कश भाषा का प्रयोग करता है। इस प्रकार की कर्कश, कठोर, प्राणियों को परिताप देने वाली, सपापकारी सत्य भाषा भी असत्य है; क्योंकि अन्तर्मानस में जो वैभाविक भावनाएँ पनप रही हैं वे सत्य वाणी को भी असत्य में परिणत कर देती हैं। इसके विपरीत यदि मन में अहिंसा का आलोक जगमगा रहा है, करुणा-दया की शीतल सरिता प्रवाहित है तो वाणी के द्वारा असावधानी से असत्य भी निकल गया है तो वह भी सत्य है।

जैन दार्शनिकों ने व्यक्ति की वाणी की अपेक्षा विचारों को और भाषा की अपेक्षा भावों को अधिक महत्त्व दिया है।

आचार्य अगस्त्यसिंह स्थविर[1], आचार्य जिनदास महत्तर[2] और आचार्य हरिभद्र[3] ने इन चार कारणों का विश्लेषण करते हुए बताया है कि ये चारों कारण उपलक्षण मात्र हैं। क्रोध से मान को भी सूचित किया गया है, लोभ से माया को भी ग्रहण किया गया है। भय और हास्य का कथन करने से राग-द्वेष, कलह, अभ्याख्यान आदि कारणों को भी ग्रहण किया गया है। इस तरह अनेक वृत्तियों से असत्य बोला जाता है।

दशवैकालिक की अगस्त्यसिंह चूर्णि[4] और जिनदास चूर्णि[5] में मृषावाद के चार प्रकार बताये हैं-

(१) **सद्भाव प्रतिषेध**–जो है, उसके सम्बन्ध में यह कहना कि यह नहीं है, जैसे–जीव, पुण्य, पाप, बन्ध, मोक्ष आदि के सम्बन्ध में कहना कि ये नहीं हैं।

(२) **असद्भाव उद्भावना**–जो नहीं है उसके सम्बन्ध में कहना कि वह है, जैसे–आत्मा के सर्वगत व सर्वव्यापी न होने पर भी उसे उस प्रकार का बतलाना या आत्मा को श्यामाक, तन्दुल के समान कहना।

(३) **अर्थान्तर**–एक वस्तु को अन्य बताना, जैसे–गाय को घोड़ा कहना, घोड़े को गाय कहना आदि।

(४) **गर्हा**–जैसे काने को काना कहना, अन्धे को अन्धा कहना, नपुंसक को नपुंसक कहना। इस प्रकार के वचन बोलना जिससे सुनने वाले को पीड़ा हो।

---

१. दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि
२. दशवैकालिक आचार्य जिनदास चूर्णि, पृ. १४८
३. दशवैकालिक हरिभद्रीय टीका, पत्र १४६
४. दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि
५. दशवैकालिक जिनदास चूर्णि, पृ. १४८

यदि कोई मानव दुर्भाग्य से काना और अन्धा हो गया है। उसे एकाक्षी या अन्धा कहना, लौकिक दृष्टि से भले ही सत्य हो, पर मर्मकारी भाषा होने से वह सत्य नहीं है।[1] ऐसे कथन में व्यंग और घृणा रही हुई होती है। बोलने वाला व्यक्ति सुनने वाले के चित्त पर चोट करके हर्षित होता है। उसे हीन बताकर अपनी महानता प्रदर्शित करना चाहता है। उसके अन्तर्मानस में आसुरी वृत्ति अठखेलियाँ कर रही होती है। जिससे वह उस व्यक्ति को खिझाना व चिढ़ाना चाहता है। अन्धे को अन्धा और काणे को काणा कहना यह तथ्य हो सकता है पर सत्य नहीं। तथ्य हितकर ही हो यह बात नहीं है वह अहितकर भी होता है। उसमें राग-द्वेष का सम्मिश्रण भी होता है इसलिए वह सत्य भी असत्य है।

सत्य कहो पर चुभने वाला न हो, जो असर करे पर हृदय में छेद न करे। वही सत्य बोलो जो जन-जन का कल्याण करने वाला हो।

सत्यं शिवं सुन्दरम्

सत्य के लिए भारतीय चिन्तकों ने कहा–वह सुन्दर हो, कल्याणकारी हो। जो केवल सुन्दर ही है और कल्याणकारी नहीं है तो वस्तुतः वह सत्य नहीं है। इसीलिए 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' कहा गया है। सत्य एक ऐसी साधना है जिसे प्रत्येक व्यक्ति स्वीकार कर सकता है। व्यक्ति अपने सामर्थ्य के अनुसार उसे ग्रहण कर सकता है।

स्कन्दपुराण में कहा है–सत्य बोलो, प्रिय बोलो, किन्तु अप्रिय सत्य कभी मत बोलो और प्रिय असत्य भी मत बोलो।[2] परहित में वाक् और मन का यथार्थ भाव ही सत्य है।[3] योगसूत्रकार पतंजलि ने कहा है–सत्य-प्रतिष्ठित व्यक्ति को वाक्सिद्धि प्राप्त होती है।[4] यदि कोई व्यक्ति बारह वर्ष तक पूर्ण रूप से सत्यवादी रहे तो उसकी प्रत्येक बात यथार्थ होगी। एतदर्थ ही यजुर्वेद के ऋषि ने कहा–सत्य के पथ पर चलो।[5]

---

१. तहेव काणं काणे त्ति, पंडगं पंडगे त्ति वा।
वाहियं वावि रोगित्ति, तेणं चोरे त्ति नो वए ॥ –दशवैकालिक ७-१२

२. सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यम् प्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयात् एष धर्मः सनातनः ॥ –स्कन्दपुराण, ब्रा ध. सा. ६-८८

३. परहितार्थं वाङ्मनसो यथार्थत्वं।

४. सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। –योगसूत्र २-३६

५. ऋतस्य पन्था प्रेत ! –यजुर्वेद ७-४५

मानव का श्रेष्ठ गुण : सत्य

ऋग्वेद में कहा गया है—जो व्यक्ति दुष्कर्मी हैं, वे सत्य के पवित्र पथ को पार नहीं कर सकते।[1] इसीलिए यजुर्वेद में ऋषि ईश्वर से प्रार्थना करता है—मैं असत्य से बचकर सत्य का अनुगामी बनूँ।[2] सत्य ही बोलो, असत्य कभी मत बोलो।[3] अथर्ववेद के अनुसार असत्यवादी वरुण के पाश में पकड़ा जाता है। उसका उदर फूल जाता है।[4] आचार्य मनु का मन्तव्य है कि इस लोक में भी असत्य बोलने वालों को घोर पापी माना जाता है। तस्कर केवल दूसरों के धन का अपहरण करता है पर मृषावादी अपनी आत्मा के सद्गुणों का भी अपहरण करता है।[5] सज्जनों के बीच किसी बात को न बतलाना भी असत्य है। शब्द और अर्थ को तोड़-मरोड़कर उल्टे-सीधे रूप में प्रस्तुत करना, असत्य के साथ ही स्तेय-कृत्य की तरह है।[6] शतपथ ब्राह्मण में सत्य को मानव का सर्वश्रेष्ठ गुण कहा है। इसके अभिमतानुसार असत्यभाषी अपवित्र है। वह किसी भी यज्ञ आदि पवित्र कार्यों को करने का अधिकारी नहीं है।[7] सत्य के द्वारा ही मानव में तेजस्विता आती है। उसका नित्य अभ्युदय होता है, वह सिद्धि को वरण करता है। जो व्यक्ति सत्य बोलता है, उसका तेज प्रतिपल-प्रतिक्षण बढ़ता है और असत्य बोलने वाले का तेज क्षीण होता चला जाता है। अतः सदा सत्य भाषण करना चाहिए।[8]

सृष्टि सत्य पर प्रतिष्ठित है

ऋग्वेद के ऋषि ने सत्य को सर्वोच्च स्थान दिया है। उनका अभिमत है कि सृष्टि की उत्पत्ति के क्रम में सर्वप्रथम ऋत् और सत्य उत्पन्न हुए। सत्य से ही आकाश, पृथ्वी, वायु स्थिर हैं। सत्य के समक्ष असत्य की किंचित् भी प्रतिष्ठा नहीं है।[9] एक अन्य वैदिक आचार्य ने भी कहा है—पृथ्वी सत्य पर आधृत है। सत्य के कारण ही आकाश-मण्डल में चमचमाता हुआ सूर्य सारे विश्व को प्रकाश और ताप देता है। सत्य के कारण ही शीतल-मन्द-सुगन्ध पवन प्रवाहित है। और तो क्या?

---

१. ऋतस्य पन्था न तरति दुष्कृतः। —ऋग्वेद ९, ७३-६
२. इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि। —यजुर्वेद १-५
३. (क) सत्यं वद। —उपनिषद्
(ख) सत्यमेव वद् नानृतम्। —बौधायनधर्मसूत्र ६-६
४. अथर्ववेद ४-१६
५. मनुस्मृति ४-२२५
६. सर्वस्तेयकृत—मनुस्मृति ४-२५६
७. शतपथ ब्राह्मण ३, १-२-१० तथा १, १-१-१
८. वही २, २-२-१९
९. ऋग्वेद ७, १०४-११२

विश्व की जितनी भी वस्तुएँ हैं वे सत्य पर ही प्रतिष्ठित हैं।[1] शिवपुराण में कहा है–तराजू के एक पलड़े में हजारों अश्वमेध यज्ञ के पुण्य को रखा जाये और दूसरे पलड़े में सत्य को रखा जाये तो हजारों अश्वमेध यज्ञ के पुण्य से बढ़कर सत्य का पुण्य है।[2] इसीलिये वाल्मीकि ऋषि ने राम के पवित्र चरित्र का उट्टंकन करते हुए लिखा है कि राम ने अपने प्राणों के लिए भी कभी मिथ्या भाषण नहीं किया।[3] राम ने स्पष्ट शब्दों में कहा–न मैं पहले कभी झूठ बोला हूँ और न कभी आगे झूठ बोलूँगा।[4] सन्त तुलसीदास ने भी सभी सुकृत्यों का मूल सत्य को बताया है।[5] अथर्ववेद के मन्त्र-विभाग में महर्षि सौनक की जिज्ञासा का समाधान करते हुए आचार्य अंगिरा ने सत्य की गौरव-गरिमा गाते हुए कहा–सत्यं की विजय होती है, असत्य की नहीं। सत्य से देवयान मार्ग का विस्तार होता है, जिससे आप्तकाम ऋषिगण प्रस्तुत पद को प्राप्त होते हैं। जहाँ पर सत्य का परम विधान है।[6] शतपथ ब्राह्मण में लिखा है–सत्यवादी को प्रारम्भ में भले ही विजय प्राप्त न हो पर अन्त में विजय सत्यवादी की ही होती है। जैसे–देवताओं और असुरों के बीच भयंकर युद्ध हुआ। उस युद्ध में पहले देवता पराजित होते रहे, अन्त में विजय उन्हीं की हुई।[7]

आत्म-साक्षात्कार का साधन : सत्य

सत्य से ही देवताओं ने असुरों पर विजय-वैजयन्ती फहराई थी। उनका अप्रतिम यश संवर्धित हुआ था। सत्य कष्टों को भी दूर करता है।[8] ऐतरेय ब्राह्मण में मनु के पुत्र नाभा नैष्टिक का एक मधुर प्रसंग है। नाभा नैष्टिक ने सत्य बोलकर बहुमूल्य पारितोषिक प्राप्त किया था। इसलिए उसने विज्ञों को यह आदेश दिया कि आप सत्य बोला करें। मानव मात्र भूल का पात्र है। जीवन में भूल होना उतना बुरा

---

१. सत्येन धार्यते पृथ्वी, सत्येन तपते रविः।
सत्येन वायवो वान्ति, सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥

२. अश्वमेध सहस्रं च सत्यं च तुलयाधृतम्।
अश्वमेध सहस्राद्धि, सत्यमेकं विशिष्यते ॥ –*शिवपुराण, उ. सं. १२, २५*

३. दद्यान्न प्रतिगृह्णीयात् सत्यं ब्रूयान्न चानृतम्।
अपि जीवितहेतोर्वा, नरः सत्यपराक्रमः ॥ –*वाल्मीकि रामायण ५, ३३-२५*

४. अनृतं नोक्तपूर्वं मे न च वक्ष्ये कदाचन्।

५. सत्य मूल सब सुकृत सुहाए। –*रामचरितमानस २, २७-६*

६. सत्यमेव जयति नानृतं, सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा, यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानं ॥ –*अथर्ववेद*

७. शतपथ ब्राह्मण ३, ४-२-८

८. वही ११, ५-३-१३

नहीं है। यदि जीवन में कोई पाप भी हो गया है और उस पाप को सत्य रूप में स्वीकार कर लेता है तो वह उस पाप से मुक्त हो जाता है।[1] उपनिषद्कार का मन्तव्य है कि सत्य से आत्मा उपलब्ध होती है।[2] सत्य आत्म-साक्षात्कार का साधन है। आत्मानुभूति का हेतु है।

सत्य पर चलना कठिन

जैन पुराण साहित्य में ऐसे प्रसंग प्राप्त होते हैं जहाँ असत्य भाषण से अनेक व्यक्तियों का पतन हुआ है। किंचित् असत्य भाषण भी विविध दुविधाओं और पतन का कारण बन जाता है। जैसे–राजा वसु ने जान-बूझकर 'अजैर्यष्टव्यम्' पद के मिथ्या अर्थ को सत्य मानकर उसका प्रतिपादन कर दिया था तथा मिथ्या अर्थ के पक्ष में निर्णय कर दिया था जिससे उसका सिंहासन पृथ्वी में धँस गया था।

मानव-जीवन में यदि सत्यनिष्ठा नहीं है तो उसके जीवन में धर्म का कोई अस्तित्व ही नहीं है। धर्म की जड़ सत्य पर आधृत है। सामान्य रूप से सत्य पर दृढ़ रहना सहज नहीं है। सत्य का पथ तलवार की धार पर चलने से भी अधिक कठिन है। तलवार पर दो पैसे लेकर बाजीगर भी चल सकता है, अपनी कला दिखाकर जन-जन के मन को मुग्ध कर सकता है। किन्तु सत्य के मार्ग पर चलना अत्यधिक कठिन है। तलवार की धार पर चलने के लिए सतत जागरूकता अपेक्षित है। बिना तन्मयता के नुकीली धार पर चलना खतरे से खाली नहीं है। जरा-सी असावधानी से धार पैर को काट सकती है। किन्तु सत्य का मार्ग तलवार की धार से भी अधिक तीखा है। किंचित् मात्र भी असावधानी यहाँ नहीं चल सकती।[3] अतः सत्य के पथिक साधक को अत्यन्त जागरूकता के साथ अपने कर्त्तव्य पथ पर बढ़ना चाहिए।

सत्य और आचरण

भारत की शासकीय मुद्रा पर 'सत्यमेव जयते' अंकित है। धार्मिक स्थलों पर भी सत्य बोलने के लिए प्रेरणा प्रदान की जाती है। चाहे धर्मनेता हों, समाजनेता हों या राष्ट्रनेता हों–वे सभी सत्य बोलने की प्रेरणा देते हैं और असत्य के परिहार के लिए कहते हैं। पर आज जीवन में और व्यवहार में सत्य कितना अपनाया जा रहा है यह एक चिन्तनीय प्रश्न है।

पाश्चात्य दार्शनिक आर. डब्ल्यू. एमर्सन ने एक बार कहा था–सत्य का सर्वश्रेष्ठ अभिनन्दन यही है कि हम जीवन में उसका आचरण करें। राष्ट्रपिता

---

१. शतपथ ब्राह्मण २, ५-२-२०

२. बृहदारण्यक उपनिषद् ३, १-५

३. क्षुरस्य धारानिशिता दुरत्यया, दुर्गंपथस्तत् कवयो वदन्ति।

महात्मा गाँधी ने भी स्पष्ट शब्दों में कहा–जो व्यक्ति सत्य को जानता है तथा मन, वचन, काया से सत्य का आचरण करता है, वह परमात्मा को पहचानता है। एक दिन वह मुक्ति को भी वरण कर सकता है।

सत्य : जीवन का आधार

एक पाश्चात्य चिन्तक ने लिखा है कि मानव-जीवन की नींव सत्य पर आधृत है। सत्य सम्पूर्ण जीवन और सृष्टि का एक मात्र आधार है। इमर्सन ने कहा है–सत्य वह है जिस सुन्दरतम और श्रेष्ठतम आधार पर मानव अपना जीवन अवस्थित कर सकता है। सत्य का आधार ही सर्वोपरि तथा सर्वश्रेष्ठ आधार है।

महाभारत के उद्योग पर्व में यह बताया गया है कि जिस प्रकार नौका के सहारे से व्यक्ति विशाल समुद्र को पार कर जाता है वैसे ही मानव सत्य के सहारे नरक-तिर्यंच के अपार दुःखों को पार कर स्वर्ग प्राप्त कर लेता है।[1]

सत्य का मरहम

शरीर में ऊष्मा रहती है वहाँ तक यदि शरीर पर मक्खी, मच्छर आदि बैठते हैं तो शरीर उसे सहन नहीं कर पाता। ऊष्मा समाप्त होने के पश्चात् यदि शरीर के टुकड़े-टुकड़े भी कर दिये जायें तो भी उसे पता नहीं लगता। साधक के जीवन में भी सत्य की ऊष्मा रहती है तब तक कोई भी दुर्गुणरूपी मक्खी-मच्छर उसे बर्दाश्त नहीं होता। शास्त्रों में बताया गया है–यदि किसी श्रमण से मोह की तीव्रता के कारण महाव्रत भंग हो गया और वह आचार्य, उपाध्याय या गुरुजन के समक्ष जाकर अपनी उस भूल को उनके सामने यथातथ्य बताकर तथा प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध हो जाता है तो उस श्रमण को आचार्य आदि वरिष्ठ पद भी दिया जा सकता है। महाव्रत-भंग जैसे भयंकर घाव को भी सत्यरूपी मरहम भर देता है। जिस श्रमण का सत्य महाव्रत पूर्ण रूप से सुरक्षित है, वह श्रमण अन्य महाव्रतों के भंग करने पर भी सुधर सकता है। वह अपनी गलती को गलती के रूप में स्वीकार कर अपनी शुद्धि कर सकता है। यदि साधक भूल करके भी भूल को भूल नहीं मानता है, उनका प्रायश्चित्त नहीं करता है तो उसका सुधार कभी भी सम्भव नहीं है, वह आराधक नहीं बन सकता।

जैसे गुरुतर व गुप्त व्याधि से ग्रसित रुग्ण व्यक्ति चिकित्सक के सामने गुप्त से गुप्त बात भी प्रकट कर देता है तो चिकित्सक उसके रोग का सही निदान कर देता है। चिकित्सक रुग्ण व्यक्ति के गलत कार्यों की निन्दा और भर्त्सना नहीं करता

---

१. सत्यं स्वर्गस्य सोपानं, पारावारस्तु नौरिव। –महाभारत–उद्योगपर्व

अपितु औषध देकर तथा शल्य चिकित्सा कर उसे जीवन-दान देने का प्रयास करता है वैसे ही सद्गुरुरूपी चिकित्सक भी पापी से घृणा नहीं करते पर प्रायश्चित्त देकर उसके अध्यात्म रोग को नष्ट कर स्वस्थ बनाते हैं।

सत्य का अपूर्व बल

सत्य का उपासक साधक स्वयं की गलतियों को गलती समझकर उन गलतियों को सुधारता है। एतदर्थ ही सत्य को स्वयंभू, सर्वशक्तिमान् और स्वतीर्थ गुप्त (रक्षित) कहा गया है।

सत्य में अपूर्व बल है। जिस साधक में सत्य का बल व्याप्त हो वह साधक तोप व मशीनगनों के सामने भी सीना तानकर खड़ा हो जाता है, वह भय से काँपता नहीं है। बाइबिल में कहा है–सत्य ही महान् है और परम शक्तिशाली है। यह जनबल, परिजनबल, धनबल, सत्ताबल से भी बढ़कर है।

असत्य का बल चाहे कितना भी बड़ा क्यों न हो वह कागज की नौका की तरह और बालू के महल की तरह है जिनके डूबने और ढहने में समय नहीं लगता। मैंने देखा है–देहली में रामलीला के अवसर पर विशालकाय रावण के पुतले निर्मित होते हैं जिसे देखकर मन में एक कुतूहल होता है कि इतने विशाल रावण को एक नन्हा-सा राम कैसे समाप्त कर देगा। पर वह पुतला कागज और बाँस की खपच्चियों से बना हुआ होता है जिसमें बारूद होता है। जरा-सी चिनगारी का स्पर्श पाते ही कुछ ही क्षणों में जलकर भस्म हो जाता है। यही स्थिति असत्य के आधार पर खड़े हुए बाह्य आचरण की है। उसमें वास्तविकता एवं स्थिरता का अभाव होता है।

सत्य का दिव्य प्रभाव

सत्य का वट-वृक्ष शनैः-शनैः बढ़ता है, फलता है, फूलता है; पर उसकी जड़ें बहुत ही गहरी होती हैं। वह शताधिक वर्षों तक अपना अस्तित्व बनाये रखता है, आँधी और तूफान भी उसे धराशायी नहीं कर पाते। जबकि लताएँ बहुत ही शीघ्रता से बढ़ती हैं और शीघ्र ही नष्ट भी हो जाती हैं। हल्का-सा सूर्य-ताप उन्हें सुखा देता है और मामूली वर्षा से ही वे सड़ जाती हैं। इसीलिए कहा है–"सत्य में हजार हाथियों के बराबर बल होता है।" सत्यनिष्ठ व्यक्ति में इतना अधिक आत्मबल होता है कि उसके सामने भौतिक व अनैतिक बल टिक नहीं सकता।

आवश्यकसूत्र और प्रश्नव्याकरणसूत्र में सत्यवादी का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि सत्यवादी सत्य के दिव्य प्रभाव से विराट्काय समुद्र को तैर सकता है। पानी उसे डुबा नहीं सकता और अग्नि उसे जला नहीं सकती। खौलता

हुआ तेल, तप्त लोहा, गर्मागर्म शीशा सत्यवादी के हाथ का संस्पर्श होते ही बर्फ की तरह शीतल हो जाते हैं। पर्वत की ऊँची चोटियों से गिरकर भी वह मरता नहीं। शत्रुओं से घिरने पर भी शत्रु उसका बाल बाँका भी नहीं कर पाते। यहाँ तक कि देव भी उसके चरणों की धूल लेने के लिये लालायित रहते हैं।

योगदर्शन में सत्य की अपार शक्ति का परिणाम प्रतिपादित करते हुए कहा है—"सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।" सत्य का पूर्ण परिपाक हो जाने पर किसी भी प्रकार की कोई कमी नहीं रहती। वह चाहे जिसे वरदान या अभिशाप दे, वह सत्य होकर ही रहता है।

सत्य : सुदृढ़ कवच है

पाश्चात्य दार्शनिक कांट का अभिमत है, सत्य वह तत्त्व है जिसे अपनाने पर मानव भले-बुरे की परख कर सकता है। हृदय में रहे हुए सभी सद्गुणों के विकास की चावी मानव की सत्यनिष्ठा में सन्निहित है। असत्य दुर्गुणों की खान है। सत्य सभी सद्गुणों में श्रेष्ठ है अतः आत्मबल की अभिवृद्धि और ईश्वरत्व संप्राप्त करने के लिए भारतीय तत्त्वचिन्तकों ने सत्य को सभी सद्गुणों में श्रेष्ठ सद्गुण माना है। चीन के महान् चिन्तक कन्फ्यूशियस का अभिमत है कि जो सत्यार्थी होगा वह कर्मठ भी होगा। आलस्य और विलासिता असत्य की देन है।

सत्य का पवित्र पथ ऐसा पथ है जिस पर चलने वाले को न अहंकारी सतायेगा और न माया ही परेशान करेगी। सत्य ऐसा सुदृढ़ कवच है जिसे धारण करने पर दुर्गुण चाहे कितना भी प्रहार करे किन्तु सत्यवाद पर उनका कोई असर नहीं होगा। सत्य अभीष्ट फल प्रदान करने वाला है।

एक कवि ने कहा है–इस पृथ्वी पर ऐसा कौन-सा मानव है जिसके हृदय को मधुर व सत्य वचन हरण नहीं करता है। वह सभी के हृदय को आकर्षित करने वाला महामंत्र है। संसार का प्रत्येक प्राणी प्रतिपल-प्रतिक्षण सत्य वचन सुनने की ही आकांक्षा करता है। देव भी सत्य वचन से प्रसन्न होकर मनोवांछित फल प्रदान करते हैं। इसलिए तीन लोकों में सत्य से बढ़कर अन्य कोई भी व्रत नहीं है।[1] उपनिषदकार ने कहा है–"सत्य ज्ञानरूप और अनन्त ब्रह्मस्वरूप है।"[2]

---

१. प्रियं सत्य वाक्य हरति हृदयं कस्य न भुवि?
गिरं सत्यां लोकः प्रतिपदभिमामर्थयति च॥
सुराः सत्याद् वाक्याद् ददति मुदिताः कामितफलम्।
अंतः सत्याद् वाक्याद् व्रतमभिमतं नास्ति भुवने॥

२. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।

सत्य महाव्रत की भावनाएँ

गृहस्थ साधक सत्य को स्वीकार तो अवश्य करता है पर परिपूर्ण रूप से वह सत्य का पालन नहीं कर पाता। उसका सत्य अणुव्रत होता है किन्तु श्रमण सत्य को पूर्ण रूप से स्वीकार करता है इसलिए उसका सत्य सिर्फ व्रत नहीं, महाव्रत होता है।

क्रोध, लोभ, हास्य, भय, प्रमाद आदि मोहनीय कर्म की प्रकृतियों के अस्तित्व में रहने पर भी मन, वचन और काया से तथा कृत, कारित और अनुमोदना से कभी भी झूठ न बोलकर हर क्षण सावधानीपूर्वक हितकारी, सार्थक और प्रिय वचन बोलना सत्य महाव्रत है।[1] निरर्थक और अहितकारी बोला गया सत्य वचन भी त्याज्य है। इसी तरह सत्य महाव्रती को असभ्य वचन भी नहीं बोलना चाहिए।[2] यह भोजन बहुत ही अच्छा बना है, यह भोजन बहुत ही अच्छी तरह से पकाया हुआ है इस प्रकार सावद्य वचन भी उसे नहीं बोलना चाहिए।[3] 'मैं प्रस्तुत कार्य को आज अवश्य ही कर लूँगा' इस प्रकार निश्चयात्मक भाषा का भी प्रयोग श्रमण को नहीं करना चाहिए। क्योंकि सावद्य भाषा से हिंसा की और निश्चयात्मक भाषा के बोलने से असत्य होने की आशंका रहती है। इसलिए साधक को सदैव हितकारी, प्रिय व सत्य भाषा का ही प्रयोग करना चाहिए।

मन से सत्य बोलने का संकल्प करना भाव सत्य है, सत्य बोलने का प्रयास करना करण सत्य है और सत्य बोलना योग सत्य है। भावसत्य से अन्तःकरण विशुद्ध होता है, करण सत्य से सत्यरूप क्रिया को करने की अपूर्व शक्ति प्राप्त होती है तथा योग सत्य से मन-वचन-काया की पूर्ण शुद्धि होती है।

अहिंसा के उदात्त संस्कारों को मन में सुदृढ़ बनाने के लिए जैसे पाँच भावनाओं का निरूपण किया है वैसे ही सत्य महाव्रत की सुदृढ़ता के लिए पाँच भावनाएँ प्रतिपादित की गई हैं। जो श्रमण इन भावनाओं का मनोयोगपूर्वक चिन्तन करता है वह संसार सागर में परिभ्रमण नहीं करता।[4] भावनाओं के निदिध्यासन से व्रतों में स्थिरता आती है।[5] मनोबल दृढ़ होता है और निर्मल संस्कार मन में सुदृढ़ होते हैं। अतः भावनाओं का आगम साहित्य में विस्तार से विश्लेषण किया गया है। आचारांग[6], समवायांग[7] और प्रश्नव्याकरण[8] में भावनाओं का निरूपण है पर नाम व क्रमों में कहीं-कहीं अन्तर है। उनके नाम इस प्रकार हैं–

---

१. उत्तराध्ययन २५, २४; १२, २७
२. वही २१, १४
३. वही १–२४, ३६
४. वही ३१, १७
५. तत्स्थैर्यार्थ भावना पंच-पंच।
–तत्त्वार्थ. ७, ३
६. आचारांग, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, १५वाँ भावना अध्ययन
७. समवायांग, २५वाँ समवाय
८. प्रश्नव्याकरणसूत्र, संवरद्वार, सातवाँ अध्ययन

आचारांग में

(१) अनुवीचि भाषण, (२) क्रोध प्रत्याख्यान, (३) लोभ प्रत्याख्यान, (४) अभय (भय प्रत्याख्यान), (५) हास्य प्रत्याख्यान।

समवयांग में

(१) अनुवीचि भाषण, (२) क्रोध विवेक (क्रोध का परित्याग) (३) लोभ विवेक (लोभ का परित्याग), (४) भय विवेक (भय का त्याग), (५) हास्य विवेक (हास्य का त्याग)।

प्रश्नव्याकरण में

(१) अनुचिन्त्य समिति भावना, (२) क्रोधनिग्रहरूप क्षमा भावना, (३) लोभविजयरूप निर्लोभ भावना, (४) भयमुक्तिरूप धैर्ययुक्त अभय भावना, (५) हास्यमुक्ति वचन-संयमरूप भावना।

चारित्र प्राभृत में[1]

(१) अक्रोध, (२) अभय, (३) अहास्य, (४) अलोभ, (५) अमोह।

प्रश्नव्याकरण की भाँति ही तत्त्वार्थसूत्र की टीकाएँ सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक[2] में भी क्रम मिलता है।

इन पाँचों भावनाओं में जिन कारणों से सत्य की साधना में स्खलनाएँ हो सकती हैं उनसे अलग-थलग रहने के लिए प्रेरणा प्रदान की गई है। प्रतिपल-प्रतिक्षण चिन्तन करने से साधक में वे संस्कार बद्धमूल हो जाते हैं जिससे वह किसी भी समय और परिस्थिति में असत्य का उपयोग नहीं कर सकता।

हम यहाँ पर प्रश्नव्याकरण को मूल आधार मानकर ही उन भावनाओं पर चिन्तन कर रहे हैं।

(१) अनुचिन्त्य समिति भावना

अनुचिन्त्य अथवा अनुविचिन्त्य से तात्पर्य है सत्य के विभिन्न पहलुओं पर पुनः-पुनः चिन्तन कर बोलना। जब तक जीवन के कण-कण में एवं मन के

---

१. कोह भय हास लोहा मोहा विवरीय भावणा चेव।
विदियस्स भावणा ए पंचेव य तहा होंति॥
–षट्प्राभृत में चारित्र प्राभृत ३२–आचार्य कुन्दकुन्द

२. तत्त्वार्थसूत्र ७-३ की टीकाएँ

अणु-अणु में सत्य पूर्ण रूप से रम नहीं जाता वहाँ तक सत्य की साधना व आराधना पूर्ण नहीं होती। सत्य की महिमा और गरिमा का तभी पता चलता है जब साधक मनोयोगपूर्वक उस पर गहराई से चिन्तन करता है। सत्य के महत्त्व को समझकर साधक उसके बाधक[1] तत्त्वों का परित्याग करता है।

सत्य के बाधक तत्त्व ये हैं–

(१) अलीक वचन–जो बात नहीं है उसे कहना, स्वयं की प्रशंसा करने के लिए और दूसरों को नीचा दिखाने के लिए झूठ बोलना।

(२) पिशुन वचन अथवा चुगली–नारद की भाँति एक-दूसरे के विपरीत बात कहकर लड़ाना। एक राजस्थानी कवि ने चुगलखोर का वर्णन करते हुए कहा–वह बहुत ही खतरनाक प्राणी है जिसके कारण सरसब्ज बाग वीरान और शहर उजड़ जाते हैं। पैशुन्य ऐसा चालाक तस्कर है जो सत्यरूपी धन को चुरा लेता है।

(३-४) कठोर वचन तथा कटु वचन–ये दोनों भी सत्य के शत्रु हैं। हित की बात भी कटु शब्दों में नहीं कहनी चाहिए। दूध को एक मिट्टी के बर्तन में रखकर पिलाया जाय और उसी दूध को चमचमाते हुए चाँदी या स्वर्ण पात्र में पिलाया जाय तो पीने वाले को अधिक आल्हाद किसमें होगा? स्वर्ण या चाँदी के पात्र में। वैसे ही सत्य को भी मधुर शब्दों में कहा जाय तो वह अधिक प्रभावशाली होगा।

(५) चपल वचन–बहुत ही उतावल, जल्दबाजी से बिना सोचे बोलना। व्यवहार-भाष्य[2] में आचार्य ने लिखा है–अन्धा व्यक्ति जैसे अपने साथ आँख वाले व्यक्ति रखता है वैसे ही वाणी जो अन्धी है उसे अपने साथ बुद्धिरूपी नेत्र रखना चाहिए अर्थात् पहले अच्छी तरह बुद्धि से सोचकर फिर वाणी का प्रयोग करना चाहिए।

साधक को सत्य के इन पाँचों बाधक तत्त्वों से बचना चाहिए।

यहाँ पर यह स्मरण रखना होगा कि आचारांग, समवायांग और प्रश्नव्याकरण में उल्लिखित 'अनुवीचिभाषण' या 'अनुविचिन्त्य समिति' के स्थान पर आचार्य कुन्दकुन्द ने 'अमोह' भावना का उल्लेख किया है पर चारित्र प्राभृत के टीकाकर ने अनुवीचिभाषण ही रखा है[3] और अमोह का अर्थ अनुवीचिभाषणकुशलता किया

---

१. अलिय-पिसुण-फरुस-कडुय-चवल वयण परिरक्खणट्ठयाए।
–प्रश्नव्याकरणसूत्र, संवरद्वार, सातवाँ अध्ययन

२. पुव्विं बुद्धिए पासेत्ता तत्तो वक्कमुदाहरे।
अचक्खुओ व नेयारं बुद्धिमन्नेसए गिरा॥
–व्यवहारभाष्य, पीठिका ७६

३. अकोहणो अलोहो य भय हस्स विवज्जिदो।
अणुवीचि भासकुसलो विदियं वदमिस्सदो॥
–चारित्रप्राभृत, गाथा ३२ की टीका

है। आगम के टीकाकारों ने 'अनुवीचिभाषण' का अर्थ चिन्तनपूर्वक बोलना किया है जबकि चारित्रप्राभृत की टीका[1] में 'वीची' का अर्थ 'वचन लहर' तथा 'वचन तरंग' किया गया है और उस वचन तरंग का अनुसरण करके बोली जाने वाली भाषा को अनुवीची कहा गया है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि सूत्रों का अनुसरण करने वाली और पूर्वाचार्य व पूर्व परम्परा का अनुगमन करने वाली भाषा अनुवीचि भाषा है। उसके पश्चात् प्रस्तुत भाषा के सम्बन्ध में भी चिन्तन चला। भट्ट अकलंक ने दोनों ही अर्थों को स्वीकार किया है।[2]

सारांश यह है कि प्रस्तुत भावना में भाषा व उसके गुण-दोषों पर चिन्तन करके सत्य के प्रति मन में दृढ़ता बनाये रखी जाती है।

(२) क्रोधनिग्रहरूप क्षमा भावना

यह द्वितीय भावना है। प्रथम भावना में चिन्तनपूर्वक विवेकयुक्त वचन बोलने का अभ्यास किया जाता है। निरन्तर अभ्यास करने से संस्कार सुदृढ़ हो जाते हैं।

असत्य भाषा के प्रयोग का प्रथम कारण क्रोध है। क्रोध का भूत जब मस्तिष्क पर सवार होता है तब विवेक लुप्त हो जाता है। वह दूसरों पर मिथ्या दोषों का आरोपण करने लगता है। उसे यह भान ही नहीं रहता कि मैं किसके सामने और क्या बोल रहा हूँ। क्रोध अनेक दुर्गुणों की खिचड़ी है इसीलिए प्रस्तुत भावना में क्रोध से बचकर क्षमा को धारण करने का संकल्प किया जाता है। मन को क्षमा से भावित करने का उपक्रम करना ही इस भावना का मूल उद्देश्य है।

(३) लोभविजयरूप निर्लोभ भावना

क्रोध की तरह लोभ भी सत्य का संहार करने वाला है। क्रोध में द्वेष की प्रधानता होती है तो लोभ में राग की प्रधानता। सूर्य के चमचमाते हुए दिव्य प्रकाश को उमड़-घुमड़कर आने वाली काली कजरारी घटाएँ रोक देती हैं और अन्धकार मँडराने लगता है वैसे ही लोभ की घटाओं से भी मानव का विवेक धुँधला हो जाता है। सत्य सूर्य का प्रकाश मंद हो जाता है।

लोभ के कारण मानव असत्य भाषण करता है। सत्य का साधक लोभ से बचने के लिए इस प्रकार चिन्तन करता है कि जिन पर-पदार्थों पर मैं मुग्ध हो रहा

---

१. वीचा वागुलहरी तानतुकृत्य या भाषा वर्तते सानुवीची भाषा–जिनसूत्रानुसारिणी भाषा–अनुवीची भाषा–पूर्वाचार्यसूत्र परिपाटीमनुल्लंघ्य भाषणीयमित्यर्थः।

–चारित्रप्राभृत, गाथा ३२ की टीका

२. अनुवीचि भाषणं अनुलोमभाषणमित्यर्थ ····· विचार्य भाषणं अनुवीचि भाषणमिति वा।

–तत्त्वार्थराजवार्तिक ७-५

हूँ वे सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं। संसार के अपार कष्ट इन वस्तुओं के प्रति ममत्व एवं लोभ के फल ही हैं। अतः वह निर्लोभ भावना चिन्तन कर लोभ की वृत्ति को नष्ट करने में सतत प्रयत्नशील रहता है।

(४) भयमुक्तियुक्त अभय भावना

लोभ मीठा जहर है जो साधक के जीवन रस को चूस लेता है उसे विषमिश्रित कर देता है तो भय कटुक जहर है जो साधक के जीवन को संत्रस्त कर देता है। भय का संचार होते ही व्यक्ति की बुद्धि कुंठित हो जाती है, वह करणीय तथा अकरणीय का यथातथ्य निर्णय नहीं कर पता।

स्थानांग[1] में सात भय बताये हैं–(१) इहलोक भय, (२) परलोक भय, (३) आदान भय, (४) अकस्मात् भय, (५) वेदना भय, (६) मरण भय, (७) अपयश भय। इन भयों के कारण मानव असत्य भाषण करता है।

भयभीत व्यक्ति सत्य नहीं बोल पाता। इसीलिए आगम साहित्य में साधक को यह स्पष्ट आदेश दिया है कि तुम्हें भयभीत नहीं होना चाहिए। भय के दुष्परिणामों पर चिन्तन कर अभय बनने का प्रयास करना चाहिए।

सुप्रसिद्ध विचारक इमर्सन ने लिखा है–भय अज्ञान से उत्पन्न होता है।

साधक भयविमुक्ति के लिए अभय भावना से आत्मा को भावित कर सत्य के चिन्तन को सुदृढ़ करता है।

(५) हास्यमुक्ति वचन-संयमरूप भावना

स्वास्थ्य के लिए मानव को सदा प्रफुल्लित रहना चाहिए। खिले हुए फूल की तरह उसका चेहरा होना चाहिए।

उत्तम मानवों की आँखें हँसती हैं। जब भी हँसने का प्रसंग आता है उनकी आँखों से ऐसी रोशनी चमकती है कि मानव का मन आनन्द से विभोर हो जाता है। मध्यम मानव खिलखिलाकर हँसता है और अधम मानव अट्टहास करता है। उसके ठहाके से दीवारें गूँजने लगती हैं। इस प्रकार की हँसी असभ्यता व जंगलीपन का प्रतीक है। समझदार व्यक्ति बहुत कम हँसता है। वह हँसी-मजाक का परित्याग कर इन्द्रियों को संयत करता है।[2] राजस्थानी कहावत भी है–"रोग की जड़ खाँसी, लड़ाई की जड़ हाँसी।" हास्य सत्य का शत्रु है। एक कवि ने कहा–

---

१. स्थानांग सूत्र, स्थान ७

२. सव्वं हासं परिच्चज्ज अल्लीण गुत्तो परिव्वए। –आचारांग ३१२

ए मानव ! हँस मत ! हँसना उच्चता का प्रतीक नहीं है। हँसने से अनेक दोष आ जाते हैं और गुण चले जाते हैं तथा लोग पागल समझते हैं।[1]

हँसी-मजाक करने वाला गंभीर नहीं हो सकता। वह विवेकयुक्त शब्दों का चयन नहीं कर पाता, सत्य-असत्य का विवेक नहीं रख पाता। लोगों को हँसाने के लिए वह जोकर, विदूषक या भाँड की तरह चेष्टा करता है जिससे लोग हँसें। वह दूसरों का उपहास भी करता है जिससे दूसरों के हृदय को आघात लगता है। एतदर्थ ही शास्त्रकारों ने साधक को हँसी-मजाक न करने के लिए प्रेरणा दी है।

यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि हँसी-मजाक और विनोद में अन्तर है। विनोद में सौम्यता होती है, यथार्थता होती है। विनोद में इस प्रकार से शब्दों का प्रयोग होता है जिससे किसी के दिल को पीड़ा नहीं होती किन्तु हँसी-मजाक में दूसरों के मन में पीड़ा होती है। 'एक व्यंग वचन हजार गालियों से भी भयानक होता है' तथा 'एक मसखरी सौ गाली' आदि लोकोक्तियाँ व्यंग-हास्य की भयंकरता का दिग्दर्शन कराती हैं। अतः साधक हँसी-मजाक का परित्याग करता है और संयम के द्वारा ऐसे संस्कार जाग्रत करता है जिससे उसकी वाणी पूर्ण संयत, निर्दोष और यथार्थ होती है, हित, मित, प्रिय, तथ्य व सत्य से संपृक्त होती है।

उपर्युक्त पंक्तियों में सत्य के सम्बन्ध में संक्षेप में कुछ चिन्तन किया है। यों सत्य का स्वरूप बहुत ही विराट् है। शब्दों के संकीर्ण घेरे में उसे बाँधना सम्भव नहीं है। किन्तु संक्षेप में समझा तो जा ही सकता है।

●●

१. हँसिए नहीं गिंवार, हँसिया हलकाई हुवै।
हँसिया दोष अपार, गुण जावै गहलो कहै॥

१३. अस्तेय व्रत के विविध आयाम

स्तेय

श्रमण संस्कृति ने अहिंसा तथा सत्य के समान ही 'अस्तेय' पर भी बहुत ही गहराई से चिन्तन किया है। जैसे हिंसा में मुख्य रूप से क्रूरता रहती है वैसे ही स्तेय में तृष्णा की मुख्यता होती है। किसी भी सुन्दर और आकर्षक वस्तु को निहारकर मानव की इच्छा उसे प्राप्त करने की होती है और वह इच्छा इतनी प्रबल हो जाती है जिससे मानव के चित्त में अत्यधिक चंचलता उत्पन्न होती है, उसके मन-मस्तिष्क उसे प्राप्त करने के लिए ललक उठते हैं तथा शारीरिक अंगोपांग उस वस्तु को उठाने एवं अपने अधिकार में करने के लिए प्रयत्नशील हो जाते हैं। यदि वह वस्तु न्याय और नीति से उपलब्ध हो जाय तो ठीक नहीं तो वह इच्छा का अनुचर अनैतिक कार्य करने के लिए तत्पर हो जाता है। अनैतिक प्रकार से, असामाजिक तरीके से और अनाधिकृत रूप से किसी भी पदार्थ को प्राप्त करना स्तेय है।

स्तेय के लिए 'अदत्तादान' शब्द का प्रयोग हुआ है। बिना दी हुई वस्तु को स्वयं की इच्छा से उठाना, स्वामी की अनुमति के बिना किसी भी वस्तु को ग्रहण करना व उसका उपभोग एवं उपयोग करना अदत्तादान है। इसे ही चोरी कहते हैं।

अस्तेय वृत्ति

प्रश्नव्याकरणसूत्र[1] में स्तेय और अस्तेय की विस्तार से व्याख्या की गई है। उसमें स्तेय और अस्तेय के अनेक रूप बताये हैं। किसी की निन्दा करना, किसी के दोषों को देखना, चुगली करना, दान आदि सत्कर्म में अन्तराय डालना, अन्य जीवों के प्राणों का अपहरण करना, दूसरे के अधिकार को छीनना, किसी की भावना को ठेस पहुँचाना, किसी के साथ अन्याय करना आदि सभी तस्कर कृत्य हैं। अस्तेय महाव्रत के साधक को तस्कर वृत्ति के इन सभी प्रकारों से अपने आपको बचाना होता है।

---

१. प्रश्नव्याकरण–आश्रवद्वार, अध्ययन ३ तथा संवरद्वार, अध्ययन ३

अस्तेय : परिभाषा

दशवैकालिक[1] में अस्तेय महाव्रत के सम्बन्ध में बताते हुए कहा है–मुनि गाँव में, नगर में या अरण्य में थोड़ी या बहुत, छोटी या बड़ी, सजीव या निर्जीव किसी भी वस्तु को बिना दिये हुए न ले, स्वामी की आज्ञा के बिना न ले, न दूसरों को इस प्रकार अदत्त लेने की प्रेरणा दे और न अदत्त ग्रहण का अनुमोदन करे।

प्रश्नव्याकरणसूत्र[2] में स्तेय की जो विविध व्याख्याएँ हैं, उनमें स्तेय की दो परिभाषाएँ हैं–एक अर्थहरण, दूसरी अधिकारहरण। अस्तेय व्रत का सम्बन्ध अर्थ से विशेष रूप से है। अर्थ से तात्पर्य है–पदार्थ। जीवित रहने के लिए प्राणी को अन्न, वस्त्र, आवास आदि पदार्थों की अनिवार्य आवश्यकता होती है। जब तक देह है तब तक इन पदार्थों का उपयोग एवं उपभोग अनिवार्य है अतः उन्हें लेना ही पड़ता है। किन्तु लेने से पूर्व अपनी मर्यादाओं के बारे में सोचना अति आवश्यक है। यह विचार करना चाहिए कि हम कितने और कौन-से पदार्थ लेने के अधिकारी हैं? किस पदार्थ को किस विधि से और किस तरह से लेना चाहिए? जो पदार्थ हम ग्रहण कर रहे हैं उसका उपयोग हमारे लिए उचित है अथवा नहीं? यदि उचित है तो कितनी मात्रा में उचित है? जिससे दूसरों के अधिकार का हनन न हो? दूसरे के जीवन जीने में कठिनाई न हो?

ये सभी प्रश्न अस्तेय व्रत की महत्ता को बताते हैं। अस्तेय व्रत के अभाव में मानव, मानव न रहकर दानव बन जाता है। वह पाशविक जीवन जीने लगता है। वह स्वयं मौज मजा करता है; किन्तु दूसरा उन्हीं वस्तुओं के लिए तरस रहा है। उन अनिवार्य वस्तुओं के अभाव में उनका जीवन अभिशाप बन गया है, इस ओर वह ध्यान भी नहीं देता। वह स्वयं की जीवन की चिन्ता करता है। उसके लिए दूसरे से छीन-झपटकर, लड़-भिड़कर एवं मार-पीट करके भी अपनी इच्छित वस्तुएँ लेना चाहता है।

यदि मानव-समाज में इस प्रकार पाशविकता पनपेगी तो सर्वत्र अराजकता का साम्राज्य हो जाएगा। अस्तेय व्रत की इसीलिए आवश्यकता है कि वह मानव को दिव्य जीवन जीने के लिए उत्प्रेरित करता है। स्वयं की आवश्यकताओं को वह न्याय-नीति से और योग्य पुरुषार्थ से प्राप्त करने की प्रेरणा देता है।

अधिकार की सीमा

आज समाज में अधिकांश व्यक्ति अधिकार प्राप्त करने के लिए उत्सुक हैं। यदि उन्हें अधिकार न मिले तो संघर्ष करते हैं और निर्बलों के अधिकार को छीनने

१. दशवैकालिक ४, १३; ६, १३-१४ २. प्रश्नव्याकरण, आश्रवद्वार, अध्ययन ३

के लिए अनैतिक उपाय भी आजमाते हैं। इस स्वार्थी प्रवृत्ति से समाज में संघर्ष व असन्तोष फैलता है।

अस्तेय व्रत व्यक्ति के अधिकार की सीमा करता है। वह मर्यादित जीवन जीने के लिए उत्प्रेरित करता है। आर्थिक दृष्टि से भी अस्तेय व्रत समाज के लिए लाभप्रद है। उससे समाज की विषमता दूर हो जाती है और समाज में से दीनता का विनाश होता है। स्वतन्त्रता और स्वाधीनता पनपती है।

कानून और दण्ड-शक्ति से जो समता उत्पन्न होती है वह बलात् ऊपर से लादी हुई होती है। उसमें स्थायित्व नहीं होता। किन्तु अस्तेय व्रत को धारण करने से सहयोग भावना पर अवस्थित समता चिरस्थायी होती है।

अस्तेय का महत्त्व

सिन्दूर प्रकरण में आचार्य[1] ने कहा जो अदत्त ग्रहण नहीं करता सिद्धि उसकी अभिलाषा करती है, समृद्धि उसे स्वीकार करती है, कीर्ति उसके पास आती है, किसी भी प्रकार की सांसारिक पीड़ा उसे नहीं होती, सुगति उसकी स्पृहा करती है, दुर्गति उसे निहारती भी नहीं और विपत्ति उसका परित्याग कर देती है।

आचार्य पतंजलि[2] ने योगदर्शन में कहा है कि अस्तेय व्रत का पालन करने से उसे सर्वरत्न प्राप्त होते हैं। उसे समस्त अनुकूलताएँ प्राप्त होती हैं।

वर्तमान युग में मिथ्या आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए मानव नीति-अनीति को विस्मृत होकर तथा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को भुलाकर धन बटोरने का प्रयास कर रहा है।

संग्रहवृत्ति : तस्करी का मूल

जब संग्रहवृत्ति बढ़ती है तब चोरी पनपती है। उपनिषद् का प्रसंग है–राजा अश्वपति[3] ने कहा था–मेरे राज्य में न कोई चोर लुटेरा है, न कोई भ्रष्टाचारी है, न कोई कृपण है और न कोई मदिरा पीने वाला ही है। यूनान के राजदूत मेगास्थनीज़ ने सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय भारत की यात्रा की थी। उन्होंने अपने

---

१. तमभिलषति सिद्धिस्तं वृणीते समृद्धिः।
तमभिसरति कीर्तिरुंचते तं भवार्तिः॥
स्पृहयति सुगतिस्तं नेक्षते दुर्गतिस्तम्।
परिहरति विपत्तिर्यो न गृह्णात्यदत्तम्॥ —सिन्दूर प्रकरण

२. अस्तेय प्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानं। —'योग दर्शन' साधनापाद

३. न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न च मद्यपः।

ग्रन्थ में लिखा है कि पाटलीपुत्र आदि में ताले नहीं लगाये जाते थे। वहाँ पर रास्ते में गिरी हुई किसी वस्तु को कोई नहीं उठाता था। कोई भी चोरी करना नहीं जानता था। बड़े से बड़ा लेन-देन केवल जबानी होता था। उसके लिए लिखा-पढ़ी की आवश्यकता नहीं थी।

आज भारत वैसा नहीं

जो भारत एक दिन आध्यात्मिकता के उच्च शिखर को स्पर्श कर रहा था, जहाँ एक दिन चोरी आदि दुर्गुण नहीं थे, आज वहाँ की स्थिति कितनी दयनीय है? धर्मस्थानों में भी दिन-दहाड़े चोरियाँ होती हैं। जब रवीन्द्रनाथ ठाकुर चीन और जापान गये थे, तब वहाँ के लोगों ने उनका भव्य स्वागत किया। उन्होंने कहा–आप उस देश से पधारे हैं जहाँ पर तथागत बुद्ध जैसे विशिष्ट महापुरुषों ने जन्म लिया है। जहाँ पर कोई चोरी नहीं करता, लूट-पाट और डकैती नहीं होती। रवीन्द्र ठाकुर ने आँखों में आँसू भरकर कहा–तुम्हारा कथन ठीक है। एक दिन भारतवर्ष ऐसा ही था, पर आज भारत वैसा नहीं रहा है। आज भारत में चोरियाँ भी होती हैं, लूट-पाट और डकैती भी होती है।

"**परद्रव्येषु लोष्ठवत्**" मानने वाले भारत में आज ढेले की भी चोरी की जाती है। चोरी का अर्थ है–जिस वस्तु पर अपना स्वामित्व नहीं है उसे लेना अर्थात् किसी दूसरे के अधिकार की वस्तु पर अधिकार करना। भले ही वह वस्तु रास्ते में पड़ी हुई हो किन्तु उसके मालिक की अनुमति के बिना उसका उपयोग करना, किसी की धरोहर को छीनना, किसी की आँखों में धूल झोंककर या उसके घर-दुकान आदि में सेंध लगाकर या उसकी अनुपस्थिति में उस वस्तु का अपहरण करना; चाहे वस्तु बड़ी हो या छोटी हो, बहुत कीमती हो या अल्प मूल्य वाली हो, बिना मालिक की इच्छा के तथा बिना उसकी अनुमति लिये उस पर अधिकार करना चोरी है। भगवान महावीर[1] ने स्पष्ट शब्दों में कहा है–वस्तु सजीव हो या निर्जीव हो, कम हो या अधिक हो, अल्पमूल्य वाली हो या बहुमूल्य वाली हो, उसे बिना मालिक की आज्ञा के ग्रहण करना, उसका उपयोग करना चोरी है। यहाँ तक कि बिना अनुमति के दाँत कुरेदने के लिए तिनका उठाना भी चोरी का अपराध है।

चोरी के विभिन्न प्रकार

यों तो चोरी के अनेक प्रकार हैं किन्तु मुख्य रूप से चोरी के अग्र प्रकार गिनाये जा सकते हैं–

---

१. चित्तमन्तमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं।
दंत सोहणमेत्तं पि उग्गहंसि अजाइया॥

छन्न, नजर, ठग, उद्घाटक, बलात् और घातक।

छन्न चोरी से तात्पर्य है किसी के घर में अनेक वस्तुएँ हैं, वे वस्तुएँ चाहे स्वयं के घर पर ही रखी हुई हों तथापि उस वस्तु के मालिक की बिना आज्ञा, परोक्ष में गुप्त रूप से उसे वस्तु को उठाकर अपने अधिकार में कर लेना या उपयोग करना।

नजर चौर्यकर्म–वस्तु के अधिपति या उसके संरक्षक सदस्य की आँख बचाकर वस्तु को ग्रहण कर लेना और फिर उसका उपयोग करना।

ठगी–वस्तु के मालिक के सामने ही वस्तु को लेना। किन्तु इस तरह से लेना जिससे मालिक को ज्ञात न हो सके। अच्छी वस्तु बताकर निम्न कोटि की वस्तु देना या वस्तु में मिलावट करना, नाप-तोल में गड़बड़ करना, वस्तु का जितना दाम है उससे अधिक मूल्य लेना; ये सभी ठग-वृत्ति हैं।

उद्घाटक–किसी व्यक्ति की गाँठ को खोलकर, जेबकतर कर, सेंध लगाकर, ताला तोड़कर, तिजोरी तोड़कर जो चोरी की जाती है, वह उद्घाटक चोरी है।

बलात्–डाका डालकर, जबरदस्ती, छीन-झपटकर या मार-पीटकर, शस्त्र दिखाकर किसी की चीज को छीनना। किसी के घर पर जाकर उन्हें भय दिखाकर लूट लेना आदि। अधिक कर लेना, रिश्वत लेना आदि।

घातक–चोरी के साथ-साथ चोर वस्तु के स्वामी अथवा संरक्षक की हत्या भी कर देता है और उसकी सभी चीजें ग्रहण कर लेता है। ऐसी चोरी घातक चोरी कहलाती है।

ये सारी चोरियाँ वस्तु के अधिपति की असावधानी से होती हैं और प्रत्यक्ष में भी दिखाई देती हैं।

ये सभी अर्थ-चोरी के ही प्रकार हैं।

कुछ चोरियाँ अप्रत्यक्ष भी होती हैं। किसी के द्वारा अत्यधिक सुन्दर कार्य किया गया हो तो 'यह कार्य मैंने किया है' या किसी कवि या लेखक वक्ता के भावों को लेकर अपने नाम से लिखना या शब्दों के हेर-फेर कर अपना नाम लगाना आदि नाम-चोरी है। जिस व्यक्ति ने तप नहीं किया है किन्तु किसी को उसी के नाम से भ्रम हो गया हो और कोई उसे कहे–"धन्य है आपको ! आप जैसे तरुण तपस्वी को देखकर मेरा हृदय आनन्द से झूम रहा है।" इस प्रकार प्रशंसात्मक शब्द सुनकर भी जो स्पष्टीकरण नहीं करता कि आप जिसके लिए कह रहे हैं, वह मैं नहीं हूँ। वे दूसरे हैं। दूसरे के नाम को छिपाकर यश प्राप्त करने का प्रयास करना यह भी नाम-चोरी ही है। चाहे वह गृहस्थ हो या साधु, दोनों के लिए त्याज्य है।

चोरी के अन्य प्रकार

किसी दूसरे की वस्तु को उसकी सम्मति लिये बिना उपयोग करना चोरी का अन्य प्रकार है। जैसे किसी संस्था की किसी वस्तु का उस संस्था को बिना पूछे उपयोग करना तथा मन में सोचना कि जब माँगेंगे तब दे देंगे तब तक तो उपयोग में ले लें। यदि किसी व्यक्ति से कोई वस्तु माँगकर लाई गई है तो वह कार्य पूर्ण होते ही वह वस्तु उस व्यक्ति को लौटा देनी चाहिए। यह नहीं सोचना चाहिए कि जब तक वे नहीं माँगेंगे तब तक हम इसका उपयोग करते रहें। यह भी एक प्रकार से चोरी ही है।

आवश्यकता से अधिक संग्रह कर रखना भी चोरी का एक प्रकार है। क्योंकि एक स्थान पर संग्रह हो जाने से वह वस्तु जरूरतमंद व्यक्ति को नहीं मिल पाती। वह उससे वंचित रहता है। इसलिए यह भी चोरी है।

जिस व्यक्ति के पास जो शक्तियाँ हैं चाहे वह धन की हों, बुद्धि की हों या किसी अन्य प्रकार की शक्तियाँ हों, उन शक्तियों को यदि वह उपयोग में नहीं लेता है तो वह भी एक तरह से चोरी ही है। इस प्रकार का व्यक्ति स्वयं भी अशान्त होता है।

चोरी का एक प्रकार यह भी है कि किसी ने किसी पर उपकार किया तो उस उपकार को भूल जाना। अथवा अहंकारवश अपने उपकारी का नाम छिपाना। किसी से कोई कला सीखी हो और यदि कोई उसे पूछे कि यह कला आपने किससे सीखी तो गुरु के नाम को बतलाने में कतराना तथा यह कहना कि यह साधना तो मैंने स्वयं ही अपने बुद्धिबल से प्राप्त की है। यह उपकार-विस्मरण चोरी है।

तस्कर व्यापार भी चोरी का एक प्रकार है।

माता-पिता के प्रति संतान का क्या कर्त्तव्य है? शिष्य का गुरुजनों के प्रति क्या कर्त्तव्य है? प्रत्येक व्यक्ति का राष्ट्र के प्रति क्या कर्त्तव्य है? जो कार्य स्वल्पतम समय में हो सकता है उस कार्य को लम्बे समय तक न करना। डॉक्टर, अध्यापक, व्यापारी, सैनिक, पुलिस, सेनापति, वकील, वैज्ञानिक, क्लर्क और साधु आदि का क्या कर्त्तव्य है? यदि वे कर्त्तव्य से विमुख होते हैं तो यह भी चोरी है।

अस्तेय महाव्रत

अस्तेय व्रत का यह व्यापक रूप है जो साधक को प्रतिपल जागरूक रहने की प्रेरणा देता है। श्रमण अस्तेय महाव्रत का धारक होता है। जरा-सी भी यदि चोरी का सेवन होगा तो पतन अवश्यम्भावी है। श्रमण मन-वचन-कर्म से न स्वयं किसी

प्रकार की चोरी करता है, न दूसरों से करवाता है और न चोरी करने वाले का अनुमोदन ही करता है। वह बिना आज्ञा कोई भी वस्तु ग्रहण नहीं करता। यहाँ तक कि यदि उसे कोई आज्ञा देने वाला न हो तो पृथ्वी के अधिपति शक्रेन्द्र की ही आज्ञा लेकर वह वस्तु ग्रहण करे किन्तु बिना आज्ञा के न कोई वस्तु ग्रहण करे और न उसका उपयोग ही करे। व्रतपालन करने में किंचित् शैथिल्य भी भारी अनर्थ का कारण बन जाता है। तम्बू की प्रत्येक रस्सी खूँटे से कसकर बँधी हुई होना अनिवार्य है। यदि एक भी डोरी ढीली रह गई तो तम्बू में पानी आने की अथवा पवन के वेग से उड़ जाने की संभावना रहेगी।

आज्ञा से ग्रहण करे

अचौर्य महाव्रत की रक्षा के लिए श्रमण को पुनः-पुनः आज्ञा ग्रहण करने का अभ्यास करना चाहिए। गृहस्थ की कोई भी चीज वह बिना उसकी आज्ञा ग्रहण न करे और जितने समय तक रखने की वह आज्ञा दे उतने समय तक ही रखे। यदि किसी वस्तु के लिए गृहस्थ आज्ञा भी दे दे तो भी यदि वह साधु-मर्यादा के अनुकूल नहीं है तो साधु उस वस्तु को ग्रहण न करे।

गृहस्थ किसी वस्तु के लिए आज्ञा दे दे और वह वस्तु साधु-मर्यादा के अनुकूल भी हो किन्तु गुरुदेवश्री उस वस्तु को ग्रहण करने के लिए इनकार होते हों फिर भी यदि वह उस वस्तु को लेता है तो वह गुरु की चोरी है।

अचौर्य महाव्रत के भंग

एक आचार्य ने अचौर्य महाव्रत के चौवन (५४) भंगों (विकल्प) का वर्णन किया है–

(१) अल्प (थोड़ी वस्तु), (२) बहु (अधिक), (३) अणु (छोटी वस्तु), (४) स्थूल (बड़ी वस्तु), (५) सचित्त (शिष्यादि), (६) अचित्त (वस्त्र, पात्र आदि)–इन छह प्रकार की वस्तुओं की न स्वयं मन से चोरी करे, न मन से चोरी करवावे और न मन से चोरी करने वाले का अनुमोदन करे। यह मन के अठारह भांगे हुए। इसी प्रकार वचन के अठारह और काय के अठारह भंग–इस प्रकार कुल चौवन भंग होते हैं।

अचौर्य महाव्रत के सभी भंगों का श्रमण को दृढ़ता से पालन करना चाहिए।

अचौर्य महाव्रत की भावनाएँ

प्रश्नव्याकरण[1] के अनुसार अचौर्य महाव्रत की पाँच भावनाएँ हैं–

---

१ प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार, अध्ययन ८

(१) विविक्त वास समिति

गृहस्थ स्वयं के रहने के लिए मकान का निर्माण करता है। उसके लिए आरम्भ-समारम्भ करता है। इसीलिए वह आगारी कहा जाता है। श्रमण अपने लिए कोई मकान नहीं बनाता, इसलिए वह अनगार है। यदि श्रमण को रहने के लिए मकान की आवश्यकता हो तो मकान, शून्यगृह, वृक्ष के नीचे अथवा परकृत गृहस्थ के लिए बनाये हुए मकान आदि में रहता है। जो स्थान प्रासुक हो, किसी को कष्ट देने वाला न हो, जहाँ पर महिलाओं का आगमन न हो–ऐसे स्थान पर श्रमण निवास करे। विविक्त वास का अर्थ है–श्रमण निर्दोष स्थान में निवास करे जिससे महाव्रतों में किसी भी प्रकार के दोष की संभावना न रहे। यदि श्रमण स्वयं के लिए मकान निर्माण करवाता है तो उसके निर्माण में षट्काय के जीवों की विराधना होगी। हिंसा का प्रयोग करता हुआ भी वह अपने आपको अहिंसक कहेगा तो वह प्रत्यक्ष असत्याचरण है। इसके अतिरिक्त उसके मन में उस मकान के प्रति ममता भी रहेगी परिणामस्वरूप वह स्वयं बँधकर रहेगा। मकान टूटने-फूटने पर उसकी मरम्मत की भी चिन्ता उसे सतायेगी।

इस तरह अनगार होकर आगार निर्माण करना भगवान की आज्ञा की चोरी है। अतः प्रथम भावना में श्रमण चिन्तन करता है कि मैं अनगार हूँ। मुझे जो भी निर्दोष मकान मिल जाय उसमें रहना चाहिए। वहाँ कुछ असुविधा भी हो सकती है पर वह असुविधा क्षणिक है। मुझे अपने व्रतों की रक्षा करनी चाहिए। इस तरह के चिन्तन से साधक इस भावना को परिपुष्ट बनाता है।

(२) अनुज्ञात संस्तारक ग्रहण रूप अवग्रह समिति भावना

श्रमण आवास की चिन्ता से तो मुक्त होता ही है, वह संस्तारक की चिन्ता से भी मुक्त होता है। वह बढ़िया बिस्तर को देखकर यह नहीं सोचता कि मुझे यह बिस्तर मिल जाय। वह तो यही सोचता है–"**मही रम्या शय्या विपुलमुपदानं भुजलता।**" यह पृथ्वी की सुन्दर सेज है और यह भुजा ही मुलायम तकिया है। वह कभी भी मन में बिना अनुज्ञा दी हुए शय्या-संस्तारक लेने की भावना नहीं करता। साथ ही अवग्रह आदि पर चिन्तन करते हुए मर्यादा के अनुकूल शय्या आदि को ही ग्रहण करता है।

(३) शय्या संस्तारक परिकर्म वर्जना रूप शय्या समिति भावना

यह तृतीय भावना दोनों पिछली भावनाओं का सम्मिलित रूप है। पूर्व भावनाओं में मकान और बिछौना आदि की याचना न करने का संस्कार जगाया गया है और इस भावना में शय्या संस्तारक की सजावट का निषेध किया गया है। कभी-कभी मकान मिल जाता है किन्तु मकान हवादार न हो, जीर्ण-शीर्ण हो,

सुविधायुक्त न हो तो उसकी मरम्मत करवाने का चिन्तन किया जाता है। इस तरह बिस्तर आदि को मुलायम बनाने के बारे में सोचता है। इन कार्यों में हिंसा स्वाभाविक है; और जहाँ हिंसा होती है वहाँ चोरी स्वतः हो जाती है। क्योंकि जिन जीवों के प्राण अपहरण किये गये हैं उन जीवों ने तो अनुमति दी नहीं है। इसलिए जीवहिंसा चोरी है। अतः श्रमण आवास और संस्तारक आदि को सुखप्रद बनाने के लिए ऐसा कार्य न करे जिससे जीवहिंसा हो। अत्यधिक मच्छर हों, तो मच्छरों को नष्ट करने के लिए धूप, धुँआ आदि करने की न सोचे। वह सदा समता-भाव में रहे और चारित्र का निर्मल रूप से पालन करे।

(४) अनुज्ञात भक्तादि भोजन लक्षणा साधारण पिण्डपात लाभ समिति भावना

आवास और शय्या के पश्चात् भोजन का क्रम है। श्रमण स्वयं भोजन पकाता नहीं। भिक्षा से जो भी निर्दोष आहार मिलता है उसका वह उपयोग करता है। श्रमण का जीवन संघीय जीवन है। संघ में अनेकों श्रमण अपनी शक्ति के अनुसार साधना करते हैं। संघ में कितने श्रमण पूर्ण स्वस्थ होते हैं और कितने ही रुग्ण भी होते हैं, कितने हृष्ट-पुष्ट होते हैं तो कितने दुर्बल भी। आचार्य सभी के संयमी जीवन के सम्बन्ध में ऐसी व्यवस्था करते हैं जिससे किसी को बाधा न हो। संघीय जीवन तभी सुन्दर होता है जब उसमें मर्यादा और स्नेह मुख्य होता है। श्रमण शास्त्रविहित नियमों का अच्छी तरह से पालन करे। दूसरी बात, एक-दूसरे पर विश्वास और स्नेह रखा जाय। यदि स्नेह और विश्वास न होगा तो संघीय व्यवस्था लड़खड़ा जाएगी। संघ में सभी को एक सदृश न्याय मिलना चाहिए।

यह प्रस्तुत भावना का उद्देश्य है कि वह चिन्तन करे कि वस्त्र, पात्र, आहार आदि जो भी वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं उन पर किसी अकेले का अधिकार नहीं है। मुझे जो वस्तु प्राप्त हुई है उस पर संघ के प्रत्येक सदस्य का अधिकार है। अतः जो भी प्राप्त हुआ है मैं उसे गुरुजनों को समर्पित कर दूँ और कह दूँ आप जिसे आवश्यकता समझें उसे प्रदान करें। इस तरह गुरुजन भी उसे वितरण करते हैं।

प्रस्तुत भावना का प्रतिपल-प्रतिक्षण चिन्तन करने से अन्तर्वृत्तियाँ उदार होती हैं। श्रेष्ठ वस्तु का केवल स्वयं उपयोग करना चोरी है। यह संघ व गुरुजनों की चोरी है। सहधार्मिकों के अधिकार का हनन भी है। अकेले के उपयोग करने से अविश्वास, अप्रीति और अप्रतीति बढ़ती है और उसका स्वयं का चारित्र भी दूषित होता है।

दशवैकालिक[1] में स्पष्ट कहा है—जो संविभाग नहीं करता है उसकी मुक्ति नहीं होती। उत्तराध्ययन[2] में ऐसे श्रमण को पाप-श्रमण कहा है। उसके व्यवहार से

१. असंविभागी न हु तस्स मोक्खो। —दशवैकालिक ९, २, २३
२. असंविभागी अचियत्ते। —उत्तराध्ययन १७, ११

संघ में जो स्नेह सद्भावना उत्पन्न होनी चाहिए, वह नष्ट हो जाती है। एतदर्थ ही इस भावना में स्वधर्मियों के संविभाग की निर्मल भावना जाग्रत की गई है।

(५) साधर्मिक विनयकरण समिति भावना

समान धर्म और आचरण वाले साधर्मिक कहलाते हैं। श्रमण के नियम, मर्यादा, आचार एक समान होते हैं। इसीलिए वे साधर्मिक कहलाते हैं। श्रमणों में परस्पर स्नेह-सद्भावना की अभिवृद्धि हेतु विनय और सद्भाव आवश्यक है। लघु श्रमण का कर्त्तव्य है कि वह बड़ों के प्रति गहरी निष्ठा व्यक्त करे। उनका विनय आदि करे। बड़ों का कर्त्तव्य है कि वे छोटों पर स्नेह-सद्भावना की अमृत वर्षा करें। इस तरह परस्पर एक-दूसरे में स्नेह सद्भावना जाग्रत होती है जिससे प्रच्छन्न वृत्ति नष्ट होती है। परस्पर एक-दूसरे को भावित करते हुए परम श्रेय को प्राप्त कर सकते हैं।

इस भावना के अन्तर्गत श्रमण अपना मानसिक वातावरण इस प्रकार का बनाता है जिससे सेवा, सहयोग और विनय की भावना से उसका हृदय सदा आल्हादित रहता है।

नाम व क्रम में अन्तर

अचौर्य महाव्रत की भावनाओं के क्रम व नामों में काफी अन्तर है। समवायांग सूत्र[1] में इस महाव्रत की पाँच भावनाओं का क्रम इस प्रकार है–

(१) अवग्रह की पुनः-पुनः याचना करना।

(२) अवग्रह की सीमा जानना।

(३) स्वयं अवग्रह की पुनः-पुनः याचना करना।

(४) साधर्मिकों की अवग्रह का अनुज्ञाग्रहणपूर्वक परिभोग करना।

(५) सर्वसाधारण आहार-पानी का गुरुजनों आदि की अनुज्ञा ग्रहण करके परिभोग करना।

आचारांग[2] में पंच भावना इस प्रकार हैं–

(१) श्रमण प्रथम विचार करके परिमित अवग्रह की याचना करता है। इसके विपरीत जो बिना चिन्तन किये ही मितावग्रह की याचना करता है, वह अदत्त ग्रहण करता है। इसलिए परिमित अवग्रह की याचना करने की भावना करना।

---

१. समवायांगसूत्र, समवाय ५ २. आचारांग २, १५-७८४

(२) श्रमण निर्ग्रंथ गुरु आदि की आज्ञा से भोजन आदि का उपयोग करता है, जो बिना अनुज्ञा ग्रहण किये आहार-पानी का सेवन करता है तो वह अदत्तादान ग्रहण करता है। प्रस्तुत भावना में अनुज्ञा लेने के सम्बन्ध में चिन्तन करता है।

(३) तृतीय भावना में क्षेत्र और काल की मर्यादापूर्वक अवग्रह ग्रहण नहीं करता है वह अदत्त ग्रहण करता है, अतः श्रमण क्षेत्र और काल की सीमा को स्पष्ट कर अवग्रह ग्रहण करने की इच्छा करता है।

(४) जो निर्ग्रंथ अवग्रह की अनुज्ञा ग्रहण कर लेने पर पुनः-पुनः अवग्रह की अनुज्ञा नहीं लेता है, वह अदत्तादान के दोष से ग्रसित होता है। अतः प्रस्तुत भावना में पुनः-पुनः अनुज्ञा ग्रहण के सम्बन्ध में चिन्तन करता है।

(५) जो बिना विचार किये साधर्मिकों से परिमित अवग्रह की याचना करता है उसे साधर्मिकों के अदत्त ग्रहण करने का दोष लगता है। इसलिए विचारपूर्वक मर्यादित अवग्रह की याचना का चिन्तन करना।

आचारांगचूर्णि[1] में पाँच भावना इस प्रकार हैं–

(१) यथायोग्य विचारपूर्वक अवग्रह की याचना करना।

(२) अवग्रह अनुज्ञा ग्रहणशील हो।

(३) अवग्रह की क्षेत्र, काल सम्बन्धी जो भी मर्यादा ग्रहण की हो, उसका उल्लंघन न करना।

(४) गुरुजनों की अनुज्ञा ग्रहण करके आहार-पानी आदि का उपयोग करना।

(५) साधर्मिकों से भी विचारपूर्वक अवग्रह की याचना करना।

आवश्यकचूर्णि[2] में पंच भावना इस प्रकार है–

(१) स्वयं पुनः-पुनः अवग्रह याचना करना।

(२) विचारपूर्वक मर्यादित अवग्रह की याचना करना।

(३) अवग्रह की गृहीत सीमा का उल्लंघन न करना।

(४) गुरु आदि से अनुज्ञा ग्रहण करके आहार-पानी का सेवन करना।

(५) साधर्मिकों से अवग्रह की याचना करना।

---

१. आचारांगचूर्णि, मूल पाठ टिप्पण, पृ. २८०

२. वही, प्रतिक्रमणाध्ययन, १४३, १४७

तत्त्वार्थसूत्र[1] में पाँच भावना इस प्रकार हैं–

(१) शून्यागारावास–पर्वत की गुफा, वृक्ष आदि में रहना।

(२) विमोचितावास–दूसरों के द्वारा छोड़े हुए मकान आदि में रहना।

(३) परोपरोधाकरण–दूसरों को ठहरने से न रोकना।

(४) भैक्ष शुद्धि–आचारशास्त्र में बतलाई हुई विधि के अनुसार भिक्षा ग्रहण करना।

(५) सधर्माविसंवाद–यह मेरा है, यह तेरा है इस प्रकार साधर्मिकों से विसंवाद न करना।

आचारांगचूर्णि[2] के अनुसार अदत्तादानविरमण व्रत की सुरक्षा के लिए ये भावनाएँ निरूपित की गई हैं। यात्रीशालाओं आदि में ठहरते समय क्षेत्र-काल की मर्यादा का विचार करके उसके स्वामी द्वारा नियुक्त अधिकारी से अवग्रह की याचना करे। सदा अवग्रह की अनुज्ञा ग्रहणशील साधक घास, ढेला, राख, सकोरा, उच्चार के स्थान प्रभृति स्थानों के अवग्रह की अनुज्ञा ग्रहण करके उसे उपलब्ध करता है। श्रमण ने जितने अवग्रह की अनुज्ञा ली हो, वस्तुओं का छोटे-बड़े क्रम के अनुसार उपभोग करे, गमनादि करे। साधर्मिकों से अवग्रह याचना करके वहाँ पर ठहरे, शयनादि करे।

उक्त भावनाओं के अनुचिंतन से श्रमण का हृदय सरल और निश्चल बनता है। उसके मन में अचौर्यभाव के संस्कार सुदृढ़ बनते हैं। वह भूलकर भी अज्ञात रूप में भी किसी की वस्तु का अपरहण नहीं करता, अधिकारों का हरण नहीं करता, उपकारी के उपकार को भूलता नहीं। उसका जीवन बहुत ही प्रशस्त होता है।

●●

---

१. (क) तत्त्वार्थसूत्र सर्वार्थसिद्धि ७, ६, पृ. ३४५-३४६
(ख) तत्त्वार्थराजवार्तिक, पृ. ५३६

२. आचारांगचूर्णि, मूल पाठ टिप्पण, पृ. २८५

१४. जीवन का ऊर्ध्वारोहण : ब्रह्मचर्य

व्रतों का सरताज

महाव्रतों की परिगणना में यद्यपि ब्रह्मचर्य का चतुर्थ क्रम है तथापि वह अपनी अद्‌भुत महिमा और गरिमा के कारण सभी व्रतों में प्रथम स्थान रखता है। "तं बंभ भगवंतं।"–ब्रह्मचर्य स्वयं भगवान है। जैसे श्रमणों में तीर्थंकर सर्वश्रेष्ठ हैं[१] वैसे ही व्रतों में ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है। एक ब्रह्मचर्य व्रत की जो आराधना कर लेता है वह समस्त व्रत नियमों की आराधना कर लेता है।[२] समस्त व्रत, नियम, तप, शील, विनय, सत्य, संयम आदि का मूल आधार ब्रह्मचर्य को माना है। वह व्रतों का सरताज है, मुकुटमणि है।

ब्रह्मचर्य का अर्थ

कितने ही चिन्तक ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल जननेन्द्रिय का संयम मानते हैं। पर महात्मा गाँधी ने कहा है–संपूर्ण इन्द्रियों और संपूर्ण विकारों पर अधिकार पा लेना ब्रह्मचर्य का अर्थ है। एक विचारक ने तो जननेन्द्रिय व इन्द्रिय समूह तथा मन की शान्ति को ब्रह्मचर्य कहा है।

प्राचीन साहित्य का अनुशीलन व परिशीलन करने पर यह ज्ञात होता है कि 'ब्रह्म' शब्द के मुख्य रूप से तीन अर्थ रहे हैं–ब्रह्म = वीर्य, ब्रह्म = आत्मा, ब्रह्म = विद्या। 'चर्य' शब्द के भी तीन अर्थ हैं, "रक्षण, रमण तथा अध्ययन"। इस तरह ब्रह्मचर्य के तीन अर्थ हैं–वीर्यरक्षण, आत्म-रमण और विद्याध्ययन।

वीर्य-रक्षण

स्त्री-पुरुष के संयोग और संस्पर्श से बचना–यह ब्रह्मचर्य का एक अर्थ है। महर्षि पतंजलि ने 'योग दर्शन' में ब्रह्मचर्य की परिभाषा करते हुए लिखा है–"**ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठायां वीर्य लाभः।**"[३] ब्रह्मचर्य की पूर्ण साधना कर लेने पर अपूर्व मानसिक शक्ति और शरीर बल प्राप्त होता है। 'योग दर्शन' के भाष्यकार और

---

१. तित्थयरे चेव जहा मुणीणं। –*प्रश्नव्याकरणसूत्र, संवरद्वार, अध्ययन ४*

२. एगंमि बंभचेरे आराहियंमि आराहियं वयमिणं सव्वं। –*वही*

३. पातंजल योगदर्शन २-३८

टीकाकारों ने वीर्य शब्द का अर्थ 'शक्ति और बल' किया है। जब तक व्यक्ति अपने वीर्य और शक्ति का रक्षण नहीं करता वहाँ तक शरीर ओजस्वी और तेजस्वी नहीं बनता। शरीर विज्ञान की दृष्टि से शारीरिक शक्ति का केन्द्र वीर्य और शुक्र है। शरीर के इस महत्त्वपूर्ण अंश को अधोमुखी से ऊर्ध्वमुखी बनाना ब्रह्मचर्य है। वीर्य के विनाश से जीवन का सर्वतोमुखी पतन होता है।

वीर्य-निर्माण

भारतीय आयुर्वेद शास्त्र में तथा पाश्चात्य चिन्तकों ने वीर्य और उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में गहराई से अनुचिन्तन किया है। भारतीयों का अभिमत है कि हम जो आहार लेते हैं उससे सर्वप्रथम रस बनता है, रस से रक्त का निर्माण होता है, रक्त से माँस, माँस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से वीर्य[1] बनता है। शरीररूपी इस विशाल यंत्र में वीर्य का निर्माण सातवें मंजिल पर होता है। शरीर-यंत्र को इसके निर्माण में दूसरे तत्त्वों के निर्माण की अपेक्षा अधिक श्रम करना होता है। शरीर की भौतिक शक्तियों का केन्द्र पुरुष में वीर्य है और महिला में रज है। किंचित् वीर्य के निर्माण में पर्याप्त मात्रा में रक्त की आवश्यकता होती है। डॉ. कोवन[2] का अभिमत है कि शरीर के चार औन्स रुधिर से एक औन्स वीर्य बनता है। अमेरिका के सुप्रसिद्ध शरीर विज्ञानी मैकफैडन[3] का अभिमत भी इसी प्रकार का रहा है।

एक अन्य शरीरशास्त्री का मत इससे कुछ पृथक् रहा है। उसका मन्तव्य है कि चालीस औन्स रुधिर से एक औन्स वीर्य का निर्माण होता है। वीर्य के निर्माण में कितने रक्त की आवश्यकता होती है इस संबंध में विज्ञों में मतभेद भले ही हो पर यह सत्य है कि उसके निर्माण में अत्यधिक रक्त की आवश्यकता होती है।

वीर्य ही जीवन है

आयुर्वेदशास्त्र के मर्मज्ञ विज्ञ वाग्भट्ट[4] ने लिखा है–शरीर में वीर्य का होना जीवन है। रस से लेकर वीर्य तक जो सप्त धातु हैं उनका जो तेज है वही 'ओजस्'

---

१. रसाद् रक्तं ततो मांसं मांसात् मेदस्ततोऽस्थि च। अस्थ्यो मज्जा ततः शुक्रं''''।
–अष्टांगहृदय, अ. ३, श्लो. ६

२. The Science of New Life.

३. Manhood and Marriage.

४. ओजश्च तेजो धातूनां शुक्रान्तानां परं स्मृतम्।
हृदयस्थमपि व्यापि देह-स्थिति-निबन्धनम्॥
यस्य प्रवृद्धौ देहस्य तुष्टि-पुष्टि-बलोदयाः।
यन्नाशे नियतो नाशे यस्मिंस्तिष्ठति जीवनम्॥
निष्पाद्यन्ते यतो भावा विविधा देह-संश्रयाः।
उत्साह-प्रतिभा-धैर्य-लावण्य-सुकुमारताः॥
–वाग्भट्ट

कहलाता है। ओजस् मुख्य रूप से हृदय में रहता है तथापि वह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है। जैसे-जैसे ओजस् की अभिवृद्धि होती है वैसे-वैसे शरीर में शक्ति की मात्रा भी बढ़ती जाती है। ओजस् से ही प्रतिभा, मेधा, बुद्धि, लावण्य, सौन्दर्य और उत्साह की वृद्धि होती है।

महर्षि सुश्रुत[1] का अभिमत है–रस से शुक्र तक सप्तधातुओं के परम तेज भाग को ओजस् कहते हैं। यह ओजस् बल और शक्तियुक्त है।

शारंगधर[2] का कथन है–ओजस् सम्पूर्ण शरीर में रहता है। वह अत्यन्त स्निग्ध, शीतल, स्थिर, श्वेत, सौम्य तथा शरीर को बल तथा पुष्टि प्रदान करने वाला है।

शरीर में सबसे पहला तत्त्व रस है और अंतिम तत्त्व वीर्य है जो शक्ति का केन्द्र है। आयुर्वेद के ग्रंथों के अवलोकन से यह भी परिज्ञात होता है–एक धातु से द्वितीय धातु का निर्माण होने में पाँच दिन का समय लगता है। भोजन करने के पश्चात् जो उसमें सार भाग है वह शरीर में रह जाता है और जो खल भाग है वह प्रस्वेद तथा मल-मूत्र के द्वारा बाहर निकल जाता है। रस से वीर्य तक प्रत्येक धातु के निर्माण में पाँच दिन लगते हैं इस दृष्टि से वीर्य निर्माण में इकतीस दिन लगते हैं। उनका यह भी मन्तव्य है कि चालीस सेर भोजन से एक सेर रक्त और उससे दो तोला वीर्य बनता है। कामान्ध व्यक्ति एक बार के सहवास में उतने श्रम से प्राप्त शक्ति को नष्ट कर देता है। एतदर्थ ही कहा है–"वीर्य धारण हि ब्रह्मचर्य।"–वीर्य का धारण करना ही ब्रह्मचर्य है।

शिवसंहिता[3] में बिन्दु के पात से मरण और बिन्दु के धारण से जीवन बताया है। इसी बिन्दु को धारण करने से महादेव ने कामदेव को भस्म कर दिया था और विषपान करके भी वे पूर्ण स्वस्थ और प्रसन्न रहे।

वीर्य की अद्भुत शक्ति

पाश्चात्य वैज्ञानिकों की दृष्टि से भी वीर्य में अद्भुत शक्ति है। वे वीर्य को सात धातुओं का सार नहीं मानते। उनके अभिमतानुसार वीर्य का निर्माण सीधे रक्त से होता है। वीर्य संपूर्ण शरीर में नहीं सिर्फ अण्डकोश में रहता है। जैसे

---

१. रसादीनां शुक्रांतानां धातूनां यत्परंतेजस्तत् खल्वोजस्तदेव बलम्। –*सूत्रस्थान १५-१९*

२. ओजः सर्वशरीरस्य स्निग्धं शीतं स्थिरं सितम्।
सोमात्मकं शरीरस्य बल-पुष्टिकरं मतम्॥

३. सिद्धे बिन्दौ महारत्ने किं न सिध्यति भूतले।
यस्य प्रसादान्महिमा ममाप्येतादृशोऽभवत्॥ –*शिवसंहिता*

उत्तेजक पदार्थ के संस्पर्श से आँखों में आँसू आ जाते हैं और मुँह से लार टपकने लगती है वैसे ही कामोत्तेजक पदार्थों को निहारकर अंडकोषों की ग्रन्थियों में से वीर्य का बहिःस्राव होता है। वीर्यस्राव के दो रूप होते हैं–एक अन्तःस्राव और एक बहिःस्राव। अन्तःस्राव प्रतिपल-प्रतिक्षण होता रहता है और वह संपूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाता है। वह आँखों में तेज, मुख को कांतिमान और शरीर के सभी अवयवों को परिपुष्ट करता है। अन्तःस्राव के कारण ही बालक के शरीर में अभिवृद्धि होती है। बहिःस्राव में शुक्र कीटाणुओं के साथ प्रजनन प्रदेश के अन्य अनेक स्थलों से उत्पन्न हुए स्राव भी मिल जाते हैं। शुक्र कीटाणु और उन स्रावों के मेल का नाम ही वीर्य है। डॉ. गार्डनर का कथन है–वीर्य कीटाणु रुधिर का सारतम भाग है। इसके शरीर में खप जाने से सम्पूर्ण देह में संजीवनी शक्ति का संचार हो जाता है।

शरीरशास्त्रियों का मत

शरीरशास्त्रियों का यह मानना है कि आभ्यन्तर या बाह्य किसी भी रूप में वीर्य शक्ति का ह्रास मानव की शक्ति के लिए हानिकर है। यद्यपि भारतीय आयुर्वेद के ग्रन्थों में अन्तःस्राव और बहिःस्राव भेद नहीं मिलते हैं, पर आयुर्वेद के ग्रंथों में तेजस् और ओजस् शब्द का प्रयोग हुआ है। वह संभवतः अन्तःस्राव का द्योतक है। रेतस् और बीज शब्द का प्रयोग बहिःस्राव के लिए हुआ है।

वीर्य के ह्रास से ज्ञान-तन्तु दुर्बल हो जाते हैं। वीर्य का नाश मस्तिष्क का नाश है। क्योंकि वीर्य और मस्तिष्क दोनों एक ही पदार्थ से निर्मित हैं। दोनों के निर्माता रासायनिक तत्त्व एक-से हैं। शारीरिक और मानसिक परिश्रम करने से अथवा निरन्तर किसी कार्य में लगे रहने से वीर्य के जो कीटाणु हैं वे मस्तिष्क में व्यय हो जाते हैं। जिसके वीर्य-कीटाणु आवश्यकता से अधिक मात्रा में व्यय हो जाते हैं उसकी मस्तिष्कीय और चिन्तन-शक्ति दुर्बल हो जाती है। वीर्यनाश का मस्तिष्क पर सीधा प्रभाव पड़ता है।

डॉ. कोवन का मन्तव्य है कि मानव मस्तिष्क से एक द्रव उत्पन्न होता है और वह द्रव उसी ओर प्रवाहित होने लगता है जिस ओर मानव के मनोभाव होते हैं। डॉ. हाल का मानना है–अण्डकोशों में एक पदार्थ समुत्पन्न होकर मस्तिष्क में पहुँचता है और वहीं से वह सभी शारीरिक और मानसिक परिवर्तनों को प्रकट करता है। डॉ. शैलिंग[1] ने लिखा है कि मस्तिष्क अण्डकोशों के रस से निर्मित है।

---

1. Natural Philosophy.

शक्ति का अक्षय कोष

मानव के शरीर में जो शक्ति का अक्षय कोष है उसका मूल आधार वीर्य है। वीर्य-रक्षा जीवन-रक्षा है। वीर्य का संरक्षण आध्यात्मिक, शारीरिक सभी दृष्टि से उपयोगी है। शरीरशास्त्रियों का यह भी मानना है कि ४५ वर्ष तक संचय-शक्ति रहती है जिससे वीर्य-शक्ति में वृद्धि तथा नवीन उत्पादन होता रहता है। ४५ से ७० वर्ष तक विचय स्थिति रहती है जिसमें वीर्य का ह्रास अधिक और उत्पादन कम होता है। वीर्य जीवन की संजीवनी शक्ति है। वीर्य-शक्ति के नाश से ज्ञानतंतुओं में तनाव आता है, शरीर में शिथिलता आती है और अनेक भयंकर रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए ब्रह्मचर्य द्वारा वीर्य का संरक्षण किया जाता है।

मैथुन के प्रकार

भारतीय महर्षियों ने मैथुन के आठ प्रकार बताये हैं–(१) स्मरण, (२) कीर्तन, (३) केलि, (४) प्रेक्षण, (५) गुह्यभाषण, (६) संकल्प, (७) अध्यवसाय, और (८) सम्भोग। इन आठों प्रकारों के मैथुनों का ब्रह्मचर्य महाव्रत में परित्याग करना होता है। जब तक मन में कुत्सित विचारों का भयंकर विष व्याप्त रहेगा तब तक वह ब्रह्मचर्य की निर्मल साधना नहीं कर सकता। जो साधक ब्रह्मचर्य के महत्त्व को समझते हैं उनका जीवन उन्नति के शिखर पर पहुँच जाता है। ब्रह्मचर्य का अपूर्व तेज उनके जीवन के कण-कण में व्याप्त हो जाता है। वीर्य को जब रचनात्मक कार्य में लगाया जाता है तब वह अधोमुखी से ऊर्ध्वमुखी बनता है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से

मनोविज्ञान की दृष्टि से जब काम-शक्ति का रूपान्तर होता है तब ब्रह्मचर्य होता है। काम-शक्ति का ऊर्ध्वीकरण, काम-शक्ति का रूपान्तर, काम-शक्ति का संशोधन ब्रह्मचर्य है।

एक चिन्तक ने लिखा है–अपने मन की बिखरी हुई शक्तियों को सभी ओर से हटाकर किसी एक पवित्र लक्ष्य-बिन्दु पर केन्द्रित करना ब्रह्मचर्य है। काम-शक्ति के शोधन से तात्पर्य है कि काम-शक्ति जो भोगविलास में व्यय होती है उसे व्यय न करके उस काम-शक्ति को जन-कल्याण, समाज-कल्याण और आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए व्यय करना। जब वीर्य-शक्ति का उपयोग निर्माण-कार्यों में होता है तब विवेक के आलोक में उसका ऊर्ध्वीकरण, रूपान्तरण, शमन और शोधन होता है। उसमें विकारों का दमन नहीं, अपितु शमन होता है।

ब्रह्मचर्य : आत्मरमण

ब्रह्मचर्य का दूसरा अर्थ 'आत्मरमण' है। ब्रह्मचारी साधक कामवासना से

अपने आपको मुक्त रखता है। उसका मन निर्विकारी होता है। वह वासना का त्याग करता है और वासना को उद्दीप्त करने वाले साधनों का भी त्याग करता है। वासना से आत्मा में मलिनता आती है और ब्रह्म का अपूर्व तेज उससे धूमिल हो जाता है। ब्रह्मचारी साधक आत्मा के शुद्ध भाव में रमण करता है। आत्मा को विकारी भावों से हटाकर अपने आपको शुद्ध परिणति में केन्द्रित करता है। ब्रह्मचर्य की साधना परमात्म भाव की साधना है। जिस साधक का मन विषय-वासना के बीहड़ वनों में भटकता रहता है वह साधक कभी भी अन्तर्मुखी नहीं बनता और अन्तर्मुखी हुए बिना ब्रह्मचर्य की सही साधना नहीं हो सकती। जिसका मन विषयों में फँसा हुआ है वह ब्रह्मचर्य की उत्कृष्ट साधना नहीं कर सकता। विषयों में लगा हुआ मन कभी स्थिर नहीं होता।

ब्रह्मचर्य : अपूर्व कला

ब्रह्मचर्य जीवन की साधना है। वह एक अपूर्व कला है, जो विचार और व्यवहार को आचार में परिणत करती है। उससे शारीरिक सौन्दर्य में निखार आता है, मन विशुद्ध बनता है। वह कहने की चीज नहीं, आचरण करने की चीज है।

ब्रह्मचर्य में अमित शक्ति है, वह शक्ति मन में एक अपूर्व क्षमता का संचार करती है। अन्तरात्मा में एक प्रबल प्रेरणा उद्‌बुद्ध करती है। प्रचण्ड शक्ति व देदीप्यमान तेज के कारण जीवन में अपूर्व ज्योति जगमगाने लगती है। ब्रह्मचर्य ऐसी धधकती हुई आग है जिसमें तप कर आत्मा कुन्दन की तरह दमकने लगती है। ऐसी अद्‌भुत औषध है जिससे अपूर्व बल प्राप्त होता है। परमात्म-तत्त्व के दर्शन करने के लिए विकारों का दमन करना आवश्यक है। ब्रह्मचर्य जहाँ बाह्य जगत् में हमारे तन को स्वस्थ रखता है वहाँ अन्तर्जगत् में विचारों को भी विशुद्ध रखता है। मानव में जब तक विकार उत्पन्न नहीं होता तब तक उसका सर्वांगीण विकास होता जाता है। ज्यों ही वासनाएँ मन में समुत्पन्न होती हैं, त्यों ही जीवन का विकास रुक जाता है।

मानव का तन सामान्य तन नहीं है। वह बहुत ही मूल्यवान है। इस शरीर का यदि सदुपयोग करे तो वह नर से नारायण बन सकता है, इन्सान से भगवान हो सकता है। पर मानव का अत्यन्त दुर्भाग्य है कि युवावस्था प्रारम्भ होते ही, उसमें वासना की आग सुलगने लगती है। वह उस पर नियन्त्रण नहीं कर पाता। वातावरण की वायु से यह आग और भड़क उठती है जिससे उसके शरीर का तेज और ओज झुलसने लगता है। विकास की जो कल्पनाएँ उसके अन्तर्मानस में पनपती हैं वे कल्पनाएँ वासनाओं की चिनगारी से भस्म हो जाती हैं। वह प्रगति नहीं कर पाता। एतदर्थ ही भारत के तत्त्वदर्शी महर्षियों ने ब्रह्मचर्य पर बल दिया है। उन्होंने कहा है ब्रह्मचर्य जीवन को सुन्दर, सुन्दरतर और सुन्दरतम बनाता है।

आत्मा अनन्तकाल से अपने शुद्धस्वरूप को विस्मृत हो चुकी है और जो उसका निज स्वभाव नहीं है, उसे वह अपना स्वभाव मान बैठी है। अनन्तकाल से विकार और वासनाएँ आत्मा के साथ हैं। पर वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। पानी स्वभाव से शीतल है। अग्नि के संस्पर्श से वह उष्ण हो जाता है, पर उष्णता उसका स्वभाव नहीं है। आग का स्वभाव उष्ण है, मिर्ची का स्वभाव तीखापन है, मिश्री का स्वभाव मधुरता है, वैसे ही आत्मा का स्वभाव विकाररहित है। विकार कर्मों का स्वभाव है। इसलिए वह औपाधिक भाव है। विभाव है। उस विभाव से हटकर निज स्वभाव में रमण करना ही ब्रह्मचर्य है। हम विभाव को स्वभाव मानकर उन विकारों को अपनाते रहे हैं। पर अनन्तकाल से विकार साथ में रहने पर भी वे कभी स्वभाव नहीं बन सकते। विभाव परिणति से हटकर स्व-स्वभाव में रमण करना अर्थात् आत्मभाव में रमण करना ब्रह्मचर्य है।

परधर्म भयावह

स्थानांग[1] में स्पष्ट कहा है कि आत्मा एक है। यह कथन संख्या की दृष्टि से नहीं, स्वभाव की दृष्टि से है। इस विराट् विश्व में जितनी भी आत्माएँ हैं वे स्वभाव की दृष्टि से चैतन्य स्वरूप हैं, अनन्त शक्तिसंपन्न हैं और पूर्ण निर्मल हैं। जो विभिन्नता आत्माओं में दिखायी दे रही है वह विकारों के कारण है। जिसमें अधिक विकार हैं वह अधिक दूषित है और जिसमें जितने कम विकार हैं वह उतनी पवित्र है। जितने-जितने अंशों में विकार भावना की मात्रा कम होगी उतनी ही आत्मा की पवित्रता अभिव्यक्त होगी। हम बाह्य शत्रुओं से लड़ना चाहते हैं, उन्हें नष्ट करना चाहते हैं, पर असली शत्रु हमारे मनोगत विकार हैं। हमें उन्हें दुर्बल और क्षीण करना है तथा अपना बल बढ़ाना है। स्वधर्म श्रेयकारी है[2] और परधर्म भयावह है।

ब्रह्मचर्य : विद्याध्ययन

ब्रह्मचर्य का तीसरा अर्थ 'विद्याध्ययन' है। अथर्ववेद[3] में लिखा है कि ब्रह्मचर्य से तेज, धृति, साहस और विद्या की उपलब्धि होती है। वह शक्ति का स्रोत है। उससे मन में बल, साहस, निर्भयता, प्रसन्नता और शरीर में अपूर्व तेजस्विता आती है।

ब्रह्मचर्य : जीवन व्रत

वैदिक परम्परा ने आश्रम व्यवस्था को मान्य किया है। उसमें सर्वप्रथम आश्रम ब्रह्मचर्याश्रम है। ब्रह्मचर्य की सुदृढ़ नींव पर ही अन्य आश्रम टिके हुए हैं। ब्रह्मचर्य

---

१. स्थानांग १, १

२. स्वधर्मे निधनं श्रेयः, परधर्मो भयावहः। —भगवद्गीता

३. ब्रह्मचर्येण वै विद्या। —अथर्ववेद १५, ५-१७

से बुद्धि पूर्ण रूप से निर्मल रहती है। इसलिए वह प्रत्येक विषय को सहज रूप से ग्रहण कर सकती है। ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचर्य की आराधना के साथ अध्ययन चलता था। ब्रह्मचारी वासना के कलुषित और विषाक्त वातवरण से पूर्णतया अलग-थलग रहता था। केवल अध्ययन करना ही उनका संलक्ष्य था।

वेदों के प्रशस्त भाष्यकार सायण[1] ने 'ब्रह्मचारी' शब्द का अर्थ करते हुए लिखा है-वेदात्मक ब्रह्म का अध्ययन करना जिसका स्वभाव है वह ब्रह्मचारी है। वेद ब्रह्म है। वेदाध्ययन के लिए आचरणीय कर्म ब्रह्मचर्य है। यहाँ पर कर्म का अभिप्राय समिधादान, भिक्षाचर्या और ऊर्ध्वरेतकस्तत्त्व आदि है।

ऋग्वेद[2], अथर्ववेद[3], तैत्तरीय संहिता[4] आदि में ब्रह्मचर्य और ब्रह्मचारी शब्द प्राप्त होते हैं। शतपथ ब्राहमण[5] ग्रन्थों में भी ब्रह्मचर्य शब्द आया है। वैदिक काल में चारों आश्रमों की स्पष्ट धारणा नहीं पाई जाती है। छान्दोग्योपनिषद[6] में पहले तीन आश्रमों के ही उल्लेख प्राप्त होते हैं। जाबालोपनिषद[7] में चारों आश्रमों का स्पष्ट उल्लेख है। किन्तु धर्मसूत्रों[8] में आश्रम व्यवस्था का रूप पूर्ण रूप से निखार हुआ है।

पर यह निश्चित है कि सभी आश्रमों का मूल ब्रह्मचर्याश्रम है। उसी पर अन्य आश्रमों की व्यवस्था टिकी है। ब्रह्मचर्याश्रम में विद्यार्थी गुरु की सेवा करता हुआ भूमि पर शयन करता तथा ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करता है। ब्रह्मचर्य विद्यार्थी का जीवन व्रत था। कम से कम उसे विद्याध्ययन के लिए १२ वर्ष रुकना पड़ता था। कितने ही नैष्ठिक ब्रह्मचारी भी होते थे। नैष्ठिक ब्रह्मचारियों के वर्णन के संकेत छान्दोग्योपनिषद आदि में देखे जा सकते हैं।

वैदिक साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्याश्रम में तो ब्रह्मचर्य की प्रधानता थी ही; वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम में भी ब्रह्मचर्य को ही महत्त्व दिया गया था। केवल गृहस्थाश्रम में अब्रह्म की छूट थी, किन्तु वह छूट बहुत ही सीमित थी। केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए कुछ समय तक अब्रह्म सेवन का विधान था अन्यथा तो गृहस्थाश्रम में भी अधिक समय ब्रह्मचर्य का पालन ही अभिप्रेत था।

---

१. अथर्ववेद ११-५-१, ११-५-१७ (सायणभाष्य)
२. ऋग्वेद १०-१०९-५
३. अथर्ववेद ५-१७-५, ११-५-१-२६
४. तैत्तिरीय संहिता ३-१०-५
५. शतपथ ब्राह्मण ९-५-४-१२
६. छान्दोग्य उप. २-२३-१
७. जाबाल उप. ४
८. (क) गौतम धर्मसूत्र ३-१-३५
(ख) बोधायन धर्मसूत्र २-६-२९

उद्देश्य : परिभाषा

जैन-दर्शन में ब्रह्मचर्य के लिए मैथुनविरमण और शील शब्द व्यवहृत हुए हैं। सूत्रकृतांग[1] में आचार्य शीलांक ने ब्रह्मचर्य की व्याख्या करते हुए लिखा है–सत्य, तप, भूतदया, इन्द्रियनिरोधरूप ब्रह्म की चर्या, अनुष्ठान ब्रह्मचर्य है। आचार्य उमास्वाति ने गुरुकुलवास को ब्रह्मचर्य कहा है। सम्यक् प्रकार से व्रतों का पालन करना, कषाय पर विजय वैजयन्ती फहराना यह ब्रह्मचर्य का उद्देश्य है। तत्त्वार्थभाष्य[2] में मैथुन शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा–स्त्री-पुरुष का 'युगल मिथुन' कहलाता है। मिथुन के भाव को मैथुन कहते हैं। आचार्य पूज्यपाद[3] ने सर्वार्थसिद्धि में लिखा है–मोह का उदय होने पर राग परिणाम से स्त्री-पुरुष में जो परस्पर संस्पर्श की इच्छा होती है यह मिथुन है और उसका कार्य मैथुन है। अर्थात् दोनों के पारस्परिक भाव और कर्म मैथुन नहीं अपितु राग परिणाम के निमित्त से होने वाली चेष्टा एवं क्रिया मैथुन है। योगशास्त्र[4] में आचार्य हेमचन्द्र ने मैथुन को एक रमणीय सुखद प्रतीत होने वाला परिणाम कहा है। पर यह परिणाम अत्यन्त घातक है, क्योंकि उससे अत्यधिक सूक्ष्म जीवों की हिंसा होती है। आचार्य वात्स्यायन[5] भी इस सत्य तथ्य को स्वीकार करते हैं।

अब्रह्मचर्य और हिंसा

आधुनिक वैज्ञानिकों का मानना है कि एक बार के संभोग में दस करोड़ सेल वीर्याणु छूटते हैं और वे कुछ समय के बाद नष्ट हो जाते हैं। वैज्ञानिक यह भी मानते हैं आधुनिक जनसंख्या की दृष्टि से साढ़े तीन अरब से अधिक मानव विश्व में हैं। एक व्यक्ति के पास इतने वीर्य के जीवाणु हैं, वे जीवाणु यदि जीवित रहें तो उनसे साढ़े तीन अरब बच्चे उत्पन्न हो सकते हैं, पर चार-छह बच्चों से अधिक सामान्यतः एक साधारण मनुष्य उत्पन्न नहीं कर पाता, अतः शेष सभी जीवाणु समाप्त हो जाते हैं। इस तरह अब्रह्मचर्य के द्वारा बहुत बड़ी हिंसा होती है।

महाभारत में तो अठारह अक्षोहिणी दल का विनाश हुआ और द्वितीय विश्वयुद्ध में भी लाखों की जनसंख्या का संहार हुआ, पर अब्रह्मचर्य से करोड़ों जीवों का विनाश होता है। संभवतः इसी दृष्टि से ब्रह्मचर्य की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए एक आचार्य[6] ने कल्पना की है कि तराजू के एक पलड़े में चारों वेद रखे जायें और दूसरे पलड़े में ब्रह्मचर्य रखा जाय तो ब्रह्मचर्य का पलड़ा भारी हो जाता है।

---

१. सूत्रकृतांग (शीलांक वृत्ति)
२. तत्त्वार्थभाष्य ९-६
३. सर्वार्थसिद्धि ७-१६
४. योगशास्त्र २-७७
५. कामशास्त्र
६. एकतश्चतुरो वेदा ब्रह्मचर्य च एकतः।

तपों में श्रेष्ठ

सूत्रकृतांग[1] में ब्रह्मचर्य को सभी तपों में श्रेष्ठ माना है। प्रश्नव्याकरण[2] में ब्रह्मचर्य को सर्वश्रेष्ठ बताते हुए लिखा है कि वह तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व, विनय सभी को शक्ति प्रदान करता है। क्योंकि बिना ब्रह्मचर्य के सभी व्रत भलीभाँति संपन्न नहीं हो सकते।

ब्रह्मचर्य श्रेष्ठतम व्रत है। वह ब्रह्म है, नित्य है, शाश्वत है और जिनों के द्वारा उपदिष्ट है।[3] अत्यन्त दुष्कर ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले ब्रह्मचर्य को देव, दानव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नरादि सभी नमस्कार करते हैं।[4]

बौद्ध परम्परा में ब्रह्मचर्य

जैन परम्परा में ही नहीं बौद्ध परम्परा में भी ब्रह्मचर्य का महत्त्व एक स्वर से स्वीकार किया गया है। धम्मपद[5] में कहा है–अगरू और चन्दन की सुगंध फैलती है वह सुगंध तो बहुत ही अल्प मात्रा में होती है, पर ब्रह्मचर्य (शील) की ऐसी सुगन्ध है जो देवताओं के दिल को भी लुभा देती है। वह सुगन्ध इतनी व्यापक होती है मानव-लोक में तो क्या देवलोक में भी व्याप्त हो जाती है।

विसुद्धिमग्ग[6] में कहा है–शील की गंध के समान दूसरी गंध कहाँ होगी? दूसरी गंध तो जिधर हवा का रुख होता है उधर ही बहती है पर शील की गंध ऐसी गंध है जो विपरीत हवा में भी उसी तरह से बहती है जैसी प्रवाह में बहती है। उसमें यह भी कहा है यदि किसी को स्वर्ग के उच्च स्थल पर पहुँचना है तो ब्रह्मचर्य के समान उस स्थल पर पहुँचने के लिए अन्य कोई सीढ़ी नहीं।[7] निर्वाण नगर में प्रवेश करने के लिए ब्रह्मचर्य के समान और कोई द्वार नहीं।

---

१. तवेसु वा उत्तम बंभचेरं। —*सूत्रकृतांग १, ६, २३*

२. बंभचेरं उत्तमतव-नियम-नाण-दंसण-चरित्त-सम्मत-विणयमूलं।
—*प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार ४, अध्ययनसूत्र १*

३. उत्तराध्ययन १६-१७

४. वही १६-१६

५. चंदनं तगरं वापि उप्पलं अथ वस्सिकी।
एतेसं गंधजातान सीलगंधो अनुत्तरो॥ —*धम्मपद ४-१२*

६. सीलगंधसमो गंधो कुतो नाम भविस्सति।
यो समं अनुवाते च पटिवातेच वायति ॥ —*विसुद्धिमग्ग, परि. १*

७. सग्गारोहण सोपानं अंजं सीलसमं कुतो।
द्वारं वा पन निब्बान-नगरस्स पवेसने ॥ —*वही, परि. १*

बोधि प्राप्त करने के लिए मार (काम) पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। साधना में तल्लीन तथागत बुद्ध को साधना से विचलित करने के लिए मार मनमोहक मादक वातावरण प्रस्तुत करता है। महाकवि अश्वघोष ने बुद्धचरित में उसका अत्यन्त सुन्दर चित्रण करते हुए लिखा है–मार ने तथागत बुद्ध को विचलित करने हेतु सुन्दर अप्सराएँ प्रेषित कीं। वे अप्सराएँ अत्यन्त सुन्दर नृत्य करने लगीं। हाव-भाव और कटाक्ष द्वारा वे बुद्ध को साधना से विचलित करने लगीं। पर बुद्ध उन अप्सराओं के हाव-भाव-विभाव पर मुग्ध न हुए। वे मेरु की तरह अकंप व अडोल थे। मार पराजित हो गया और बुद्ध विजेता बन गये।

बौद्ध त्रिपिटक साहित्य के अनुशीलन से यह भी परिज्ञात होता है कि वहाँ पर 'ब्रह्मचर्य' तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। दीघनिकाय[1] में 'ब्रह्मचर्य' का प्रयोग बुद्ध द्वारा प्रतिपादित 'धर्म-मार्ग' के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। दीघनिकाय के पोट्ठपाद में उसका अर्थ 'बौद्ध धर्म में निवास'[2] है जिससे निर्वाण की प्राप्ति होती है। ब्रह्मचर्य का तीसरा अर्थ 'मैथुन विरमण'[3] है।

एक बार तथागत बुद्ध कपिलवस्तु के न्यग्रोधग्राम में विचरण कर रहे थे। उस समय महाप्रजापति गौतमी वहाँ पर उपस्थित हुई और प्रार्थना की कि स्त्रियों को भी प्रव्रज्या दी जाय। दूसरी, तीसरी बार निवेदन करने पर भी बुद्ध ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह अत्यन्त दुःखी होकर अभिवादन कर चल दी। वहाँ से बुद्ध वैशाली जाकर महावन की कूटागारशाला में ठहरे। महाप्रजापति गौतमी अपने बालों को काटकर काषाय वस्त्र पहनकर अनेक महिलाओं के साथ वहाँ पहुँची। आनन्द की प्रेरणा से बुद्ध ने महिलाओं को प्रव्रज्या दी। प्रव्रज्या देने के बाद बुद्ध के हृदय से निराशा की स्वर लहरियाँ प्रस्फुटित हो उठीं–"जिस धर्म में स्त्रियाँ प्रव्रज्या पाती हैं वहाँ ब्रह्मचर्य चिरस्थायी नहीं होता।"[4]

जैन परम्परा में ब्रह्मचर्य

जैन परम्परा में 'ब्रह्मचर्य' व्यापक अर्थ को लिये हुए है। 'आचारांग' का अपर नाम 'ब्रह्मचर्याध्ययन'[5] है। ब्रह्मचर्य-अध्ययन में प्रवचन का सार है और मोक्ष का उपाय प्रतिपादित है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए जितने भी आवश्यक सद्गुण और आचरण

---

१. दीघनिकाय, महापरिनिव्वाणसुत्त, पृ. १३१
२. दीघनिकाय, पोट्ठपाद, पृ. ७५
३. विसुद्धिमग्ग, प्रथम भाग, पृ. १९५
४. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, भिक्षुणीस्कंधक, १-२, पृ. ५०८-५२१
५. आचारांगनिर्युक्ति, गा. ११

करने योग्य बातें हैं वे सभी ब्रह्मचर्य में आ गई हैं।[1] ब्रह्मचर्य में सारे मूलगुण व उत्तरगुणों का समावेश है।[2] आचार्य भद्रबाहु[3] का मन्तव्य है कि भाव ब्रह्म दो प्रकार का है–एक श्रमण का 'वस्ती संयम' और द्वितीय, श्रमण का 'सम्पूर्ण संयम'।

श्रमणधर्म ग्रहण करते समय मुमुक्षु साधक महाव्रतों को स्वीकार करता है। उसमें चतुर्थ महाव्रत ब्रह्मचर्य है।[4] वह देव सम्बन्धी, मनुष्य सम्बन्धी या तिर्यंच सम्बन्धी[5] सभी प्रकार के मैथुन का परित्याग करता है। मन, वचन और काया से न स्वयं मैथुन का सेवन करता है, न दूसरों से करवाता है, न मैथुन सेवन करने वालों का अनुमोदन करता है।

आचार्य अकलंक[6] ने अपना स्वतन्त्र चिन्तन प्रस्तुत करते हुए कहा है–हस्त पाद, पुद्गल, संगट्ठनादि से एक व्यक्ति का अब्रह्म सेवन भी मैथुन है, क्योंकि यहाँ पर एक व्यक्ति भी मोहोदय से प्रकट हुए कामरूपी पिशाच के सम्पर्क से दो हो जाता है। दो हो जाने से उनका कर्म मैथुन कहलाता है। उन्होंने यहाँ तक भी कहा–पुरुष-पुरुष का स्त्री-स्त्री के बीच जो अनिष्ट चेष्टाएँ हैं। वे भी अब्रह्म हैं।

चातुर्याम : समाधान

इस तरह ब्रह्मचर्य की रक्षा की आवश्यकता है। एक जिज्ञासा यह हो सकती है कि तीर्थंकर अजित से लेकर तीर्थंकर पार्श्व तक श्रमणों के चार व्रत थे। ब्रह्मचर्य व्रत उनके लिए स्वतन्त्र रूप से नहीं था। वहाँ पर चातुर्याम का ही उल्लेख मिलता है। भगवान ऋषभदेव और भगवान महावीर ने पंचयाम का निरूपण किया। तो क्या बाईस तीर्थंकरों के समय ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक नहीं था?

समाधान है–महाव्रतों के निरूपण की जो दो परम्पराएँ हैं, वे दो परम्पराएँ श्रमणों की स्थिति के आधार पर निर्मित हुई हैं। प्रथम तीर्थंकर के श्रमण ऋजु-जड़ थे और चरम तीर्थंकर महावीर के श्रमण वक्र-जड़ थे और शेष बाईस तीर्थंकरों के श्रमण ऋजु-प्राज्ञ थे। उनके लिए धर्म समझना अत्यन्त सरल था। इसीलिए महाव्रतों के निरूपण में भेद आया है। बाईस तीर्थंकरों के श्रमण बहिर्दादान (परिग्रह) के अन्तर्गत स्त्री को भी परिग्रह मानकर परित्याग करते थे। इसलिए बाईस तीर्थंकर के श्रमण भी पूर्ण रूप से ब्रह्मचारी थे।[7]

---

१. आचारांगनिर्युक्ति, गा. ३०
२. वही, गा. ३० की वृति
३. वही, गा. २८
४. (क) दशवैकालिक ४-४
   (ख) आचारांग श्रुतस्कंध २, १५
५. (क) दशवैकालिक ४-४
   (ख) समवायांग ५
६. तत्त्वार्थवार्तिक ७, १६-९
७. उत्तराध्ययन, अ. २३, गाथा २३-२७

ब्रह्मचर्य धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है, जिनदेशित है। पहले भी प्रस्तुत धर्म का पालन कर अनेक जीव सिद्ध हुए हैं, अभी होते हैं और आगे भी होंगे।[1]

व्रत परिपालन हेतु, ज्ञान वृद्धि के लिए, कषाय पर विजय पाने के हेतु स्वतन्त्र वृत्ति की निवृत्ति के लिए यह आवश्यक है कि श्रमण गुरु-चरणों में रहे इस उद्देश्य से गुरुकुलवास को भी ब्रह्मचर्य कहा है।[2]

अब्रह्म से अन्य पाप भी

अब्रह्म सेवन में हिंसा तो मुख्य रूप से होती ही है किन्तु अन्य पाप भी होते हैं। आचार्य पूज्यपाद[3] ने लिखा है–अहिंसा आदि गुण जिसके पालन से सुरक्षित रहते हैं या बढ़ते हैं, वह ब्रह्म है और जिसके होने से अहिंसा आदि गुण सुरक्षित नहीं रहते वह अब्रह्म है। अब्रह्म के सेवन से प्राणी चर और अचर की हिंसा करता है, वह झूठ बोलता है, वह बिना दी हुई वस्तु भी ग्रहण करता है।

एक ब्रह्मचर्य के व्रत भंग होने पर अन्य सभी व्रत भंग हो जाते हैं। जैसे पर्वत से गिरने पर वस्तु के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं वैसी ही स्थिति व्रतों की होती है।[4]

महात्मा गाँधी[5] ने भी कहा है–"पाँच मुख्य व्रत मेरे आध्यात्मिक साधना के पाँच स्तम्भ हैं। ब्रह्मचर्य उनमें से एक है। पाँचों अविभक्त और सम्बद्ध हैं। वे एक दूसरे से सम्बन्धित और एक-दूसरे पर आधारित हैं। यदि उनमें से एक का भंग होता है तो सबका भंग होता है।"

ब्रह्मचर्य : वासना-विजय

ब्रह्मचर्य की साधना वासना विजय की साधना है। मानव एकान्त शान्त स्थान पर बैठकर उग्र से उग्र तप की साधना कर सकता है, अन्य कठिन व्रतों की आराधना कर सकता है; पर जिस समय उसके अन्तर्मानस में वासना का भयंकर तूफान उठता है उस समय वह अपने आपको नियंत्रित नहीं रख पाता।

कालिदास भारतीय संस्कृत साहित्य के कवियों में अपना मूर्धन्य स्थान रखते हैं। कुमारसम्भव उनकी एक महत्त्वपूर्ण कृति है। उसमें उन्होंने महादेव के उग्र तप

---

१. उत्तराध्ययन, अ. १६, गा. १७

२. (क) तत्त्वार्थसूत्र ९-६, भाष्य १०
   (ख) स्वतन्त्र वृत्तिनिवृत्त्यर्थो वा गुरुकुलवासो ब्रह्मचर्यम्। –*वही* ९-६, *सर्वार्थसिद्धि*

३. तत्त्वार्थराजवार्तिक ९, ६-२३

४. प्रश्नव्याकरण २-४

५. महात्मा गाँधी, दि लास्ट फेस, वा. १, पृ. ५८५

का निरूपण किया है। उस तप के वर्णन को पढ़कर पाठक को रोमांच हो जाता है। पर वही महादेव जब पार्वती के अपूर्व सौन्दर्य को निहारते हैं तो साधना से विचलित हो जाते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि ब्रह्मचर्य की साधना कितनी कठिन और कठिनतम है।

महाकवि भारवि का नाम गीर्वाण गिरा के यशस्वी कवियों में एक है। उन्होंने किरातार्जुनीय महाकाव्य का सृजन किया। वीर अर्जुन महाभारत के युद्ध में विजय वैजयन्ती फहराने के लिए उग्र तप करते हैं। उनके तप की साधना से इन्द्र का सिंहासन भी प्रकम्पित हो जाता है। अर्जुन को विचलित करने हेतु इन्द्र ने अप्सराएँ प्रेषित कीं। उनका सौन्दर्य अद्‌भुत था। वे हाव-भाव और कटाक्ष द्वारा अर्जुन को विचलित करने का प्रयास करती हैं, पर अर्जुन किंचित् मात्र भी विचलित नहीं हुआ। वह परीक्षा में पूर्ण सफल हो गया।

इसी तरह जैन साहित्य में आचार्य हेमचन्द्र ने और कुछ अन्य आचार्यों ने स्थूलभद्र की कथा को उट्टंकित किया है। स्थूलभद्र श्रमण दीक्षा ग्रहण करने से पहले कोशा वेश्या के आवास में चिरकाल तक रहे। श्रमण बनने के बाद पुनः वहाँ पर एक बार वर्षावास करने गये। कोशा के आवास में वर्षावास करना आग से खेलने के सदृश था। पर उस महासाधक ने अपने दृढ़ संकल्प से असम्भव को सम्भव कर दिया। चारों ओर मादक वातावरण था, सुमधुर संगीत की स्वर लहरियाँ झनझना रही थीं। पायलों की झंकार थी। कोशा पूर्ण रूप से उनके प्रति समर्पित थी। पर वह महान् साधक मेरु की तरह अकंप रहा, अन्त में कोशा ने ही कहा–भगवन् ! मैं आपका शिष्यत्व स्वीकार करती हूँ।

अतिभोग : जीवन का रोग

ब्रह्मचर्य जीवन की महान् साधना है। यदि किसी व्यक्ति को भव्य भवन का निर्माण करना हो तो उसके लिए दलदल वाली भूमि काम की नहीं, बिना नींव का महल बन भी गया तो एक क्षण में आँधी-तूफान आते ही धराशायी हो जायेगा। इसीलिए वैदिक ऋषियों के हृत्तन्त्री के तार झनझना उठे–"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।"–बलहीन व्यक्ति को आत्मा के दर्शन नहीं होते। जैन धर्म में भी मोक्ष की उपलब्धि के लिए वज्रऋषभनाराच संहनन आवश्यक माना। ब्रह्मचर्य वह बढ़िया खाद है जिससे सद्‌गुणों की खेती लहलहाने लगती है।

जो वैज्ञानिक और कृत्रिम साधनों का उपयोग कर सन्तति नियमन करना चाहते हैं और वासनाओं का खेल खुलकर खेलना चाहते हैं, उन्हें यह स्मरण रखना होगा कि अपने आप पर नियन्त्रण न रखकर सन्तति नियन्त्रण करने का

कार्य उपहासास्पद है। ब्रह्मचर्य के अभाव में आज के नौजवान के चेहरे पर जो उत्साह, तेज और ओज चाहिए उसका अभाव है। आज का नौजवान हताश और निराश है। उसका शरीर भोग की आग में बुरी तरह झुलस रहा है। अतिभोग से शरीर रोग का घर बन जाता है। जो शरीर रोग के कीटाणुओं को नष्ट नहीं कर सकता वह कर्मों के परमाणुओं को कैसे नष्ट करेगा?

नैसर्गिक ब्रह्मचर्य से शरीर में जो सौन्दर्य, तेज, आभा और ओजस्विता उत्पन्न होती है वह कृत्रिम साधन–पाउडर, लैवेण्डर आदि से नहीं होती। उन साधनों से सौन्दर्य को चमकाना उसी तरह से है जैसे मुर्दे का शृंगार करना।

यदि कोई कलाकार सूखे वृक्ष पर हरा रंग पोतकर वसन्त ले आने का प्रयास करे तो जैसे उसका प्रयास हास्यास्पद है वैसे ही ब्रह्मचर्य के अभाव में कृत्रिम साधनों से उत्पन्न सौन्दर्य भी हास्यास्पद है।

ब्रह्मचर्य की भावनाएँ

ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए सतत जागरूकता अपेक्षित है। साधक को अपना जीवन पूर्ण सादगीमय बनाना होता है। कामोत्तेजक, मोहपूर्ण वातावरण से अपने आपको मुक्त करना होता है। भावनाओं के चिन्तन का जीवन पर गहरा असर होता है। अतः आचारांग[1], समवायांग[2], आचारांगचूर्णि[3], आवश्यकचूर्णि[4], तत्त्वार्थसूत्र के सर्वार्थसिद्धि[5] व राजवार्तिक[6] में ब्रह्मचर्य की पाँच भावनाओं का उल्लेख है। किन्तु क्रम में कुछ अन्तर है पर भाव सभी का एक सदृश है।

आचारांग के अनुसार पाँच भावनाएँ इस प्रकार हैं–

(१) निर्ग्रंथ श्रमण पुनः-पुनः स्त्रियों की कामजनक कथा न करे क्योंकि उनकी कथा करने से शान्ति रूप चारित्र और ब्रह्मचर्य का भंग और केवली प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट होने की आशंका रहती है।

(२) स्त्रियों के मनोहर और मनोरम अंगों का कामरागपूर्वक सामान्य या विशेष रूप से अवलोकन करना, उससे ब्रह्मचर्य का भंग होता है।

---

१. आचारांग २, ७८६-७८७
२. समवायांग, सम. २५
३. आचारांगचूर्णि, मूल पाठ टिप्पण, पृ. २८०
४. आवश्यकचूर्णि, प्रतिक्रमण अध्ययन, पृ. १४३-१४७
५. तत्त्वार्थसूत्र–सर्वार्थसिद्धि ७-७
६. तत्त्वार्थराजवार्तिक ७-७, पृ. ५३६

(३) निर्ग्रंथ श्रमण स्त्रियों के साथ की हुई पूर्वरति या पूर्वक्रीड़ा का स्मरण न करे।

(४) अतिमात्रा में आहार-पानी का सेवन या सरस स्निग्ध भोजन का उपभोग नहीं करना चाहिए।

(५) निर्ग्रंथ को स्त्री, पशु, नपुंसक, संसक्त शय्या या आसनादि का सेवन नहीं करना चाहिए।

समवायांग में वर्णित पाँच भावनाएँ इस प्रकार हैं–

(१) स्त्री-पशु-नपुंसक-संसक्त शय्या और आसन का वर्जन।

(२) स्त्री-कथा विवर्जन।

(३) स्त्रियों की इन्द्रियों का अवलोकन न करना।

(४) पूर्वरत एवं पूर्वक्रीड़ित का स्मरण न करना।

(५) प्रणीत (स्निग्ध-सरस) आहार न करना।

आचारागंचूर्णि के अनुसार पाँच भावनाएँ इस प्रकार हैं–

(१) निर्ग्रंथ प्रणीत पान भोजन तथा अति मात्रा में आहार न करे।

(२) निर्ग्रंथ विभूषावर्त्ती न हो।

(३) निर्ग्रंथ स्त्रियों की मनोहर और मनोरम इन्द्रियों को न निहारे।

(४) निर्ग्रंथ स्त्री, पशु और नपुंसक से संसक्त शय्या और आसन का सेवन न करे।

(५) स्त्रियों की (कामजनक) कथा न करे।

आवश्यकचूर्णि में वर्णित भावनाएँ इस प्रकार हैं–

(१) आहार गुप्ति।

(२) विभूषा वर्जन।

(३) स्त्रियों की ओर न ताके।

(४) स्त्रियों का संस्तव–परिचय न करे।

(५) प्रबुद्ध मुनि क्षुद्र (काम) कथा न करे।

तत्त्वार्थसूत्र में पाँच भावनाएँ इस प्रकार वर्णित हैं–

(१) स्त्रियों के प्रति रागोत्पादक कथा श्रवण का त्याग।

(२) स्त्रियों के मनोहर अंगों को देखने का त्याग।

(३) पूर्व भुक्त भोगों के स्मरण का त्याग।

(४) गरिष्ठ और इष्ट रस का त्याग।

(५) शरीर-संस्कार का त्याग।

सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्तिक में भी भावनाओं का यही क्रम दिया गया है।

(१) असंसक्त वसति भावना

भावनाओं में साधक तत्त्वों का चिन्तन और सेवन करने का उपदेश दिया है और साथ ही व्रत के बाधक तत्त्वों से बचने का संकेत भी है। व्रतों के लिए विधेयात्मक और निषेधात्मक दोनों प्रकार के उपाय, रक्षा और संस्कार को उद्‌बुद्ध करने के लिए भावनाएँ आवश्यक हैं। जहाँ कहीं भी जिन कारणों से ब्रह्मचर्य में दूषण लगने और स्खलन होने की सम्भावना है, उन-उन कारणों का वर्जन इन भावनाओं में किया गया है। श्रमण-जीवन को टिकाने के लिए भोजन की आवश्यकता होती है और सर्दी, गर्मी तथा धूप-वर्षा से बचने के लिए शान्त स्थान की भी आवश्यकता होती है। न वह स्वयं भोजन पकाता है और न अपने लिए मकान निर्माण करता है। उसे सभी वस्तुएँ माँगने से मिलती हैं।

स्थान प्राप्त होने पर उसे यह चिन्तन करना होता है, कहीं यह स्थान मेरी संयम-साधना के लिए बाधक तो नहीं है? कहीं यह स्थान ऐसा तो नहीं है जिससे मेरा संयम-धन नष्ट हो जाय। संयम के विघातक तत्त्व वे हैं जहाँ पर महिलाएँ सोती हों, बैठती हों, पुनः-पुनः उनका आगमन होता हो, जहाँ पर महिलाएँ स्नान करती हुई, शृंगार करती हुई दिखाई देती हों, सन्निकट ही वेश्यालय हो। इस प्रकार के स्थान पर रहने से सहज ही विकार भावनाएँ उद्‌बुद्ध हो सकती हैं। श्रमण को तो क्या किसी भी ब्रह्मचारी को वहाँ नहीं रहना चाहिए। जैसे मुर्गी के बच्चे को[1] बिल्ली का भय बना रहता है वैसे ब्रह्मचारी को स्त्री का भय बना रहता है। जैसे बिल्ली की दृष्टि मुर्गी के बच्चे पर रहती है वैसे ही कामासक्त नारी की दृष्टि पुरुष पर रहती है। एकान्तवास जैसा प्रसंग उपस्थित होने पर वह कभी भी साधना से च्युत हो सकता है। अतः उनसे बचने की आवश्यकता है जिससे दोष लगने की सम्भावना का ही समूल विनाश हो सके।

प्रस्तुत भावना के द्वारा मन को इस प्रकार तैयार किया जाता है जिससे मन में संक्लेश भी न हो और दोष भी न लगे।

---

१. जहा कुक्कुडपोयस्स, निच्चं कुललओ भयं।
एवं खु बंभयारिस्स इत्थी विग्गहओ भयं॥ —दशवैकालिक ८, ५४

(२) स्त्री-कथा विरति भावना

जिस प्रकार स्त्री संसक्त आवास साधक के लिए खतरनाक है उसी तरह स्त्री-कथा का कथन भी खतरनाक है। जैसे स्त्रीदर्शन कामवासनाओं को जाग्रत करता है उसी तरह स्त्री का कीर्तन और चिन्तन भी।

श्रमण को अपना समय आगम के चिन्तन-मनन व आत्मचिन्तन में व्यतीत करना चाहिए। वह चर्चा भी करता है तो त्याग-वैराग्य की चर्चा करता है। वह शृंगार रस की चर्चा नहीं करता। नव-विवाहिता दम्पति की कहानियाँ नहीं सुनाता। जिसको सुनकर मन में भावना विकृत होती हो उनका स्मरण करने से ज्ञान-ध्यान से मन उचटता हो, मन में अधीरता पैदा होती हो, स्वयं के तथा दूसरे के भ्रष्ट होने की आशंका होती हो वैसी कथा नहीं करता। वह अपने अन्तर्मानस को स्त्रीकथा से मोड़कर पवित्र विचारों में लगाता है ताकि संस्कार संयम में सुदृढ़ रहें। इसीलिए प्रस्तुत भावना का उल्लेख है।

(३) स्त्री-रूप निरीक्षण विरति भावना

स्त्री-कथा के साथ ही उसका रूप भी साधना के लिए घातक है। सुन्दरतम रूप प्राप्त होना यह पुण्य का फल है। सुन्दर रूप बुरा नहीं है, बुरी है उसके प्रति आसक्ति। दीपक के जाज्वल्यमान प्रकाश को देखकर पतंगा दीवाना बनकर अपने आपको उसमें भस्म कर देता है। वैसे ही रूप को देखकर कितने ही विचलित हो जाते हैं। रूप का सदुपयोग होना चाहिए, दुरुपयोग नहीं।

साधक के सामने सुन्दर से सुन्दर रूप आता है। उस समय वह अपनी आँखें बन्द नहीं कर लेता, देखता भी है; किन्तु सिर्फ देखना अलग बात है और उस पर आसक्त होना अलग चीज है। आसक्ति होने पर पुनः-पुनः निहारने का प्रयत्न होता है और उसमें राग होने के कारण उससे चरित्र दूषित हो जाता है। जैसे सूर्य के सामने देखने से आँखें चौंधियाँ जाती हैं वैसे ही स्त्री का सौन्दर्य कामुक दृष्टि से देखने पर मन की आँखें चौंधियाँ जाती हैं और ब्रह्मचर्य का विवेक नष्ट हो जाता है। वह रूप का दीवाना अपना सर्वस्व उसके लिए न्यौछावर कर देता है। रूप-लावण्य का चिन्तन करने से सुदृढ़ मन भी चंचल हो जाता है।

दशाश्रुतस्कन्ध[1] में वर्णन है—चेलना के अद्भुत रूप को देखकर श्रमणों के मन विचलित हो गये थे। तब भगवान ने उन्हें उद्‌बोधन दिया कि प्रायश्चित्त ग्रहण करो, शुद्धीकरण करो।

---

१. दशाश्रुतस्कन्ध १०

इसलिए आवश्यक है कि मन में स्त्री के सौन्दर्य, रूप, लावण्य निरीक्षण का विचार न आये और उसके लिए प्रस्तुत भावना का वर्णन है जिससे स्त्री-रूप निरीक्षण के प्रति विरक्ति पैदा होती है।

(४) पूर्वरत-पूर्वक्रीड़ित विरति भावना

ब्रह्मचर्य व्रत की यह चतुर्थ भावना है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि विकार के प्रसंग उपस्थित न होने पर भी मन में विकार अठखेलियाँ करने लगते हैं। सामने कामोत्तेजक वातावरण न होने पर भी मन चंचल हो उठता है। साधक को अतीत की स्मृतियाँ उद्‌बुद्ध हो जाती हैं कि 'मैंने अमुक के साथ इस प्रकार का व्यवहार किया था' और एकान्त-शान्त क्षणों में वासनाएँ ताजी हो जाती हैं। परिणामतः पुरानी स्मृतियों में डूबकर मन मोहग्रस्त हो जाता है।

कभी-कभी तो स्मृतियों का वेग इतना तीव्र हो जाता है कि वह हँसने और रोने भी लगता है। उन स्मृतियों के कारण साधक साधना से च्युत भी हो सकता है। अतः उन कारणों को ध्यान में रखते हुए मन को पुनः उस ओर जाने से रोकना आवश्यक है जिससे मन में विकार भावनाएँ जाग्रत न हों।

गीता में भी कहा है–विषयों का चिन्तन व स्मरण करने से पुरुष उन विषयों के प्रति आसक्त हो जाता है।[1] अतः साधक का कर्त्तव्य है कि पुरानी मोहजनक स्मृतियों को मन में उठने ही न दे।

कई बार काम-भोग के सेवन से उतना पतन नहीं होता जितना उसकी स्मृति से होता है। बीते हुए दिनों की याद मन को चंचल बना देती है। इसलिए पूर्वकृत भोगों का स्मरण न करना ही प्रस्तुत भावना का लक्ष्य है।

(५) प्रणीत आहार विरति समिति भावना

ब्रह्मचर्य की साधना में बाह्यशुद्धि और वातावरण का जितना गहरा महत्त्व है उतना ही आहार का भी है। आहार का सीधा असर मन पर होता है। 'जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन'–यह कहावत प्रसिद्ध है। अन्न से रस बनता है, रस से वीर्यादि। उसका असर मन पर पड़ता है। यदि मसालेदार चटपटा भोजन किया जाय तो मन चंचल होगा। इसलिए शरीर-विशेषज्ञों का मत है कि सात्त्विक भोजन से मन में विशुद्धता बनी रहती है। "आहार शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः।"–आहार शुद्ध होने से सत्त्व भी शुद्ध होता है।

प्रणीत आहार से तात्पर्य है–अधिक गरिष्ठ आहार और अधिक मात्रा में आहार। साधक को न अति स्निग्ध आहार करना चाहिए और न अधिक मात्रा में

---

१. ध्यायते विषयान् पुंसः संयस्तेषूपजायते। –गीता २, ६२

ही। प्रणीत आहार से शरीर में रस, रक्त आदि उत्तेजित हो जाते हैं और उनसे विकार बढ़ते हैं। प्रणीत आहार से धातु कुपित होने से मन चंचल हो जाता है। भोजन ऐसा करना चाहिए, जो पाचन में हल्का हो, स्फूर्ति प्रदान करने वाला हो और मन को प्रसन्न बनाने वाला हो। गरिष्ठ भोजन से आलस्य और प्रमाद आता है तथा मन में कुत्सित वृत्तियाँ जाग्रत होती हैं। इसलिए प्रणीत भोजन का निषेध है।

अधिक भोजन करने वाला बहुरोगी और बहुभोगी होता है। इसलिए स्वादुता साधुता के लिए घातक है। साधक को स्वाद वृत्ति से बचना है और इसी के लिए प्रस्तुत भावना का चिन्तन किया जाता है।

ब्रह्मचर्य की इन पाँचों भावनाओं के सतत चिन्तन व मनन से मन ब्रह्मचर्य में स्थिर होता है, सुसंस्कार सुदृढ़ होते हैं और साधक ब्रह्मचर्य के विघातक तत्त्वों से बचता है।

संक्षेपतः ब्रह्मचर्य की इन पाँच भावनाओं में ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियों का भी समावेश है।

नौ ब्रह्मचर्य गुप्ति

ब्रह्मचर्य की रक्षा के उपायों को आगम साहित्य में 'गुप्तियाँ' और 'समाधिस्थान' भी कहा गया है। आगम साहित्य में उनके नौ प्रकार बताये गये हैं।

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार–

(१) **विविक्त शयनासन**–ब्रह्मचारी ऐसे स्थान पर शयन-आसन करे जो स्त्री-पशु-नपुंसक से संसक्त न हो।

(२) **स्त्री-कथा परिहार**–स्त्रियों की सौन्दर्य वार्ता, कथा वार्ता की आदि की चर्चा न करे।

(३) **निषद्यानुपवेशन**–स्त्री के साथ एकासन पर न बैठे। उसके उठ जाने पर भी एक मुहूर्त तक उस आसन पर न बैठे।

(४) **स्त्री-अंगोपांग अदर्शन**–स्त्रियों के मनोहर अंग-उपांग न देखे, यदि कदाचित् उस पर दृष्टि चली जाय तो पुनः हटा ले, फिर उसका ध्यान न करे।

(५) **कुड्यान्तर शब्द श्रवणादिवर्जन**–दीवार आदि की आड़ से स्त्रियों के शब्द, गीत, रूप आदि न सुने, न देखे।

(६) **पूर्वभोग स्मरण-वर्जन**–पहले भोगे हुए भोगों का स्मरण न करे।

(७) **प्रणीत भोजन त्याग**–विकारोत्पादक गरिष्ठ भोजन न करे।

(८) अतिमात्र भोजन त्याग–रूखा-सूखा भोजन भी अधिक मात्रा में न किया जाय।

(९) विभूषाविवर्जन–शरीर की सजावट न करे।

समवायांग में इन गुप्तियों का उल्लेख अन्य रूप में आया है। वहाँ पर तीसरी गुप्ति 'स्त्रियों के समुदाय के साथ निकट सम्पर्क न रखना' है। पाँचवीं और छठी गुप्ति 'प्रणीत रस भोजन त्याग' और 'अति भोजन त्याग' गुप्ति है। सातवाँ और आठवाँ नम्बर 'पूर्व भोग स्मरण त्याग' 'शब्द रूपानुपातिता त्याग' है। नौवीं गुप्ति 'सांसारिक उपभोगों की आसक्ति का त्याग' है।

दिगम्बर परम्परा के एक विशिष्ट विद्वान् पं. आशाधर जी[1] ने ब्रह्मचर्य के दस नियमों का उल्लेख किया है–

(१) **मा रूपादिरसं पिपास सुदृशां**–रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द के रस का पान करने की लालसा ब्रह्मचारी में न हो।

(२) **वस्ति मोक्षं मा कृथा**–वह इस प्रकार के कार्य न करे जिससे लिंग में विकार होने की सम्भावना हो।

(३) **वृष्यं मा भज**–ब्रह्मचारी कामोद्दीपक आहार न ग्रहण करे।

(४) **स्त्री शयनाधिकं** न मा भज–महिलाओं द्वारा उपभोग किये हुए शयन, आसन आदि का उपयोग न करे।

(५) **वरांगे दृश्य मा वा**–स्त्रियों के मुख को न देखे।

(६) **स्त्री मा सत्कुरु**–स्त्री का सत्कार न करे।

(७) **मा च संस्कुरु**–शरीर का संस्कार न करे।

(८) **रत वृत्तं मा स्मर**–पूर्वसेवित रति का स्मरण न करे।

(९) **वत्स्येद् मा इच्छ**–भविष्य के काम-क्रीड़ा की किंचित् मात्र भी इच्छा न करे।

(१०) **इष्ट विषयान् मा जुजस्व**–इष्ट रूप आदि में मन को संयुक्त न करे।

ये जो दस नियम बताये हैं उनमें दूसरा, छठा, नौवाँ और दसवाँ ये नियम नये हैं। शेष का वर्णन श्वेताम्बर आगम साहित्य में प्राप्त है।

वेद, उपनिषद् और बौद्ध साहित्य में ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए कुछ नियम और उपनियमों का उल्लेख अवश्य हुआ है, उदाहरणार्थ–स्मरण, क्रीड़ा, अवलोकन आदि के निषेध का।[2] पर जिस तरह से जैन साहित्य में क्रमबद्ध उल्लेख प्राप्त

---

१. आगार धर्मामृत ४, ६१ २. दक्षस्मृति ७, ३२

होता है, वैसा नहीं। जिस प्रकार खेती की सुरक्षा के लिए बाड़ अपेक्षित होती है वैसे ही ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए इन गुप्तियों का उल्लेख हुआ है।

अमर साधिकाएँ

तत्त्व मनीषियों ने ब्रह्मचारी के लिए जो आचार-संहिता बनाई वह अत्यन्त चिन्तन के पश्चात् बनाई गई है। क्योंकि जरा-सी असावधानी भी साधक को साधना से च्युत कर सकती है।

आज के युग में शृंगारपूर्ण अर्धनग्न सिने चित्रों का प्राधान्य है। भारतीय संस्कृति की जो आराध्य देवियाँ रही हैं उनके चित्रों को भी इस प्रकार शृंगारिक रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है कि सहज प्रश्न उठता है कि क्या वे सत्य-शील की अमर साधिकाएँ इस रूप में रही होंगी? उन सिने चित्रों से प्रायः घर सजाये जाते हैं। सिने तारिकाओं का अनुकरण आधुनिक युग की महिलाएँ और युवक करने लगे हैं। इसी तरह अश्लील कामोद्दीपक साहित्य व संगीत का भी अत्यधिक प्रचार हो रहा है जिससे आध्यात्मिक जीवन की भित्तियाँ हिल रही हैं। ये काम-कथाएँ राष्ट्र के लिए घातक हैं। जिस स्त्री-वर्ग को भारत में पूजनीय माना गया आज इस तरह उसका चित्रण करके क्या उनका अपमान नहीं किया जा रहा है?

जो नियम पुरुषों के लिए स्त्री-वर्जन के सम्बन्ध में बताये गये हैं। वे ही नियम महिलाओं के लिए पुरुष-वर्जन आदि हेतु समझना चाहिए।

विश्व के सभी चिन्तकों ने व्यभिचार, विषय-वासना, विलासिता की भर्त्सना की है। बाइबिल में भी यह स्वर मुखरित है। मुस्लिम धर्म में भी विलासिता को निन्दनीय माना है।

नीतिशास्त्र की दृष्टि से

नीतिशास्त्र के अध्ययन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उन्होंने आचरण व कर्त्तव्य को अत्यधिक महत्त्व दिया है। प्लेटो की दृष्टि से 'सत्यं शिवं सुन्दरम्'–ये जीवन के तीन आदर्श हैं। जीवन केवल सत्य ही नहीं, उसमें सुन्दर भी चाहिए और शिव भी। जीवन में शिवत्व आता है ब्रह्मचर्य की साधना से, और जीवन में सुन्दरता खिलती है अपरिग्रह वृत्ति से। जिस जीवन में सत्यं, शिवं, सुन्दरम् नहीं है, वह वास्तविक जीवन नहीं है। जैन धर्म ने भी जीवन के लिए ज्ञान, क्रिया और भावना (सम्यक्दर्शन)–इन तीनों को आवश्यक माना है।

सुकरात, प्लेटो और अरस्तू ने ग्रीक संस्कृति का सार प्रस्तुत करते हुए कहा–जब तक वह संस्कृति सत्य, शील और सदाचार को अपनाती रही वहाँ तक वह विकसित होती रही। यदि मानव के जीवन में सदाचार नहीं है तो कुछ भी नहीं। जो

वासना के तीव्र झंझावात में अपने सत्य, शील और सदाचार की रक्षा नहीं कर पाता, वह साधना में कभी भी सफल नहीं हो सकता। वासना के दूषित वातावरण में जो अपने आपको बचा नहीं सकता वह साधना क्या कर सकेगा?

कठोर नियम

छेदसूत्र और उसके व्याख्या-साहित्य के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि जैन मनीषियों ने ब्रह्मचर्य की निर्मल साधना हेतु किस तरह के कठोर नियम बनाये थे। जहाँ भी श्रमण-श्रमणियाँ रहें उन दोनों का सम्बन्ध किस प्रकार रहना चाहिए, इस पर गहराई से चिन्तन हुआ है। ब्रह्मचर्य की पूर्ण साधना के लिए एक-दूसरे से दूर रहना ही श्रेयस्कर है। ऐसा होने पर भी यदा-कदा सामाजिक और राजनैतिक परिस्थिति के कारण श्रमण-श्रमणियों के समुदाय को निकट रहने के अवसर प्राप्त होते और एक-दूसरे की सहायता करने के लिए कटिबद्ध होना पड़ता।[1]

ऐसी स्थिति में उन्हें किस प्रकार सावधानी रखनी चाहिए यह उस युग के चिन्तकों के सामने एक समस्या थी। वे जानते थे कि श्रमण बनने पर भी मानव आखिर मानव ही है। मानव की कामवृत्तियों के विविध रूपान्तरों का परिज्ञान उन आचार्यों का था। इसीलिए उन्होंने उनसे बचने के उपायों की अन्वेषणा की और साधकों को सजग किया। वे जानते थे कि कामवृत्ति स्वाभाविक नहीं, आगन्तुक है। इसलिए वे उन्हें नष्ट करने का प्रयास करते थे।

श्रमण संघ में तरुण और रूपवान् महिलाएँ भी दीक्षित होती थीं। कितने ही मनचले युवक उनके शील को भंग करने का प्रयास करते थे।[2] अतः आचार्यों के सामने यह गम्भीर समस्या उपस्थित हुई। उन्होंने आपवादिक स्थिति में श्रमणियों की शील रक्षा के लिए साधुओं को श्रमणियों के साथ विहार करने की अनुमति दी।

मैथुन सेवन के कारणों में क्रोध, मान, माया, मात्सर्य, लोभ, राग और द्वेष है पर इन सभी में राग प्रमुख है। राग के बिना अब्रह्म-सेवन कदापि नहीं हो सकता।[3]

प्रायश्चित्त व्यवस्था

आगम साहित्य के आधार से यह भी कहा जा सकता है कि जो अब्रह्म का सेवन करते उन सभी के लिए एक सदृश प्रायश्चित्त व्यवस्था नहीं थी। किस स्थिति में साधक की स्खलना हुई है उन विकल्पों को सम्यक् प्रकार से समझकर ही

१. निशीथ उद्देशक ४, सू. २३, २४; निशीथभाष्य, गाथा १६९९ से; बृहत्कल्पभाष्य, गाथा ३७२१ से; निशीथभाष्य, गाथा १७४५ से; बृहत्. ३७६८ से; निशीथभाष्य, गाथा ३७७९ से

२. निशीथभाष्य, गाथा चूर्णि २८६०

३. वही, गाथा ३५६

प्रायश्चित्त दिया जाता था।[1] यह भी सत्य है कि अहिंसा, सत्य आदि व्रतों के लिए उत्सर्ग व अपवाद मार्ग का विधान है पर 'ब्रह्मचर्य' के लिए कोई अपवाद मार्ग नहीं है। अब्रह्म का सेवन करने पर बिना प्रायश्चित्त के शुद्धि नहीं है। यदि वह संयम के लिए भी किया जाय तो भी उसके लिए प्रायश्चित्त आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।[2]

प्रस्तुत प्रसंग का स्पष्टीकरण करते हुए निशीथभाष्यकार ने लिखा है–साधक के जीवन में ऐसे प्रसंग आ जाते हैं कि या तो वह शील भंग करे या मरण को वरण करे। ऐसी परिस्थिति में साधक मरण को स्वीकार करता है, वह सहर्ष अपने प्राणों को न्योछावर करके शील की रक्षा करता है। पर कोई साधक जिसका मनोबल दृढ़ नहीं है, जीवन के प्रति मोह है और यह सोचे कि यदि जीवन रहा तो मैं पुनः संयम की साधना कर सकूँगा, इस दृष्टि से यदि वह शील भंग करता है तो भी उसे प्रायश्चित्त आता है। वह प्रायश्चित्त लेकर ही अपना शुद्धीकरण कर सकता है।

सरल उपाय

यह एक ज्वलन्त सत्य है कि काम पर विजय प्राप्त करना सरल नहीं है। उसके लिए निशीथचूर्णि में एक मनोवैज्ञानिक रूपक प्रस्तुत किया है–एक बाला जो सारे दिन निठल्ली बैठी रहती थी और अपने रूप को सजाती-सँवारती रहती थी उसे तीव्र वासनाएँ सताने लगीं। तब समझदार वृद्धा ने उसको सम्पूर्ण घर का भार सौंप दिया जिससे वह उस कार्य में इतनी तल्लीन हो गई कि कामवासना को भूल गयी। वह रात्रि में इतनी थकी रहती थी कि लेटते ही उसे गहरी नींद आ जाती थी। वैसे ही श्रमण-श्रमणियों को दिन-रात स्वाध्याय और ध्यान में लगे रहना चाहिए जिससे कामवासनाएँ उद्‌बुद्ध ही न हों। काम पर विजय प्राप्त करने का यह सरलतम उपाय है।[3]

हमने ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में जैन, बौद्ध और वैदिक दृष्टि के आलोक में एक चिन्तन प्रस्तुत किया है। ब्रह्मचर्य साधना का मेरुदण्ड है। उसके अभाव में साधक आध्यात्मिक साधना नहीं कर सकता। इसीलिए श्रमण के लिए ब्रह्मचर्य महाव्रत के रूप में रहा है और श्रमणोपासक गृहस्थ के लिए स्वदारसंतोष व्रत के रूप में रहा है। श्रमण और श्रावक दोनों के लिए ब्रह्मचर्य की साधना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

●●

---

१. (क) निशीथभाष्य ३६३, ३६५ (ख) बृहत्कल्प ४९४३-४९४५
२. (क) वही ३६४, ३६७ (ख) बृहत्कल्पभाष्य, गा. ४९४६-४९४७
३. निशीथभाष्य, गाथा ५७४, चूर्णि

१५. अपरिग्रह का उदात्त आदर्श

पदार्थ ससीम : इच्छाएँ असीम

पदार्थ ससीम हैं और इच्छाएँ व आकांक्षाएँ आकाश के समान असीम हैं। विराट् सागर में प्रतिपल-प्रतिक्षण जल-तरंगें तरंगित होती रहती हैं। यदि कोई उन जल-तरंगों की परिगणना करना चाहे तो सम्भव नहीं है। एक जल-तरंग अनन्त सागर में विलीन होती है तो दूसरी जल-तरंग नाचने लगती है। निरन्तर यह परम्परा चालू है। इसी तरह आकाश को भी नापा नहीं जा सकता। आकाशद्रव्य ही षट्द्रव्यों में एक ऐसा द्रव्य है जो लोक और अलोक दोनों में परिव्याप्त है। शेष पाँच द्रव्यलोक में ही हैं। यही स्थिति तृष्णा की भी है। मानव-मन में निरन्तर तृष्णा की तरंगें उठती रहती हैं। एक इच्छा की पूर्ति होने पर द्वितीय इच्छा जन्म लेती है। द्वितीय इच्छा पूर्ण होने पर तृतीय इच्छा उद्‌बुद्ध होती है। इस प्रकार इच्छाओं का कहीं अन्त नहीं है। इसीलिए भगवान महावीर ने कहा—यदि मानव को कैलास पर्वत के सदृश चमचमाते हुए स्वर्ण और चाँदी के असंख्य पर्वत भी प्राप्त हो जायें तो भी उसकी तृष्णा शान्त नहीं हो सकती।

पेट भर सकता है, पेटी नहीं

यह सत्य है कि यद्यपि इच्छाएँ असीम हैं किन्तु आवश्यकताएँ बहुत ही सीमित हैं। मानव के अन्तर्मानस में प्रतिक्षण नित नये विचार उठते रहते हैं, वह यही सोचता रहता है कि 'कहाँ से सुख-सुविधा के साधन उपलब्ध किये जायें' और उन साधनों को प्राप्त करने के लिए वह प्रबल प्रयास करता है। वे पदार्थ प्राप्त होने पर अन्य पदार्थों को प्राप्त करने की तैयारी करता है। इस प्रकार पदार्थों को प्राप्त करने की इच्छाओं का विषचक्र चलता रहता है और इसी कारण उसकी मानसिक शान्ति नष्ट हो जाती है। उसके मन में असन्तोष की आग निरन्तर सुलगती रहती है, वह रात-दिन इसी उधेड़बुन में रहता है कि किस तरह कौन-सा प्लान बनाया जाय जिससे कि धन का ढेर लग सके। धन का ढेर लगाने और अनेक वस्तुओं का संग्रह करने पर भी उन सभी वस्तुओं का वह एक साथ उपभोग नहीं कर सकता।

कल्पना कीजिए—एक व्यक्ति ने बढ़िया से बढ़िया पचास घड़ियाँ एकत्रित की हैं किन्तु एक बार में वह एक ही घड़ी बाँध सकता है। यदि दस घड़ी एक साथ बाँध ले तो लोग उसे पागल समझेंगे।

इसी प्रकार एक व्यक्ति ने आधुनिक साज-सज्जा, सुख-सुविधा की दृष्टि से दस भव्य भवन बनाये हैं। किन्तु एक समय में वह एक ही भवन में रह सकेगा। अन्य भवन बेकार पड़े रहेंगे।

अतः यह स्पष्ट है कि आवश्यकताएँ सीमित हैं।

एक व्यक्ति को तीव्र क्षुधा सता रही हो। वह कई दिनों से भूखा हो, प्यासा हो। यदि उसे चार रोटी और दो लोटा पानी मिल जाय तो उसका पेट भर जायेगा, उसकी भूख-प्यास मिट जायेगी। उसके बाद भले ही स्वादिष्ट से स्वादिष्ट पदार्थ भी कोई लाये तो वह खाना पसन्द नहीं करेगा और न बढ़िया से बढ़िया पेय पदार्थ पीना ही चाहेगा। 'पेट भर सकता है किन्तु पेटी कभी नहीं भरती।' एक पेटी भर जाने पर दूसरी पेटी भरने की चिन्ता सताती है। इस प्रकार अनावश्यक धन-सम्पत्ति और पदार्थों का संग्रह करना तथा उन वस्तुओं के प्रति ममत्व बुद्धि और आसक्ति रखना परिग्रह है।

मूर्च्छा परिग्रह

आचार्य उमास्वाति[1] ने परिग्रह की परिभाषा करते हुए लिखा है–"मूर्च्छा भाव परिग्रह है।" आचार्य शय्यंभव[2] ने भी यही बात कही है। भगवान महावीर ने कहा– आत्मा के लिए यदि कोई सबसे बड़ा बन्धन है तो वह परिग्रह है। परिग्रह के जाल में बँधा हुआ आत्मा विविध पापमय प्रवृत्तियाँ करता है। किसी वस्तु को मोहबुद्धि से आसक्तिपूर्वक ग्रहण करना परिग्रह है। परिग्रह हिंसा आदि को जन्म देने वाला है। आत्म-विकास के लिए बाधक तत्त्व है। उससे आत्म-विकास की दिशा अवरुद्ध हो जाती है। जैन धर्म ने आसक्ति को परिग्रह कहा। मनुष्य की सांसारिक पदार्थों के प्रति जितनी अधिक आसक्ति होगी उसका उतना ही अधिक परिग्रह होगा।

रोड़पति : क्रोड़पति

भौतिक पदार्थ तो जड़ है। वह अपने आप में न पुण्य रूप है और न पाप ही है तथा न वह वस्तु एकान्त रूप से परिग्रह है। शास्त्रों में धन-वैभव को नहीं किन्तु धन-वैभव के प्रति जो मन में आसक्ति की भावना लहरा रही है उसे परिग्रह कहा है। एक भिखारी है जिसके पास तन ढकने को न पूरे वस्त्र हैं और न खाने को अन्न ही है तथा रहने को न झोंपड़ी ही है। परन्तु उसके मन में चलचित्र की तरह एक के बाद दूसरी इच्छाएँ आ रही हैं। उसके मन में पदार्थों के प्रति इतनी आसक्ति है कि न

---

१. मूर्च्छा परिग्रहः। –*तत्त्वार्थसूत्र ७, १७*

२. न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा ॥ –*दशवैकालिक ६, १०*

पूछो, रोडपति होने पर भी करोड़पति की इच्छाएँ भी उसकी इच्छाओं के सामने कम हैं। वह चाहता है कि पलक झपकते ही वह अखिल विश्व का स्वामी बन जाय। वह दरिद्र होने पर भी महान् परिग्रही है, क्योंकि उसके मन में परिग्रह है।[1]

उपासकदशांगसूत्र[2] में आनन्द श्रमणोपासक का वर्णन है। उसने भगवान महावीर से श्रावक के द्वादश व्रत ग्रहण किये थे। वहाँ पाँचवें व्रत में जहाँ परिग्रह की मर्यादा का वर्णन है वहाँ इच्छाओं का वह परिमाण करता है। वह अपनी अनन्त और असीम इच्छाओं को समेटता है। ज्यों ही इच्छाएँ समेटी जाती हैं त्यों ही पदार्थ भी अपने आप सीमित हो जाते हैं। जब इच्छाएँ सीमित हो जाती हैं तो पदार्थों को अधिकाधिक एकत्रित करने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए इच्छाओं को नियन्त्रित करना ही अपरिग्रह की ओर कदम बढ़ाना है।

अनासक्ति की साधना : अपरिग्रह

मानव पदार्थों का पूर्ण त्याग नहीं कर सकता। जैसे एक स्टीमर सागर को पार कर रही है तो उसके लिए पानी आवश्यक है। नौका के भी नीचे पानी रहना कोई खतरा नहीं है। वह जल उस नौका को आगे बढ़ाने में सहायक होता है। खतरा तभी पैदा होता है जब पानी स्टीमर में प्रविष्ट हो जाता है। थोड़ा-सा पानी भी यदि नौका में प्रविष्ट हो गया तो नौका को ले डूबता है। यही स्थिति साधक के जीवन की है। सारे संसार में सम्पत्ति के अंबार लगे रहें; भौतिक वैभव अठखेलियाँ करता रहे; कोई खतरा नहीं है। वैभव का वह विराट् प्रवाह साधक के मुस्तैदी कदमों को रोक नहीं सकता। यदि मन में आसक्ति है तो वह परिभ्रमण का कारण है। आसक्ति सचित्त और अचित्त दोनों प्रकार के पदार्थों पर हो सकती है। जितनी आसक्ति कम होगी उतनी ही परिग्रह की मात्रा कम होगी। पदार्थों के परित्याग के साथ ही आसक्ति का परित्याग आवश्यक है। इच्छा-आकांक्षाओं पर नियन्त्रण करने के लिए अनासक्त होना आवश्यक है। अनासक्ति की साधना ही वस्तुतः अपरिग्रह की साधना है।

अनर्थों की जड़

परिग्रह व्यक्तिगत जीवन के लिए भी हानिप्रद है। साथ ही वह समाज के लिए भी महाघातक है। वह अनेक अनर्थों की जड़ है। एक व्यक्ति अधिकाधिक पदार्थों का संग्रह करता है जिसके कारण दूसरे व्यक्तियों को वे पदार्थ उपलब्ध नहीं हो सकते और उन पदार्थों के अभाव में उनके जीवन में विषमताएँ आती हैं। परिग्रह

---

१. मूर्च्छाछन्नधियाँ सर्वं जगदेव परिग्रहः।
मूर्च्छया रहितानां तु, जगदेवापरिग्रहः ॥
—उपासकदशांगसूत्र

२. इच्छापरिमाणं करेइ।

वृत्ति समाज के लिए महान् घातक है। परिग्रह ऐसी तीक्ष्ण कुल्हाड़ी है जो सद्गुणों के हरे-भरे वृक्ष की जड़ को काट देती है। महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध सन्त तुकाराम[1] ने इसीलिए कहा कि आवश्यकता से अधिक संग्रह करना गोमाँस के समान त्याज्य होना चाहिए।

परमेश्वर नहीं, पिशाच

परिग्रह वृत्ति एक ऐसा जहरीला कीटाणु है जो धर्मरूपी तथा सद्गुणरूपी कल्पवृक्ष को नष्ट कर देता है। एक बार राष्ट्रसन्त विनोबा ने अपने प्रवचन में कहा–जिस पैसे को तुम परमेश्वर समझकर अर्चना करते हो वह पैसा परमेश्वर नहीं है अपितु पिशाच के सदृश है। वह तुम्हारे मन और मस्तिष्क पर सवार हो गया है, जो तुम्हें सतत सताता रहता है। तुम्हें किंचित् मात्र भी आनन्दपूर्वक रहने नहीं देता। पैसे रूपी पिशाच को कब तक तुम देवतुल्य समझकर उसकी अर्चना करते रहोगे?

पापों की जननी

परिग्रह वृत्ति सभी पापों की जननी है। वह अनेक पापों के कीटाणुओं को पैदा करने वाली है। जैसे कितने ही रोग के कीटाणु हजारों-लाखों की संख्या में दनादन बढ़ते हैं, वैसे ही परिग्रह की वृत्ति चिन्ता को जन्म देती है, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष को पैदा करती है।

आचार्य शंकर ने कहा–"**अर्थमनर्थं** भावय नित्यं"–अर्थ अनर्थकारी है तो उस पर चिन्तन करो। अर्थ की तृष्णा ने कितना अनर्थ किया है? अर्थ के पीछे पागल बनकर पुत्र ने पिता की हत्या की। भाई ने भाई का खून किया। एक राष्ट्र ने दूसरे राष्ट्र पर आक्रमण किया। हजारों निरपराध व्यक्तियों के खून की होली खेली गई। हजारों स्त्रियाँ असमय में विधवा हुईं। हजारों माताएँ पुत्रों के बिना बिलखती रहीं। अर्थ के अनर्थ की कहानी इतनी लम्बी है कि यदि उस कहानी का उट्टंकन किया जाय तो पृष्ठ के पृष्ठ भर सकते हैं। हमें यहाँ अधिक विस्तार में न जाकर अपरिग्रह महाव्रत के बारे में चिन्तन करना है।

परिग्रह : परिभाषा

प्रश्नव्याकरण सूत्र के टीकाकार[2] ने परिग्रह की व्याख्या करते हुए लिखा है–जो सम्पूर्ण रूप से ग्रहण करता है वह परिग्रह है। सम्पूर्ण रूप से ग्रहण करने का

---

१. तुका म्हणे धन आम्हां गोमांस समान।

२. परिसामस्त्येन ग्रहणं परिग्रहणं ..... मूर्च्छावशेन परिगृह्यते आत्मभावेन ममेति बुद्ध्या गृह्यते इति परिग्रहः।
–*प्रश्नव्याकरणवृत्ति*, २१५

अर्थ है मूर्च्छा बुद्धि से ग्रहण करना। संयमी साधक संयम साधना करते हुए कुछ धार्मिक उपकरण रखता है, किन्तु उन पर उसकी ममत्व बुद्धि नहीं होती; इसलिए वह परिग्रह नहीं है।

यहाँ सहज ही जिज्ञासा उद्‌बुद्ध हो सकती है कि हम बहुमूल्य वस्तुएँ हीरे, पन्ने, माणक, मोती, धन-धान्य, भव्य-भवन आदि रखें किन्तु उसमें हमारी ममता न हो तो फिर वह परिग्रह नहीं है न?

समाधान है–यदि आपकी उसमें ममता नहीं है तो सिद्धान्ततः वह परिग्रह नहीं है। किन्तु आप उस विराट् वैभव को अपना कहते हैं; जैसे 'यह भव्य भवन मेरा है, ये हीरे-मोती आदि बहुमूल्य वस्तुएँ मेरी हैं।' ऐसी भावना आपके मन-मस्तिष्क में रहती है। उस भव्य-भवन एवं धन की रक्षा के लिए आप सतत सन्नद्ध रहते हैं। यदि आपकी उनके प्रति ममता नहीं है तो आप उनकी चिन्ता क्यों करते हैं? नगर में हजारों भव्य-भवन हैं। यदि वे गिर रहे हों तो आप उनकी चिन्ता करते हैं क्या? कभी-कभी आप कह भी देते हैं–धन मेरा नहीं है। किन्तु कोई दान लेने वाला आपके द्वार खटखटाता है, आपको कृष्ण और स्वयं को सुदामा मानकर आता है। आप उस समय देने से कतराते तो नहीं हैं? आपका ममत्व उस समय बाधक तो नहीं बन जाता? यदि ऐसा होता है तो फिर आप कैसे कहते हैं–धन मेरा नहीं है? धन-वैभव के साथ आपका आंतरिक सम्बन्ध है। आपकी ममत्व बुद्धि उसमें रही हुई है। फिर 'मेरा नहीं है' यह कहना केवल आत्मवंचना है।

दूसरी जिज्ञासा यह भी हो सकती है–जिसके पास भौतिक वैभव नहीं है तो क्या वह अपरिग्रही है?

समाधान है–वह भी अपरिग्रही नहीं है। क्योंकि बाह्य परिग्रह न होने पर भी उसके अन्तरंग में परिग्रह विद्यमान है। केवल बाह्य परिग्रह के आधार पर ही कोई परिग्रही या अपरिग्रही नहीं होता। पशु-पक्षियों के पास बाह्य परिग्रह कुछ भी दिखाई नहीं देता; तथापि वे अपरिग्रही नहीं है। बाह्य परिग्रही न होने का कारण उनके पास संग्रह करने की योग्यता का अभाव हैं। उनमें बुद्धि का विकास नहीं है। जिसके कारण वे बाह्य परिग्रह का संग्रह करने में अयोग्य हैं। किन्तु परिग्रह के प्रति ममता उनमें भी है। उन्हें भी अपनी सन्तान के प्रति, खाद्य पदार्थों के प्रति उतनी ही आसक्ति है जितनी मानव के मन में है। अभाव, अक्षमता, पराधीनता और विवशता से त्याग नहीं होता। त्याग तो स्वेच्छा से होता है। जो व्यक्ति कान्त, प्रिय भोगों का, वस्त्र, शयन, आसन और स्त्रियों का विवशता से उपभोग नहीं कर पाता है वह त्यागी नहीं है। त्यागी वही है जो ये सभी वस्तुएँ प्राप्त होने पर भी

स्वेच्छा से त्याग करता है।[1] स्वाधीनतापूर्वक किया गया त्याग ही वस्तुतः सच्चा त्याग है।

परिग्रह के भेद

परिग्रह के मुख्य दो भेद हैं–अंतरंग परिग्रह और बाह्य परिग्रह।

भगवतीसूत्र[2] में परिग्रह के तीन भेद बताये हैं–

(१) **कर्म परिग्रह**–राग-द्वेष के वशीभूत होकर अष्ट प्रकार के कर्मों को ग्रहण करना।

(२) **शरीर परिग्रह**–विश्व में जितने भी जीव हैं वे सभी शरीरधारी हैं।

(३) **बाह्य भांडमात्र परिग्रह**–बाह्य वस्तु और पदार्थ आदि।

ये तीनों इसीलिए परिग्रह हैं कि ये जीव के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं। ये राग-द्वेष की अभिवृद्धि करते हैं, आसक्ति के कारण बनते हैं, इसलिए इन्हें परिग्रह कहते हैं। आत्मा के वे परिणाम जो कर्मबन्ध या मूर्च्छा आदि के प्रत्यक्ष हेतु हैं वह अंतरंग परिग्रह हैं। वे कारण यद्यपि बाहर दृग्गोचर नहीं होते किन्तु अन्तर्मानस में चोर की तरह छिपे रहते हैं। प्रश्नव्याकरण[3] में अन्तरंग परिग्रह का विश्लेषण करते हुए कहा है–लालसा, तृष्णा, इच्छा, आशा और मूर्च्छा ये सभी असंयम रूप अन्तरंग परिग्रह हैं। इसी से बाह्य परिग्रह होता है।

अन्तरंग परिग्रह

अन्तरंग परिग्रह के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग ये पाँच कारण बताये हैं।[4] आगम के व्याख्या-साहित्य में परिग्रह के भेद-प्रभेदों की विचार-चर्चा करते हुए चौदह कारण बताये हैं।[5] मिथ्यात्व, राग, द्वेष, क्रोध, मान,

---

१. वत्थगंधमलंकारं इत्थिओ सयणाणि य।
अच्छन्दा जे न भुंजंति न से चाइत्ति वुच्चई ॥
जे य कंते पिये भोए लद्धे विप्पिट्ठिकुव्वई।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइत्ति वुच्चई ॥ –*दशवैकालिक २, २-३*

२. कम्म परिग्गहे, सरीर परिग्गहे, बाहिर भंडमत्त परिग्गहे। –*भगवतीसूत्र १८, ७*

३. प्रश्नव्याकरण, पृ. ७६१

४. वही वृत्ति, पृ. ७६१ (सन्मति ज्ञानपीठ प्रकाशन)

५. (क) प्रश्नव्याकरण टीका, पृ. ४५१
(ख) कोहो माणो माया, लोभो पेज्जं तहेव दोसो अ।
मिच्छत वेद अरइ, रइ हासो सोगो भय-दुगुंछा ॥ –*बृहत्कल्पभाष्य ८३१*
(ग) मिच्छत्त-वेद-रागा, हासादि भया होंति छद्दोसा।
चत्तारि तह कसाया, चोद्दस अब्भंतरा गंथा ॥ –*प्रतिक्रमणत्रयी, पृ. १७५*

माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और वेद–ये अन्तरंग परिग्रह के १४ भेद हैं। कहीं-कहीं पर राग और द्वेष को कषाय में सम्मिलित कर वेद के स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, ये तीन भेद किये हैं।

वस्तुतः मिथ्यात्व और कषाय ये कलुषित चित्तवृत्तियाँ हैं जो अनादिकाल से आत्मा के साथ लगी हैं और उन्हीं के कारण मूर्च्छा करता हुआ आत्मा कर्मबन्धन करता है।

बाह्य परिग्रह

जब अन्तरंग में परिग्रहवृत्ति होती है, तभी बाह्य वस्तुओं को ग्रहण करने की अभिलाषा मन में उत्पन्न होती है। जैसे पदार्थ अगणित हैं वैसे ही परिग्रह के भेद भी अगणित हो सकते हैं। पर संक्षेप में आचार्य हरिभद्र[1] ने नौ भेदों का निरूपण किया है और बृहत्कल्पभाष्य में जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण[2] ने बाह्य परिग्रह के दस भेद बताये हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं–

(१) **क्षेत्र**–खेत या खुली भूमि आदि।

(२) **वास्तु**–रहने के लिए मकान, दुकान आदि।

(३) **हिरण्य**–चाँदी के सिक्के, आभूषण आदि।

(४) **स्वर्ण**–स्वर्ण और स्वर्ण के आभूषण आदि।

(५) **धन**–हीरे, पन्ने, माणक, मोती, जवाहरात आदि।

(६) **धान्य**–गेहूँ, चावल, मूँग, मोठ आदि।

(७) **द्विपद**–नौकर-नौकरानी, दास-दासी आदि। बहुत से लोग तोता-मैना, कबूतर, मोर आदि पक्षी भी पाल लेते हैं। दो पैर वाले होने से इनकी गणना भी परिग्रह के इसी भेद में होती है।

(८) **चतुष्पद**–गाय, भैंस आदि चार पैर वाले पशु।

(९) **कुप्य**–वस्त्र, पलँग और अन्य विविध प्रकार के धातुओं के सामान आदि।

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण के अनुसार दस भेद इस प्रकार हैं–क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, संचय (तृण काष्ठ आदि का) मित्रज्ञातिसंयोग (परिवार), यान (वाहन), शयनासन (पलँग पीठ आदि) दास-दासी और कुप्य।

---

१. आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति, अ. ६

२. खेत्तं वत्थु धण-धन्न-संचओ मित्तणाइ संजोगो।
जाण-सयणासणाणि य, दासी-दास च कुव्वयं च ॥ –बृहत्कल्पभाष्य ८२५

कहीं-कहीं पर द्विपद-चतुष्पद को एक गिनकर दास-दासी को पृथक् किया है और कहीं पर धातु–चाँदी, ताँबा, पीतल, लोहा आदि को पृथक् भेद में गिन लिया है।

यह स्पष्ट है कि जब मन में मूर्च्छा होती है और उस मूर्च्छा से चाहे जो वस्तुएँ हों, उनका संग्रह करना परिग्रह है।

परिग्रह : बन्धन

भौतिक पदार्थों की चकाचौंध में मानव विविध पदार्थों को एकत्रित करने में आह्लाद का अनुभव करता है। वह सोचता है कि इन वस्तुओं से मुझे बहुत सुख मिलेगा। किन्तु सत्य-तथ्य यह है कि बाह्य वस्तुओं से सुख-प्राप्ति की आशा मृग-मरीचिका मात्र है। रेगिस्तान में जब चमचमाती सूर्य की किरणें रेती पर गिरती हैं तो ऐसा प्रतिभास होता है कि मीलों तक पानी भरा है। किन्तु प्यास से छटपटाता हुआ व्यक्ति ज्यों-ज्यों आगे पहुँचता है वहाँ उसे पानी की बूँद भी नहीं मिलती। वहाँ से वह आगे देखता है, आगे भी इसी तरह पानी भरा हुआ दिखाई देता है, पर वहाँ भी पानी नहीं होता। यही स्थिति परिग्रह के संग्रह की है। किन्तु परिग्रह की तृष्णा दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ती जाती है और वह परिग्रह शान्ति का नहीं, अशान्ति का कारण बनता है। इसीलिए परिग्रह को महान् दुःख देने वाला, महान् भय पैदा करने वाला बताया है[1] तथा कहा गया है कि परिग्रह के समान अन्य कोई बन्धन नहीं है।[2]

मानव पशुओं के गले में बन्धन डालता है जिससे कि वह स्वतन्त्र होकर घूम-फिर न सकें। वह बन्धन तो इतना भयंकर नहीं है, किन्तु परिग्रह का बन्ध अत्यन्त दारुण और कठोर है। परिग्रह के बन्धन में बँधा हुआ ही मनुष्य अपनी स्वर्ग से भी प्रिय मातृभूमि को छोड़कर विदेशों में भटकता है, स्वजन-परिजनों का परित्याग करता है, अनेक विघ्न-बाधाओं को सहन करता है, धर्म आदि का भी परित्याग कर देता है। वह सोचता है कि मुझे धन से सुख प्राप्त होगा। पर धन त्राण-प्रदाता नहीं।[3]

इसीलिए शास्त्र में कहा है–चाहे विश्व का सम्पूर्ण धन भी क्यों न प्राप्त हो जाय, किन्तु वह तुम्हारी तृष्णा की पूर्ति नहीं कर सकता और न वृद्धावस्था से तथा मृत्यु से ही रक्षा कर सकता है।[4]

---

१. सव्वदुक्खसंनिलयं अप्पसुहो बहु दुक्खो ···· महब्भओ। —*प्रश्नव्याकरण–आश्रवद्वार*
२. नत्थि एरिसो पासो पडिबन्धो अत्थि सव्व जीवाणं सव्वलोए। —*वही*
३. वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते, इमम्मि लोए अदुवा परत्था। —*उत्तराध्ययन ४, ५*
४. सव्वं जगं जइ तुहं, सव्वं वावि धणं भवे।
सव्वं पि ते अपज्जत्तं, नेव ताणाय तं तव ॥ —*वही १४, ३९*

भगवान महावीर ने कहा–अन्तर्मानस में से परिग्रह की प्रबल भावना को कम करने के लिए परिग्रह के दुष्परिणाम पर चिन्तन करो। दुष्परिणामों पर चिन्तन करने से साधक परिग्रह से मुक्त हो सकता है। भावनाओं से मन की वृत्ति-प्रवृत्ति में परिवर्तन होता है और साधक परिग्रह के विषाक्त प्रभाव से अपने आपको बचा लेता है।

अपरिग्रह महाव्रत की भावनाएँ

अपरिग्रह महाव्रत की पाँच भावनाएँ हैं, जो नौका के सदृश हैं। इस नौका के सहारे साधक परिग्रहरूपी विराट् सागर को सुगमता से पार कर सकता है। यह सत्य है कि प्रस्तुत सागर में उद्दाम लालसाएँ, तृष्णाएँ नौका को उलटने के लिए आती हैं। किन्तु भावना की सुदृढ़ता के कारण नौका डगमगाती नहीं। साधक की अन्तश्चेतना विक्षुब्ध नहीं होती। समत्वयोग की साधना से जिस साधक का जीवन रँग जाता है वह परिग्रह की ओर आकर्षित नहीं होता। उसका जीवन पूर्ण अनासक्त हो जाता है। जल में कमल की तरह संसार में रहकर भी वह निर्लिप्त रहता है।

साधक संसार का त्याग करके भी उससे सर्वथा अलग-थलग नहीं रह सकता। संसार से बाहर वह रहे भी कहाँ? भले ही वह भयानक जंगल में भी रहे किन्तु भिक्षा के लिए तो उसे नगर में आना ही होता है। फिर जंगल की भी प्राकृतिक सौन्दर्य सुषमा उसके सामने रहती है। पक्षियों की चहचहाहट उसके कानों में गिरती रहती है। कोमल व कठोर स्पर्श का भी उसे अनुभव होता है। ऐसी स्थिति में ऐसा नहीं हो सकता कि वह सुने ही नहीं, देखे ही नहीं, स्पर्श ही न करे।

जैन धर्म यह नहीं मानता कि बाह्य इन्द्रियों को नष्ट कर दिया जाय। यदि बाह्य इन्द्रियाँ नष्ट हो गयीं तो तुम पाप से मुक्त हो गये–यह मान्यता सर्वथा मिथ्या है। यह इन्द्रियों का अभाव ही पाप से मुक्ति का कारण माना जाय तो फिर अंधे, बहरे, लूले और लँगड़े अधिक संयमी और पाप-मुक्त बन जाएँगे। संयम का अभिप्राय इन्द्रियों के विकारों पर नियन्त्रण करने से है। यदि अन्दर विकार नृत्य कर रहे हों और सोचा जाय कि हम संयमी हैं तो यह मिथ्या कल्पना है। इसलिए परिग्रह से मुक्त होने के लिए इन्द्रियों का जो प्रवाह विषय विकार की ओर है, उसे मोड़कर संवर की ओर लगाना होता है।

अपरिग्रह की जो पाँच भावनाएँ हैं उनमें सर्वप्रथम भावना है।

श्रोत्रेन्द्रिय संवर भावना

श्रोत्रेन्द्रिय का अर्थ है–कान। कान शब्द को ग्रहण करता है, चाहे मधुर स्वर-लहरियाँ हों या कर्णकटु ध्वनियाँ हों, कान का कार्य है–उन्हें सुनना। मधुर

शब्दों को सुनने के लिए कान लालायित रहते हैं, वे निरन्तर उन शब्दों को श्रवण करना चाहते हैं। इसके विपरीत कठोर शब्द वे सुनना पसन्द नहीं करते। मानव को ही नहीं, पशुओं को भी कठोर शब्द प्रिय नहीं है। संगीत की सुमधुर स्वर लहरियाँ सुनकर हरिण चौकड़ियाँ भरना भूल जाता है, मदोन्मत्त गजराज भी झूमने लगता है, बीन की मधुर धुन पर कालरज्जु महाभयंकर विषधर भी आनन्दित होकर झूमने लगता है, गाय-भैंस भी अधिक दूध देने लगती हैं, वनस्पतियाँ भी विकसित हो जाती हैं किन्तु कठोर शब्दों से सबकी प्रफुल्लता नष्ट हो जाती है। विषाद, कुण्ठा और खिन्नता परिव्याप्त हो जाती है।

लेकिन साधक सामान्य प्राणियों से ऊपर उठा हुआ है। इसलिए वह मधुर शब्दों को सुनकर न प्रसन्न होता है और न कटु शब्दों को सुनकर खिन्न ही होता है। वह तो सदा समभाव में रहता है। उस समभाव का अभ्यास प्रस्तुत भावना में किया जाता है।

साधक को कभी प्रशंसा के गीत सुनने को मिलते हैं और कभी जय-जयकार के नारे सुनाई देते हैं। उन्हें सुनकर वह फूलता नहीं। यदि कभी कोई गालियाँ देता है उस समय उसके मन में विषाद नहीं होता, चेहरे पर क्रोध की रेखाएँ भी नहीं चमकतीं। वह सोचता है–ये शब्द जो मैं सुन रहा हूँ, वे जड़ हैं, पुद्गल हैं। चाहे वे मधुर हों, चाहे कठोर हों, मेरी आत्मा का कोई अहित नहीं कर सकता। यदि मेरे मन में राग-द्वेष की भावना आएगी तो मुझे कर्मबन्धन होगा। कर्मबन्धन का मूल कारण शब्द नहीं है किन्तु मन में उठने वाली राग-द्वेष की भावनाएँ हैं। शब्द तो केवल बाह्य निमित्त कारण हैं। मूल उपादान तो राग-द्वेष ही है। इसलिए मुझे प्रिय और अप्रिय शब्दों की ओर ध्यान नहीं देना चाहिए। वह इस प्रकार का सतत अभ्यास करता है जिससे वह न रागासक्त होता है, न द्वेषासक्त।

इस तरह निरन्तर अभ्यास करने से श्रोत्रेन्द्रिय संवररूप भावना विकसित होती है। यह भावना साधक को समभाव में स्थित करती है।

द्वितीय भावना चक्षुरिन्द्रिय संवररूप भावना है। चक्षु इन्द्रिय का कार्य है–बाह्य वस्तुओं को देखना। पक्षी के लिए पाँख और मानव के लिए आँख आवश्यक है। आँख के अभाव में सारा संसार अन्धकारमय है, आँख का उपयोग विषयवर्द्धक पदार्थ को देखने के लिए नहीं करना चाहिए।

मानव सुन्दर मनमोहक पदार्थों को देखकर मन में प्रसन्न होता है और कुरूप पदार्थों को देखकर वह घृणा से नाक-भौं सिकोड़ने लगता है।

संसार का कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जिसमें रूप का सर्वथा अभाव हो। प्रकृति नटी में सर्वत्र रूप बिखरा पड़ा है। रंग-बिरंगे सुमन दिल को लुभाते हैं। पशु-पक्षियों

के सुहावने रूप को देखकर कौन मुग्ध नहीं होता? विविध रंगों से चित्रित मोर के पंख मन को मोहते हैं। जलाशय, उद्यान, वस्त्र, आभूषण, भव्य भवन, किसके मन को नहीं उलझाते हैं? दूसरी ओर काले-कलूटे, बेडौल, घिनौने दृश्य मन में नफरत की भावना पैदा करते हैं। उन पदार्थों को देखकर मानव नाक-मुँह सिकोड़ने लगता है। किन्तु साधक मनमोहक दृश्य पर आसक्त नहीं होता और न अमनोज्ञ दृश्यों को देखकर घृणा ही करता है। वह रूप की क्षणभंगुरता पर चिन्तन करता है।

एक सुन्दरी का चित्ताकर्षक रूप है जिसके रूप को देखकर कामुक पतंगों की तरह उसके चारों ओर मँडराते हैं, पर चेचक की बीमारी से जब वही सुन्दरी एकदम कुरूप बन जाती है तो उसकी ओर आँख उठाकर देखने की भी इच्छा नहीं होती। एक युवक जो महान् शक्ति-सम्पन्न प्रतीत होता है, किन्तु कुछ दिनों का ज्वर उसकी सारी शक्ति को निगल लेता है, उसका शरीर जो गठीला और बलिष्ठ दिखाई देता था, वह निर्बल और बेडौल हो जाता है।

जैन साहित्य के इतिहास में सनत्कुमार चक्रवर्ती का वर्णन है जिनके दिव्यरूप को निहारने के लिए स्वर्ग के देव भी तरसते थे और उस अद्भुत रूप को देखकर मुग्ध हो जाते थे। पर वही रूप जिस पर चक्रवर्ती को नाज था किन्तु अपने थूक में कुलबुलाते हुए कीड़ों को देखकर स्वयं चक्रवर्ती को घृणा हो गयी थी।

इन्हीं सब बातों और घटनाओं पर विचार करके साधक सुन्दर रूप देखकर आकर्षित नहीं होता। वह चाहे सुन्दर हो चाहे असुन्दर हो साधक दोनों में सम रहता है और सतत चक्षुरिन्द्रिय संयम के सम्बन्ध में चिन्तन करता रहता है।

तृतीय भावना **घ्राणेन्द्रिय संवर भावना** है। घ्राण का अर्थ है सुगंध-दुर्गन्ध को ग्रहण करने की शक्ति-विशेष।

संसार में कितने ही पदार्थ ऐसे हैं जिनकी गन्ध अत्यन्त मधुर होती है। केतकी-केवडा, जाही-जूही, गुलाब, रातरानी आदि के फूल अपनी मनमोहक सुगन्ध से दिल को लुभा लेते हैं। तो कितने ही पदार्थ ऐसे हैं जिनकी गन्ध सुहाती नहीं है, अपितु गन्ध आते ही सिर फटने लगता है। कई पदार्थ जो सुगन्धमय हैं वे पदार्थ दुर्गन्धमय बन जाते हैं। जैसे सुगन्धित और मधुर मिष्ठान्न खाये जायें, किन्तु वही सुगन्धित मिष्टान्न और सुगन्धित पदार्थ दुर्गन्धित पदार्थ के रूप में बदल जाते हैं। किन्तु साधक सुगन्धमय पदार्थ में आसक्त नहीं होता और दुर्गन्धमय पदार्थ से घृणा नहीं करता। वह इन्हें पुद्गलों का परिणमन मात्र मानता है। इस प्रकार का अभ्यास प्रस्तुत भावना में किया जाता है।

चतुर्थ भावना रसनेन्द्रिय संवर भावना है। रसनेन्द्रिय के दो कार्य हैं–रस लेना और बोलना। यहाँ पर रस लेने के सम्बन्ध में चिन्तन है।

संसार में कितने ही पदार्थ खट्टे होते हैं, कितने ही मधुर होते हैं, कितने ही तीखे होते हैं, कितने ही कटुक होते हैं, कितने ही कसैले होते हैं और कितने ही नमकीन होते हैं। इन रसों का अनुभव जिह्वा के द्वारा होता है।

साधक मनोनुकूल रस में आसक्त नहीं होता और अमनोज्ञ रस से खिन्न नहीं होता। उसे जो भी पदार्थ मिलता है, उस पदार्थ का रस न लेकर केवल शरीर को धर्म पालन करने में सक्षम बनाये रखने के लिए उसका उपयोग करता है।[1] जैसे गाड़ी को चलाने के लिए गाड़ी के पहियों में तेल देना आवश्यक है, बिना तेल दिये गाड़ी सही रूप से चल नहीं सकती।[2] शरीर में कहीं भी जख्म हो गया तो उस जख्म को ठीक करने के लिए मरहम की आवश्यकता है। साधक भी इसी हेतु शरीर की गाड़ी चलाने के लिए आहार करता है। इस प्रकार साधक भोजन में रसयुक्त पदार्थों का उपयोग करता हुआ भी भोजन और रसों के प्रति अनासक्त रहता है। वह स्वाद के लिए नहीं अपितु जीवन-निर्वाह के लिए आहार करता है।

सामान्य मानवों का लक्ष्य है–भोजन अत्यन्त स्वादिष्ट होना चाहिये, फिर वह कैसा ही क्यों न हो। उनका ध्यान रसनेन्द्रिय पर केन्द्रित है। अच्छी-अच्छी स्वादिष्ट चटनी, अचार, मुरब्बे, मिष्टान्न, नमकीन आदि पदार्थों का खाना और मस्त रहना यह उनके जीवन का आदर्श है। स्वादु भोजन के चक्कर में पड़कर वे धार्मिक मर्यादा को विस्मृत हो जाते हैं, यहाँ तक कि अपने स्वास्थ्य की भी चिन्ता नहीं करते। उनका आदर्श है–भोजन के लिए जीवन है, जबकि साधक का आदर्श है जीवन के लिए भोजन है। रूखा-सूखा कैसा भी भोजन क्यों न हो, वह उस आहार को ग्रहण करता है। उसे रसनेन्द्रिय पर पूर्ण नियन्त्रण होता है। वह केवल औषध के रूप में शरीर-रक्षा के लिए भोजन करता है, स्वाद के लिए नहीं।

साधक का भोजन हितकारी, मितकारी और पथ्यकारी होता है। वह अपवित्र मादक पदार्थों का सेवन नहीं करता, तामसिक और राजसी भोजन से भी वह बचता है। वह केवल सात्त्विक भोजन ग्रहण करता है। भोजन करते समय अस्वाद भाव से आहार ग्रहण करता है। इस प्रकार आहार ग्रहण करते हुए वह कर्मों की निर्जरा करता है। क्योंकि उसने रसनेन्द्रिय पर विजय प्राप्त की है।

---

१. न रसट्ठाए भुंजिज्जा जायमायाए संजए।

२. अक्खोवंजणाणुलेवणभूयं संजय जायमाया निमित्तं भुंजेज्जा। —*प्रश्नव्याकरण २, ५*

तप का मुख्य उद्देश्य ही रस-विजय है। जिस साधक ने रसनेन्द्रिय पर विजय प्राप्त कर ली है उसने सभी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली है–"सर्वजितं जिते रसे।"

इस भावना में रस-विजय पर चिन्तन किया जाता है और उसका सतत अभ्यास भी किया जाता है।

पंचम भावना स्पर्शेन्द्रिय संवर भावना है। स्पर्शेन्द्रिय का कार्य है शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, कर्कश-कोमल, गुरु-लघु का अनुभव करना।

किसी समय शीत का स्पर्श अनुकूल प्रतीत होता है तो कभी उष्ण का स्पर्श। कभी स्निग्ध अच्छा लगता है तो कभी रूक्ष। कभी कर्कश तो कभी कोमल का स्पर्श प्रिय लगता है। स्पर्श की अनुकूलता पर मन प्रमुदित हो जाता है और प्रतिकूलता पर खिन्न हो जाता है।

स्पर्श के चक्कर में पड़कर वह स्वाध्याय, ध्यान जो साधना के लिए आवश्यक है उनसे वंचित हो जाता है। सनसनाती हुई सर्दी में वह ठिठुरते हुए सोचता है–मैं इस समय ध्यान नहीं कर सकता, और भीष्म ग्रीष्म ऋतु में भयंकर गर्मी के कारण पसीने से तरबतर होने के कारण भी ध्यान से वंचित रहता है। इस प्रकार स्पर्शेन्द्रिय के अधीन बना हुआ व्यक्ति साधना नहीं कर सकता। शरीरस्पर्श में मूर्च्छित व्यक्ति की अन्तश्चेतना कुण्ठित हो जाती है।

स्पर्शेन्द्रिय संवर भावना में साधक अनूकूल और प्रतिकूल स्पर्श–दोनों ही स्थिति में समभाव में रहने का अभ्यास करता है। चाहे किसी भी प्रकार का स्पर्श क्यों न हो वह सदा तटस्थ और आत्मस्थ रहता है।

अपरिग्रह महाव्रत को ये पाँच भावनाएँ परिपुष्ट करती हैं। साधक के अन्तर्मानस में जो परिग्रह के प्रति आकर्षण है, इन भावनाओं का सतत चिन्तन करने से उसके प्रति ममत्व-वृत्ति कम हो जाती है। परिणामस्वरूप साधक अल्प या बहुत, छोटा या बड़ा, सजीव या निर्जीव पदार्थों पर ममत्व नहीं रखता है।

अपरिग्रह महाव्रत

अपरिग्रही मुनि जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण आदि धर्मोपकरण रखते हैं वे सभी एकमात्र संयम की रक्षा के लिये रखते हैं। उनके मन में किसी भी प्रकार की आसक्ति नहीं होती। उन वस्तुओं को लेने और रखने में भी पूर्ण सावधानी रखते हैं, आसक्ति तो बिलकुल भी नहीं रखते। पदार्थ के प्रति ही नहीं, शरीर के प्रति भी उनकी ममता नहीं होती।

जिसकी मनोभावनाओं में आसक्ति है, उसके लिये सम्पूर्ण संसार ही परिग्रह है। जिसके अन्तर्मानस में मूर्च्छा और आसक्ति का अभाव है, उसके अधीन सम्पूर्ण विश्व भी क्यों न हो; वह परिग्रह से मुक्त है। इसलिए जैन धर्म का आदेश है अपनी इच्छाओं की गाड़ी पर ब्रेक लगा दो जिससे वह अमर्यादित होकर न चले।

आज समाज की जो दयनीय स्थिति है उसका मूल है आवश्यकता से अधिक संग्रह; जिससे मानव-समाज में जीवनोपयोगी सामग्री का व्यवस्थित रूप से वितरण नहीं हो पा रहा है। किसी के पास अनेकों भव्य भवन खाली पड़े हैं जहाँ रहने के लिए व्यक्ति नहीं हैं तो किसी के पास रहने के लिए झोंपड़ी भी नहीं है। किसी के पास अन्न के भण्डार भरे पड़े हैं तो किसी को खाने के लिए एक दाना भी नहीं है। किसी के पास रंग-बिरंगे बढ़िया वस्त्र सड़ रहे हैं तो किसी को तन ढकने के लिए भी वस्त्र नहीं है। आज सारी सुख-सुविधाएँ चन्द व्यक्तियों के पास एकत्रित हो गई हैं। शेष समाज अभाव से पीड़ित है जिसके कारण न उनकी भौतिक उन्नति हो रही है, न आध्यात्मिक उन्नति। यदि सभी के पास आवश्यकता के अनुरूप सामग्री रहे तो कोई भी व्यक्ति दीन और दरिद्र नहीं रह सकता। भगवान महावीर का प्रस्तुत अपरिग्रहवाद जन-जन के आँसू पोंछ सकता है। भगवान महावीर ने गृहस्थों के लिए मर्यादित परिग्रह रखने का विधान किया और श्रमणों के लिए पूर्ण अपरिग्रह महाव्रत का विधान किया।

श्रमणों के वस्त्र रखने के सम्बन्ध में दो विचारधाराएँ हैं। एक दिगम्बर परम्परा की विचारधारा है जो श्रमण को वस्त्र नहीं रखने चाहिए इस विचार का समर्थन करती है तो दूसरी श्वेताम्बर विचारधारा श्रमणों के लिए वस्त्रों का विधान करती है।

आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में श्रमण को एक वस्त्र सहित, दो वस्त्र सहित प्रभृति कहा है।[1] उत्तराध्ययन आदि में श्रमण की सचेल और अचेल इन दोनों अवस्थाओं का उल्लेख है।[2] आचारांग की दृष्टि से जिनकल्पी श्रमण शीत ऋतु व्यतीत हो जाने के पश्चात् अचेल रहते थे।[3]

वस्तुतः भगवान महावीर के समय में वस्त्र रखना या नहीं रखना, यह विवाद का विषय नहीं था। परिस्थितिवश श्रमण वस्त्र धारण भी करता था और नहीं भी करता था। अचेल श्रमण को यह नहीं सोचना चाहिए कि मैं सचेल श्रमणों से श्रेष्ठ

१. आचारांग २, ५-१-३६४
२. उत्तराध्ययन २, १३
३. आचारांग १, ७-४-२०९

हूँ और सचेल श्रमणों को भी मन में हीन भाव नहीं लाने चाहिए और न परस्पर एक-दूसरे की अवज्ञा ही करनी चाहिए।[1]

आचार्य उमास्वाति को श्वेताम्बर और दिगम्बर–ये दोनों परम्पराएँ अपने-अपने मान्य आचार्य मानती रही हैं। उन्होंने प्रशमरति-प्रकरण में धर्म-देह रक्षा के निमित्त अनुज्ञात, पिण्ड, शय्या आदि के साथ वस्त्रैषणा का उल्लेख किया है[2] और कल्प्याकल्प्य की समीक्षा में भी वस्त्र का उल्लेख है।[3] तत्त्वार्थभाष्य में एषणा समिति की व्याख्या करते हुए वस्त्र का उल्लेख किया है।[4]

आगम युग में अचेलता और सचेलता ये दोनों ही मान्य रहे हैं। स्थानांग में अचेल अवस्था को भी इन्द्रियनिग्रह आदि के कारण प्रशस्त कहा है।[5] श्रमण के जो धर्मोपकरण हैं वे संयम साधना के लिए अत्यन्त उपकारी हैं। वह उन वस्त्र, पात्र आदि को रखता है किन्तु उन पर उसकी मूर्च्छा नहीं होती। अतः वे परिग्रह में सम्मिलित नहीं हैं।[6] वे वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण आदि को संयम की रक्षा के लिए और लज्जा निवारणार्थ रखते हैं।[7] स्थानांग में वस्त्र रखने के तीन प्रयोजन बताये हैं–लज्जा, जुगुप्सा-निवारण और शीत, उष्ण व मच्छर आदि के परीषह से बचना।[8] प्रश्नव्याकरण में उपधि रखने के कारणों पर चिन्तन करते हुए लिखा है–श्रमण, संयम के लिए, वात, आतप, दंश, मच्छर आदि से बचने के लिए उपधि रखता है।[9]

श्रमण परिग्रह को मन, वचन और कर्म से न स्वयं संग्रह करता है, न दूसरों से करवाता है और न करने वाले का अनुमोदन ही करता है। वह पूर्ण रूप से असंग, अनासक्त और अकिंचन होता है। जैन श्रमण का एक नाम निर्ग्रन्थ है।

---

१. आचारांगवृत्ति १, ६-३, सू. १८२

२. पिण्डः शय्या वस्त्रैषणादि पात्रैषणादि यच्चान्यत्।
कल्प्याकल्प्यं सद्धर्मदेहरक्षानिमित्तोक्तम्॥ –*प्रशमरतिप्रकरण १३८*

३. किंचिच्छुद्धं कल्प्यमकल्प्यं स्यादकल्प्यमपि कल्प्यम्।
पिण्डः शय्या वस्त्र पात्रं वा भैषजाद्य वा॥ –*प्रशमरतिप्रकरण १४५*

४. अन्नपानरजोहरण पात्रचीवरादीनां धर्मसाधनानामाश्रयस्य च उद्गमोत्पाद नैषणादोषवर्जनम्–एषणा समिति। –*तत्त्वार्थभाष्य ९, ५*

५. स्थानांग ५, ३-४५५

६. दशवैकालिक ६, २०

७. वही ६, १९

८. स्थानांग ३, १-१३८

९. प्रश्नव्याकरण–संवरद्वार १

आचार्य हरिभद्र ने निर्ग्रन्थ का अर्थ किया है–गाँठ से रहित। "निर्गतो ग्रन्थान् निर्ग्रन्थः।"–जिसके परिग्रह की गाँठ नहीं है वह निर्ग्रन्थ है।

अपरिग्रह महाव्रत और भंग

अपरिग्रह महाव्रत के चौपन भंग होते हैं–अल्प-बहु, अणु-स्थूल, सचित्त-अचित्त, यह छह प्रकार का परिग्रह है। इन छह प्रकार के परिग्रहों को श्रमण न मन से स्वयं ग्रहण करे, न करवाये और न करने वाले का अनुमोदन करे। इस प्रकार मनोयोग सम्बन्धी १८ भंग होते हैं तथा १८ वचन के और १८ शरीर के–कुल चौपन भंग होते हैं।

जैन श्रमण वस्त्र, पात्र आदि बहुत ही सीमित और संयमोपयोगी रखता है। यहाँ तक कि एक बार लाया हुआ भोजन भी तीन प्रहर से अधिक नहीं रख सकता और चार मील से अधिक दूर पानी की एक बूँद भी नहीं ले जा सकता। न वह अपने लिए बनाया हुआ भोजन ही ग्रहण करता है। वह सिर के बालों को भी हाथ से उखाड़कर लोच करता है, पैदल परिभ्रमण करता है। इस प्रकार उसका जीवन पूर्ण अपरिग्रही जीवन होता है।

●●

१६. विशिष्ट नियम : रात्रि-भोजन-त्याग

जीवन-यात्रा के लिए भोजन बहुत ही आवश्यक है। यदि मानव भोजन न करे तो उसका जीवन टिक नहीं सकता। अहिंसा की साधना के लिए, सत्य आदि व्रतों के पालन हेतु मानव का जीवित रहना आवश्यक है और जीवित रहने के लिए भोजन आवश्यक है। पर भोजन कैसे, किसलिए और कब करना चाहिए ? यह एक चिन्तनीय प्रश्न है ?

भोजन के लिए जीवन

सामान्य मानवों का मन्तव्य है कि भोजन बहुत ही स्वादिष्ट होना चाहिए। वे अच्छे से अच्छे मिष्टान्न, मिर्च-मसाले, अचार-मुरब्बे युक्त पदार्थों को खाने में आनन्द की अनुभूति करते हैं। उनका जीवन भोजन के लिए है।

जीवन के लिए भोजन

दूसरे प्रकार के व्यक्तियों का यह चिन्तन है कि भोजन में स्वाद नहीं, स्वास्थ्य प्रमुख होना चाहिए। जो भोजन शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाये–वह भले ही कैसा भी क्यों न हो उसका उपयोग करना चाहिए।

तीसरे प्रकार के आत्मार्थी साधकों का मन्तव्य है भोजन के लिए जीवन नहीं, किन्तु जीवन के लिए भोजन है। वह भोजन हितकारी, मितकारी और पथ्यकारी हो। स्वास्थ्य और धर्म दोनों ही दृष्टि से लाभकारी हो। वह अभक्ष्य पदार्थ का उपयोग नहीं करता, वह जानता है सात्त्विक भोजन से ही मन सात्त्विक रह सकता है। इसलिए वह तामसिक और विकारवर्द्धक भोजन नहीं करता।

भगवान महावीर की विशेष शिक्षा

जैन श्रमण की भोजनचर्या के सम्बन्ध में आगम साहित्य में विस्तार से निरूपण है। वह धार्मिक साधना की दृष्टि से भोजन करता है। जो भी रूखा-सूखा प्राप्त हो जाता है उसे वह ग्रहण करता है। उसका भोजन का भी समय निर्धारित है। वह रात्रि में किसी प्रकार का भोजन नहीं करता। भगवान महावीर ने रात्रि-भोजन के निषेध में अपना तीव्र स्वर बुलन्द किया था। आर्य सुधर्मा ने भगवान महावीर की स्तुति करते हुए उनकी दो प्रमुख शिक्षाओं पर प्रकाश डाला है–"से वारिया इत्थि

सराइभत्तं।" उन्होंने इस पर बल दिया कि स्त्री और रात्रि-भोजन दोनों का सेवन श्रमण को नहीं करना चाहिए। श्रमण के लिए रात्रि-भोजन सर्वथा त्याज्य है।

रात्रि-भोजन-त्याग : छठा व्रत

दशवैकालिकसूत्र[1] में रात्रि-भोजन-विरमण को छठा व्रत कहा है तथा प्राणातिपातविरमण आदि पाँचों विरमणों को महाव्रत कहा है। दशवैकालिक के छठे अध्ययन में श्रमण-जीवन के अठारह गुणों का उत्कीर्तन करते हुए रात्रि-भोजन त्याग को महाव्रत के साथ सम्मिलित कर 'वयछक्कं'[2] छह व्रतों का उल्लेख किया है। उसमें पाँचों महाव्रतों के समान ही छठे रात्रि-भोजन-त्याग को भी महत्त्व दिया है। उत्तराध्ययन[3] में श्रमण-जीवन के कठोर आचार का निरूपण करते हुए स्पष्ट बताया है कि प्राणातिपातविरति आदि पाँच सर्वविरतियों के साथ ही रात्रि-भोजन त्याग अर्थात् रात्रि में सभी प्रकार के आहार का वर्जन करना चाहिए और यह व्रत महाव्रतों की तरह ही दृढ़ता से पालन किया जाता है।

महाव्रतों के अपवाद प्राप्त होते हैं पर रात्रि-भोजन-विरमण व्रत का कोई अपवाद नहीं है। रात्रि-भोजन-विरमण व्रत महाव्रतों की सुरक्षा के लिए है। एतदर्थ ही महाव्रतों को मूलगुण और रात्रि-भोजन-विरमण को उत्तरगुण में गिना है।[4] मूलगुण और उत्तरगुण के भेद को स्पष्ट करने के लिए ही प्राणातिपातविरमण आदि को महाव्रत और रात्रि-भोजन-विरमण को व्रत कहा है। यहाँ पर यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि श्रमण के लिए जैसे महाव्रत का पालन करना आवश्यक है उसी प्रकार रात्रि-भोजन-विरमण व्रत का पालन करना भी अनिवार्य है। रात्रि-भोजन-विरमण मूलगुणों की रक्षा के लिए है। अगस्त्यसिंह स्थविर का मत है कि रात्रि-भोजन-विरमण का इसीलिए मूलगुणों के साथ प्रतिपादन किया है।

रात्रि-भोजन : अनुचित

रात्रि-भोजन-विरमण के सम्बन्ध में कहा है कि त्रस और स्थावर सूक्ष्म प्राणियों को रात्रि में देखा नहीं जा सकता। अतः निर्ग्रन्थ विधिपूर्वक किस प्रकार चल सकता है ?

---

१. दशवैकालिक, अध्ययन ४, सूत्र १६

२. वयछक्कं कायछक्कं अकप्पो गिहिभायणं।
पलियंकनिसेज्जा य, सिणाणं सोहवज्जणं॥ —*दशवैकालिकनिर्युक्ति* २६८

३. उत्तराध्ययन, अध्ययन १९

४. किं रातीभोयणं मूलगुणः उत्तरगुणः ? उत्तरगुण एवायं। तहासि सव्वमूलगुणरक्खा हेतुत्ति मूलगुणसम्भूतं पढिज्जति। —*अगस्त्यसिंहचूर्णि*

उदक से आर्द्र और बीजयुक्त भोजन तथा जीवाकुल मार्ग—ये केवल दिन में ही टाले जा सकते हैं, रात्रि में टालना उन्हें शक्य नहीं है। अतः भगवान महावीर ने इस हिंसात्मक दोष को देखकर ही कहा—जो निर्ग्रन्थ होते हैं वे रात्रि-भोजन नहीं करते। चारों प्रकार के आहार में से किसी भी प्रकार का आहार नहीं करते।[1] इस प्रकार रात्रि-भोजन-विरमण व्रत में अहिंसा की विराट् दृष्टि रही हुई है। रात्रि-भोजन में ईर्या समिति के साथ ही रात्रि में भोजन का संग्रह करके रखना अपरिग्रह की मर्यादा में भी बाधक है।

इन सभी कारणों से रात्रि-भोजन का श्रमण के लिए निषेध किया गया है। रात्रि-भोजन करना अनाचीर्ण माना गया है।[2] रात्रि-भक्त के चार विकल्प होते हैं। उन चारों का निषेध किया गया है। जो सूर्यास्त होते-होते भोजन करता है उसे 'पापी श्रमण' कहा है।[3] रात्रि-भोजन-वर्जन श्रामण्य जीवन का अविभाज्य अंग है। रात में चारों आहारों में से किसी एक को भी ग्रहण करना सर्वथा अनुचित माना गया है।

मूलगुण : उत्तरगुण

प्रश्न यह है—उत्तराध्ययनसूत्र में पार्श्वापत्य केशी श्रमण और गणधर गौतम का संवाद है। उस संवाद में भगवान पार्श्वनाथ के धर्म को चार याम वाला कहा है और भगवान महावीर के धर्म को पाँच शिक्षा वाला कहा है।[4] आचारांगसूत्र[5] और प्रश्नव्याकरण[6] के संवरद्वार में केवल पाँच महाव्रत और उनकी भावनाओं का वर्णन किया गया है। वहाँ पर पाँच महाव्रतों के साथ रात्रि-भोजन-विरमण का उल्लेख क्यों नहीं है? आगम साहित्य में जहाँ-तहाँ श्रमण-जीवन ग्रहण करने के प्रसंग आये हैं, वहाँ पर पाँच महाव्रतों के ग्रहण का उल्लेख है।[7] इससे ज्ञात होता है कि रात्रि-भोजन-विरमण व्रत याम, शिक्षा और महाव्रत के रूप में बाद में आया होगा। यदि पहले होता तो उल्लेख क्यों नहीं आया ?

---

१. दशवैकालिक, अ. ६, गाथा २३-२५
२. वही, अ. ३, गाथा ३
३. अत्थन्तम्मि य सूरम्मि आहारेइ अभिक्खणं।
चोइओ परिचोएइ पावसमणि त्ति वुच्चई॥ —उत्तराध्ययन १७, १६
४. चाउज्जामो य जो धम्मो जो इमो पंचसिक्खिओ।
देसिओ वद्धमाणेण पासेण य महामुणी॥ —वही २३-१२
५. आचारांगसूत्र २-१५
६. प्रश्नव्याकरण संवरद्वार
७. (क) अन्तकृद्दशांगसूत्र (ख) ज्ञातासूत्र

उत्तर में निवेदन है कि आचार्य जिनदासगणी महत्तर[1] ने लिखा है–प्रथम और चरम तीर्थंकर के श्रमण ऋजु-जड़ और वक्र-जड़ होते हैं। अतः वे महाव्रतों की तरह रात्रि-भोजन-विरमण का पालन करें, इस दृष्टि से रात्रि-भोजन-विरमण को पृथक् व्रत के रूप में स्थान दिया है। मध्यवर्ती तीर्थंकरों के श्रमणों के लिए रात्रि-भोजन उत्तरगुण है, क्योंकि वे ऋजु-प्राज्ञ होने के कारण रात्रि-भोजन को सरलता से त्याग देते थे। आचार्य हरिभद्र[2] ने इसे ऋजु-जड़ और वक्रजड़ श्रमणों की अपेक्षा से मूलगुण माना है।

आचार्य सोमतिलक का भी यही अभिमत है।[3] जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य में लिखा है–रात्रि को भोजन न करना अहिंसा महाव्रत का संरक्षक होने से समिति की भाँति उत्तरगुण है, पर श्रमण के लिए वह अहिंसा महाव्रत की तरह पालन करने योग्य है। इस दृष्टि से वह मूलगुण की कोटि में रखने योग्य है।[4] श्रावक के लिए वह मूलगुण नहीं है।[5] आचार्य जिनभद्र ने मूलगुण की संख्या पाँच और छह दोनों मानी है।[6]

श्रमण के लिए सर्वथा त्याज्य

आचार्य वट्टकेर[7] ने भी मूलाचार में रात्रि-भोजन-विरमण को पंच महाव्रतों की रक्षा के लिए आवश्यक माना है। इसी प्रकार भगवती आराधना[8] में भी श्रमणों के लिए रात्रि-भोजन-विरमण व्रत का पालन आवश्यक माना है।

---

१. पुरिमजिणकाले पुरिसा उज्जुजडा पच्छिमजिणकाले पुरिसा वकजडा, अतो निमित्तं महव्वयाण उवरिं ठवियं, जेण तं महव्वयमिव मन्नंता ण पिल्लेहिंति, मज्झिम गाणं पुण एयं उत्तरगुणेसु कहियं, किं कारणं ? जेण ते उज्जुपण्णत्तणेण सहं चेव परिहरंति।

–दशवैकालिक जिनदासचूर्णि, पृ. १५३

२. एतच्च रात्रिभोजनं प्रथम चरम तीर्थंकरतीर्थयोः ऋजुजडवक्रजडपुरुषापेक्षया मूलगुणत्वख्यापनार्थं महाव्रतोपरि पठित, मध्यम तीर्थंकर तीर्थेषु पुनः ऋजुप्रज्ञपुरुषापेक्षयोत्तरगुणवर्ग इति। *–दशवैकालिक हारिभद्रीया टीका, पं. १५०*

३. मूलगुणेसु उ दुण्हं सेसाणुत्तरगुणेसु निसिभुत्तं। *–सप्ततिशतस्थान, गा. २८७*

४. उत्तरगुणत्वेसत्यपि तत् साधोर्मूलगुणो भण्यते। मूलगुणपालनात् प्राणातिपातादिविरमणवत् अंतणंगत्वाच्च। *–विशेषावश्यकभाष्य, गा.१२४७ वृत्ति*

५. वही, गा. १२४५-१२५०

६. मूलगुणा छव्वयाइं तु। *–विशेषावश्यकभाष्य, गा. १८२९*

७. मूलाचार ११२-११३

८. भगवती आराधना ६-११८६ गाथा, ६-१२०७ गाथा

दिगम्बर परम्परा के आचार्य देवसेन[१], चामुण्डराय[२], वीरनन्दी[३] और पं. आशाधर[४] प्रभृति सभी ने रात्रि-भोजन-त्याग को महाव्रतों की रक्षा के लिए आवश्यक मानते हुए उसे छठा अणुव्रत माना है। कितने ही आचार्यों ने रात्रि-भोजन-विरमण को अणुव्रत न मानकर उसे अहिंसा व्रत की भावना के अन्तर्गत गिना है। तत्त्वार्थसूत्र के प्रशस्त टीकाकार पूज्यपाद[५], अकलंक[६], विद्यानन्द[७], भास्करनन्दी[८] और श्रुतसागर[९] सभी का यही मत है। भले ही तत्त्वार्थसूत्र के सभी व्याख्याकार रात्रि-भोजन-विरमण को छठा व्रत या अणुव्रत न मानें तथापि सभी ने रात्रि-भोजन के दोषों का निरूपण किया है और इस बात पर बल दिया है रात्रि-भोजन श्रमण के लिए सर्वथा त्याज्य है।

रात्रि-भोजन : अतिचार

आवश्यकसूत्र[१०] में महाव्रतों के अतिचारों की आलोचना है। महाव्रतों के साथ ही छठे रात्रि-भोजन-विरमण व्रत की भी आलोचना है। वह इस बात को सिद्ध करती है कि रात्रि-भोजन श्रमण के लिए अतिचार है। आगमों में रात्रि-भोजन सम्बन्धी अनेक दोषों का उल्लेख कर उन दोषों की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त का विधान है।

रात्रि-भोजन से विविध प्रकार के रोगों की उत्पत्ति होती है। रात्रि में अन्धकार होता है। अन्धकार में यदि भोजन के साथ चींटी आ जाती है तो बुद्धि नष्ट हो जाती है। यदि मक्खी भोजन में आ जाती है तो तत्काल वमन हो जाता है। यदि भोजन में जूँ चली जाती है तो जलोदर जैसा भयंकर रोग पैदा हो जाता है। यदि छिपकली चली जाय तो कुष्ठ जैसी महाव्याधि उत्पन्न हो जाती है। केश मिश्रित आहार से स्वर भंग हो जाता है। काँटा, कील, लकड़ी का टुकड़ा भोजन के साथ

---

१. दर्शनसार–जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई प्रकाशन
२. चारित्रसार, पृ. ७–माणिकचंद दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई प्रकाशन
३. आचारसार ५-७०
४. अनगार धर्मामृत
५. सर्वार्थसिद्धि ७, १ सं. टीका, पृ. ३४३-३४४
६. तत्त्वार्थराजवार्तिक ७-१ सं. टीका, भाग २, पृष्ठ ५३४
७. तत्त्वार्थवार्तिक ७-१ सं. टीका, पृ. ५-४५८
८. सुखबोधिका टीका ७-१
९. तत्त्वार्थवृत्ति ७-१
१०. आवश्यकसूत्र

गले में अटक जाने से मृत्यु की भी संभावना है।[1] इस प्रकार रात्रि-भोजन में अनेक दुष्परिणाम होने की संभावनाएँ रही हुए हैं।

शताधिक व्यक्ति रात्रि-भोजन के दुष्परिणामों व दुर्घटनाओं के शिकार हुए हैं। जैन धर्म में रात्रि-भोजन के निषेध पर अत्यधिक बल दिया गया जिससे प्राचीनकाल में रात्रि-भोजन-त्याग जैनत्व की एक पहचान-सी हो गयी कि जैन वह है जो रात्रि में भोजन नहीं करता।

ओघनिर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु ने बताया जो दोष रात्रि-भोजन में है, वही दोष संकट मुख अर्थात् जब आँधी आदि के कारण गहन अन्धकार छा जाता है, जिसमें दिखाई नहीं पड़ता, उस समय भोजन करने से भी लगता है।[2] निशीथभाष्य में भी रात्रि-भोजन सम्बन्धी दोषों पर चिन्तन करते हुए लिखा है[3] कि रात्रि में भोजन करने से पात्र आदि को प्रक्षालन करना पड़ेगा जिससे जलगत जन्तुओं का विनाश होगा। पानी अन्धकार में जहाँ डाला जा रहा है वहाँ पर जीव जन्तु तो नहीं है ? आदि दृष्टिगोचर न होने से चींटियाँ आदि जीवों की भी विराधना होगी। रात्रि-भोजन की सदोषता को सिद्ध करने हेतु कई उदाहरण दिये गये हैं और उन उदाहरणों से यह सिद्ध किया है कि रात्रि-भोजन से विविध प्रकार की हानियाँ होती हैं।

प्रायश्चित्त का विधान

निशीथसूत्र में रात्रि-भोजन के चार विकल्प[4] प्रतिपादित किये हैं और चारों प्रकार के विकल्पों के सेवन करने पर प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

(१) दिन में लिया हो और दूसरे दिन भोगा हो।

(२) दिन में लिया हो और रात्रि में भोगा हो।

(३) रात्रि में लिया हो और दिन में भोगा हो।

(४) रात में लिया हो और रात में भोगा हो।

प्रश्न : समाधान

आधुनिक चिन्तकों के प्रश्न हैं कि आगम और आगमेत्तर साहित्य में रात्रि-भोजन-विरमण व्रत के सम्बन्ध में जिन दोषों की सूची प्रस्तुत की गई है उनमें से

१. मेहं पिवीलिआओ हणंति वमणं च मच्छिआ कुणई जूओ जलोदरत्तं कोलिओ कुट्ठ रोगं च बालो सरस्स भंग कंटा लग्गई गलम्मि दारुं च तालुम्मि विंधइ अली वंजणा मज्झम्मि भुजतो।

२. ओघनिर्युक्ति

३. निशीथभाष्य

४. (क) तत्थ रायभत्तं चउव्विहं, तं जहा–दिया गेण्हित्ता बितियदिसे भुंजति १, दिया घेत्तुं राइं भुंजइ २, राइं घेत्तुं दिया भुंजइ ३, राइं घेत्तुं राइं भुंजइ ४।–*दशवैकालिक जि. चू., पृ. ११२*
(ख) दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि (ग) दशवैकालिक हारिभद्रीया टीका, पृ. ११६

बहुत से दोष अन्धकार के कारण होते हैं। अन्धकार में जीव-जन्तु आदि दिखाई नहीं देते, पर आज विज्ञान की अपूर्व देन से विद्युत हमें प्राप्त हो चुकी है। विद्युत के तीव्र आलोक में बारीक से बारीक वस्तु भी सहज रूप से देखी जा सकती है। इसलिए जहाँ तक देखने का प्रश्न है वहाँ विद्युत ने उसको हल कर दिया है। इसलिए जीव-जन्तु के भक्षण का अब प्रश्न ही नहीं रहता। दूसरी बात, रात्रि में आहार ग्रहण करने पर पानी से आर्द्र आदि की समस्या कही गयी है। यदि रात्रि में सूखे पदार्थ जिनसे पात्र और हाथ आदि गीले होने के प्रसंग ही न आयें, उनका उपयोग किया जाय, तो फिर दोष नहीं होना चाहिए।

प्रस्तुत प्रश्न चिन्तनीय है। आगम और आगमेतर साहित्य में जन्तु आदि की विराधना की जो बात बताई गई है, वह स्थूल है और प्रत्येक व्यक्ति को समझ में आ सकती है। हमारी दृष्टि से सूर्य के प्रकाश में जो विशेषता है वह विशेषता विद्युत के प्रकाश में नहीं है। चाहे वह कितना ही तीव्र और चमचमाता हुआ क्यों न हो। हीरे आदि जवाहरात का परीक्षण विद्युत प्रकाश में नहीं होता, उसका परीक्षण तो सूर्य की रोशनी में ही होता है। सूर्य की रोशनी में ही कमल विकसित होते हैं, विद्युत प्रकाश में नहीं। सूर्योदय होते ही प्राणवायु की मात्रा बढ़ जाती है। प्राणवायु श्रम करने के लिये आवश्यक है। रात्रि में प्राणवायु की मात्रा कम हो जाती है और कार्बन-डाइऑक्साइड की मात्रा बढ़ती है जिसके कारण पेड़-पौधों को लाभ मिलता है, पर मानवों को उससे लाभ नहीं मिलता। जैसे रात्रि होने पर कमल के फूल सिकुड़ने लगते हैं वैसे ही रात्रि में मानव का पाचन संस्थान भी सिकुड़ने लगता है। पाचन के लिए प्राणवायु आवश्यक है। कार्बन-डाइऑक्साइड के कारण पाचन कार्य में कठिनता होती है।

इसके अतिरिक्त अब तो वैज्ञानिक खोजों से स्पष्ट रूप से निश्चित हो गया है कि सूर्य किरणों में Infra-red तथा Ultra-violet दो प्रकार की किरणें होती हैं। इनमें से एक प्रकार की किरणें वातावरण में उपस्थित सूक्ष्म जीव राशि का विनाश करती हैं। वह लाभ रात्रि के समय नहीं मिल पाता। अतः वैज्ञानिक दृष्टि से भी रात्रि-भोजन उचित नहीं है।

वैज्ञानिक दृष्टि से

रात्रि में जो भोजन किया जाता है उससे विश्राम में बाधा उपस्थित होती है। हम समझते हैं कि गले के नीचे भोजन उतर जाने से समस्या का समाधान हो गया अर्थात् खाने का समाधान हो गया। पर भोजन करने में जितना श्रम होता है उससे अधिक श्रम भोजन के पाचन में होता है। शरीर यन्त्र भोजन पाचन में लग जाता है जिसके कारण शरीर को बाहर से नहीं, अन्दर से श्रम करना पड़ता है। जो रात्रि

में भोजन करते हैं उन्हें जैसी चाहिए वैसी गहरी निद्रा नहीं आती। या तो रात्रि में इधर-उधर करवटें बदलते रहते हैं या स्वप्न संसार में गोते लगाते हैं। निद्रा की इस अस्त-व्यस्तता और अराजकता का मूल कारण पेट में पड़ा हुआ आहार है। जो रात्रि में भोजन नहीं करते हैं उनकी पाचन क्रिया ठीक रहती है और वे जब प्रातः उठते हैं उस समय उनके चेहरे पर तरोताजगी होती है। क्योंकि भोजन करके सो जाने पर शरीर की सारी ऊर्जा भोजन पचाने में ही व्यय हो जाती है। इस दृष्टि से रात्रि का भोजन स्वास्थ्य के लिए अहितकर है। सूर्य की किरणों से जिस प्रकार स्वाभाविक रूप से भोजन का परिपाक होता है, बिना सूर्य की किरणों के उसे पचाने में शरीर की अत्यधिक शक्ति का व्यय होता है। आधुनिक अनुसंधानों ने यह सिद्ध किया है तथा आयुर्वेदिक ग्रंथों में भी यह स्पष्ट उल्लेख है कि सूर्य की किरणों के अभाव में हृदय और नाभिकमल का संकोच हो जाता है जिससे आँतें सम्यक् प्रकार से कार्य नहीं कर पातीं। अतः रात्रि में भोजन करना स्वास्थ्य की दृष्टि से भी हितावह नहीं है। जब किया हुआ भोजन नहीं पचता तो विविध प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। रुग्ण व्यक्ति न आत्म-साधना कर सकता है, न ज्ञान-साधना कर सकता है और न ध्यान-साधना ही कर सकता है।

तात्पर्य यह है कि रात्रि में चाहे कितना भी विद्युत् का तेज प्रकाश हो, वह प्रकाश सूर्य की रोशनी की बराबरी नहीं कर सकता। विद्युत् प्रकाश में भी बहुत से बारीक जन्तु आते हैं। उन बारीक जन्तुओं का विनाश संभव है। इसलिए रात्रि-भोजन अनुचित है।

दूसरी बात सूखे पदार्थ के उपयोग की है तो वह भी अनुचित है। क्योंकि जब रात्रि में चारों प्रकार के आहार में से कोई भी आहार ग्राह्य नहीं है तो सूखे पदार्थ ग्राह्य कैसे हो सकते हैं ? सूखे पदार्थों का आहार भी पाचन के लिए भी वैसा ही है जैसा आर्द्र पदार्थ का आहार।

स्वास्थ्य और रात्रि-भोजन

प्राचीन जैन साहित्य में श्रमणों के लिए ऐसा विधान प्राप्त होता है–"भुंजसु सूरे जं जिज्जे।"–श्रमण उतना ही खाये कि सूर्य रहते हुए वह जीर्ण हो जाय।

निशीथसूत्र में रात्रि-भोजन करने वाले श्रमण के लिए चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का विधान है। रात्रि में जो भोजन दिन में किया गया है यदि उस भोजन का उद्गार आता है और उस उद्गार को भी यदि श्रमण द्वारा निगल लिया जाये तो चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।[1]

---

1. निशीथसूत्र

मेरी दृष्टि से उद्‌गार का आना अ-पाचन या भोजन पूर्ण से हजम न हुआ हो तभी संभव है। जब सूर्यास्त के पूर्व भोजन पच गया हो तो रात्रि में उद्‌गार आने का प्रश्न ही नहीं होता। उद्‌गार अपरिपाक का सूचक है। इसके अतिरिक्त अधिक खाने से भी उद्‌गार आते हैं जो स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद हैं। इसलिए रात्रि-भोजन के निषेध का एक मुख्य कारण स्वास्थ्य भी है, और वह कारण बहुत ही सबल है। स्वास्थ्य के अभाव में साधना निर्विघ्न नहीं हो सकती। इसलिए आत्महित की दृष्टि से रात्रि-भोजन न किया जाय, यह आवश्यक है।

वैदिक परम्परा में भी

जैन परम्परा में तो रात्रि-भोजन-वर्जन का स्पष्ट आदेश है ही किन्तु वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में भी रात्रि-भोजन का निषेध किया गया है। मार्कण्डेय ऋषि ने रात्रि-भोजन को माँसाहार के समान कहा है–

रात्रौ अन्नं मांस समं प्रोक्तम् मार्कण्डेय महर्षिणा।

महाभारत में भी कहा गया है कि रात्रि में भोजन नहीं करना चाहिए।

वर्जनीया महाराजन् निशीथे भोजन क्रिया। –शांतिपर्व

रात्रि-भोजन से परलोक में विविध प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते हैं। जो रात्रि में भोजन करता है वह अगले जन्म में उल्लू, कौआ, बिल्ली, गिद्ध, शंबर, सूअर, सर्प, बिच्छू, गोह प्रभृति निकृष्ट योनि[1] में जन्म ग्रहण करता है।

जो सूर्यास्त से पूर्व भोजन कर लेता है वह महान् पुण्य का उपार्जन करता है। एक बार भोजन करने वाला अग्निहोत्री जितना फल प्राप्त करता है और जो सूर्यास्त से पहले भोजन करता है वह तीर्थयात्रा के फल को प्राप्त करता है, यदि किसी के घर में स्वजन की मृत्यु हो जाय तो कितने ही दिनों तक उसका सूतक रहता है, फिर सूर्य के अस्त हो जाने पर भोजन किस प्रकार करना चाहिए?[2]

इस प्रकार वैदिक परम्परा में भी रात्रि-भोजन-निषेध के उल्लेख प्राप्त होते हैं। जैन श्रमणों के लिए तो रात्रि-भोजन का सर्वथा निषेध है ही। श्रावकों के लिए भी

---

१. उलूक काक मार्जार-गृध्र-शंवर (राक्षस) शूकराः।
अहि-वृश्चिक-गोधाश्च, जायन्ते रात्रिभोजनात्॥ –योगशास्त्र ३-६७

२. मृते स्वजन मात्रेऽपि, सूतकं जायते किल।
अस्तं गते दिवानाथे, भोजनं क्रियते कथम्?
अस्तं गते दिवानाथे, आपो रुधिरमुच्यते।
अन्नं मांस समं प्रोक्तं मार्कण्डेय महर्षिणा॥

रात्रि-भोजन नहीं करना चाहिए, इस प्रकार के उल्लेख अनेक स्थलों पर आचार्यों ने किये हैं। समन्तभद्र[१] ने श्रावकों की छठी प्रतिमा का नाम 'रात्रि-भुक्ति-विरति' रखा है।[२] कार्तिकेय ने भी इस बात को स्वीकार किया है। इसके पूर्व दिगम्बर परम्परा के ग्रंथों में छठी प्रतिमा का नाम 'रात्रि-भोजन-विरमण' प्राप्त नहीं होता।

श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में उस छठी प्रतिमा का नाम 'अब्रह्मवर्जन प्रतिमा' है और उसी का उल्लेख दिगम्बर ग्रन्थ चारित्रसार[३], उपासकाचार[४], वसुनन्दी श्रावकाचार[५], अमितगति श्रावकाचार[६], भावसंग्रह[७], सागारधर्मामृत[८] ग्रंथों में मिलता है।

इस प्रकार जैनाचार में रात्रि-भोजन-विरमण व्रत के सम्बन्ध में विस्तार से विवेचन प्राप्त होता है। संक्षेप में ही हमने यहाँ पर चिन्तन प्रस्तुत किया है।

रात्रि-भोजन धार्मिक, आध्यात्मिक और स्वास्थ्य सभी दृष्टियों से हानिप्रद है। अतीतकाल से लेकर वर्तमान युग के वैज्ञानिक भी रात्रि-भोजन को उचित नहीं मानते, भले ही परिस्थितिवश उसे करना पड़ता हो। आधुनिक सभ्यता में पले-पुसे लोग 'डिनर' के नाम पर रात्रि-भोजन को महत्त्व देते हों पर वह है अनुचित ही। जैन, बौद्ध और वैदिक धार्मिक परम्परा ही नहीं, चरक और सुश्रुत जैसे आयुर्वेदिक ग्रन्थ भी रात्रि-भोजन से होने वाली हानियों का चित्रण करते हैं। अतः रात्रि-भोजन त्याज्य ही है।

●●

---

१. रत्नकरण्ड श्रावकाचार ५४२
२. कार्तिकेयानुप्रेक्षा ३८२
३. चारित्रसार, पृ. ९९
४. उपासकाचार ८५३
५. वसुनन्दी श्रावकाचार, गाथा २९६
६. अमितगति श्रावकाचार ७-७२
७. भावसंग्रह ५३८
८. सागारधर्मामृत ७-१२

१७. श्रमण-साधना की लक्ष्मण रेखा : अष्ट प्रवचन माता

प्रवचन माता

महाव्रतों की सुरक्षा और विशुद्धता के लिए समिति और गुप्ति का विधान है। समिति और गुप्ति दोनों का सम्मिलित नाम उत्तराध्ययन आदि में 'प्रवचन माता' दिया गया है।[1] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान को प्रवचन कहा जाता है। उसकी रक्षा हेतु **पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ**–ये माता के सदृश हैं। इन अष्ट प्रवचन माताओं में **सम्पूर्ण द्वादशांगी समाविष्ट है।**[2]

ये प्रवचन माताएँ चारित्ररूपा हैं। बिना ज्ञान-दर्शन **के चारित्र नहीं होता।** द्वादशांगी में ज्ञान, दर्शन और चारित्र का ही विस्तार से विश्लेषण है। अतः द्वादशांगी को प्रवचन माता का विराट् रूप कहा जा सकता है।

लौकिक जीवन में माँ की महिमा और गरिमा किससे छिपी है ? वह शिशु के जीवन का संवर्द्धन ही नहीं करती अपितु सुसंस्कारों का भी सिंचन करती है। इसीलिए बालक माता की प्रतिकृति माना जाता है। आध्यात्मिक जीवन में भी ये प्रवचन माताएँ जगदंबा के रूप में हैं। इन आठों से प्रवचन का प्रसव होता है। इसलिए इन्हें प्रवचन माता कहा जाता है। इन आठों में सारा प्रवचन समा जाता है, इसलिए भी इन्हें प्रवचन माता कहा जाता है।[3] प्रसव और समाना इन दोनों अर्थों में माता शब्द व्यहृत हुआ है। भगवान जगत् पितामह के रूप में हैं।[4] आत्मा के अनन्त आध्यात्मिक सद्गुणों को विकसित करने वाली यह प्रवचन माता है।

उत्तराध्ययननिर्युक्ति[5] में 'प्रवचनमात' और 'प्रवचन माता'–ये दोनों शब्द मिलते हैं। मूलाराधना[6] और मूलाराधना दर्पण[7] में प्रवचन माता शब्द का प्रयोग हुआ है।

---

१. उत्तराध्ययन २४-१
२. (क) वही २४-३
   (ख) वही २४-३ लक्ष्मीवल्लभी टीका
३. उत्तराध्ययन–बृहद्वृत्ति पत्र, ५१३, ५१४
४. नन्दी स्थविरावली, गाथा १
५. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ४५८-४५९
६. मूलाराधना, आश्वास ६, श्लो. ११८५
७. मूलाराधना दर्पण, पृ. ११७२

समिति गुप्ति : परिभाषा

ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान भाण्डमात्र निक्षेपणा समिति, उच्चार-प्रस्रवण-श्लेष्म-सिंघाण-जल्ल-परिष्ठापनिका समिति–इन पाँचों की समिति संज्ञा है।[1] मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति इन तीन की गुप्ति संज्ञा है।[2] इन आठ को 'समिति' भी कहा गया है। इसका रहस्य प्रकट करते हुए टीकाकार ने कहा है कि गुप्तियाँ केवल निवृत्त्यात्मक ही नहीं होतीं, प्रवृत्त्यात्मक भी होती हैं। इसी दृष्टि से उन्हें समिति कहा गया है। जो समित होता है वह नियमतः गुप्त होता है और जो गुप्त होता है वह समित होता भी है, नहीं भी होता है।[3]

श्रमण की चारित्र में जो सम्यक् प्रवृत्ति होती है, वह समिति है[4] और मुमुक्षु श्रमण की जो शुभ योगों में प्रवृत्ति होती है वह भी समिति है। प्रतिक्रमण सूत्र के वृत्तिकार आचार्य नेमि[5] ने समिति की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है–प्राणातिपात प्रभृति पापों से निवृत्त रहने के लिए प्रशस्त एकाग्रतापूर्वक की जाने वाली आगमोक्त सम्यक् प्रवृत्ति समिति कहलाती है। साधक का अशुभ योगों से सर्वथा निवृत्त होना गुप्ति कहलाता है। गुप्ति का अर्थ गोपन है–"गोपनं गुप्तिः।" आचार्य उमास्वाति[6] ने लिखा है–मन, वचन और शरीर के योगों का जो प्रशस्त निग्रह है वह गुप्ति है।

इस तरह अष्ट प्रवचन माताओं की समिति और गुप्ति ये दोनों संज्ञाएँ भी आगम साहित्य में प्राप्त होती हैं।

पापों से निर्लिप्त

आचार्य शिवार्य[7] ने लिखा है–समितियों का सम्यक् प्रकार से पालन करने वाला श्रमण जो जीवों से आकुल-व्याकुल इस विराट् विश्व में रहते हुए भी पापों से लिप्त नहीं होता। जैसे एक योद्धा जिसने सुदृढ़ कवच धारण कर रखा है उस

---

१. (क) स्थानांग ५, ३-४५७ (ख) समवायांग ५-७

२. (क) स्थानांग ३, १-१२६ (ख) समवायांग ३-२

३. उत्तराध्ययन–बृहद्वृत्ति, पृ. ५१४

४. (क) अट्ठ पवयणमाउओ पण्णत्ताओ तं जहा–ईरिया-समिई जाव-कायसमिई।
–स्थानांग, स्थान ८, सू. ६०३

(ख) उत्तराध्ययन २४-२६३

५. सम् = एकीभावेन, इतिः = प्रवृत्तिः समितिः शोभनैकाग्रपरिणामचेष्टेत्यर्थः।
–प्रतिक्रमणसूत्रवृत्ति

६. सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः। *–तत्त्वा. ९-४*

७. मूलाराधना ६-१२००

पर तीक्ष्ण बाणों की वर्षा भी हो तो भी वे बाण उसे बींध नहीं सकते वैसे ही समितियों का सम्यक् पालन करने वाला श्रमण जीवन के विविध कार्यों में प्रवृत्त होता हुआ भी पापों से निर्लिप्त रहता है।[1]

इसी तरह गुप्ति भी पाप के निरुन्धन के लिए उपयोगी है। जैसे क्षेत्र की रक्षा के लिए बाड़ या नगर-रक्षा हेतु खाई या प्राकार है[2] वैसे वह भी है। समिति और गुप्ति के अभाव में महाव्रत सुरक्षित नहीं रह सकते।[3] कोई श्रमण चौदह पूर्व का अध्ययन भी कर ले, तथापि यदि वह प्रवचन माता में दक्ष नहीं है तो उसका ज्ञान अज्ञान है, लेकिन जो श्रमण आगम के रहस्य को नहीं जानता है किन्तु प्रवचन माता को सम्यक् प्रकार से जानता है वह स्वयं अपना भी कल्याण करता है और दूसरों का भी।

प्रवृत्ति और निवृत्ति

विवेकयुक्त प्रवृत्ति समिति है और अपने विशुद्ध आत्म-तत्त्व की रक्षा के लिए अशुभ योगों को रोकना गुप्ति है। समिति और गुप्ति में अन्तर यह है कि समिति प्रवृत्ति रूप है और गुप्ति निवृत्ति रूप है। यह स्पष्ट है कि समिति वाला नियम से गुप्ति वाला भी होता है। चूँकि समिति भी सद्प्रवृत्ति रूप अंशतः गुप्ति ही है। जो गुप्ति वाला है वह समिति वाला हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। क्योंकि सद्प्रवृत्तिरूप गुप्ति के समय समिति अवश्य पाई जाती है किन्तु निवृत्तिरूप गुप्ति के समय समिति पाई भी जाती है और नहीं भी पाई जाती।[4]

अब हम संक्षेप में अष्ट प्रवचन माता के स्वरूप का विवेचन करेंगे। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है अष्ट प्रवचन माता में पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ समाविष्ट हैं।

समिति

समिति पाँच हैं—(१) ईर्या समिति, (२) भाषा समिति, (३) एषणा समिति, (४) आदान भाण्डमात्र निक्षेपणा समिति, (५) उच्चार-प्रस्रवण-श्लेष्म-सिंघाण-जल्ल-परिष्ठापनिका समिति।

---

१. सरवासे वि पडंते, जह दढकवचो ण विज्झदि सरेहिं।
तह समिदिहिं ण लिप्पई, साधू काएसु इरियंतो॥ —मूलाराधना ६-११०२

२. छेत्तस्स वदी णयरस्स, खाइया अहव होइ पायारो।
तह पावस्स णिरोहो, ताओ गुत्तीओ साहुस्स॥ —मूलाराधना ६-११८९

३. मूलाराधना ६-११८५, मू. विजयोदयावृत्ति, पृ. ११७२

४. प्रवीचारप्रवीचाररूपा गुप्तयः।
समितयः प्रवीचार रूपा एव॥ —आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति

ईर्या समिति

युग परिमाण भूमि को एकाग्र चित्त से देखते हुए यतनापूर्वक गमनागमन करना ईर्या समिति है।[1] ईर्या का अर्थ गमन है। गमन विषयक सद्प्रवृत्ति ईर्या समिति है।[2]

युग का अर्थ शरीर अथवा गाड़ी का जुआ है। जुआ आरम्भ में संकरा और आगे से विस्तृत होता है। वैसे साधु की दृष्टि होनी चाहिए।[3] विसुद्धि मग्ग में भी भिक्षु को 'युग मात्रदर्शी' कहा है। वहाँ लिखा है–श्रमण लोलुप स्वभाव को त्यागकर नीची आँखें किये हुए चार हाथ तक देखने वाला हो। धीर श्रमण स्वेच्छा से विचरने वाला, इच्छुक सपादचारी बने।[4] अष्टांग हृदय में भी[5] युग मात्र भूमि को देखकर चलने का विधान है। किन्हीं-किन्हीं ग्रन्थों में कुक्कट के उड़ान[6] की दूरी जितनी दूरी पर दृष्टि डालकर चलने की बात कही गई है, और इस प्रकार चलने वाला भिक्षु 'कौक्कैटिक' कहलाता था।

ईर्या समिति की विशुद्ध आराधना व साधना के लिए चार बातों का ध्यान रखना आवश्यक है–आलम्बन, काल, मार्ग और यतना।[7] क्योंकि इन चारों से ईर्या समिति में विशुद्धि होती है।

प्रस्तुत समिति का आलम्बन ज्ञान, दर्शन व चारित्र है। जैसे वृद्ध व्यक्ति आलम्बन के सहारे इच्छित ऊँचाई पर पहुँच सकता है। उसी तरह साधक ज्ञान, दर्शन व चारित्र के सहारे शिवपद प्राप्त कर सकता है। आकाश में उड़ान भरने के लिए पक्षी को पाँख का आलम्बन चाहिए वैसे ही साधक को ज्ञान-दर्शन का सहारा लेना आवश्यक है।

प्रथम आलम्बन : अवस्सिया

साधक का लक्ष्य रत्नत्रय की प्राप्ति है और इसी लक्ष्य को पाने हेतु वह सम्पूर्ण प्रवृत्ति गमनागमन करता है, किन्तु आपवादिक स्थिति में वह ज्ञान, दर्शन और

---

१. उत्तराध्ययन २४-७

२. ईर्यायां समितिः ईर्यासमितिस्तया।
ईर्याविषये एकीभावेन चेष्टेनमित्यर्थः॥ –*आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति*

३. दशवैकालिक ५-१-३ जिनदासचूर्णि, पृ. १६८

४. लोलुप्पचारं पहाय तम्हा ओक्खित्तचक्खू युगमत्तदस्सी।
आकंखमानो भुवि सेरिचारं चरेय्य धीरो सपदानचारं॥ –*विसुद्धि मग्ग १-२, पृ. ६८*

५. अष्टांग हृदयसूत्र स्थान २-३२

६. पाणिनी अष्टाध्यायी ४. ४-४६

७. उत्तराध्ययन २४-४

चारित्र की अभिवृद्धि के लिए वर्षावास में भी विहार कर अन्यत्र जा सकता है।[1] साधक स्वाध्याय व ध्यान के लिए[2] आहार, पानी, वस्त्र प्रवृति एषणीय पदार्थों की एषणा के लिए[3], शारीरिक मल-मूत्रादि विसर्जन के लिए[4], और एक ग्राम से दूसरे ग्राम जाने के उद्देश्य से[5] गमनागमन करता है। वह बिना आवश्यक कार्य के, उपाश्रय से बाहर नहीं जाता, इसीलिए जाने के पूर्व वह अवस्सिया का तीन बार उच्चारण करता है। यह उसकी सामाचारी है।[6] यही ईर्या समिति का आलम्बन कहा जाता है।

दूसरा आलम्बन : काल

ईर्या समिति का दूसरा आलम्बन समय या काल है। समय एक क्षणवर्ती है। अतः इसके लिए काल शब्द व्यवहृत हुआ है। ईर्या समिति का पालन दिन में हो सकता है, रात्रि में नहीं।[7]

श्रमण-श्रमणियाँ दिन में प्रकाश होने से स्थूल व सूक्ष्म जीव-जन्तुओं को बचाकर चल सकती हैं। रात्रि में अन्धकार होने से वह सम्भव नहीं है। एतदर्थ ही रात्रि में विहार का निषेध किया गया है। यदि एक गाँव से दूसरे गाँव जाते समय मार्ग में सूर्यास्त हो जाय तो श्रमण को वहीं पर रुक जाना चाहिए। उसे यह नहीं सोचना चाहिए–यहाँ पर ठहरने का स्थान ठीक नहीं है। यहाँ पर पशु व सर्प आदि का भय है।[8] भिक्षादि के लिए भी उसे रात्रि में जाना मना है। केवल शारीरिक क्रिया के हेतु या स्वाध्याय या ध्यान के लिए रात्रि में जाना हो तो रजोहरण से प्रमार्जित करके जाय। किन्तु बिना प्रमार्जन किये एक कदम चलना भी उचित नहीं है।

सन्ध्या के समय भी श्रमण को नहीं चलना चाहिए क्योंकि वह उसके आवश्यक प्रतिक्रमण आदि क्रिया करने का समय है। उसे वर्षा ऋतु में एक ग्राम से दूसरे ग्राम जाना नहीं कल्पता। किन्तु अराजकता या दुष्काल होने पर, किसी के द्वारा व्यथा पहुँचाने पर, बाढ़ आदि आने पर या अनार्यों का उपद्रव होने पर विशेष स्थिति में विहार कर सकता है।[9] वह हेमन्त और ग्रीष्म के आठ मास में विहार करता है। एक स्थान पर वह अधिक से अधिक वर्षावास में चार मास तथा

---

१. स्थानांग ५, ३-४१२
२. आचारांग २, ८-९०, १६३-१६४
३. वही २, १-१-४
४. वही २, १-१-४
५. वही २, १-१-४
६. उत्तराध्ययन २६-२
७. वही २४-५
८. (क) सूत्रकृतांग १, २-२-१४
(ख) बृहत्कल्प, उ. १, सू ४७
९. स्थानांग ५, ३-४१२

हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में एक मास ठहर सकता है। इसलिए उसका विहार नौ कल्प कहलाता है। आठ मास के आठ कल्प और चार मास का वर्षावास।[1]

तीसरा आलम्बन : मार्ग

तीसरा आलम्बन मार्ग है। मार्ग के भी द्रव्यमार्ग व भावमार्ग–ये दो प्रकार हैं। द्रव्यमार्ग के स्थलमार्ग, जलमार्ग और नभमार्ग–ये तीन प्रकार हैं। स्थलमार्ग सम और विषम दो प्रकार के होते हैं।

साधक को सम मार्ग पर चलना चाहिए। विषम मार्ग में चलने से विराधना की सम्भावना रहती है। यदि कहीं पथ विस्मृत हो जाय या दिग्भ्रम हो जाय या विषम विप्लव हो जाय तो वह उन्मार्ग पर भी चल सकता है। श्रमण-श्रमणियों को उन विषम मार्गों पर नहीं चलना चाहिए जहाँ कुत्तों, लुटेरों का भय हो; हरी घास, खेत या खण्डहर, कर्दम या काँटे हों, झाड़-झंखाड़ हो, फिसलन हो, उन्मत्त मानव, महिष आदि पशु हों, पक्षीगण दाने चुग रहे हों। उन्हें ऐसे मार्ग से भी नहीं जाना चाहिए जहाँ मार्ग में वेश्याओं की वीथियाँ हों;[2] द्यूत गृह हो, वहाँ जाने पर चारित्र की भी हानि हो सकती है और किसी को किसी भी प्रकार की आशंका भी हो सकती है। इसी तरह अन्तःपुर के समीप, सेनाशिविर[3] या गुप्त-मंत्रणालय[4] से होकर भी नहीं जाना चाहिए। क्योंकि उधर से जाने से गुप्तचर होने की आशंका हो सकती है। जिस मार्ग से जाने में मानसिक, वाचिक और कायिक क्लेश की सम्भावना हो उस मार्ग से भी नहीं जाना चाहिए।

जैन श्रमण पूर्ण अहिंसक होता है जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित प्राणिविज्ञान की दृष्टि से जल की एक बूँद में असंख्य जीव हैं। इसलिए जैन श्रमण ऐसे जल-मार्ग से किस प्रकार जा सकता है, जहाँ असंख्य जीवों की विराधना होती हो। उसके लिए तो सचित्त पानी का स्पर्श भी निषिद्ध है। सामान्य मानव की तरह जैन श्रमण जल-मार्ग से नहीं जा सकता। किन्तु विशेष स्थिति में वर्षा हो रही हो, पानी बह रहा हो और उसे शौच आदि के लिए जाना आवश्यक हो तो जा सकता है। प्रस्तुत विधान में स्वास्थ्य रक्षा और जीव-रक्षा दोनों को महत्त्व दिया गया है। क्योंकि मल-मूत्र के वेग को रोकने से अनेक अन्य रोगों के होने की संभावना रहती है तथा उन रोगों के शमन के लिए औषधोपचार में अनेक दोष लग सकते हैं।

साधक जब जल में चलता है तो जल के जीव की हिंसा करने के संकल्प से नहीं चलता। किन्तु विवशता से उसे चलना पड़ता है। दूसरा कारण यह है–यदि

---

१. कल्पसूत्र
२. दशवैकालिक, अ. ५, उ. १, गा ९-१०
३. निशीथ, उ. ९-११
४. दशवैकालिक ५.१-१६

श्रमण-श्रमणियाँ भिक्षा के लिए गए हुए हों, भिक्षा लेकर लौटने के समय यदि वर्षा आ जाय तो कुछ समय तक एक स्थान पर वे खड़े हो सकते हैं। किन्तु संन्ध्या के पूर्व उन्हें अपने स्थान पर पहुँचना आवश्यक है। इस विधान में जीवरक्षा नहीं अपितु व्यवहार की प्रधानता है क्योंकि रात्रि में बाहर रहने से लोकापवाद या अन्य परीषह हो सकता है। आगम साहित्य में किस[1] प्रकार जल प्रवाह को पार करना चाहिए इसके लिए भी विधान दिये गये हैं और विशेष स्थिति में यदि नौका आरोहण करना पड़े तो उसके लिए भी निशीथभाष्य आदि में अनेक कारण प्रस्तुत किये हैं और बताया है कि विशेष परिस्थिति में ही वह नौका आदि से मार्ग तय कर सकता है। साधारण स्थिति में नौका आदि का उपयोग करना तथा नदी आदि को पार करना निषिद्ध है।

श्रमण अपने इष्ट स्थान पर पहुँचने के लिए अतीतकाल में आकाश मार्ग से भी जाता था, पर विमान आदि से नहीं किन्तु लब्धिबल से जाता था। भगवतीसूत्र[2] में श्रमण किस तरह अनन्त आकाश में उड़ानें भरता था उसकी एक लम्बी सूची प्रस्तुत की है। सामान्य रूप से लब्धि का उपयोग करना निषिद्ध माना गया है। पर विशेष स्थिति में वह चारण लब्धि का उपयोग करता था।

चतुर्थ आलम्बन : यतना

चतुर्थ आलम्बन यतना है। यतना का अर्थ है-विवेक। यतना के द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की दृष्टि से चार प्रकार हैं। द्रव्य से-दिन में आँखों से देखकर चलना और रात्रि में रजोहरण के प्रमार्जन से चलना। क्षेत्रयतना-चार हाथ प्रमाण क्षेत्र को देखते हुए चलना। जितने समय तक चलना उतने समय तक विवेकपूर्वक चलना कालयतना है और भावयतना उपयोगपूर्वक चलना है।

श्रमण को चलते समय असंभ्रान्त तथा अनासक्त रहना चाहिए। उसे मंथर गति से चलना चाहिए। विक्षिप्त और चंचल चित्त से चलने वाला व्यक्ति जीवों की यतना नहीं कर सकता। चलते समय वार्तालाप नहीं करना चाहिए और न ठहाका मारकर हँसना ही चाहिए। गवाक्ष, स्नानगृह और भव्य भवन को निहारते हुए और दूसरों को संकेत करते हुए नहीं चलना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से श्रमण ईर्या समिति का सम्यक् प्रकार से पालन नहीं कर सकता।

---

१. (क) निशीथभाष्य, सू. ४२, गा. ४२५४
   (ख) देखिए-मरुधर केसरी अभिनन्दन ग्रन्थ, खंड २, पृ. ८०

२. भगवतीसूत्र, शतक २३, उ. ९, पृ. ३३६

उत्तराध्ययनसूत्र में देवराज इन्द्र और नमि राजर्षि के संवाद[1] में ईर्या समिति को धनुष की प्रत्यंचा कहा है, जिससे उसकी उपयोगिता और महत्ता स्पष्ट परिज्ञान होती है।

भाषा समिति

क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, वाचालता और विकथा–इन आठ दोषों से रहित आवश्यकता होने पर भाषण में प्रवृत्ति करना, फलतः हित, मित, सत्य और सन्देहरहित स्पष्ट वचन कहना भाषा समिति है।[2] श्रमण सावधानीपूर्वक समय के अनुकूल और विवेकपूर्वक ऐसी भाषा का प्रयोग करता है जो सत्य महाव्रत के पालन करने में सहायक होती है।

ईर्या समिति की भाँति इस समिति में भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ये चार प्रकार हैं।

द्रव्य से–सत्य भाषा और व्यवहार भाषा का उपयोग करे; कर्कश, कठोर, छेदकारी, भेदकारी, दूसरों को पीड़ा उत्पन्न करने वाली सावद्य भाषा का उपयोग न करे। क्षेत्र से–रास्ते में चलते हुए परस्पर वार्तालाप न करे। काल से–रात्रि में प्रथम प्रहर व्यतीत हो जाने पर उच्च स्वर से न बोले, जिससे दूसरों को बाधा उपस्थित हो। भाव से–ऐसे हितकारी प्रिय और सत्य वचन का उपयोग करे जिससे किसी को कष्ट न हो।

एषणा समिति

जीवन-यात्रा के लिए श्रमण को भी भोजन की आवश्यकता होती है। यदि वह सर्वथा निराहार रहे तो उसका शरीर टिक नहीं सकता। इसलिए श्रमण जीवन की सुरक्षा के लिए भोजन करता है। वह जो कुछ भी खाता है, वह स्वाद के लिए नहीं; औषध के रूप में शरीर रक्षा के लिए खाता है। साधक का भोजन हितकारी, पथ्यकारी और मित होता है। वह अपवित्र मादक पदार्थों का सेवन बिलकुल भी नहीं करता और न विकारवर्द्धक पदार्थों का ही उपयोग करता है। उसका भोजन सात्त्विक होता है।

श्रमण सांसारिक कार्यों से अलग रहता है। भिक्षा पर ही उसकी जीवन-यात्रा चलती है। श्रमण की भिक्षा सामान्य भिक्षुकों की तरह भिक्षा नहीं होती। उसकी भिक्षा ग्रहण करने के सम्बन्ध में नियमोपनियमों की विस्तार से सूची प्राप्त होती है।

---

१. उत्तराध्ययन ९-२१

२. भाषा समितिर्नाम हितमितासंदिग्धार्थ भाषणम्। —*आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति*

वह किसी को भी बिना पीड़ा पहुँचाये पूर्ण शुद्ध, सात्त्विक और आवश्यकतानुसार भिक्षा ग्रहण करता है। उसकी भिक्षा नवकोटि परिशुद्ध होती है।

प्रस्तुत विधान से यह भी ज्ञात होता है कि उसकी अहिंसा-मर्यादा का कितनी गहराई से ध्यान रखा गया है। भिक्षा के लिए न वह स्वयं किसी तरह की पीड़ा देता है, न दूसरों से दिलवाता है और यदि कोई किसी को पीड़ा दे तो उसका अनुमोदन भी नहीं करता। यह है उसके हृदय की विशालता और कोमलता।

एषणा समिति के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ये चार प्रकार हैं। द्रव्य से–वह ४२ और ९६ दोषरहित भिक्षा आदि ग्रहण करता है। क्षेत्र से–अर्धयोजन से अधिक दूर आहार के लिए न जाना। आवश्यकता होने पर दो कोस तक आहार ले जा सकता है, उससे आगे नहीं। काल से–प्रथम प्रहर में लाया हुआ आहार चतुर्थ प्रहर में न खाना। श्रमण तीन प्रहर से अधिक आहार नहीं रखता। प्रस्तुत नियम उसकी संग्रहवृत्ति को रोकने के लिए और तृष्णा को घटाने के लिए है। यदि वह प्रथम प्रहर का आहार चतुर्थ प्रहर में ग्रहण करता है तो उसे प्रायश्चित्त आता है। भाव से–संयोजन आदि मांडले के दोषों को छोड़कर आहारादि ग्रहण करे। आहार, वस्त्र, पात्र आदि पर ममत्व न रखे[1] और समय पर जो भी निर्दोष असन, वसन, पात्र आदि मिल जाय उसे ग्रहण करे।

श्रमण (१) पिण्ड, (२) शय्या वसति, (३) वस्त्र, (४) पात्र का विशोधन करे।[2] आचार्य जिनदास महत्तर[3] ने कहा है–जिसने पिण्ड निर्युक्ति का अध्ययन न किया हो उसका लाया हुआ भक्त-पान, जिसने शय्या (आचारांग २-२) का अध्ययन न किया हो उसके द्वारा याचित वसति, जिसने वस्त्रैषणा (आचारांग २-५) अध्ययन नहीं किया हो उनके द्वारा लाया हुआ वस्त्र, वर्षाकाल में किसी को प्रव्रजित करना और ऋतुबद्ध काल में अयोग्य को प्रव्रजित करना शैक्षस्थापना अकल्प है। जिसने पात्रैषणा (आचारांग २-६) का अध्ययन न किया हो उसके द्वारा आनित पात्र भी शैक्षस्थापनाऽकल्प है।[4] अकल्पनीय पिण्ड आदि को अकल्पस्थापना अकल्प कहा जाता है।

प्रकारान्तर से पिण्ड, शय्या, वस्त्र, और पात्र आदि से संयोजना आदि दोषों को ग्रहण किया गया है। आहार में संयोजना, अप्रमाण, अंगार धूम, कारण आदि पाँच दोष हैं। उनसे रहित आहारादि के ग्रहण का ध्यान श्रमण को रखना चाहिए। मुनि शुद्ध एषणा करे। गवेषणा, ग्रहणैषणा और भोगेषणा के दोषों का वर्णन करे।[5]

---

१. उत्तराध्ययन २४, १२-१३
२. वही, बृहद्वृत्ति, पत्र ५१७
३. दशवैकालिक, जिनदासचूर्णि, पृ. २२६
४. वही, हारिभद्रीयावृत्ति, पत्र २०३
५. उत्तराध्ययन २४, ११-१२

मूलाचार में भी उद्गम आदि ४६ दोषों से युक्त आहार ग्रहण का सर्वथा निषेध किया गया है, जिसमें औद्देशिक आहार ग्रहण का निषेध है। वर्तमान में दिगम्बर परम्परा में एषणा समिति के व्यवहार में जो शिथिलता है उनका प्रारंभ कब हुआ यह अन्वेषणीय है।

आदान भाण्डमात्र निक्षेपणा समिति

वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि भांडमात्र जितने उपकरण हैं उन्हें विवेकपूर्वक ग्रहण (आदान) करना और जीवरहित प्रमार्जित भूमि पर निक्षेपण (रखना) आदान भाण्डमात्र निक्षेपणा समिति है।[1]

श्रमण को प्रत्येक वस्तु याचित प्राप्त होती है। उसका पूर्ण उपयोग करना उसका परम कर्त्तव्य है। प्रत्येक पदार्थ का व्यवहार उपयोगपूर्वक होना चाहिए। वस्तु को ग्रहण करने में, रखने में अहिंसा की दृष्टि प्रमुख है। श्रमण के पास जो भी धार्मिक उपकरण हैं उन्हें अच्छी तरह से देखकर और उन्हें प्रमार्जन करके उठाना और रखना चाहिए जिससे कि जीवों की हिंसा न हो।

प्रस्तुत समिति के भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ये चार विभाग हैं। द्रव्य से–वस्तु को विवेक पुरस्सर रखना और ग्रहण करना। क्षेत्र से–जिस क्षेत्र में विचरण करे प्रतिलेखना की जाय; बिना देखे-भाले उपयोग में लाने से हिंसा का दोष लगता है। उसमें सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति हो जाने की और साथ ही बाहर के जीवों के आश्रय लेने की संभावना रहती है। अतः सूक्ष्म दृष्टि से उसे निरीक्षण करना चाहिए। यदि कोई जीव दिखाई दे तो उसकी रजोहरण या पूँजनी से प्रमार्जना करनी चाहिए और एकान्त स्थान में धीरे से छोड़ देना चाहिए।

वस्त्र, पात्र आदि को अच्छी तरह से खोलकर चारों ओर से देखना, प्रतिलेखना कहलाती है और रजोहरण आदि के द्वारा अच्छी तरह साफ करना प्रमार्जना है। प्रतिलेखना और प्रमार्जना दोनों परस्पर सम्बन्धित हैं। पहले प्रतिलेखना होती है, बाद में प्रमार्जना।

ओघनिर्युक्ति[2] के अनुसार शरीर, उपाश्रय, उपकरण, स्थंडिल–मल-मूत्र विसर्जन की भूमि, अवष्टंभ और मात्रक ये प्रतिलेखनीय हैं। उपकरण प्रतिलेखना के दो प्रकार हैं–वस्त्र-प्रतिलेखना और पात्र-प्रतिलेखना। मुखवस्त्रिका और रजोहरण

---

१. आदान भाण्डमात्र निक्षेपणा समितिर्नाम आदाननिक्षेपविषया समितिः सुन्दरचेष्टेत्यर्थः।
–आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति

२. ठाणे उवगरणे य, थंडिलउवथंभमत्तपडिलेहा।
किंमाई पडिलेहा, पुव्वण्हे चावे अवरण्हे।।
–ओघनिर्युक्ति, गाथा २६३

की प्रतिलेखना[1] के पश्चात् रजोहरण को अँगुलियों से पकड़कर भाजन की प्रतिलेखना करे। उत्तराध्ययन में श्रमण के वस्त्र की प्रतिलेखना की विधि बताई है। सर्वप्रथम उकडू आसन पर बैठकर वस्त्र को ऊँचा रखे, स्थिर रखे और बिना शीघ्रता से चक्षु से देखकर प्रतिलेखना करे। उसके बाद वस्त्र को झटकाये और वस्त्र की प्रमार्जन करे।[2]

प्रतिलेखना की विधि

प्रतिलेखना करते समय वस्त्र व शरीर को न नचाये, न मोड़े, उपयोगशून्य होकर शीघ्र प्रतिलेखना न करे, वस्त्र के तीन भाग करके उनको दोनों ओर से अच्छी तरह से देखना चाहिए। देखने के पश्चात् धीरे-धीरे यतना से झटकाना चाहिए। झटकाने के पश्चात् वस्त्र आदि पर लगे हुए जीव को यतना से प्रमार्जन कर हाथ में लेना और एकान्त स्थान पर यतना से परठना चाहिए।

प्रतिलेखना के प्रकार

स्थानांग[3] में प्रमाद प्रतिलेखना के छह प्रकार बताये हैं–

(१) विपरीत रीति से या बहुत ही शीघ्रता से प्रतिलेखना करना, एक वस्त्र की प्रतिलेखना को बीच में अपूर्ण छोड़कर दूसरे वस्त्र की प्रतिलेखना करना आरभटा प्रतिलेखना है।

(२) जिस प्रतिलेखना में वस्त्र की सलवट न निकाली जाय वह सम्मर्दा प्रतिलेखना है अथवा प्रतिलेखना के उपकरणों पर बैठकर ही प्रतिलेखना करना।

(३) जैसे धान्य कटते समय मूसल ऊपर, नीचे और तिरछे लगता है, उसी तरह प्रतिलेखना करते समय वस्त्र को ऊपर, नीचे और तिरछे लगाना मौसली प्रतिलेखना है।

(४) जैसे धूल से सना हुआ वस्त्र जोर से झटकाया जाता है वैसे प्रतिलेखना के वस्त्र को जोर से झटकाना प्रस्फोटना प्रतिलेखना है।

(५) प्रतिलेखना किये हुए वस्त्रों को बिना प्रतिलेखना किये हुए वस्त्र में मिला देना या प्रतिलेखना करते हुए वस्त्र के पल्ले को इधर-उधर फेंकना विक्षिप्ता प्रतिलेखना है।

---

१. उत्तराध्ययन २६-२३
२. वही २६-२४
३. स्थानांग ६

(६) प्रतिलेखना करते समय घुटनों के ऊपर, नीचे या पीछे हाथ रखना, दो घुटनों के बीच या भुजाओं के बीच एक घुटने को रखना वेदिका प्रतिलेखना है।

इस प्रकार से प्रतिलेखना करने का निषेध किया गया है।

विवेकपूर्वक की गई प्रतिलेखना और प्रमार्जना प्रशस्त कहलाती है और असावधानीपूर्वक की गई प्रतिलेखना और प्रमार्जना अप्रशस्त कहलाती है। जो श्रमण सम्यक् प्रकार से प्रतिलेखना-प्रमार्जना नहीं करता, अपने उपकरणों को इतस्ततः रख देता है, शय्या आदि पर धूल धूसरित पैरों से ही सो जाता है, वह सच्चा श्रमण नहीं है।

काल से–प्रतिलेखना के दो काल हैं[1]–पूर्वाह्न और अपराह्न। पत्र और पात्र की प्रतिलेखना का यही काल है। आचार्य नेमीचन्द्र[2] ने कालभेद से प्रतिलेखना के तीन काल बताये हैं–मुकपोथिका (मुखवस्त्रिका) आदि दस उपकरणों का प्रतिलेखना काल पूर्वाह्न यानी प्रभात का समय है। तृतीय प्रहर व्यतीत होने पर चौदह उपकरणों की प्रतिलेखना का समय आता है। ओघनिर्युक्ति और प्रवचनसारोद्धार के अनुसार वे प्रतिलेखनीय चौदह उपकरण इस प्रकार हैं–

चौदह उपकरण

ओघनिर्युक्ति के अनुसार–(१) पात्र, (२) पात्र-बंध, (३) पात्र-स्थापन, (४) पात्र-केसरिका, (५) पटल, (६) रजस्त्राण, (७) गुच्छग, (८-१०) तीन पछेवडी, (११) रजोहरण, (१२) मुखवस्त्रिका, (१३) मात्रक, (१४) चोलपट्टक।[3]

प्रवचनसारोद्धार के अनुसार–(१) मुखपोतिका, (२) चोलपट्टक, (३) गोच्छग, (४) पात्र-प्रतिलेखनिका, (५) पात्र-बंध, (६) पटल, (७) रजस्त्राण, (८) पात्र-स्थापन, (९) मात्रक, (१०) पात्र, (११) रजोहरण, (१२-१४) तीन पछेवडिया।[4]

---

१. (क) ओघनिर्युक्तिभाष्य, गा. १५८, १७३ वृत्ति
(ख) उत्तराध्ययन, बृ. वृ., पत्र ५३७

२. प्रवचनसारोद्धार, गा. ५९०-५९२

३. पत्तं पत्ताबंधो पायट्ठवणं च पायकेसरिया।
पडलाइ रयत्ताणं च, गुच्छओ पायनिज्जोगो॥
तिन्नेव य पच्छागा, रयहरणं चेव होइ मुहपत्ती।
एसो दुवालसविहो, उवही जिणकप्पियाणं तु॥
एए चेव दुवालस, मत्तग अइरेग चोलपट्टो य।
एसो चउद्दसविहो, उवही पुण थेरकप्पम्मि॥ –ओघनिर्युक्ति, गा. ६६८-६७०

४. प्रवचनसारोद्धार, गा. ५९२ वृत्ति, पत्र १६६

पौन पौरुषी के समय ओघनिर्युक्ति और प्रवचनसारोद्धार के अनुसार इन उपकरणों की प्रतिलेखना की जाती थी।

ओघनिर्युक्ति के अनुसार–(१) पात्र, (२) पात्र-बंध, (३) पात्र-स्थापन, (४) पात्र-केसरिका, (५) पटल, (६) रजस्त्राण गुच्छग।[१]

प्रवचनसारोद्धार के अनुसार–(१) मुखपोतिका, (२) गोच्छग, (३) पटल, (४) पात्र-केसरिका, (५) पात्र-बंध, (६) रजस्त्राण, (७) पात्र-स्थापन।[२]

भाव से–उपयोगपूर्वक वस्त्र आदि का उपयोग किया जाय। बिना प्रतिलेखन किये, अविधि प्रतिलेखन, विपरीत प्रतिलेखन न करते हुए सभी प्रकार से सावधानी की अपेक्षा है जिससे जीवों की विराधना न हो।

उपधि के प्रकार

श्रमण की उपधि के दो प्रकार हैं–ओघ उपधि और औपग्रहिक उपधि। जो स्थाई रूप से अपने पास रखी जाय वह ओघ उपधि है और विशेष कारण से जो रखी जाती है वह औपग्रहिक उपधि है।[३] जिनकल्पी श्रमणों के लिए बारह, स्थविरकल्पी श्रमणों के लिए चौदह और श्रमणियों के लिए पच्चीस ओघ उपधि हैं। इनसे जो अधिक उपधि रखी जाती हैं वे सभी औपग्रहिक उपधि में परिगणित होती हैं।[४]

प्रस्तुत समिति में 'भण्डक' शब्द का प्रयोग है। उसका अर्थ उपकरण है। ओघनिर्युक्ति में उपधि, उपग्रह, संग्रह, प्रग्रह, अवग्रह, भण्डक, उपकरण और करण ये सभी पर्यायवाची माने हैं।[५]

उच्चार-प्रस्रवण-श्लेष्म-सिंघाण-जल्ल-परिष्ठापनिका समिति

मल-मूत्र आदि ऐसे पदार्थ जो परिष्ठापन के योग्य हों अथवा भग्न पात्र आदि को जीवरहित एकान्त स्थंडिल भूमि में परठना चाहिए।

उत्तराध्ययनसूत्र[६] में परिष्ठापन विधि का समुचित निर्देश किया है। वहाँ बताया गया है कि गाँव और उद्यानों से दूरवर्ती स्थानों में, कुछ समय पूर्व दग्ध

---

१. ओघनिर्युक्ति, गा. ६६८

२. प्रवचनसारोद्धार, गा. ५९२ वृत्ति, पत्र १६६

३. ओघनिर्युक्ति, गा. ६६७

४. वही, गा. ६७१-६७७

५. वही, गा. ६६४

६. अचिरकालकृते च दाहादिना स्वल्पकालनिर्वृत्तिते चिरकालकृते हि पुनः संमूर्च्छन्त्येव पृथ्वीकायादयः। —उत्तराध्ययनसूत्र, बृहद् वृत्ति, पत्र ५१८

स्थानों में मल आदि का विसर्जन करे, क्योंकि स्वल्प काल पूर्व के दग्ध स्थान ही सर्वथा अचित्त होते हैं किन्तु जो स्थान पहले दग्ध हो चुके हों वहाँ पर जीवों की उत्पत्ति संभव है।

आवश्यकसूत्र[1] की शिष्यहिता टीका में आचार्य हरिभद्र ने परिष्ठापनिका समिति का निर्वचन करते हुए लिखा है–सभी प्रकार से वस्तुओं को डाल देना, डाल देने के पश्चात् पुनः ग्रहण न करना परिष्ठापनिका समिति है।

यह सहज जिज्ञासा हो सकती है कि आदान निक्षेपणा समिति में भी वस्तु का निक्षेप है और प्रस्तुत समिति में भी। समाधान यह है–आदान निक्षेपणा समिति में सदा-सर्वदा के लिए वस्तु का त्याग नहीं किया जाता, उसमें केवल योग्य स्थान पर वस्तु को रखा जाता है; पर परिष्ठापनिका समिति में वस्तु का सदा के लिए त्याग किया जाता है, पुनः उस चीज का उपयोग नहीं किया जाता।

गुप्ति

गुप्ति का शाब्दिक अर्थ रक्षा है। मन, वचन, काय के साथ जब गुप्ति का योग होता है तो उसका अर्थ है–मन, वचन और काय की अकुशल प्रवृत्तियों से रक्षा और कुशल प्रवृत्तियों में संयोजन। सम्यक् प्रवृत्ति को लक्ष्य में रखकर ही यह अर्थ किया गया है। जब तक असम्यक् प्रवृत्ति से निवृत्ति नहीं होती, वहाँ तक कोई भी प्रवृत्ति सम्यक् नहीं हो सकती। प्रस्तुत दृष्टि से सम्यक् प्रवृत्ति में गुप्ति होना अनिवार्य है।[2]

मन, वचन और काया की स्वच्छन्द प्रवृत्ति को रोकना निग्रह है। विषय-सुख की अभिलाषा के लिए की जाने वाली प्रवृत्ति का निषेध करने हेतु 'सम्यक्' शब्द का प्रयोग किया गया है। सम्यक् प्रकार से योगों का निरोध होने से कर्मों का आस्रव रुक जाता है। आचार्य पतंजलि ने "चित्तवृत्ति निरोधो योगः।"–चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहा है। प्रस्तुत सूत्र को गुप्ति के लिए इस रूप में कहा जा सकता है–"चित्तवृत्ति निरोधो गुप्तिः।"

---

१. पारितः–सर्वैः प्रकारैः स्थापनम्–अपुनर्ग्रहणतया न्यासः, तेन निवृत्ता परिष्ठापनिकी।
–आवश्यक हारिभद्रीया

२. शोभनं गुप्तिः–मनः प्रभृतीनां कुशलानां प्रवर्तनमकुशलानां च निवर्त्तनमिति आह च–
मणगुत्तिनाइयाओ, गुत्तीओ तिन्नि समयकेऊहिं।
पवियारेयररूवा, णिद्दिट्ठाओ जओ भणियं॥
समिओ णियमा गुत्तो समियत्तणंमि भइयव्वो।
कुसलवइमुईरंतो, जं वइगुत्तेऽवि समिओऽवि॥ *–स्थानांगवृत्ति, पत्र १०५, १०६*

मनोगुप्ति

संरंभ, समारंभ और आरंभ में प्रवृत्त हुए मन के व्यापार को रोकना मनोगुप्ति है।[1] किसी को मारने की इच्छा करना संरंभ है। मारने के साधनों पर विचार करना समारंभ है और मारने की क्रिया के लिए प्रारम्भ करने का विचार करना आरंभ है। मन के ये क्रमशः तीन विकल्प हैं। इन तीनों को रोकना आवश्यक है।

मन के विचारों की प्रवृत्ति सत्य, असत्य, मिश्र और अनुभय होती है।[2] एतदर्थ मनोगुप्ति के भी (१) सत्य मनोगुप्ति–अर्थात् सद्भूत पदार्थ में प्रवर्तमान मन की प्रवृत्ति को रोकना; (२) असत्य मनोगुप्ति–मिथ्या पदार्थों में प्रवर्तमान मन की प्रवृत्ति को रोकना; (३) सत्यमृषा मनोगुप्ति–सत्य और असत्य से मिश्रित मन के विचारों को रोकना; (४) असत्यमृषा मनोगुप्ति–सत्य, असत्य एवं सत्यासत्य से रहित मन के विचारों को रोकना। डॉ. हरमन जेकोबी प्रथम तीन विकल्पों को विधेयात्मक और चतुर्थ को निषेधात्मक मानते हैं।[3]

मन को एकाग्र करना और मन को समाधिस्थ करना ये दोनों मनोगुप्ति के प्रतिफल हैं। मन को जीतना अत्यन्त कठिन है। वह पवन के समान चंचल है और दुष्ट घोड़े जैसा दुस्साहसिक है। मन के सदृश कोई शत्रु नहीं है, अतः उसे मारना चाहिए। यह चिन्तन का एक पहलू है। दूसरा पहलू है मन मित्र है, वह सृष्टि का निर्माता तथा ब्रह्मा के सदृश है। मन को अनुकूल कर लेने पर परमानन्द की उपलब्धि होती है। मन परम शक्ति है। जब मन गलत दिशा में सरपट दौड़ना प्रारम्भ करता है तो सृष्टि में प्रलय का दृश्य उपस्थित कर देता है। निरपराध मानवों के रक्त की नदियाँ बहा देता है और हड्डियों के पहाड़ खड़े कर देता है।

इसके विपरीत जब मन मित्र के रूप में हो तो सृष्टि में स्वर्ग का निर्माण करता है, सभ्यता और संस्कृति का जो भी विकास हुआ है वह मानव के चिन्तन और मनन के फलस्वरूप ही हुआ है। इसलिए मन को ब्रह्मा कहा है।

साधना के क्षेत्र में दो विचार हैं। जो साधक मन को शत्रु मानते हैं, वे मन को मारने की बात कहते हैं। उनका वज्र आघोष है–"मन मारा, तन वश किया।" मन के मारने के लिए विविध प्रकार की क्रियाओं का विकास हुआ, मन को मूर्च्छित

---

१. उत्तराध्ययन २४-२१

२. सच्चा तहेव मोसा य, सच्चमोसा तहेव य।
चउत्थी असच्चमोसा, मणगुत्ती चउव्विहा॥ —उत्तराध्ययन २४-२०

३. First three refer to assertions and the fourth to injunctions.
—सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, भाग ४५, पृ. १५० (हर्मन जेकोबी)

करने के लिए मदिरा, भाँग, गाँजा और धतूरा जैसे नशीले पदार्थ अपनाये गये; हठयोग की साधनाएँ आईं। हठयोगी साधकों का मन्तव्य है–मन पारे के सदृश है। जैसे पारे को मारने से वह सिद्ध रसायन बन जाता है वैसे ही मन को मारने से वह सिद्ध रसायन के समान उपयोगी बनता है।

पर साधक साधक है, वह साधने वाला है, मारने वाला नहीं। इसीलिए दूसरा चिन्तन है–"मन को साधो, मारो मत।" मन का स्वभाव मनन करना है। जब वह मनन करेगा तो उसमें गतिशीलता आएगी ही। मन की उपलब्धि अत्यन्त पुण्यवानी के पश्चात् हुई है। जिसके पास मन नहीं है वह सम्यग्दृष्टि भी नहीं बन सकता। मन भूत नहीं, देव है। उसकी चंचलता को मोड़ने की आवश्यकता है। मन की एकाग्रता तभी लाभप्रद है जब उसमें पवित्रता होती है। पहले मन में जो असद्विचारों का कूड़ा-कचरा है, उसे निकालकर शुद्ध और निर्मल बनाइए। सधा हुआ मन साधना के पवित्र पथ पर दौड़ेगा। मन मधुमक्षिका की तरह है। जब उसे सत्कर्मों के फूलों में रस-प्राप्त होगा तो वह स्वतः उन पर मँडराता रहेगा और उसकी गुनगुनाहट भी बन्द हो जाएगी। उसके समस्त संकल्प-विकल्प और विकार समाप्त हो जाएँगे।

मन को आर्त्त-रौद्र ध्यान से हटाकर लोक-परलोक हितकारी धर्म-ध्यान सम्बन्धी चिन्तन करना और संसार के प्रति माध्यस्थ भाव रखना तथा राग-द्वेष से मन का परावृत्त होना एवं अखण्ड अद्वैत परमचिद्रूप में सम्यक् रूप से अवस्थित रहना मनोगुप्ति है।

वचनगुप्ति

वचन के संरंभ, समारंभ और आरम्भ सम्बन्धी व्यापार को रोकना, विकथा न करना, असत्य न बोलना, चुगली आदि न करना, मौन रहना वचनगुप्ति है।[1]

भारतीय तत्त्वचिन्तकों ने 'वाक्' को परब्रह्म माना है। ब्रह्माद्वैतवाद की तरह शब्दाद्वैतवाद नाम का भी एक दर्शन है। उस दर्शन का यह मन्तव्य है कि सम्पूर्ण संसार शब्दमय है। सारे संसार में एक प्रकार का प्रकंपन है। ध्वनि की तरंगें उठ रही हैं। ऊर्मियाँ उछल रही हैं। ये सभी ध्वनियाँ शब्द हैं।

व्याकरण के मूर्धन्य मनीषियों ने और मंत्रविद् आचार्यों ने ध्वनि के चार रूप बताये हैं–वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा। वैखरी स्थूल ध्वनि है, मध्यमा व्यंजन ध्वनि है, पश्यन्ती मनोमय ध्वनि है और परा प्राणमय ध्वनि है। ये क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम हैं।

---

१. उत्तराध्ययन २४, २२-२३

आधुनिक वैज्ञानिकों ने ध्वनि की शक्ति को अनुभव कर लिया है। वे मानते हैं कि स्थूल ध्वनि से सूक्ष्म ध्वनि में अधिक शक्ति है, उससे अधिक सूक्ष्मतर में और उससे भी अधिक सूक्ष्मतम में है। सूक्ष्मतम ध्वनि से हीरा जो सबसे अधिक कठोर है, वह भी कट जाता है। पाश्चात्य देशों में सूक्ष्म ध्वनि-तरंगों से सफल आपरेशन होने लगे हैं।

प्राचीन साहित्य में मंत्रशक्ति के अनेक चमत्कार पढ़ने को मिलते हैं। मंत्र को गिनने से मकान प्रकंपित हो जाते थे, देवताओं के सिंहासन चलायमान हो जाते थे। विज्ञान ने आज यह सिद्ध कर दिया है कि ध्वनि की तरंगों में अद्‌भुत व गजब की शक्ति है। स्थूल उपकरण जिन कार्यों को नहीं कर सकते हैं, वह कार्य ध्वनि-तरंगों से सम्पन्न हो सकते हैं।

गणधर गौतम ने भगवान महावीर से पूछा[1]–भगवन् ! वचनगुप्ति से क्या लाभ है ? भगवान ने कहा–वचनगुप्ति से निर्विचारता प्राप्त होती है। उसके विचार समाप्त हो जाते हैं।

• सर्वप्रथम मनगुप्ति कही गयी है। उसका कारण यह है–यदि मन में विचारों का ज्वार-भाटा चलता रहा तो मन में चंचलता रहेगी और यदि मन में चंचलता है तो वचनगुप्ति नहीं हो सकती। मनगुप्ति और वचनगुप्ति ये दोनों साथ-साथ चलती हैं। यदि न बोलेंगे तो शरीर में समुत्पन्न शक्ति का व्यय नहीं होगा। बोलने से शक्ति का अपार व्यय होता है जिससे हमारे स्नायुओं में तनाव आता है।

सबसे पहले हमारे मन में संकल्प-विकल्प उठते हैं और उन संकल्प-विकल्पों को व्यक्त करने के लिए हम बोलते हैं। जब संकल्प तीव्र हो जाते हैं तो उन्हें बाहर फेंकने के लिए हम मचल उठते हैं। मानसिक आवेग की स्थिति में यदि दूसरा व्यक्ति नहीं है तो स्वयं ही गुनगुनाने लगते हैं जिसे हम 'स्वगत वार्तालाप' कहते हैं। बोलने का दूसरा कारण जन-सम्पर्क भी है। इसीलिए आचार्य ने 'जनेभ्यो वाक्' कहा है। बोलने की क्रिया को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं–बहिर्जल्प और अन्तर्जल्प। बहिर्जल्प स्थूल भाषा है–वैखरी वाणी है और अन्तर्जल्प सूक्ष्म भाषा और सूक्ष्म वाणी है। जब ये दोनों जल्प समाप्त होते हैं तभी वचनगुप्ति होती है।

योग का एक प्रसिद्ध सिद्धान्त है–सुषुम्ना नाड़ी का सम्बन्ध ब्रह्मरन्ध्र के साथ है। वहाँ से एक प्रकार के रस का स्राव होता है और वह रस नीचे तक जाता है। जो व्यक्ति बहुत तेजी से शब्दों का उच्चारण करता है, उस समय सुषुम्ना से जो रस टपकता है उसके नौ बिन्दु स्रवित होते हैं और जो मध्यम शब्दोच्चारण करता है उसके बारह बिन्दु स्रवित होते हैं और जो विलंबित अत्यन्त शनैः-शनैः उच्चारण

---

१. उत्तराध्ययन २९-५८

करता है उसके सोलह बिन्दु स्रवित होते हैं। इस तरह व्यक्ति ज्यों-ज्यों कम बोलता है त्यों-त्यों स्रोतों की मात्रा बढ़ती जाती है जिससे अद्भुत सुख का उसे अनुभव होने लगता है। एतदर्थ ही योग के आचार्यों ने वाक्संयम पर बल दिया और जैन मनीषियों ने वचनगुप्ति का संदेश दिया है। वचनगुप्ति से मनुष्य को शक्ति का अक्षय स्रोत प्राप्त होता है। यही कारण है–जितने भी तीर्थंकर हुए उन्होंने छद्मस्थ अवस्था में अधिक से अधिक समय मौन-साधना में व्यतीत किया।

मनोगुप्ति के भाँति ही वचनगुप्ति के भी चार प्रकार हैं–(१) सत्य वाक्गुप्ति, (२) मृषा वाक्गुप्ति, (३) सत्यमृषा वाक्गुप्ति, और (४) असत्यमृषा वाक्गुप्ति।[1]

आचार्य शिवकोटि[2] ने लिखा है–जिससे दूसरे प्राणियों को उपद्रव होता है ऐसे भाषण से परावृत्त होना वाक्गुप्ति है। अथवा जिस भाषण में प्रवृत्ति करने वाली आत्मा अशुभ कर्म का विस्तार करती है, ऐसे भाषण से परावृत्त होना वाक्गुप्ति है अथवा सम्पूर्ण प्रकार के वचनों का त्याग करना वाक्गुप्ति है।

कायगुप्ति

शारीरिक क्रिया सम्बन्धी संरंभ, समारंभ, आरंभ में प्रवृत्ति न करना, उठने-बैठने, हिलने-चलने, सोने में संयम रखना, अशुभ व्यापारों का परित्याग रखना, यतनापूर्वक सदप्रवृत्ति करना कायगुप्ति है।

गणधर गौतम[3] ने भगवान महावीर से पूछा–कायगुप्ति से जीव क्या प्राप्त करता है ? तो भगवान ने उत्तर दिया–कायगुप्ति से जीव संवर को प्राप्त करता है। यहाँ पर 'संवर' का अर्थ अकुशल कायिक प्रवृत्ति से उत्पन्न आस्रव का निरोध करना है। जब अकुशल आस्रव का संवरण होने लगता है तब हिंसादि पापास्रव निरुद्ध होने लगते हैं। प्रवृत्ति का मुख्य केन्द्र काया है। आस्रव और संवर का काया से गहरा सम्बन्ध है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण[4] ने लिखा है–मुख्य योग काययोग है।

वचनयोग और मनोयोग के योग्य पुद्गल भाषावर्गणा और मनोवर्गणा को ग्रहण करने का कार्य काययोग से ही होता है। उसके स्थिर होने पर सहज संवर हो जाता है। काया की चंचलता या आस्रवाभिमुखता के बिना वचन व्यापार और मन

---

१. उत्तराध्ययन २४-२२

२. (क) भगवती आराधना ११८७
   (ख) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग २, पृ. २४९

३. उत्तराध्ययन २९, ५६

४. किं पुण तणुसंरंभेण जेण मुंचइ स वाइओ जोगो।
   मण्णइ य स माणसिओ, तणुजोगो चेव य विभत्तो॥ –*विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ३५९*

की चंचलता नष्ट हो जाती है। मन की चंचलता और स्थिरता का शरीर की प्रवृत्ति से गहरा सम्बन्ध है। बिना शरीर को स्थिर किये श्वास स्थिर नहीं होता और बिना श्वास को स्थिर किये मन स्थिर नहीं हो सकता। विजातीय तत्त्व का ग्रहण शरीर के द्वारा होता है। अतः बन्ध और मोक्ष की प्रक्रिया में मन के साथ शरीर का बहुत ही गहरा सम्बन्ध है।

कायगुप्ति की साधना के लिए हमें सर्वप्रथम आत्म-केन्द्रित होना होगा। आत्म-दर्शन की भावना जब तीव्र होती है, तब उसका ध्यान आत्म-केन्द्र पर केन्द्रित होगा जिससे शरीर में शिथिलता आने लगेगी और शरीर-भान कम होने लगेगा। एतदर्थ ही भारतीय मनीषियों ने कहा–आत्मा और देह को भिन्न समझने का अभ्यास करो। जब साधक को आत्मा के अस्तित्व का भान होने लगता है तब उसकी शरीर के प्रति आसक्ति क्षीण होने लगती है। ममत्व, ममकार और अहंकार क्षीण होने से देह की चंचलता अपने आप क्षीण हो जाएगी।

आज भारत में सर्वत्र मिलावट का बोलबाला है। मिलावट के कारण शुद्ध वस्तु का मिलना भी कठिन हो गया है। गेहूँ, चावल, चना आदि अन्न में कंकड़ मिलाये जाते हैं। भोजन करने वाले उन अन्नकणों में से कंकड़ों को पृथक् करते हैं। कंकड़ों को पृथक् करने के बाद ही वह अन्न भोजन के योग्य बनता है। वैसे ही आत्मा के असंख्यात प्रदेशों पर जो कर्मवर्गणाओं के पुद्गल लगे हुए हैं, वे कर्मपुद्गल सम्यग्दर्शन के द्वारा जब भेदविज्ञान होता है तब पृथक् किये जाते हैं। कायगुप्ति तभी हो सकती है जब पहले सम्यग्दर्शन हो। कायसमाधारण कायगुप्ति का प्रतिफल है।

मनोगुप्ति और वचनगुप्ति की तरह कायगुप्ति के सत्यादि चार भेद नहीं गिनाये गये हैं। अतः स्थान, निषीदन, शयन, उल्लंघन, गमन और इन्द्रियों के व्यापार में असद् अंश का वर्जन करना कायगुप्ति है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अष्ट प्रवचन माता श्रमण-जीवन का आधार है इसके आधार से श्रमण-जीवन का सम्यक् प्रकार से पालन हो सकता है। जो श्रमण इन प्रवचन माताओं के पालन करने में पूर्ण जागरूकता रखता है उसका समूचा आचार विशुद्ध रहता है।

●●

१८. आचार की सम्यक् भूमिकाएँ : समाचारी

विशिष्ट क्रियाएँ : सामाचारी

सामाचारी जैन संस्कृति का पारिभाषिक शब्द है। यों शिष्ट जन आचरित क्रिया-कलाप सामाचारी कहलाती है। आगम साहित्य का पर्यवेक्षण करने पर परिज्ञात होता है कि सामाचारी वह विशेष क्रिया-कलाप है जो श्रमणों के लिए मौलिक नियमों की तरह अनिवार्य है। यद्यपि वे क्रियाएँ लघु प्रतीत होती हैं किन्तु लघु होने पर भी साधक के जीवन में उसका गहरा असर पड़ता है और वे उस साधक के जीवन में आमूलचूल परिवर्तन कर देती हैं।

भगवती[1], स्थानांग[2], उत्तराध्ययन[3] प्रभृति आगमों में प्रमुख रूप से सामाचारी का वर्णन उपलब्ध होता है। आवश्यकनिर्युक्ति में भी सामाचारी पर चिन्तन हुआ है। दृष्टिवाद के नौवें पूर्व की आचार नामक तृतीय वस्तु के बीसवें 'ओघप्राभृत' में सामाचारी के सम्बन्ध में अत्यधिक विस्तार के साथ वर्णन था, किन्तु वह सभी श्रमणों के लिए सुलभ नहीं थी। जो विशिष्ट मेधावी सन्त थे, वे ही उसका अध्ययन-परिशीलन कर सकते थे। आज वह अनुपलब्ध है। विशिष्ट आगम मर्मज्ञ आचार्यों ने शिष्यों के अनुग्रहार्थ ओघनिर्युक्ति आदि विशिष्ट ग्रन्थों का निर्माण किया, जो पूर्व साहित्य पर आधृत है। प्रवचनसारोद्धार, धर्मसंग्रह में भी सामाचारी पर विचार-चर्चा हुई है। उपाध्याय यशोविजय जी ने 'सामाचारी प्रकरण' ग्रन्थ की स्वतन्त्र रचना भी की है।

श्रमणाचार के मुख्य दो भेद हैं–व्रतात्मक आचार और व्यवहारात्मक आचार। व्रतात्मक आचार महाव्रत है जो शाश्वत है। व्यवहारात्मक आचार एक-दूसरे के अनुग्रह पर अवलम्बित है। श्रमण के लिए जितना महत्त्वपूर्ण व्रतात्मक आचार है उतना ही महत्त्वपूर्ण व्यवहारात्मक आचार भी है। जैन आचाराशास्त्र में दोनों पर विस्तारपूर्वक विश्लेषण किया गया है। उस व्यावहारिक आचार-संहिता को सामाचारी कहा गया है। उसे समाचार और सामाचार भी कहते हैं।

---

१. भगवती २५, ७

२. स्थानांग १०, सूत्र ७४९

३. उत्तराध्ययन, अ. २६

सामाचारी के विविध भेद

सामाचारी के ओघ सामाचारी और पदविभाग सामाचारी ये दो भेद हैं। उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति में आचार्य वादिवेताल शान्तिसूरि[1] ने ओघ सामाचारी का अन्तर्भाव धर्मकथानुयोग में किया है और पदविभाग सामाचारी का चरणकरणानुयोग में।

ओघ सामाचारी के (१) आवश्यकी, (२) नैषेधिकी, (३) आपृच्छा, (४) प्रतिपृच्छा, (५) छन्दना, (६) इच्छाकार, (७) मिच्छाकार, (८) तथाकार, (९) अभ्युत्थान, और (१०) उपसंपदा–ये दस प्रकार हैं। भगवती और स्थानांग में दस सामाचारी का वर्णन है। उसमें क्रम-भेद के साथ नाम-भेद भी मिलता है। 'अभ्युत्थान' के स्थान पर 'निमंत्रणा' है। आवश्यकनिर्युक्ति में भी निमंत्रणा ही मिलता है। उत्तराध्ययन में प्रथम तीन सामाचारियों का छट्ठा, सातवाँ और आठवाँ क्रम है।

आवश्यकनिर्युक्ति[2] में सामाचारी के तीन प्रकार हैं–ओघ सामाचारी, दशविध सामाचारी और पदविभाग सामाचारी। ओघ सामाचारी का प्रतिपादन ओघनिर्युक्ति में किया गया है। उसके प्रतिलेखन, पिण्ड, उपधिप्रमाण, अनायतनवर्जन, प्रतिसेवना (दोषाचरण) आलोचना, विशोधि[3]–ये भेद हैं।

पदविभाग सामाचारी छेदसूत्रों में वर्णित है।

दिगम्बर ग्रन्थ मूलाचार में सामाचारी के स्थान पर समाचार और सामाचार ये दो शब्द व्यवहृत हुए हैं। आचार्य वट्टकेर ने उसके (१) समता का आचार, (२) सम्यक् आचार, (३) सम आधार, (४) समान आचार–ये चार अर्थ किये हैं।[4]

अन्य ग्रन्थों में दस विध चक्रवाल सामाचारी का भी उल्लेख संप्राप्त होता है।

श्रमण-जीवन की दिन-रात में जितनी भी प्रवृत्तियाँ हैं वे सभी 'सामाचारी' शब्द से व्यवहृत की गई हैं। सामाचारी संघीय-जीवन जीने की श्रेष्ठ कला है। इससे परस्पर एकता की भावना विकसित होती है तथा संघ में बल प्राप्त होता है।

---

१. अनन्तरोक्ता सामाचारी दशविधा ओघरूपा च पदविभागात्मिका चेह नोक्ता धर्मकथाऽनुयोगत्वादस्य छेदसूत्रांतर्गतत्वाच्च तस्याः। –*बृहद् वृत्ति, पत्र ५४७*

२. आवश्यकनिर्युक्ति, गा. ६८५

३. पडिलेहगं च पिंडं उवहिपमाणं अणाययणवज्जं।
पडिसेवणमालोअण, जह य विसोही सुविहियाणं॥ –*ओघनिर्युक्ति २*

४. समदा सामाचारो, सम्माचारो समो व आचारो।
सव्वेसिं सम्माणं समाचारो हु आचारो॥ –*मूलाचार, गा. १२३*

उत्तराध्ययनसूत्र में दस विध सामाचारी का वर्णन है। उस पर हम जरा विस्तार से चर्चा कर रहे हैं।

(१) आवश्यकी

सामान्य नियम यह है कि श्रमण जहाँ पर अवस्थित हो, वहाँ से वह बाहर न जाय। आवश्यक कार्य होने पर ही वह बाहर जाये। उस समय आवश्यकी का उच्चारण करे।[1] इससे स्पष्ट है कि मैं आवश्यक कार्य से, विशेष लक्ष्य से जा रहा हूँ। मूलाराधना[2] तथा मूलाचार[3] में 'आवस्सिया' के स्थान पर 'आसिया' शब्द का प्रयोग हुआ है। अर्थ में भेद नहीं है।

(२) नैषेधिकी

सद्गुरु के आदेश से आवश्यक कार्य करके पुनः कार्य से निवृत्त होकर अपने स्थान पर आने पर नैषेधिकी का उच्चारण करना चाहिए। यह स्थान प्रवेश का द्योतक है। इस शब्दोच्चारण से यह ध्वनित होता है कि प्रयोजन पूरा हो चुका है।

वट्टकेर ने मूलाचार[4] में लिखा है कन्दर-पानी के द्वारा काटे हुए क्षेत्र में, पुलिन-पानी के द्वारा छोड़े हुए क्षेत्र में, गुहा-पर्वतों के पार्श्ववर्ती विवरों में उन स्थानों से वापस लौटते समय आवश्यकी कहना चाहिए और उन स्थानों में प्रवेश करते समय नैषेधिकी कहना चाहिए। यह अपेक्षा की दृष्टि से क्रम-भेद है।

(३) आपृच्छा

श्रमण को गुरुजनों की आज्ञा का विशेष रूप से पालन करना चाहिए। चाहे जैसा भी कार्य हो गुरुजनों से पूछना आपृच्छा है। गुरुजनों के आदेश-निर्देश से जो कार्य किया जाता है उससे अनेक अकरणीय कार्य स्वतः छूट जाते हैं और जिसको वह नहीं जानता है उसका भी परिज्ञान हो जाता है। उत्तराध्ययन के वृहत् वृत्तिकार[5] ने स्वयं-करण और पर-करण ये आज्ञा के दो स्थान बताये हैं।

---

१. (क) उत्तराध्ययन, बृहत्वृत्ति, पत्र ५३४
(ख) गच्छंतस्सु उवउत्तं गुरुवएसेण विहिय कज्जेण।
आवस्सिय त्ति सद्दो णेया आवस्सिया णाम॥ —*सामाचारी प्रकरण ३६*

२. मूलाराधना, गा. २०५६

३. मूलाचार-समाचाराधिकार, गा. १२५

४. कंदर पुलिन गुहादिसु पवेसकाले णिसिद्धिया कुज्जा।
तेहिं तो णिग्गमणे तहासिया होदि कायव्वा॥ —*मूलाचार, प्र. ४, १३४*

५. आडिति-सकलकृत्याभिव्याप्त्या प्रच्छना आप्रच्छना-इदमहं कुर्यां न वेत्येवं रूपा तां स्ववमित्यात्मनः करणं-कर्त्तव्यविधिविवक्षित कार्यस्य निर्वर्त्तनं स्वयं करणं तस्मिन् तथा 'परकरणे' अन्यप्रयोजनविधाने प्रतिप्रच्छना। —*बृहद्वृत्ति, पत्र ५३४*

(४) प्रतिपृच्छा

अपने लिए प्रथम बार पूछना आपृच्छा है और दूसरे के लिए पूछना प्रतिपृच्छा है। आवश्यकनिर्युक्ति[१] में किसी भी प्रवृत्ति के लिए, चाहे वह पहली बार हो, चाहे दूसरी बार हो, आपृच्छा कहा गया है। गुरुजनों ने किसी कार्य को करने का निषेध किया हो, पर विशेष आवश्यकता होने पर गुरु की आज्ञा प्राप्त करना प्रतिपृच्छा है। गुरुजनों ने किसी कार्य को करने के लिए शिष्य को कहा। उस कार्य को प्रारम्भ करते समय पुनः गुरुजनों की आज्ञा ग्रहण करना प्रतिपृच्छा[२] है।

वादिवेताल शान्तिसूरि[३] का अभिमत है कि शिष्य को श्वासोच्छ्वास के अतिरिक्त शेष सभी कार्यों के लिये गुरुजनों की आज्ञा प्राप्त करना आवश्यक है।

प्रश्न है–एक बार निषेध कर देने पर प्रतिपृच्छा की आवश्यकता क्यों ?

उत्तर है–आचार्य और गुरुजन समयज्ञ होते हैं। जिस कार्य के लिए पहले निषेध किया उसी कार्य को करने के लिए शिष्य पूछता है तो वे शकुन आदि देखकर पुनः आदेश दे सकते हैं। जो कार्य किया जा चुका है यदि उस कार्य में स्खलना हुई तो प्रतिपृच्छा अत्यन्त उपयोगी है। यदि कार्य करने में स्खलना हो जाय तो प्रथम बार आठ उच्छ्वास और द्वितीय बार सोलह उच्छ्वास का कायोत्सर्ग किया जाय। तृतीय बार स्खलना होने पर शृंगाटक ज्येष्ठ श्रमण से कार्य प्रारंभ करवाना चाहिये।

(५) छन्दना

अपने द्वारा लाये हुए आहार, वस्त्र आदि को आचार्य और अपने से ज्येष्ठ श्रमणों को और गुरुजनों के संकेत प्राप्त कर बाल, ग्लान और शैक्षों को ग्रहण करने के लिए आमंत्रण देना छन्दना है।[४]

मूलाराधना में कहा है कि विनय काल वैयावृत्य आदि करते समय वन्दना काल सूत्र अर्थ पूछते समय गणधर और आचार्य आदि के मन के अनुकूल आचरण करना छन्दना है।[५]

---

१. आपुच्छणा य कज्जे पुव्वनिसिद्धेण होइ पडिपुच्छा। –आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ६९७

२. उत्तराध्ययन, बृहत्वृत्ति, पत्र ५३४

३. उच्छ्वासनिश्वासौ विहाय सर्वकार्येष्वपि स्वपर संबंधिषु गुरवः प्रष्टव्याः।
–बृहद्वृत्ति, पत्र ५३५

४. गुरु आणाइ जइरिहं दाणं साहूण पुव्व गहिअस्स।
छंदण सामायारी विसेस विसया मुणेयव्वा॥ –सामाचारी प्रकरण ५५

५. गहिदुवकरणे विणए वंदन सुत्तत्थ पुच्छणादीसु।
गणधरवसभादीणं, अणुवुत्ति छंदणिच्छाए॥ –मूलाराधना ९३७

प्रश्न है–जो आहार आदि लाया गया और उसके लिए दूसरों को निमंत्रण दिया गया, पर उन्होंने ग्रहण नहीं किया तो क्या छन्दना निरर्थक नहीं है ?

उत्तर है यदि उन्होंने ग्रहण किया है तो अत्यधिक निर्जरा है ही। यदि ग्रहण नहीं भी किया तो भी वह प्रशस्त भावों से अत्यधिक निर्जरा करता है।[1]

छन्दक के लिए यह विधान है कि वह तप, संयम तथा ज्ञान अभिवृद्धि की ही कामना करे।[2] उसके अन्तर्मानस में प्रत्युपकार तथा कीर्ति की कामना नहीं होनी चाहिए और जो उसे स्वीकार करता है वह भी निर्जरा की अभिवृद्धि के लिए ग्रहण करे। अपनी शक्ति का गोपन कर आलस्य आदि की अभिवृद्धि न करे। मन में वह न सोचे और यह न कहे कि तुम मेरा यह कार्य करोगे तो मैं तुम्हारा कार्य कर दूँगा।[3]

इस सामाचारी से परस्पर सात्त्विक स्नेह की अभिवृद्धि होती है और उससे साधना में सहायता प्राप्त होती है।

(६) इच्छाकार

संघ की सुव्यवस्था के लिए परस्पर सहयोग अपेक्षित है। वह सहयोग बल से उत्प्रेरित होकर नहीं किन्तु इच्छा से प्रेरित होकर होना चाहिए।[4] ज्येष्ठ श्रमण कनिष्ठ श्रमण से और कनिष्ठ श्रमण ज्येष्ठ श्रमण से कहे–यदि आपकी इच्छा हो तो मेरा काम आप कर दीजिए।[5] जो कार्य स्नेह और सौहार्द से संभव है वह बल-प्रयोग से सम्भव नहीं।

शरच्चन्द्र ने लिखा है–जोर-जबरदस्ती से जंगल के शेर को वश में लाया जा सकता है, किन्तु जबरदस्ती से एक नन्हा-सा फूल भी विकसित नहीं किया जा सकता। श्रमण के लिए ऐसा विधान है–यदि उसके शरीर में शक्ति है तो वह दूसरे से अपना कार्य न कराये, पर रुग्ण अवस्था में ग्लान आदि की सेवा करना साधक का प्रथम कर्त्तव्य है। आचार्य, उपाध्याय आदि की सेवा करना आवश्यक है। वह सेवा स्व-इच्छा से होनी चाहिए। किन्तु अपवाद मार्ग में जो दुर्विनीत शिष्य है यदि

---

१. सामाचारी प्रकरण ५७
२. वही ५९
३. वही ६०
४. (क) अहयं तुब्भं ए अं कज्जंतु करेमि इच्छाकारेण। —आवश्यकनिर्युक्ति, गा. ६९३
(ख) उत्तराध्ययन, बृहत्वृत्ति, पत्र ५३५
५. आणा बलाभिओगो निग्गंथाणं न कप्पए काउं।
इच्छा पउंजिअव्वा सेहे रायणिए य तहा॥ —आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ६७७

वह सेवा आदि नहीं करता है तो उसे आज्ञा प्रदान करे और बलादि प्रयोग भी करे।[1] अर्थात् कठोर वचन से शिक्षा दे। ये कठोर वचन एकान्त हित की दृष्टि से शिष्य को सुधारने की दृष्टि से कहे जाते हैं, उसमें किंचित् मात्र भी द्वेष नहीं होता।

उपाध्याय यशोविजय जी[2] ने कहा—जैसे वच्छनाग नामक औषध जो जीवनघाती है वह भी विशेष औषधियों के सम्मिश्रण से रसायन बन जाती है। इसी तरह खरण्टना (कठोर वचन) भी प्रशस्त अध्यवसाय से संयम की वृद्धि के लिए रसायन के समान उपयोगी बन जाती है।

जैन शासन में आचार्य की गौरव गरिमा अप्रतिम है। उनकी अनेक सम्पदाओं का उल्लेख आगम व परवर्ती साहित्य में आया है।[3] यदि आचार्य यह चिन्तन करें कि मुझे कठोर वचन कहना होगा, इस भय से भीत होकर वह स्वयं वैयावृत्य करता है, भंडोपकरण की प्रतिलेखना करता है, भिक्षादि के लिए जाता है; वह अपने ही हाथों अपने शिष्यों को अविनीत बनाता है। क्योंकि शिष्य यह मान बैठते हैं कि ये सारे कार्य आचार्य स्वयं कर लेते हैं, अतः हमें करने की क्या आवश्यकता है ? दूसरा इस कार्य के पीछे व्यावहारिक पहलू भी है कि यदि आचार्य इन कार्यों में प्रवृत्त हों और शिष्य टुगुर-मुगुर निहार रहे हों; यदि उस समय कोई प्रतिवादी आये तो उसके अन्तर्मानस पर यह प्रभाव पड़ेगा कि वे कैसे आचार्य हैं जिनका अपने शिष्यों पर कोई प्रभाव नहीं है, जिसके कारण आचार्य को अपने ही हाथों अपना कार्य करना पड़ता है। इसलिए आचार्य का कर्त्तव्य है कि वे अविनीत शिष्यों को भी स्नेह सद्भावना के साथ विनय की शिक्षा दें। यदि उसके लिए कठोर वचन का भी प्रयोग करना पड़े तो भी करना चाहिए; पर उसमें हितबुद्धि आवश्यक है।

(७) मिच्छाकार[4]

साधक कितना भी सावधान रहे तथापि स्खलना होना स्वाभाविक है। स्खलना हो जाने पर भी उसे स्खलना न मानना यह बहुत बड़ा दोष है। साधक को जब यह ज्ञात होता है कि मेरी स्खलना हुई है, मैंने अपनी प्रतिज्ञा के विरुद्ध अमुक प्रवृत्ति

---

१. अपवादत्वाज्ञा बलाभियोगादपि दुर्विनीते प्रयोक्तव्यो तेन च सहोत्सर्गतः संवास एव न कल्पते। —*आ. नि. वृ. ९७७*

२. तीसेण दोस लेसो नूणं दोसावहो पसत्थो त्ति। परिकम्मिओ ण जीवियं घायकरो वच्छनागो वि। —*सा. प्र. ६७*

३. सामाचारी प्रकरण १८

४. संजमजोगे अब्भुट्ठिअस्स जं किंचि वितहमायारिअं।
मिच्छा एअंति विआणिऊण मिच्छत्ति कायव्वं॥ —*आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ६७२*

की है तो उसे उसी समय 'मिच्छामि दुक्कडं' लेना चाहिए। यही मिच्छाकार सामाचारी है। इसमें साधक दुष्कृत्य को मिथ्या मानकर उससे निवृत्त होता है। वह साधक मन में यह दृढ़ निश्चय करता है कि मैं पुनः इस प्रकार की भूल मन से, वचन से और काया से नहीं करूँगा।[1]

प्रश्न है क्या 'मिच्छामि दुक्कडं' एक ऐसा छू-मन्तर है जिसके बोलते ही पाप साफ हो जाता है ? वस्तुतः यह बात नहीं है। केवल मुँह से कह देने से पाप नहीं धुल जाते। पाप का प्रमार्जन शब्द से नहीं, मन से होता है। 'मिच्छामि दुक्कडं' के साथ मन में पाप के प्रति पश्चात्ताप होता है। उसके प्रति जो घृणा होती है, भविष्य में कभी न करने का जो दृढ़ संकल्प होता है, वही पश्चात्ताप की महाशक्ति पाप का प्रक्षालन करती है।

आचार्य भद्रबाहु[2] ने लिखा है कि जो एक बार 'मिच्छामि दुक्कडं' देकर पुनः उस पाप का आचरण करने लगता है वह प्रत्यक्ष ही झूठ बोलता है और दंभ का जाल फैलाता है। एक ओर मिच्छामि दुक्कडं, पुनः वही कार्य, वही घोड़ा और वही मैदान, यदि ऐसा करता है तो उसके बारे में धर्मदास गणी[3] ने कहा है—जो व्यक्ति जैसा बोलता है यदि वैसा नहीं करता है तो उससे बढ़कर मिथ्यादृष्टि कौन होगा ?

आचार्य जिनदास गणी महत्तर[4] ने एक क्षुल्लक मुनि का उदाहरण दिया है जिसने कुम्भकार के घड़े को फोड़ते हुए 'मिच्छामि दुक्कडं' दिये थे। पुनः-पुनः कुम्भकार के टोकने पर भी जब वह न माना तो कुम्भकार ने एक कंकड़ लेकर साधु के कान में रखकर जोर से दबाया। साधु पीड़ा से तिलमिला उठा और कुम्भकार 'मिच्छामि दुक्कडं' देने लगा। साधु चीखता रहा। उस बाल साधु ने पीड़ा से बिलबिलाते हुए कहा—क्या मुझे मार ही दोगे ? कुम्भकार ने कहा—जैसा तुम्हारा 'मिच्छामि दुक्कडं' वैसा ही मेरा भी 'मिच्छामि दुक्कडं' है।

इस प्रकार के 'मिच्छामि दुक्कडं' से कोई लाभ नहीं होता अपितु मिथ्या भाषण से पाप का भार ही बढ़ता है। लाभ तब होता है जब बोलने के साथ ही मन में पश्चात्ताप की लहर उठे और आगे उस भूल को दुबारा न करने का दृढ़ संकल्प किया जाय तभी पाप नष्ट होता है।

---

१. मूलाचार प्रकरण ४, गाथा १३२

२. जं दुक्कडं ति मिच्छा तं चेव निसेवए पुणो पावं।
पच्चक्ख मुसावाई माया नियडी पसंगो य॥ —आवश्यक निर्युक्ति, ६८५

३. जो जहावायं न कुणइ मिच्छादिट्ठी तउ हु को अन्नो ? —उपदेशमाला ५०६

४. आवश्यकचूर्णि—आचार्य जिनदास गणी

(८) तथाकार

आचार्य या गुरुजन जो निर्देश या उपदेश दें उन तत्त्वों को श्रवण करते समय शिष्य के अन्तर्मानस में अपूर्व आह्लाद होना चाहिए और उसके अन्तर्हृदय से यह स्वर फूटने चाहिए कि भगवन्, जैसा आपने कहा है वह पूर्ण सत्य है। वह उसी प्रकार है। मैं आपके कथन पर विश्वास करता हूँ।[1]

जब गुरु के प्रति शिष्य के अन्तर्मानस में सुदृढ़ श्रद्धा होती है तभी इस प्रकार के स्वर प्रस्फुटित होते हैं। बिना गुरुजनों के प्रति श्रद्धा रखे ज्ञान, दर्शन, चारित्र चिरस्थायी व असंदिग्ध नहीं बन सकता। सद्गुरु ही गुरु-कल्प, अकल्प के रहस्यों का ज्ञाता होता है। वह मूलगुण उत्तरगुणों की अभिवृद्धि करने वाला होता है। उसके कथन में किंचित् मात्र भी अयथार्थता की गंध नहीं आ सकती। शिष्य अन्तेवासी बनकर आगम-वाचन, प्रतिश्रवण, सूत्र के अर्थ का श्रवण आदि के समय तथाकार का प्रयोग करता है।[2] तथाकार का प्रयोग करने से तीव्र श्रद्धा व्यक्त होती है[3] और उस तीव्र श्रद्धा की प्रभा से मिथ्यात्व का अन्धकार नष्ट हो जाता है, तीर्थंकरों की आज्ञा का अनुपालन होता है। अन्य श्रोतागण भी शिष्य की निष्ठा को देखकर आकर्षित होते हैं। इस प्रकार तथाकार से सुकृत की अनुमोदना होती है[4] और अन्तर्मानस में अभिनव जागृति का संचार होता है।

(९) अभ्युत्थान

गुरुजनों के आने पर खड़ा होना, गुरुजनों की सेवा-शुश्रूषा के लिए सतत तत्पर रहना, यह अभ्युत्थान है।[5]

आवश्यक निर्युक्ति सामाचारी प्रकरण में अभ्युत्थान के स्थान पर निमंत्रणा सामाचारी का उल्लेख है। निमंत्रणा किस प्रकार करे, इसके लिए कहा गया है कि सर्वप्रथम विशेष स्वाध्याय और वाचना में रत रहने से परिश्रान्त हुए श्रमणों की, गुरु-आचार्य आदि की सेवा में संलग्न श्रमणों की और उसके पश्चात् अन्य श्रमणों की निमंत्रणा करे।[6]

---

१. वायणपडिसुणणाए उवएसे सुत्त अत्थकहणाए।
अवितहमे अति तहा, पडिसुणणाए अ तहकारो॥ —*आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ६८९*

२. सामाचारी प्रकरण ३१

३. वही ३५

४. तहत्ति सुकताणु मोदणारि। —*आवश्यक चूर्णि*

५. उत्तराध्ययन, बृहद्वृत्ति, पत्र ५३५

६. सज्झाया दुव्वाओ, गुरुकिच्चे सेसगे अ संतंमि।
तं पुच्छिऊण कज्जे, सेसाण निमंतणं कुज्जा॥ —*सामाचारीप्रकरण ६२*

निमंत्रणा और छन्दना में यह अन्तर है कि छन्दना में साधक अपने लिए आहार लाता है और 'साहु हुज्जामि तारिओ' के रूप में प्रार्थना करता है जबकि निमंत्रणा में उनके लिए ही वह आहार आदि लाता है।

(१०) उपसंपदा

प्राचीन युग में एक संघ में अनेक गण और कुल थे। उनमें अलग-अलग आचार्य, उपाध्याय, गणी आदि की व्यवस्था थी। व्यवस्था आदि की दृष्टि से एक गण का श्रमण दूसरे गण में नहीं जा सकता था किन्तु उसके कुछ अपवाद भी थे। अपवाद की दृष्टि से तीन कारणों से श्रमण दूसरे गण में जा सकता था, उसे उपसंपदा कहा जाता था।

(१) ज्ञान की वर्त्तना अर्थात् ज्ञान की पुनरावृत्ति के लिए, उसे गिनने के लिए, या संघात जो ज्ञान विस्मृत हो गया है, उस ज्ञान को पुनः प्राप्त करने के लिए या नवीन ज्ञान प्राप्त करने के लिए जो उपसंपदा स्वीकार की जाती है, वह ज्ञानार्थ उपसंपदा कहलाती है।[1]

(२) इसी तरह दर्शन की वर्त्तना यानी स्थिरीकरण के लिए और दर्शन विषयक शास्त्रों के ग्रहण करने के लिए जो उपसंपदा ग्रहण की जाती है, वह दर्शनार्थ उपसंपदा है।

(३) तप और वैयावृत्य आदि विशिष्ट साधना के लिए जो उपसंपदा स्वीकार की जाती है, वह चारित्रार्थ उपसंपदा है। चारित्र सम्बन्धी उपसंपदा वैयावृत्य की दृष्टि के यानी चारित्र पालन करते हुए यदि अपने गच्छ में उपयुक्त सामग्री न हो तो दूसरे गच्छ के आचार्य के पास वैयावृत्य करने वाले की याचना करना या उसके लिए स्वयं वहाँ जाना।

इसी तरह विशिष्ट तप की साधना के लिए दूसरे गच्छ में गमन करना। यह गमन भी इत्वरिक और यावत्कथिक दो प्रकार का है। इसमें प्रथम है–कुछ समय के लिए छोटी तपस्या करने के लिए जाना और दूसरा है–यावज्जीवन के लिए जीवन के संध्याकाल में अनशन करने के लिए जाना।

मूलाचार में उपसंपदा के पाँच प्रकार बताये हैं–(१) विनय, (२) क्षेत्र, (३) मार्ग, (४) सुख-दुःख, (५) सूत्र। इन पाँचों विषयों में तत्पर रखना उपसंपदा है।[2]

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति

२. उवसंपया य णेया पंचविहा जिणवरेहिं णिद्दिट्ठा।
विणए खेत्ते मग्गे सुह दुक्खे चेय सुत्ते य॥ —मूलाचार १३१

उत्तराध्ययन के सामाचारी प्रकरण में श्रमण की दिन और रात्रि की परिचर्या का उल्लेख है। श्रमणों की परिचर्या के मुख्य आठ अंग हैं–(१) स्वाध्याय, (२) ध्यान, (३) प्रतिलेखन, (४) सेवा, (५) आहार, (६) उत्सर्ग, (७) निद्रा, और (८) विहार।[1]

ठीक समय पर सभी कार्य करना चाहिए–यह श्रमणों के जीवन का स्वर्ण सूत्र था–"काले कालं समायरे।"

दिन और रात्रि के चार-चार प्रहर होते हैं। दिन के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, द्वितीय प्रहर में ध्यान, तृतीय प्रहर में आहार और चतुर्थ प्रहर में पुनः स्वाध्याय का उल्लेख है। इसी प्रकार रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, द्वितीय प्रहर में ध्यान, तृतीय प्रहर में नींद और चतुर्थ प्रहर में पुनः स्वाध्याय का निर्देश है।[2] प्रथम और चतुर्थ प्रहर के प्रारम्भ में प्रतिलेखना का विधान है।[3] विहार तथा उत्सर्ग सामान्य रूप से तृतीय प्रहर में किये जाते थे। विशेष परिस्थिति में अन्य समय में भी ये कार्य किये जा सकते थे।

सेवा के लिए कोई निश्चित समय नहीं था। अन्य कार्यों से सेवा को अधिक प्रमुखता दी गई थी। प्रभात के पुण्य पलों में शिष्य गुरुजनों से निवेदन करता है[4]– आप मुझे सेवा में नियुक्त करना चाहते हैं या स्वाध्याय में ? गुरुजन चाहें तो पहले शिष्य को यदि सेवा के लिए आवश्यक है तो सेवा के लिए नियुक्त करें।

एक सहज जिज्ञासा हो सकती है श्रमण की दिनचर्या में धर्मोपदेश का उल्लेख क्यों नहीं हुआ ?

समाधान है–प्रत्येक श्रमण के लिए धर्मोपदेश देना आवश्यक नहीं था। इसलिए सामान्य दैनिक चर्या में उसका उल्लेख नहीं हुआ है। दूसरी बात यह है कि स्वाध्याय के जो पाँच प्रकार हैं उसमें अन्तिम प्रकार 'धर्म-कथा' है। इसलिए धर्मोपदेश का पृथक् उल्लेख न कर स्वाध्याय में ही उसका समावेश किया गया है। आहार, नींद और उत्सर्ग ये शरीर के लिए आवश्यक हैं, इसलिए उनका विशेष रूप से उल्लेख हुआ है। विहार भी निरन्तर नहीं होता है। वर्षावास में तो लम्बे

---

१. उत्तराध्ययन १-३१
२. वही २६ अध्ययन, गाथा १२ से १८
३. वही २६, ८ से २१
४. वही २६, ९-१०

समय तक एक स्थान पर ही अवस्थिति रहती है। शेष आठ माह में भी निरन्तर विहार नहीं था। इसलिए उसका भी पृथक् रूप से उल्लेख नहीं हुआ। साधना की दृष्टि से स्वाध्याय और ध्यान ये दो मुख्य थे। इसलिए स्वाध्याय के लिए चार प्रहर और ध्यान के लिए दो प्रहर का समय नियुक्त किया गया। उस युग में सारा ज्ञान कण्ठस्थ था। श्रुतज्ञान को लिखने की परम्परा नहीं थी। वह कहीं विस्मृत न हो जाय इसलिए स्वाध्याय अनिवार्य माना गया। ध्यान तो आवश्यक था ही। बिना ध्यान के साधना में अभिनव क्रांति नहीं आ सकती थी। इसलिए ध्यान पर भी अत्यधिक बल दिया गया।

इस प्रकार सामाचारी साधक के लिए आवश्यक है। उससे अनेक सद्गुणों की अभिवृद्धि होती है। साधक के जीवन के सभी दुर्गुण नष्ट होते हैं और सद्गुण विकसित होते हैं।

●●

१९. अन्तरपरीक्षण, अन्तरपरिष्कार : षडावश्यक

अन्तर्दर्शन की साधना

आज का युग भौतिकवादी है। मानव भौतिकवाद की ओर द्रुत गति से दौड़ रहा है तथा अध्यात्मवाद को विस्मृत हो रहा है। वह त्याग से भोग की ओर लपक रहा है। अहिंसा से हिंसा की ओर झुक रहा है। अपरिग्रह से परिग्रह की ओर कदम बढ़ा रहा है। वस्तुतः मानव का यह अभियान आरोहण की ओर नहीं, अवरोहण की ओर है; उत्थान की ओर नहीं, पतन की ओर है; विकास की ओर नहीं, विनाश की ओर है। यही कारण है कि भौतिक दृष्टि से अत्यधिक उन्नति करने पर भी मानव का हृदय धड़क रहा है, उसके अन्तर्मानस में शान्ति की लहरें तरंगित नहीं हो रही हैं।

जैन दर्शन मानव को अन्तर्दर्शन की प्रेरणा देता है। जैन दर्शन की प्रत्येक साधना अन्तर्दर्शन की साधना है। जो साधना अन्तर्दर्शन नहीं करती, वह साधना नहीं अपितु विराधना है।

आत्मा को परखने का उपाय : आवश्यक

'आवश्यक' जैन साधना का मूल प्राण है। वह जीवन-शुद्धि और दोष-परिमार्जन का जीवन्त भाष्य है। साधक चाहे कितना भी मूर्धन्य मनीषी हो; आगम साहित्य एवं धर्म दर्शन का परिज्ञाता हो; किन्तु यदि उसे आवश्यक का परिज्ञान नहीं है तो उसे कुछ भी ज्ञात नहीं है। 'आवश्यक' साधक को अपनी आत्मा को परखने व निरखने का एक महान् उपाय है। जैसे वैदिक परम्परा में 'सन्ध्या' है, बौद्ध परम्परा में 'उपासना' है, पारसियों में 'खोर देह अवस्ता' है, यहूदी और ईसाइयों में 'प्रार्थना' है, इस्लाम धर्म में 'नमाज' है, वैसे ही जैन धर्म में दोषों की शुद्धि के लिए और गुणों की अभिवृद्धि के लिए 'आवश्यक' है।

आवश्यक के विभिन्न अर्थ

आवश्यक जैन साधना का प्रमुखतम अंग है। जो अवश्य ही किया जाय, वह 'आवश्यक' है[१], अथवा जो आत्मा को दुर्गुणों से हटाकर सद्गुणों के अधीन करे

---

१. अवश्यं कर्तव्यमावश्यकम्। श्रमणादिभिरवश्यम् उभयकालं क्रियते इति भाव।
—*आवश्यक मलयगिरिवृत्ति*

वह आवश्यक है।[1] गुणों से शून्य आत्मा को जो गुणों से पूर्ण रूप से वासित करे अर्थात् गुणों से युक्त करे वह 'आवश्यक' है।[2] जो गुणों की आधार भूमि हो वह 'आवस्सय'[3] आपाश्रय है। आवश्यक आध्यात्मिक समता, विनम्रता आदि विविध गुणों का आधार है। इसलिए वह आपाश्रय भी कहलाता है।

आवश्यक का विधान

अन्तर्दृष्टिसंपन्न साधक का लक्ष्य बाह्य पदार्थ नहीं होता। आत्म-शोधन ही उसकी साधना का लक्ष्य होता है। जिस साधना से आत्मा सहज व स्थायी सुख का अनुभव करे, कर्म-मल को नष्ट कर अजर-अमर पद प्राप्त करे तथा सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की अध्यात्म ज्योति प्रज्वलित हो, वह आवश्यक है। अपनी भूलों को निहारकर एवं उनके संशोधनार्थ कुछ न कुछ क्रिया करना आवश्यक है। श्रमण हो या श्रावक दोनों के लिए प्रातः व सायंकाल आवश्यक करने का विधान है।[4]

प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के श्रमणों के लिए यह अनिवार्य है कि वे नियमतः आवश्यक करें। यदि वे आवश्यक क्रिया नहीं करते हैं तो श्रमणधर्म से च्युत हो जाते हैं। यदि दोष लगा है तो भी और दोष नहीं लगा है तो भी आवश्यक (प्रतिक्रमण) अवश्य ही करना चाहिए। क्योंकि प्रथम और चरम तीर्थंकरों के शासन में प्रतिक्रमण सहित धर्म ही प्ररूपित किया गया।[5] श्रावकों के लिए भी 'आवश्यक' की जानकारी आवश्यक मानी गयी है। श्वेताम्बर परम्परा के परम श्रद्धालु श्रावक तो प्रतिदिन प्रातः-सन्ध्या आवश्यक करते ही हैं। यदि प्रतिदिन संभव नहीं होता है तो पक्ष के पश्चात् पाक्षिक, चातुर्मास के पश्चात् चातुर्मासिक और वर्ष के अन्त में अर्थात् संवत्सर के पश्चात् सांवत्सरिक प्रतिक्रमण करते हैं।

सांवत्सरिक प्रतिक्रमण का अत्यधिक महत्त्व रहा है। श्रमण व श्रावक सांवत्सरिक प्रतिक्रमण करते हैं। वर्तमान में सामूहिक रूप से सांवत्सरिक प्रतिक्रमण

---

१. गुणानां वश्यमात्मानं करोतीति ज्ञानादिगुणानाम् आसमन्ताद् वश्या इन्द्रिय कषायादिभाव-शत्रवो यस्मात् तत् आवश्यकम्। —*आवश्यक मलयगिरिवृत्ति*

२. ज्ञानादिगुण-कदम्बकं मोक्षो वा आसमन्ताद् वश्यं क्रियतेऽनेन इत्यावश्यकम्।
—*मलयगिरिवृत्ति*

३. आपाश्रयो वा इदं गुणानाम्, प्राकृतशैल्या आवस्सयं।

४. समणेण सावएण य, अवस्स कायव्वयं हवइ जम्हा।
अन्नो अहो-निसस्स य, तम्हा आवस्सयं नाम॥ —*आवश्यकवृत्ति, गा. २, पृष्ठ ५३*

५. सपडिक्कमणो धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमयाण जिणाण, कारणजाए पडिक्कमणं॥ —*आवश्यकनिर्युक्ति, गा. १२४४*

का अत्यधिक प्रचलन है। धार्मिक पाठशालाओं में भी सर्वप्रथम आवश्यक सूत्र का पाठन कराया जाता है।

आवश्यक के अंग

आवश्यक के छह अंग हैं-

(१) सामायिक–समभाव की साधना।

(२) चतुर्विंशतिस्तव–तीर्थंकरदेव की स्तुति।

(३) वन्दन–सद्गुरुओं को नमस्कार।

(४) प्रतिक्रमण–दोषों की आलोचना।

(५) कायोत्सर्ग–शरीर के प्रति ममत्व का त्याग।

(६) प्रत्याख्यान–आहार आदि का त्याग।

अनुयोगद्वार में इनके नाम इस प्रकार दिये हैं–(१) सावद्य योग विरति (सामायिक), (२) उत्कीर्तन (चतुर्विंशतिस्तव), (३) गुणवत् प्रतिपत्ति (गुरु उपासना अथवा वन्दना), (४) स्खलितनिन्दना (प्रतिक्रमण–पिछले पापों की आलोचना), (५) व्रणचिकित्सा (कायोत्सर्ग–ध्यान–शरीर से ममत्व-त्याग), और (६) गुणधारण (प्रत्याख्यान–आगे के लिए त्याग, नियम ग्रहण आदि)।

सामायिक के अंगों के क्रम की वैज्ञानिकता

साधक के लिए सर्वप्रथम समता का पालन करना आवश्यक है। समता को अपनाये बिना सद्गुणों का विकास नहीं हो सकता और न अवगुणों से ग्लानि ही हो सकती है। जब तक विषम भावों की ज्वालाएँ अन्तर्हृदय में धधकती रहेंगी तब तक वह वीतरागी पुरुषों के सद्गुणों का उत्कीर्तन भी नहीं कर सकता। अतः प्रथम आवश्यक सामायिक है। समता को अपनाने वाला साधक ही महापुरुषों के गुणों को सम्माननीय और ग्रहण करने योग्य मानकर उन गुणों को जीवन में उतार सकता है। अतएव सामायिक के पश्चात् चतुर्विंशतिस्तव रखा गया है। गुण का महत्त्व हृदयंगम कर लेने के पश्चात् ही साधक गुणी के सामने सिर झुकाता है। भक्ति-भावना से विभोर होकर वन्दन करता है। वन्दन करने वाले साधक का हृदय नम्र होता है और जो नम्र होता है, वह सरल होता है। सरल व्यक्ति ही कृतदोषों की आलोचना करता है, अतः वन्दन के पश्चात् प्रतिक्रमण आवश्यक रखा गया है। भूलों को स्मरण कर उनसे मुक्ति पाने हेतु तन और मन की स्थिरता आवश्यक है। कायोत्सर्ग में तन और मन की एकाग्रता की जाती है, स्थिर वृत्ति का

अभ्यास किया जाता है। जब तन और मन में स्थिरता होती है तभी प्रत्याख्यान किया जा सकता है। मन डाँवाडोल हो तो प्रत्याख्यान संभव नहीं है, अतः प्रत्याख्यान को छठा क्रम दिया गया है। इस प्रकार आवश्यक की साधना के क्रम को रखा गया है जो कार्यकारण भाव की शृंखला पर अवस्थित और पूर्णतया वैज्ञानिक है। परिणामस्वरूप यह अन्तर्निरीक्षण-परीक्षण और आत्मसुधार का अमोघ उपाय है।

आवश्यक के पर्यायवाची

आवश्यक के अनुयोगद्वार[1] में आठ पर्यायवाची नाम दिये हैं–आवश्यक, अवश्य करणीय, ध्रुवनिग्रह, विशोधि, अध्ययन षट्कवर्ग, न्याय, आराधना और मार्ग। इस नामों में किंचित् अर्थ-भेद होने पर भी सभी समान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं।

द्रव्य और भाव आवश्यक

अनुयोगद्वार में आवश्यक के दो विभाग किये हैं–एक, द्रव्य आवश्यक[2] और दूसरा, भाव आवश्यक।[3] द्रव्य आवश्यक में बिना चिन्तनपूर्वक अन्यमनस्क भाव से पाठों का केवल उच्चारण किया जाता है। जो पाठ बोला जा रहा है उसमें न लगकर, मन इधर-उधर भटकता रहता है। द्रव्य आवश्यक में बाह्य क्रिया मात्र चलती है, किन्तु उपयोग के अभाव में उस साधना में तेज प्रकट नहीं होता।

भाव आवश्यक में साधक उपयोग के साथ बिना किसी इच्छा, यश, नामना, कामना के मन, वचन और काया को पूर्ण एकाग्र करके आवश्यक क्रियाएँ करता है। द्रव्य आवश्यक के साथ जब भाव आवश्यक का सुमेल होता है तो द्रव्य आवश्यक भी महान् बन जाता है। एतदर्थ ही शास्त्रकारों ने भाव आवश्यक का अधिक महत्त्व बताया है। भाव आवश्यक एक लोकोत्तर क्रिया है और उसका फल मोक्ष है।

अब हम आवश्यक का विस्तार से निरूपण कर रहे हैं।

---

१. आवस्सयं अवस्सकरणिज्जं, धुवनिग्गहो विसोही य।
अज्झयण-छक्कवग्गो, नाओ आराहणा मग्गो॥ –*अनुयोगद्वारवृत्ति*

२. जे इमे समणगुणमुक्कजोगी, छक्काय-निरणुकंपा, हया इव उद्दामा, गया इव निरंकुसा, घट्ठा, मट्ठा, तुप्पोट्ठा, पंडुरपउपाउरणा, जिणामणाणाए सच्छन्दं विहरिऊण उभओ कालं आवस्सयस्स उवट्ठंति, से तं लोगुत्तरियं दव्वावस्सयं।

३. जं णं इमे समणो वा, समणी वा, सावओ वा, साविया वा तच्चित्ते, तम्मणे, तल्लेसे, तदज्झवसिए, तत्तिव्वज्झवसाणे, तदट्ठोवउत्ते, तदप्पियकरणे, तब्भावणाभाविए, अन्नत्थ कत्थइ मणं अकरेमाणे उभओकालं आवस्सयं करेंति। से तं लोगुत्तरियं भावावस्सयं।

सामायिक

साधना का प्राण : सामायिक

सामायिक जैन साधना का प्राण तत्त्व है। षडावश्यक में सामायिक का प्रथम स्थान है। सामायिक श्रमण और श्रावक दोनों के लिए आवश्यक है। जितने भी तीर्थंकर होते हैं वे सभी प्रथम सामायिक चारित्र को ग्रहण करते हैं। चारित्र के जो पाँच प्रकार बताये हैं, उनमें सामायिक चारित्र प्रथम है। चौबीस ही तीर्थंकरों के समय सामायिक चारित्र रहा है, शेष चारित्र अवस्थित नहीं हैं। श्रमणों के लिए सामायिक प्रथम चारित्र है तो गृहस्थों के लिए सामायिक द्वादश व्रतों में चार शिक्षाव्रतों में प्रथम है। जैन आचार का भव्य प्रासाद सामायिक की सुदृढ़ नींव पर ही अवस्थित है।

आचार्य पूज्यपाद[1] ने तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि वृत्ति में सामायिक की परिभाषा करते हुए लिखा है–'सम्' उपसर्गपूर्वक गति अर्थ वाली 'इण्' धातु से 'समय' शब्द निष्पन्न होता है। सम् = एकीभाव, अय = गमन, अर्थात् एकीभाव के द्वारा बाह्य परिणति से पुनः मुड़कर आत्मा की ओर गमन करना 'समय' है और समय का भाव 'सामायिक' है।

श्रेष्ठ आचरण : सामायिक

आवश्यकसूत्र के प्रशस्त टीकाकार मलयगिरि[2] ने लिखा है–राग-द्वेष में मध्यस्थ रहना 'सम' है। मध्यस्थ भावयुक्त साधक की मोक्ष के अभिमुख जो प्रवृत्ति है, वह सामायिक है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने भी यही परिभाषा स्वीकार की है।[3] आवश्यकसूत्र की निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य और हारिभद्रीया वृत्ति, मलयगिरिवृत्ति आदि में सामायिक के विविध दृष्टियों से विभिन्न अर्थ किये हैं। सभी जीवों पर मैत्री-भाव रखना 'साम' है; साम का लाभ जिससे हो वह सामायिक है।[4] पापकारी

---

१. 'सम्' एकीभावे वर्तते। तद्यथा, संगतं घृतं संगतं तैलमित्युच्यते एकीभूतमिति गम्यते। एकत्वेन अयनं गमनं समयः, समय एव सामायिकम्। समयः प्रयोजनमस्येति वा विग्रह्य सामायिकम्।
—*सर्वार्थसिद्धि ७, २१*

२. समो-रागद्वेषयोरपान्तरालवर्ती मध्यस्थः इण् गतौ अयनं अयो गमनमित्यर्थः, समस्य अयः समायः-समीभूतस्य सतोमोक्षाध्वनि प्रवृत्तिः समाय एव सामायिकम्।
—*आवश्यक मलयगिरिवृत्ति ८५४*

३. रागद्दोसविरहिओ समो त्ति अयणं अयो त्ति गमणं ति।
समगमणं ति समाओ स एव सामाइयं नाम॥ —*विशेषावश्यकभाष्य ३४७७*

४. अहवा सामं मित्ती तत्थ अओ तेण वत्ति सामाओ।
अहवा सामस्साओ लाभो सामाइयं नाम॥ —*वही ३४८१*

प्रवृत्तियों का परित्याग करना सावद्ययोग-परित्याग कहलाता है। अहिंसा, समता प्रभृति सद्गुणों का आचरण निरवद्ययोग है। सावद्ययोग का परित्याग कर शुद्ध स्वभाव में रमण करना 'सम' कहलाता है। जिस साधना के द्वारा उस 'सम' की प्राप्ति हो वह सामायिक है।[1] 'सम' शब्द का अर्थ श्रेष्ठ है और 'अयन' का अर्थ आचरण है। अर्थात् श्रेष्ठ आचरण का नाम सामायिक[2] है। अहिंसा आदि श्रेष्ठ साधना समय पर की जाती है वह सामायिक है।

समता : योग है

सामायिक की व्युत्पत्तियों पर गहराई से चिन्तन करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि उन सभी में समता पर बल दिया गया है। राग-द्वेष के विभिन्न प्रसंगों में विषम न होकर आत्म-स्वभाव में सम रहना वस्तुतः सामायिक है। समता से तात्पर्य है मन की स्थिरता, राग-द्वेष का उपशमन, समभाव अर्थात् सुख-दुःख में निश्चल रहना। कर्मों के निमित्त से राग-द्वेष के विषम भाव पैदा होते हैं। उन विषम भावों से अपने आप को हटाकर स्व-स्वरूप में रमण करना समता है। समता को ही गीता में योग कहा है।[3]

शुद्ध सामायिक

मन, वचन और काया की दुष्ट वृत्तियों को रोककर अपने निश्चित लक्ष्य की ओर ध्यान को केन्द्रित कर देना सामायिक है। सामायिक करने वाला साधक मन, वचन और काया को वश में कर लेता है। विषय, कषाय और राग-द्वेष से अलग-थलग रहकर वह सदा ही समभाव में स्थित रहता है। शत्रु को देखकर उसके अन्तर्मानस में क्रोध की ज्वाला नहीं भड़कती और न मित्र को देखकर ही वह राग से आह्लादित होता है, किन्तु वह सदा समभाव में अवस्थित रहता है। वह समता के गहन सागर में डुबकी लगाता है जिससे विषमता की ज्वालाएँ उसकी साधना को नष्ट नहीं कर पातीं। उसे न निन्दा के मच्छर डँसते हैं और न ईर्ष्या के बिच्छू ही डंक मारते हैं। चाहे अनुकूल परिस्थिति हो, चाहे प्रतिकूल परिस्थिति हो, चाहे सुख के सुमन खिल रहे हों, चाहे दुःख के नुकीले काँटे बींध रहे हों, पर वह सदा समभाव से रहता है। उसका चिन्तन सदा जाग्रत रहता है। वह सोचता है कि संयोग और वियोग–ये दोनों ही आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। ये तो शुभाशुभ कर्मों के

---

१. अहवा समस्स आओ गुणाणलाभो त्ति जो समाओ सो। —*विशेषावश्यकभाष्य ३४८०*

२. सम्मओ वा समओ सामाइयमुभय विद्धि भावाओ।
अहवा सम्मस्साओ लाभो सामाइयं होइ॥ —*वही ३४८२*

३. समत्वं योगमुच्यते। —*भगवद्गीता २-४८*

उदय का फल है। इन बाह्य संयोग और वियोग से न आत्मा का हित हो सकता है और न अहित ही हो सकता है। इसलिए वह सतत समभाव में रहता है। आचार्य भद्रबाहु ने कहा–जो साधक त्रस और स्थावर रूप सभी जीवों पर समभाव रखता है, उसकी सामायिक शुद्ध होती है।[1] जिसकी आत्मा संयम में, तप में, नियम में संलग्न रहती है उसी की सामायिक शुद्ध होती है।[2]

आचार्य हरिभद्र ने लिखा है–जैसे चन्दन अपने काटने वाली कुल्हाड़ी को भी सुगन्धित बना देता है, वैसे ही विरोधी के प्रति भी जो समभाव की सुगन्ध फैलाता है उसी की सामायिक शुद्ध है।[3]

मोक्ष-प्राप्ति का साधन : सामायिक

सामायिक एक विशुद्ध साधना है। उसमें किंचित् मात्र भी पाप का अंश नहीं है। सामायिक में साधक की चित्तवृत्ति क्षीर समुद्र की भाँति पूर्ण रूप से शांत रहती है। इसलिए उस समय वह नवीन कर्मों का अनुबन्धन नहीं करता और आत्मस्वरूप में अवस्थित रहने के कारण जो कर्म रहे हुए हैं उनकी भी वह निर्जरा कर लेता है। इसीलिए आचार्य हरिभद[4] ने सामायिक का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए लिखा कि सामायिक की विशुद्ध साधना से जीव घाती कर्मों को नष्ट कर केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है।

एक आचार्य ने तो लिखा है–प्रतिदिन एक लाख स्वर्ण-मुद्राओं को एक व्यक्ति दान करता है और दूसरा व्यक्ति दो घड़ी की शुद्ध सामायिक करता है तो दोनों में महान् कौन है ? तो आचार्य ने बताया–जो समभाव में अवस्थित है, सामायिक

---

१. (क) जो समो सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलि-भासियं॥ –आव. नि. ७९९
(ख) अनुयोग द्वार १२८
(ग) नियमसार १२६

२. (क) जस्स सामाणिओ अप्पा संजमे नियमे तवे।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलि-भासियं॥ –आव. नि. ७९८
(ख) अनुयोग द्वार १२७
(ग) नियमसार १२७

३. सामायिकं च मोक्षांगं परं सर्वज्ञ-भाषितम्।
वासी-चन्दन-कल्पानामुक्तमेतन्महात्मनाम्॥ –हरिभद्र 'अष्टक प्रकरण' २९.१

४. सामायिक विशुद्धात्मा सर्वथा घातिकर्मणः।
क्षयात्केवलमाप्नोति लोकालोकप्रकाशकम्॥ –वही ३०, १

साधना में तल्लीन है, वही महान् है।[1] क्योंकि करोड़ जन्म तक उत्कृष्ट तप की साधना करने पर भी जो कर्म नष्ट नहीं होते वे कर्म सामायिक में लीन साधक कुछ ही क्षणों में नष्ट कर देता है।[2]

आज तक जितने भी जीव मुक्त हुए हैं या वर्तमान में मुक्त हो रहे हैं अथवा भविष्य में मुक्त होंगे, वे सभी समभावरूप सामायिक से ही मोक्ष प्राप्त करेंगे।

समता का लहराता सागर

समता के द्वारा ही साधक आत्म-शक्तियों का केन्द्रीकरण करके अपनी महान् ऊर्जा को प्रकट करता है। मानव अनेक कामनाओं के भँवर जाल में उलझा रहता है जिससे उसका व्यक्तित्व क्षत-विक्षत हो जाता है। द्वन्द्व व तनाव का वातावरण बना रहता है। बर्बरता, पशुता, संकीर्णता व राग-द्वेष के विकार जन्तु पनपते हैं। जब मानव समता से विचलित हुआ तब प्रकृति में विकृति, व्यक्ति में तनाव, समाज में विषमता और युग में हिंसा के तत्त्व उभरे हैं। उन सभी को रोकने के लिए, सन्तुलन और व्यवस्था बनाये रखने के लिए सामायिक की आवश्यकता है। सामायिक समता का लहराता हुआ निर्मल सागर है। जो साधक उसमें स्नान कर लेता है वह राग-द्वेष के कर्दम से मुक्त हो जाता है।

चौदह पूर्व का सार : सामायिक

सामायिक की साधना अत्यधिक उत्कृष्ट साधना है। अन्य जितनी भी साधनाएँ हैं वे सभी साधनाएँ सामायिक में अन्तर्निहित हो जाती हैं। एक जिज्ञासु ने उपाध्याय यशोविजय जी से जिज्ञासा प्रस्तुत की कि द्वादशांगी रूप जिनवाणी का सार क्या है ? द्वादशांगी इतनी व्यापक और विराट् है कि उसे प्रत्येक साधक समझ नहीं सकता। आप हमें उसका सार बताइए।

उन्होंने कहा—सामायिक ही सम्पूर्ण द्वादशांगी रूप जिनवाणी का सार है।[3] यही बात आचार्य जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण से पूछी गयी तो उन्होंने चौदह पूर्वों का अर्थ पिण्ड सामायिक को बताया।[4]

---

१. दिवसे दिवसे लक्खं देइ सुवण्णस्स खंडियं एगो।
एगो पुण सामाइयं, करेइ न पहुप्पए तस्स॥

२. तिव्वतवं तवमाणे जं नवि निवट्टइ जम्मकोडीहिं।
तं समभाविआचित्तो, खवेइ कम्मं खणद्धेण॥

३. सकलद्वादशांगोपनिषद्भूतसामायिक सूत्रव्रत्। —*तत्त्वार्थवृत्ति १-१*

४. सामाइयं संखेवो चोद्दस पुव्वत्थपिंडोत्ति॥ —*विशेषा. भाष्य, गा. २७९६*

जैसे रंग-बिरंगे खिले हुए पुष्पों का सार गंध है। यदि पुष्प में गंध नहीं है, केवल रूप ही है तो वह केवल दर्शकों के नेत्रों को तृप्त कर सकता है किन्तु दिल और दिमाग को ताजगी नहीं दे सकता। दूध का सार घृत है। जिस दूध में घृत नहीं है वह नाम मात्र का ही दूध है। घृत से ही दूध में पौष्टिकता रही हुई है। वह शरीर को सात्त्विक शक्ति प्रदान करता है। इसी तरह तिल का सार भी तेल है। यदि तिलों में से तेल निकल जाय, इक्षु खण्ड से रस निकल जाय, धान में से चावल निकल जाय तो वह निस्सार बन जाता है। वैसे ही साधना में से समभाव यानी सामायिक निकल जाय तो वह साधना भी निस्सार हो जाती है, नाम मात्र की ही रह जाती है, सच्ची साधना नहीं रहती। समता के अभाव में उपासना उपहास बन जाती है। साधक माया जाल के चंगुल में फँस जाता है। दूसरों की उन्नति को देखकर उसके अन्तर्मानस में ईर्ष्याग्नि सुलगने लगती है। वैर-विरोध के जहरीले कीटाणु कुलबुलाने लगते हैं। इसीलिए सामायिक की आवश्यकता पर बल दिया गया है।

आत्मा ही सामायिक है

भगवतीसूत्र में पार्श्वापत्य, कालास्यवेसी अनगार से तुंगिया नगरी के श्रमणोपासकों ने जिज्ञासा प्रस्तुत की थी कि सामायिक क्या है ? और सामायिक का अर्थ क्या है ? कालास्यवेसी अनगार ने स्पष्ट रूप से कहा–आत्मा ही सामायिक है और आत्मा ही सामायिक का अर्थ है। तात्पर्य यह है कि जब आत्मा पापमय व्यापारों का परित्याग कर समभाव में अवस्थित होती है तब सामायिक होती है। आत्मा का काषायिक विकारों से अलग होकर स्व-स्वरूप में रमण करना ही सामायिक है और वही आत्मपरिणति सामायिक का फल है।

सामायिक में साधक बाह्यदृष्टि का परित्याग कर अन्तर्दृष्टि को अपनाता है, विषम भाव का परित्याग कर समभाव में अवस्थित होता है, पर-पदार्थों से ममत्व हटाकर निजभाव में स्थित होता है। जैसे अनन्त आकाश विश्व के चराचर प्राणियों के लिए आधारभूत है, वैसे ही सामायिक साधना आध्यात्मिक साधना के लिए आधारभूत है।

विविध दृष्टियों से सामायिक

सामायिक के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए विविध दृष्टियों से सामायिक का प्रतिपादन किया है, जैसे–नाम, स्थापना, द्रव्य, काल, क्षेत्र, भाव।

नाम सामायिक

सामायिक करने वाला साधक साधना में इतना स्थिर होता है कि चाहे शुभ नाम हो चाहे अशुभ नाम हो, वह साधक के अन्तर्मानस पर कोई असर नहीं

करता। वह सोचता है कि आत्मा अनामी है, इसका तो कोई नाम ही नहीं है। नाम तो इस शरीर का है और वह शरीर नामकर्म की रचना है। इसलिए मैं व्यर्थ ही क्यों संकल्प-विकल्प करूँ ?

स्थापना सामायिक

सामायिक का साधक चित्ताकर्षक वस्तु को देखकर आह्लादित नहीं होता और घिनौने रूप को देखकर घृणा नहीं करता। वह तो सोचता है–आत्मा रूपातीत है। सुरूपता और कुरूपता तो पुद्गल परमाणुओं का परिणमन है, जो कभी शुभ रूप होता है और कभी अशुभ रूप; मैं पुद्गल तत्त्व से पृथक् हूँ। मेरी इससे कोई भी लाभ या हानि होने वाली नहीं है–ऐसा सोचकर वह समभाव में रहता है।

द्रव्य सामायिक

सामायिक व्रतधारी साधक पदार्थों की सुन्दरता को देखकर मुग्ध नहीं होता और असुन्दरता को देखकर खिन्न नहीं होता। इसी प्रकार बहुमूल्य वस्तु को देखकर आह्लादित नहीं होता और अल्प मूल्य वाली वस्तु को देखकर अप्रसन्न नहीं होता। वह चिन्तन करता है कि पदार्थों की सुन्दरता व असुन्दरता की कल्पना मानव की है। एक ही वस्तु एक व्यक्ति को सुन्दर प्रतीत होती है और दूसरे व्यक्ति को वह उतनी सुन्दर प्रतीत नहीं होती। हीरे, पन्ने, माणक, मोती आदि जवाहरात में भी मानव ने ही मूल्य की कल्पना की है अन्यथा तो ये पत्थर के बेजान टुकड़े ही हैं। ऐसा विचार कर साधक सभी भौतिक पदार्थों के प्रति समभाव रखता है।

काल सामायिक

सामायिक व्रतधारी साधक चाहे भीष्म ग्रीष्म की चिलचिलाती धूप हो, भयंकर आँधी हो, या पौष माह की सनसनाती हुई सर्दी हो। श्रावण भाद्रपद की हजार-हजार धारा के रूप में वर्षा हो रही हो अथवा रिमझिम-रिमझिम बूँदें गिर रही हों, चाहे अनुकूल समय हो या प्रतिकूल समय हो, साधक उस समय भी समभाव में ही विचरण करता है। वह सोचता है–शीत-उष्ण आदि स्पर्श पुद्गल के हैं और ये सारे स्पर्श पुद्गल को ही प्रभावित करते हैं। मैं तो आत्मस्वरूप हूँ। मेरे पर किसी भी स्पर्श का कोई प्रभाव नहीं हो सकता। मुझे इन वैभाविक स्थितियों से दूर रहकर आत्म-भाव में स्थिर रहना है।

क्षेत्र सामायिक

सामायिक धारी साधक के लिए चाहे रमणीय स्थान हो और चाहे अरमणीय स्थान हो, चाहे सुन्दर उपवन हो चाहे बंजर भूमि हो, चाहे विराट् नगर की उच्च

अट्टालिका हो या निर्जन वन की कँटीली भूमि हो, कोई अन्तर नहीं पड़ता, सर्वत्र वह समभाव में रहता है। उसका चिन्तन चलता है मेरा निवास स्थान न जंगल है, न नगर है। मेरा तो निवास स्थान आत्मा ही है। फिर व्यर्थ ही मैं क्यों क्षेत्र के व्यामोह में पड़कर कर्मबन्धन करूँ। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वभाव में ही स्थित रहता है। जो जड़ है वह जड़ में स्थित रहता है। आत्मा आत्मा में स्थित रहती है। मुझे भी अपने आत्मभाव में ही स्थिर रहना है।

भाव सामायिक

भाव सामायिक धारी का चिन्तन ऊर्ध्वमुखी होता है। वह सदा आत्म-भाव में विचरण करता है। उसका चिन्तन चलता है—मैं अजर हूँ, अमर हूँ। चैतन्य स्वरूप हूँ। जीवन-मरण, मान-अपमान, संयोग-वियोग, लाभ-अलाभ ये सभी कर्मोदयजन्य विकार हैं। मेरा इनके साथ वस्तुतः कोई सम्बन्ध नहीं है।

शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मतत्त्व को प्राप्त करना ही भाव सामायिक है। आचार्य नेमिचन्द्र[1] ने कहा है—पर-द्रव्यों से निवृत्त होकर जब साधक की ज्ञानचेतना आत्मस्वरूप में प्रवृत्त होती है तभी भाव सामायिक होती है। राग-द्वेष से रहित मध्यस्थ भावापन्न आत्मा सम कहलाती है। उस सम में गमन करना भाव सामायिक है।

भाव सामायिक का महत्त्व

आचार्य जिनदास गणी महत्तर ने भाव सामायिक पर विस्तार से चिन्तन किया है। गुणनिष्पन्न भाव सामायिक को महान् नगर की उपमा दी है। जैसे महान् नगर जन, धन, परिजन आदि से समृद्ध होता है, विविध वन और उपवनों से अलंकृत होता है वैसे ही भाव सामायिक करने वाले साधक का जीवन सद्गुणों से समलंकृत होता है। उसके जीवन में विविध सद्गुणों की जगमगाहट होती है, शांति का साम्राज्य होता है।

आचार्य जिनदास गणी महत्तर ने सामायिक आवश्यक को आद्यमंगल माना है।[2] जितने भी विश्व में द्रव्य-मंगल हैं वे सभी द्रव्य-मंगल अमंगल के रूप में

---

१. समसेकत्वेन आत्मनि आयः आगमनं परद्रव्येभ्यो निवृत्य उपयोगस्य आत्मनि प्रवृत्तिः समायः आत्मविषयोपयोग इत्यर्थः।''' अथवा सम् समे रागद्वेषाभ्यामनुपहते मध्यस्थे आत्मनि आयः उपयोगस्य प्रवृत्तिः समायः स प्रयोजनमस्येति सामायिकम्।

—गोम्मटसार जीव. टीका, गा. ३६८

२. आदिमंगलं सामाइयज्झयणं। सव्वमंगल निहाणं निव्वाणं पाविहित्ति काऊण
सामाइयज्झयणं मंगल भवति। —आवश्यकचूर्णि

परिवर्तित हो सकते हैं। पर सामायिक ऐसा भाव-मंगल है जो कभी भी अमंगल नहीं हो सकता। समभाव की साधना सभी मंगलों का मूल केन्द्र है।[1] अनन्तकाल से इस विराट् विश्व में परिभ्रमण करने वाली आत्मा यदि एक बार भी भाव सामायिक ग्रहण कर ले तो वह सात-आठ भव से अधिक संसार में परिभ्रमण नहीं कर सकता। सामायिक ऐसा पारसमणि है जिसके संस्पर्श से अनन्तकाल की मिथ्यात्व की कालिमा से आत्मा मुक्त हो जाती है और सम्यक्त्व के सुनहरे प्रकाश से जगमगाने लगती है।

सामायिक के विविध भेद

सामायिक के मुख्य दो भेद किये जा सकते हैं–(१) द्रव्य सामायिक, और (२) भाव सामायिक। द्रव्य सामायिक वह है जिसमें सामायिक ग्रहण करने के पूर्व जो विधि विधान किये जाते हैं, जैसे–सामायिक के लिए आसन बिछाना, रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि धार्मिक उपकरण एकत्रित कर एक स्थान पर अवस्थित होना द्रव्य सामायिक है। द्रव्य सामायिक में आसन, वस्त्र, रजोहरण, मुखवस्त्रिका, माला आदि वस्तुएँ सादगीपूर्ण होनी चाहिए। साथ ही स्वच्छ भी। वे श्वेत रंग के ही होने चाहिए, क्योंकि श्वेत रंग शुक्ल और शुभ ध्यान का प्रतीक है। आधुनिक विज्ञान भी श्वेत रंग को शान्ति का प्रतीक स्वीकार करता है। न गन्दे एवं बीभत्स धर्मोपकरण रखने चाहिए और न चमचमाती हुई विलासितापूर्ण वस्तुएँ ही।

भाव सामायिक वह है जिसमें साधक आत्मभाव में स्थिर रहता है। सामायिक में द्रव्य और भाव दोनों की आवश्यकता है। भावशून्य द्रव्य केवल मुद्रा लगी हुई मिट्टी है। वह स्वर्ण-मुद्रा की तरह बाजार में मूल्य प्राप्त नहीं कर सकती। केवल बालकों का मनोरंजन कर सकती है। द्रव्यशून्य भाव केवल स्वर्ण है जिस पर मुद्रा उट्टंकित नहीं है। वह स्वर्ण के रूप में तो मूल्य प्राप्त कर सकता है पर मुद्रा के रूप में नहीं। द्रव्ययुक्त भाव स्वर्ण-मुद्रा है। वह अपना मूल्य रखती है और अबाध गति से सर्वत्र चलती है। इसी भावयुक्त द्रव्य सामायिक का भी महत्त्व है।

सामायिक के पात्र भेद से दो भेद होते हैं–(१) गृहस्थ की सामायिक, और (२) श्रमण की सामायिक।[2] गृहस्थ की सामायिक का कम से कम समय एक मुहूर्त यानी ४८ मिनट होता है। अधिक समय के लिए भी वह अपनी स्थिति के अनुसार सामायिक व्रत कर सकता है। श्रमण की सामायिक तो यावज्जीवन के लिए होती है।

---

१. जो य समभावो सो कह सव्वमंगलनिधाणं ण भविस्सति। —*आवश्यकचूर्णि*

२. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ७९६

आचार्य भद्रबाहु ने सामायिक के तीन भेद[1] बताये हैं-(१) सम्यक्त्व सामायिक, (२) श्रुत सामायिक, और (३) चारित्र सामायिक। समभाव की साधना के लिए सम्यक्त्व और श्रुत ये दोनों ही आवश्यक हैं। बिना सम्यक्त्व के श्रुत निर्मल नहीं होता और न चारित्र ही निर्मल होता है। सर्वप्रथम दृढ़ निष्ठा होने से विश्वास की शुद्धि होती है। सम्यक्त्व में अंधविश्वास नहीं होता। वहाँ भेदविज्ञान होता है। श्रुत से विचारों की शुद्धि होती है। जब विश्वास और विचार शुद्ध होते हैं तब चारित्र शुद्ध होता है।

ऊपर की पंक्तियों में सामायिक के अधिकारी की दृष्टि से देश (गृहस्थ) और सर्व (श्रमण) सामायिक का जो भेद प्ररूपित किया है, वह केवल चारित्र सामायिक की अपेक्षा से है। समता, सम्यक्त्व, शांति, सुविहित आदि विविध शब्द सामायिक के पर्याय के रूप में व्यवहृत हुए हैं।[2]

सामायिक आध्यात्मिक साधना है, इसलिए जाति-पाँति का तनिक मात्र भी प्रश्न नहीं उठता। प्रत्येक जाति का व्यक्ति सामायिक की साधना कर सकता है। हरिकेशी मुनि[3] यद्यपि अन्त्यज थे, पर सामायिक की विशुद्ध साधना से वे देवों द्वारा भी अर्चनीय बन गये। अर्जुन मालाकार[4] जो महान् हत्यारा था, सामायिक साधना से उसने मुक्ति को वरण कर लिया।

सामायिक का मूल्य

सामायिक का महत्त्व प्रतिपादन करने हेतु पूनिया श्रावक की घटना प्राप्त होती है। सम्राट् श्रेणिक की जिज्ञासा पर भगवान महावीर ने बताया-तुम मरकर प्रथम नरक में उत्पन्न होओगे क्योंकि तुमने इसी प्रकार के कर्मों का अनुबन्धन किया है। श्रेणिक ने नरक से बचने का उपाय पूछा। भगवान ने चार उपाय बताये। उन उपायों में एक उपाय पूनिया श्रावक की सामायिक को खरीदना था। जब श्रेणिक सामायिक खरीदने के लिए पहुँचा तब पूनिया ने कहा-एक सामायिक का मूल्य कितना है, यह आप भगवान महावीर से ही पूछ लीजिए। श्रेणिक के प्रश्न के उत्तर में भगवान महावीर ने कहा-राजन् ! तुम्हारे पास इतना विराट् वैभव है कि उस धन के बड़े-बड़े अंबार लग सकते हैं, पर यह सारा धन तो सामायिक की दलाली के लिए भी पर्याप्त नहीं है। सामायिक का मूल्य तो उससे भी बहुत अधिक है।

---

१. सामाइयं च तिविहं, सम्मत सुयं तहा चरित्तं च।
दुविहं चेव चरित्तं, आगारमणगारियं चेव॥ —आवश्यकनिर्युक्ति ७९७

२. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १०३३

३. उत्तराध्ययन, हरिकेशी अध्ययन

४. अंतकृद्दशांग, षष्ठ वर्ग, तृतीय अध्ययन

भगवान के इस कथन का निष्कर्ष यह है कि सामायिक एक अमूल्य साधना है। आध्यात्मिक साधना की तुलना भौतिक वैभव से नहीं की जा सकती। आध्यात्मिक निधि के सामने भौतिक सम्पदाएँ अति तुच्छ हैं।

सामायिक के दोष

सामायिक साधना में साधक को अत्यन्त जागरूक रहना होता है। उसे मन, वचन और काया के दोषों से बचना होता है। सामायिक के कुल ३२ दोष बताये हैं। १० मन के दोष हैं, १० वचन के दोष हैं और १२ काया के दोष हैं। संक्षेप में वे इस प्रकार हैं–

मन के दोष[1]–(१) अविवेक–औचित्य-अनौचित्य का विवेक न रखना।

(२) यशःकीर्ति–मेरा सम्मान हो, उससे प्रेरित होकर सामायिक करना।

(३) लाभार्थ–भौतिक वैभव की उपलब्धि के लिए सामायिक करना।

(४) गर्व–मैं अत्यधिक कुलीन व धर्मात्मा हूँ। मेरे समान सामायिक करने वाला कौन है ? इस प्रकार की भावना मन में आना।

(५) भय–मैं उच्च कुलीन हूँ। यदि मैंने सामायिक नहीं की तो लोग क्या कहेंगे ? इस भय से सामायिक करना अथवा राजा आदि के अपराध से मुक्त होने के लिए सामायिक करना।

(६) निदान–भौतिक पदार्थों की इच्छा करना। मैं सामायिक करूँ तो मुझे अमुक वस्तु या पद की उपलब्धि हो।

(७) संशय–मैं सामायिक कर रहा हूँ। इसका फल मुझे प्राप्त होगा या नहीं ?

(८) रोष–सामायिक में क्रोध, मान आदि करना या सामायिक करने के पूर्व लड़-झगड़कर सामायिक में बैठना। उस क्रोध, कलह आदि का असर सामायिक करते समय भी बना रहता है।

(९) अविनय–सामायिक के प्रति तथा गुरु के प्रति विनय का अभाव।

(१०) अबहुमान–किसी के दबाव से, बिना उत्साह के, सामायिक करना।

वचन के दोष[2]–(१) कुवचन–सामायिक में कुत्सित वचनों का प्रयोग करना।

---

१. अविवेक जसो कित्ती, लाभत्थी गव्व-भय-नियाणत्थी।
संसय रोस अविणओ, अबहुमाणए दोसा भाणियव्वा॥

२. कुवयण सहसाकारे सच्छंद संखेय कलहं च।
विगहा विहासोऽसुद्धं निरवेक्खो मुणमुणा दस दोसा॥

(२) सहसाकार–बिना विचारे सहसा असत्य वचन बोलना।

(३) स्वच्छन्द–कामवृद्धि करने वाले गन्दे गीत आदि गाना।

(४) संक्षेप–जिस रूप में पाठ बोलना चाहिए उस रूप में न बोलकर संक्षेप करना।

(५) कलह–सामायिक में कलह उत्पन्न करने वाले वचन बोलना।

(६) विकथा–बिना किसी उद्देश्य के मनोरंजनार्थ कथा-प्रयोग करना।

(७) हास्य–सामायिक में हँसना। व्यंग्यपूर्ण शब्दों का प्रयोग करना।

(८) अशुद्ध–सामायिक के पाठ को अशुद्ध बोलना।

(९) निरपेक्ष–बिना सावधानी के वचन बोलना।

(१०) मुन्मन–सामायिक का पाठ स्पष्ट रूप से न बोलकर गुनगुनाते हुए बोलना।

काया के दोष[1]–(१) कु-आसन–सामायिक में गुरु आदि के सामने अविनय मुद्रा में बैठना।

(२) चलासन–सामायिक में अस्थिर आसन में बैठना, बार-बार आसन बदलना।

(३) चलदृष्टि–बन्दर की तरह इधर-उधर देखना।

(४) सावद्य क्रिया–स्वयं सावद्य क्रियाएँ करना और दूसरों से करवाना।

(५) आलंबन–रोग आदि बिना विशेष कारण के दीवार का सहारा लेकर बैठना।

(६) आकुंचन-प्रसारण–बिना किसी प्रयोजन के हाथ-पैरों को सिकोड़ते-फैलाते रहना।

(७) आलस्य–सामायिक में इस प्रकार की मुद्रा में बैठना जिससे आलस्य में अभिवृद्धि हो।

(८) मोडन–सामायिक में बैठे हुए हाथ-पैर की उँगलियाँ चटकाना।

(९) मल–सामायिक के समय शरीर पर से मैल उतारते रहना।

(१०) विमासन–शोकग्रस्त मुद्रा में बैठना।

---

१. कुआसणं चलासणं चला दिट्ठी, सावज्जकिरियाऽऽलंबणा-कुंचण पसारणं।
आलस-मोडन-मल-विमासणं निद्दा वेयावच्चत्ति दोस काय दोसा॥

(११) निद्रा–सामायिक में ऊँघते रहना।

(१२) वैयावृत्य–आराम के लिए दूसरों से सेवा कराना।

कितने ही आचार्य वैयावृत्य के स्थान पर 'कंपन' दोष मानते हैं। उनका मन्तव्य है सामायिक साधना करते हुए इधर-उधर फिरते रहना दोष है।

जो गृहस्थ साधक हैं, जिनकी सामायिक स्वल्पकालीन है, उनके लिए इन सामायिक के दोषों का निरूपण है। श्रमण तो अधिक जागरूक रहता है। साधक को इन दोषों से निवृत्त होकर सामायिक की साधना करनी चाहिए।

सामायिक जैन धर्म की एक विशुद्ध साधना पद्धति है। इस साधना पद्धति की तुलना पूर्ण रूप से अन्य धर्मों की साधना पद्धति से नहीं की जा सकती। वैदिक धर्मानुयायियों की सन्ध्या, मुसलमानों की नमाज, ईसाइयों की प्रेयर, योगियों के प्राणायाम की भाँति ही जैनियों की सामायिक साधना है। यह साधना जीवन को सजाने और सँवारने की साधना है।

चतुर्विंशतिस्तव

षडावश्यक में दूसरा आवश्यक चतुर्विंशतिस्तव है। सामायिक साधना में सावद्य योग से निवृत्त रहने का सन्देश दिया गया है। सावद्य योग से निवृत्त रहकर उस साधक को किसी न किसी आलंबन का आश्रय ग्रहण करना आवश्यक है जिससे वह समभाव में स्थिर रह सके। इसीलिए सामायिक में साधक को तीर्थंकर देवों की स्तुति करने का विधान है।

तीर्थंकर सबसे महान्

चतुर्विंशतिस्तव भक्ति साहित्य की एक अपूर्व रचना है। उसमें भक्ति की भागीरथी प्रवाहित हो रही है। यदि साधक उस भागीरथी में अवगाहन करे तो वह आनन्द-विभोर हुए बिना नहीं रह सकता। तीर्थंकर त्याग-वैराग्य की दृष्टि से, संयम-साधना की दृष्टि से महान् हैं। उनके गुणों का उत्कीर्तन करने में साधक के अन्तर्मानस में आध्यात्मिक बल का संचार होता है। उसकी श्रद्धा यदि किसी कारणवश शिथिल हो चुकी है तो उसमें अभिनव स्फूर्ति का संचार होता है। उसकी आँखों के सामने त्याग-वैराग्य की ज्वलन्त प्रतिकृति आती है जिससे उसका अहंकार नष्ट हो जाता है।

वह सोचता है कि संसार में बल की दृष्टि से तीर्थंकर से बढ़कर कोई बली नहीं है। संसार के जितने भी शुभ परमाणु हैं उनके द्वारा तीर्थंकर का शरीर निर्मित

होता है। इसलिए रूप की दृष्टि से भी तीर्थंकर महान् हैं। संसार में कोई भी मानव पूर्वभव से अवधिज्ञान लेकर नहीं आता, किन्तु तीर्थंकर पूर्वभव से अवधिज्ञान लेकर आते हैं। श्रमण बनते ही उन्हें मनःपर्यवज्ञान हो जाता है और बाद में केवलज्ञान का दिव्य आलोक उनमें जगमगाने लगता है। इसलिए ज्ञान की दृष्टि से भी तीर्थंकर महान् हैं। दर्शन (सम्यक्त्व) की दृष्टि से वे क्षायिक सम्यक्त्व के धारक होते हैं। उनका चारित्र भी उत्तरोत्तर विकसित होता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र के साथ ही दान में उनकी समता कोई नहीं कर सकता, क्योंकि वे प्रतिदिन एक वर्ष तक एक करोड़ आठ लाख स्वर्ण-मुद्राओं का दान देते हैं। वे गुप्त ब्रह्मचारी भी होते हैं। साधना-काल में देवांगनाएँ भी अपने अद्भुत रूप से उनको आकर्षित नहीं कर सकतीं। तप के क्षेत्र में भी प्रत्येक तीर्थंकर एक प्रतिमान संस्थापित करते हैं। उससे अधिक उनके शासन में कोई भी साधक तप नहीं कर सकता। भगवान ऋषभदेव ने एक संवत्सर तक उत्कृष्ट तप की साधना की, अन्य बाईस तीर्थंकरों ने आठ माह तक उत्कृष्ट तप की साधना की और भगवान महावीर ने छह माह की। तीर्थंकर की तपःसाधना की यह विशेषता है कि वे तपःकाल में जल भी ग्रहण नहीं करते। भावना के क्षेत्र में भी तीर्थंकरों की भावना उत्तरोत्तर वर्धमान होती है।

अरिहन्त अनेक, तीर्थंकर एक

इस प्रकार तीर्थंकरों का जीवन अनेक विशेषताओं को लिए हुए होता है। एक काल में एक स्थान पर अनेक अरिहन्त हो सकते हैं, पर तीर्थंकर एक ही होता है। प्रत्येक साधक प्रयत्न करने से अरिहन्त बन सकता है, किन्तु तीर्थंकर बनने के लिए अनेक भवों की साधना अपेक्षित होती है। तीर्थंकरत्व उत्कृष्ट पुण्य प्रकृति है। उनका स्मरण करने से, गुणों का उत्कीर्तन करने से हृदय पवित्र होता है, वासनाएँ शान्त होती हैं; जैसे तेज ज्वर के समय बर्फ की ठण्डी पट्टी लगाने से ज्वर शान्त हो जाता है। जब जीवन में वासना का ज्वर बेचैनी प्रदान कर रहा हो उस समय तीर्थंकरों का स्मरण बर्फ की पट्टी की तरह शान्ति प्रदान करता है। तीर्थंकरों के स्तुति से संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं। जैसे एक नन्हीं-सी चिनगारी रुई के ढेर को भस्म कर देती है वैसे ही तीर्थंकरों की स्तुति से कर्म नष्ट हो जाते हैं।

तीर्थंकरों के उज्ज्वल आदर्श

जब हम तीर्थंकरों की स्तुति करते हैं तो प्रत्येक तीर्थंकर का एक उज्ज्वल आदर्श साधक के सामने रहता है। भगवान ऋषभदेव का स्मरण आते ही आदियुग का चित्र साधक के मानसपट पर चमकने लगता है। वह सोचने लगता है कि भगवान ने इस मानव संस्कृति का निर्माण किया, राज्य-व्यवस्था का संचालन

किया, मनुष्य को कला और सभ्यता का पाठ पढ़ाया और अन्त में उस राजसी वैभव को ठोकर मारकर श्रमण बन गये। एक संवत्सर तक भिक्षा न मिलने पर भी वही आह्लाद रहा।

भगवान शान्तिनाथ का जीवन शान्ति का महान् प्रतीक है। भगवती मल्ली का जीवन नारी जीवन का एक ज्वलन्त आदर्श है। भगवान अरिष्टनेमि करुणा के साक्षात् अवतार हैं। पशु-पक्षियों की रक्षा के लिए सर्वांगसुन्दरी राजीमती का भी परित्याग कर देते हैं।

भगवान पार्श्व का स्मरण आते ही उस युग की तप-परम्परा का एक रूप सामने आता है, जिसमें ज्ञान की ज्योति नहीं है। अन्तर्मानस में कषाय की ज्वालाएँ धधक रही हैं तो बाहर भी पंचाग्नि की ज्वालाएँ सुलग रही हैं। उन ज्वालाओं में से जलते हुए नाग को बचाते हैं तथा कमठ के द्वारा भयंकर यातना देने पर भी तनिक मात्र भी उनके मानस में रोष पैदा नहीं होता।

भगवान महावीर का जीवन महान् क्रांतिकारी जीवन है। अनेक लोमहर्षक उपसर्गों में भी तनिक मात्र भी विचलित नहीं होते। आर्य और अनार्यों के द्वारा, देव और दानवों के द्वारा, पशु-पक्षियों के द्वारा दिये गये उपसर्गों में भी वे मेरु की तरह अचल रहते हैं। वे जाति-पाँति का खण्डन कर गुणों की महत्ता पर बल देते हैं। नारी जाति को साधना के सर्वोच्च पद पर भी आसीन करते हैं।

प्रेरणा का स्रोत : स्तुति

इस प्रकार तीर्थंकरों की स्तुति मानव में अपने पौरुष को जाग्रत करने की प्रेरणा देती है कि आत्मा ही परमात्मा है। एक दिन तीर्थंकरों की आत्मा भी हमारी तरह ही भोग-वासना के दलदल में फँसी थी, पर ज्यों ही उसने अपने स्वरूप को समझा त्यों ही वे उसे त्यागकर नर से नारायण बन गये, आत्मा से परमात्मा हो गये। वैसे हम भी साधना के द्वारा परमात्मा बन सकते हैं। गीताकार ने कहा[1]—
"श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः।"

साधक के अन्तर्मानस में जिस प्रकार की श्रद्धा जाग्रत होगी, भावना बलवती होगी, उसी प्रकार का उसका जीवन बनेगा। जिस घर में गरुड़ पक्षी का निवास हो उस घर में साँप नहीं रह सकते, वे गरुड़ की परिच्छाया से ही भागते हैं। जिसके हृदय में तीर्थंकरों की स्तुतिरूपी गरुड़ आसीन हो वहाँ पर पापरूपी सांप नहीं रह सकते। तीर्थंकरों का स्मरण ही पाप को नष्ट कर देता है। यही कारण है कि सामायिक साधना में चतुर्विंशतिस्तव का विधान है।

---

१. भगवद्गीता १७. ३

तीर्थ के निर्माता : तीर्थंकर

तीर्थंकर तीर्थ के कर्त्ता हैं। संसार में समुद्र से आत्मा को तिराने वाला अहिंसा आदि से युक्त धर्म है, उस धर्मतीर्थ की संस्थापना करने के कारण वे तीर्थंकर कहलाते हैं। तीर्थंकर साधु-साध्वी, श्रावक श्राविकारूपी चतुर्विध तीर्थ की स्थापना करते हैं। तीर्थंकर का अर्थ तीर्थ का निर्माता है। संस्कृत भाषा में 'तीर्थ' शब्द घाट (तरण योग्य स्थान) के लिए व्यवहृत हुआ है। वे धर्मतीर्थरूपी घाट का निर्माण करते हैं जिससे कि साधारण साधक भी सुविधा से पार हो सके, इसीलिए तीर्थंकर आचार-संहिता का निर्माण करते हैं। जिस साधक की जैसी योग्यता हो उसके अनुसार वह धार्मिक साधना कर सकता है। यहाँ एक प्रश्न सहज ही उद्‌बुद्ध हो सकता है कि तीर्थ की संस्थापना करने के कारण तीर्थंकर कहलाते हैं तो ऋषभदेव ही तीर्थंकर हो सकते हैं, अन्य तेईस तीर्थंकर कैसे ? उत्तर में निवेदन है कि प्रत्येक तीर्थंकर अपने युग में प्रचलित धर्म-परम्परा में जो विकृतियाँ आ जाती हैं, धर्म के नाम पर बाह्याडम्बर व पाखण्ड पनपने लगता है, उसका वे निरसन कर पुनः नवीन विधान बनाते हैं। धर्म का मूल प्राण वही रहता है, किन्तु बाह्य क्रियाकाण्डों में वे परिवर्तन करते हैं। इसलिए वे तीर्थंकर हैं। यही कारण है–तीर्थंकरों के शासन भेद का।

स्तुति से दर्शन की विशुद्धि

तीर्थंकर अपने अद्वितीय ज्ञानबल से जन-जन में फैले हुए अज्ञान अन्धकार को छिन्न-भिन्न कर देते हैं। मानव-जीवन का कायापलट कर देते हैं। उनका शरीर पूर्ण स्वस्थ और निर्मल होता है। विरोधी से विरोधी शक्ति भी उनके उपदेश को श्रवण कर शान्त हो जाती है। जहाँ पर तीर्थंकर विचरण करते हैं वहाँ पर न दुर्भिक्ष होता है, न अतिवृष्टि होती है, न किसी भी प्रकार का उपद्रव होता है। रुग्ण से रुग्ण व्यक्ति भी उनके दिव्य प्रभाव से रोगमुक्त हो जाता है। वे केवल शारीरिक ही नहीं, आध्यात्मिक स्वास्थ्य प्रदान करते हैं। इसीलिए सामायिक साधना में चतुर्विंशतिस्तव को प्रधानता दी गई है।

एक शिष्य ने जिज्ञासा प्रस्तुत की–भगवन् ! चतुर्विंशतिस्तव करने से जीव को किस सद्‌गुण की उपलब्धि होती है ? भगवान महावीर ने कहा–चतुर्विंशतिस्तव से दर्शन की विशुद्धि होती है।[1]

---

१. चउव्वीसत्थएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?
चउव्वीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ ॥ –उत्तराध्ययन, २९-१०

अतः स्पष्ट है कि तीर्थंकरों की स्तुति करने से साधक को अनेक लाभ होते हैं। उसकी श्रद्धा परिमार्जित होती है, सम्यक्त्व शुद्ध होता है, उपसर्ग एवं परीषह समभाव से सहने की शक्ति विकसित होती है और तीर्थंकर जैसा बनने की प्रेरणा मन में उद्‌बुद्ध होती है। इसीलिए षडावश्यकों में तीर्थंकर-स्तुति अथवा चतुर्विंशतिस्तव को स्थान दिया गया है।

वन्दन

सामायिक साधना में चतुर्विंशतिस्तव के द्वारा तीर्थंकरों की स्तुति का उत्कीर्तन किया जाता है और वह साधक यह दृढ़ संकल्प करता है कि मुझे भी तीर्थंकर की तरह अपने जीवन का उत्कर्ष करना है। तीर्थंकर के पश्चात् दूसरा स्थान गुरु का है। तीर्थंकर देव हैं इसलिए देव के पश्चात् गुरु को नमन किया जाता है। उनका स्तवन और अभिवादन किया जाता है। आवश्यक निर्युक्ति में वन्दन के अर्थ में ही चितिकर्म, कृतिकर्म, पूजाकर्म आदि विविध पर्यायवाची शब्द व्यवहृत हुए हैं। साधक मन, वचन और शरीर से सद्‌गुरु के प्रति सर्वात्मना समर्पित होता है।

सद्‌गुणी को नमस्कार

यह सत्य है कि मानव का मस्तिष्क हर किसी के चरणों में नहीं झुक सकता और झुकना भी नहीं चाहिए। जो सद्‌गुणी हैं उन्हीं के चरणों में वह नत होता है। जीवन में विनय आवश्यक है। जैन धर्म ने विनय को धर्म का मूल कहा है। विनय के सम्बन्ध में विस्तार से विवेचन करने के बावजूद भी जैन धर्म वैनयिक नहीं है। भगवान महावीर के युग में इस प्रकार का एक पंथ प्रचलित था जिसके अनुयायी पशु-पक्षी या अन्य कोई भी जो उन्हें मिल जाता उसे ही नमस्कार करते थे। जैन धर्म ने कहा कि तुम्हारा मस्तिष्क ऐरे-गैरे के चरणों में झुकने के लिए नहीं है। नम्र रहना अलग बात है, पर प्राणी मात्र को परमादरणीय समझकर नमस्कार करना अलग बात है। जैन धर्म गुणों का उपासक है। वह सद्‌गुणी के चरणों में अपना सिर झुकाता है। क्योंकि सद्‌गुणों के प्रति वह नत होता है। सद्‌गुणों को नमन करने का अर्थ है सद्‌गुणों को अपनाना। यदि साधक असंयमी, पतित व्यक्ति को नमस्कार करता है जिसके जीवन में दुराचार पनप रहा हो, वासनाएँ उभर रही हों, राग-द्वेष की ज्वालाएँ धधक रही हों तो उन व्यक्तियों को नमन करने का अर्थ है उन दुर्गुणों को प्रोत्साहन देना। आचार्य भद्रबाहु[1] ने स्पष्ट रूप से लिखा है–ऐसे गुणहीन व्यक्तियों को नमस्कार नहीं करना चाहिए। क्योंकि गुणों से रहित व्यक्ति अवन्दनीय हैं। अवन्दनीय व्यक्तियों को नमस्कार करने से कर्मों की निर्जरा नहीं होती और न

---

१. पासत्थाई वंदमाणस्स नेव कित्ती न निज्जरा होई।
काय किलेसं एमेव कुणई तह कम्मबंधं च॥ —आवश्यकनिर्युक्ति ११०८

कीर्ति ही बढ़ती है। असंयम, दुराचार का अनुमोदन करने से कर्म बँधते हैं। वह वन्दन व्यर्थ है। एक अवन्दनीय व्यक्ति जो जानता है कि मेरा जीवन दुर्गुणों का आगार है यदि वह सद्गुणी व्यक्तियों से नमस्कार कराता है तो वह अपने जीवन को दूषित करता है ? असंयम की वृद्धि कराकर अपना पतन करता है।[1]

इस प्रकार का व्यक्ति उस पापकर्म से अगले जन्म में अपंग, रोगी और विकलांग बनता है। उसे पुनः धर्ममार्ग मिलना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

वन्दनीय कौन ?

जैन धर्म की दृष्टि से साधक में द्रव्यचारित्र और भावचारित्र दोनों ही आवश्यक हैं। यदि द्रव्यचारित्र नहीं है और केवल भावचारित्र ही है तो भी वह प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि सामान्य साधकों के लिए उसका पवित्र चरित्र ही पथ-प्रदर्शक होता है। यदि केवल द्रव्यचारित्र ही है; भावचारित्र का अभाव है तो भी वह श्लाघनीय नहीं है। वह केवल बाहर का दिखावा है। साधक को ऐसे गुरु की आवश्यकता है जिसके द्रव्य और भाव दोनों ही चारित्र निर्मल हों, निश्चय और व्यवहार दोनों की दृष्टियों से जिसके जीवन में पूर्णता हो। भाव और द्रव्य दोनों की परिपूर्णता ही जिस सद्गुरु के जीवन में होती है वह अभिवन्दनीय होता है। ऐसे सद्गुरु से साधक पवित्र प्रेरणा ग्रहण कर सकता है। वन्दनावश्यक में ऐसे ही सद्गुरुओं को नमन करने का विधान है।

द्रव्यवन्दन और भाववन्दन

वन्दन करने से अहंकार नष्ट होता है। विनय ही उपलब्धि होती है। सद्गुरुओं के प्रति अनन्य श्रद्धा व्यक्त होती है। तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन करने से शुद्ध धर्म की आराधना होती है। अतः साधक को सतत जागरूक रहकर वन्दन करना चाहिए। तनिक मात्र भी वन्दन के प्रति उपेक्षा नहीं बरतनी चाहिए। जब साधक के जीवन के अणु-अणु में भक्ति का अजस्र स्रोत प्रवाहित होता है तब सहसा वह सद्गुरुओं के चरणों में झुक जाता है। जिस वन्दन में भक्ति नहीं हो केवल भय, प्रलोभन, प्रतिष्ठा आदि भावनाएँ पनप रही हों, वह वन्दन केवल द्रव्यवन्दन है, भाववन्दन नहीं। द्रव्यवन्दन कितनी ही बार कर्मबन्धन का कारण भी बन जाता है। पवित्र और निर्मल भावना के द्वारा किया गया वन्दन ही सही वन्दन है। आचार्य मलयगिरि ने लिखा है द्रव्यवन्दन मिथ्यादृष्टि भी करता है, किन्तु भाववन्दन सम्यग्दृष्टि ही करता है।

---

१. जे बंभचेरभट्ठा पाए उड्डंति बंभयारीणं।
ते होंति कुंट मुंटा बोही य सुदुल्लहा तेसिं॥ —*आवश्यकनिर्युक्ति ११०९*

आवश्यकचूर्णि में द्रव्य और भाववन्दन को स्पष्ट करने के लिए एक ऐतिहासिक प्रसंग दिया है–

एक बार भगवान अरिष्टनेमि द्वारका पधारे। वासुदेव कृष्ण भगवान को वन्दन करने के लिए पहुँचे। श्रीकृष्ण के अन्तर्मानस में एक विचार तरंग उद्‌बुद्ध हुई कि जब भी भगवान पधारते हैं भगवान को नमस्कार करने के लिए मैं प्रतिदिन पहुँचता हूँ और जो विशिष्ट सन्त हैं उन्हीं को नमस्कार कर भगवान का उपदेश सुनने के लिए बैठ जाता हूँ पर आज मैं सभी श्रमणों को नमस्कार करूँगा। उसी भक्ति की तीव्र प्रभा से प्रभावित होकर श्रीकृष्ण नमस्कार करते हैं। श्रीकृष्ण के साथ उनका अनुचर वीरकौलिक था। उसने भी श्रीकृष्ण की देखा-देखी नमस्कार किया। जब भगवान से पूछा गया कि भगवन् ! श्रीकृष्ण ने और वीरकौलिक ने नमस्कार किया है। दोनों की नमस्कार-क्रिया समान रही। कृपा कर बताइए कि दोनों में से किसे अधिक लाभ हुआ और किसे कम लाभ हुआ?

भगवान ने कहा–श्रीकृष्ण ने तो भाववन्दन किया। द्रव्यवन्दन के साथ ही उसमें भावों की उत्कृष्ट तीव्रता थी। जिसके फलस्वरूप श्रीकृष्ण ने क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया और तीर्थंकर नामकर्म का भी अनुबंधन किया। किन्तु वीरकौलिक का वन्दन भावरहित वन्दन था। उसने केवल द्रव्यवन्दन ही किया। श्रीकृष्ण को प्रसन्न करना ही उसका उद्देश्य था जिसके कारण उसे केवल श्रीकृष्ण की प्रसन्नता प्राप्त हुई। इसके अतिरिक्त कुछ भी लाभ न हुआ।

द्रव्यवन्दन अभव्य जीव भी करता है। उसकी वह क्रिया केवल यांत्रिक क्रिया होती है। उसे उससे किसी प्रकार का आध्यात्मिक लाभ नहीं होता। इसलिए द्रव्य और भाव ये दोनों ही वन्दन के लिए आवश्यक हैं। वन्द्य मुनि आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और रत्नाधिक के रूप में पाँच प्रकार[1] का है।

वन्दन बत्तीस दोषों से रहित होना चाहिए। अनादृत आदि वन्दन के बत्तीस दोष आवश्यक निर्युक्ति में प्रतिपादित किये गये हैं। उन सभी दोषों को टालकर वन्दन करना चाहिए।

प्रतिक्रमण

अमोघ औषधि : प्रतिक्रमण

भारतवर्ष की सभी अध्यात्मवादी धर्म-परम्पराएँ आत्म-साधना की प्रबल प्रेरणा प्रदान कर रही हैं। आत्मा में अनन्तकाल से प्रमाद और असावधानी के कारण

१. आवश्यकनिर्युक्ति, गा. ११९५

विकार और वासनाएँ अपना प्रभुत्व जमा चुकी हैं। उन्हें हटाकर ईश्वरत्व को जगाना है। मानव में जो पशुत्व की वृत्ति है, वह उसकी स्वयं की नहीं, अपितु बाहर से आई हुई है। साधक का जीव घनघोर घटाओं से घिरे हुए सूर्य के सदृश है जिसका दिव्य आलोक बादलों ने ढक रखा है। कर्मों की काली घटाएँ घिरने के कारण आत्मा का परम तेज दिखाई नहीं दे रहा है, जिससे वह अपने आपको दीन-हीन समझ रहा है। भूतकाल में अज्ञान अथवा प्रमाद के कारण तुम्हारे से भूल हो गयी है तो उन पूर्वकृत पापों की आलोचना, निन्दना, गर्हणा आदि के द्वारा प्रतिक्रमण करो। आत्मा पर लगे हुए पाप के घावों को धो दो। उस पर मरहम पट्टी कर स्वस्थ बना दो। पापों के रोग को मिटाने की प्रतिक्रमण सबसे बड़ी अमोघ औषधि है।

पापों की आलोचना : प्रतिक्रमण है

प्रतिक्रमण का अर्थ है–पुनः लौटना। हम अपनी मर्यादाओं का अतिक्रमण करके अपनी स्वभाव-दशा से निकलकर विभाव-दशा में चले गये थे तो पुनः स्वभाव रूप सीमाओं में प्रत्यागमन करना प्रतिक्रमण है। जो पाप मन, वचन और काया से स्वयं किये जाते हैं, दूसरों से करवाये जाते हैं और दूसरों के द्वारा किये हुए पापों का अनुमोदन किया जाता है उन सभी पापों की निवृत्ति हेतु किये हुए पापों की आलोचना करना, निन्दा करना प्रतिक्रमण है।

आचार्य हेमचन्द्र[1] ने लिखा है–शुभ योगों से अशुभ योगों में गये हुए अपने आपको पुनः शुभ योगों में लौटा लाना प्रतिक्रमण है। आवश्यकसूत्र की हारिभद्रीयावृत्ति में भी लिखा है–प्रमादवश शुभ योग से च्युत होकर अशुभ योग को प्राप्त करने के पश्चात् पुनः शुभ योग को प्राप्त करना प्रतिक्रमण है।[2]

संसार का मूल कारण राग-द्वेष प्रभृति औदयिक भाव है और मोक्ष का मूल कारण क्षायोपशमिक भाव है जिसमें समता, क्षमा, नम्रता प्रभृति भाव की प्रमुखता होती है। साधक क्षायोपशमिक भाव से औदयिक भाव में जाता है जो निज भाव नहीं है, तदुपरान्त वह पुनः क्षायोपशमिक भाव में आता है, इस प्रतिकूल गमन को प्रतिक्रमण कहा गया है।[3]

---

१. प्रतीपं क्रमणं प्रतिक्रमणम्, अयमर्थः-शुभयोगेभ्योऽशुभयोगान्तरं क्रान्तस्य शुभेषु एव क्रमणात्प्रतीपं क्रमणम्। *–योगशास्त्र, तृतीय प्रकाश, स्वोपज्ञवृत्ति*

२. स्वस्थानाद् यत्परस्थानं, प्रमादस्य वशाद्गतः।
तत्रैव क्रमणं भूयः प्रतिक्रमणमुच्यते॥

३. क्षायोपशमिकाद् भावदौदयिकस्य वशं गतः।
तत्रापि च स एवार्थः प्रतिकूलगमात्स्मृतः॥

प्रतिक्रमण के पाँच प्रकार

साधना के क्षेत्र में मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभ याग–पाँचों बहुत ही भयंकर दोष माने गये हैं। साधक प्रातः और सन्ध्या के सुहावने समय में अपने जीवन का अन्तर्निरीक्षण करता है। उस समय वह गहराई से चिन्तन करता है कि वह कहीं सम्यक्त्व के प्रशस्त पथ को छोड़कर मिथ्यात्व की कँटीली झाड़ियों में तो नहीं उलझा है ? व्रत के स्वरूप को विस्मृत होकर अव्रत को तो ग्रहण नहीं किया है ? अप्रमत्त के नन्दनवन में विहरण के स्थान पर प्रमाद की झुलसती मरुभूमि में तो विचरण नहीं किया है ? अकषाय के सुगंधित सरसब्ज बाग को छोड़कर कषाय के धधकते हुए पथ पर तो नहीं चला है ? मन, वचन और काया की प्रवृत्ति जो शुभ योग में लगनी चाहिए थी, वह अशुभ योग में तो नहीं लगी ? यदि मैं मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग में गया हूँ तो मुझे पुनः सम्यक्त्व, व्रत, अकषाय, अप्रमाद और शुभ योग में आना चाहिये। इसी दृष्टि से इन पाँचों का प्रतिक्रमण किया जाता है।[1]

प्रतिक्रमण के पर्यायवाची

आवश्यक निर्युक्ति, आवश्यकचूर्णि, आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति, आवश्यक मलयगिरिवृत्ति प्रभृति ग्रन्थों में प्रतिक्रमण के सम्बन्ध में बहुत ही विस्तार के साथ विचार-चर्चाएँ की गई हैं। उन्होंने प्रतिक्रमण के आठ पर्यायवाची[2] शब्द भी किये हैं जो विभिन्न अर्थों को व्यक्त करते हैं। यद्यपि आठों का भाव एक है पर विस्तार की दृष्टि से समझने के लिए पर्यायवाची शब्द अत्यन्त उपयोगी हैं।

(१) प्रतिक्रमण[3]

'प्रति' उपसर्ग है, 'क्रमु' धातु है। 'प्रति' का तात्पर्य है प्रतिकूल और 'क्रमु' का तात्पर्य है पदनिक्षेप। जिन प्रवृत्तियों से साधक सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप स्व-स्थान से हटकर मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम रूप पर-स्थान में चला गया हो उसका पुनः अपने आप में लौट आना, प्रतिक्रमण या पुनरावृत्ति है। पाप क्षेत्र में आत्म-शुद्धि के क्षेत्र में आना प्रतिक्रमण है।

---

१. (क) प्रति प्रति वर्तनं वा, शुभेषु योगेषु मोक्षफलदेषु।
निःशल्यस्य यतेर्यत्, तद्वा ज्ञेयं प्रतिक्रमणम्॥
(ख) आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १२५०

२. पडिकमणं पडियरणा, परिहरणा वारणा नियत्ती य।
निन्दा गरिहा सोही, पडिकमणं अट्ठहा होइ॥ —*आवश्यकनिर्युक्ति १२३३*

३. पडिक्कमणं पुनरावृत्तिः। —*आवश्यकचूर्णि*

(२) प्रतिचरणा[1]

असंयम क्षेत्र से अलग-थलग रहकर अत्यन्त सावधान होकर विशुद्धता के साथ संयम का पालन करना प्रतिचरणा है। संयम-साधना में अग्रसर होना प्रतिचरणा है।

(३) परिहरणा (प्रतिहरणा)

साधक को साधना के पथ पर अपने मुस्तैदी कदम बढ़ाते हुए उसके पथ में अनेक बाधाएँ आती हैं। कभी असंयम का आकर्षण उसे साधना से विचलित करना चाहता है तो कभी अनुकूल और कभी प्रतिकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। यदि साधक परिहरणा न रखे तो वह पथभ्रष्ट हो सकता है। इसलिए वह प्रतिपल-प्रतिक्षण अशुभ योग, दुर्ध्यान और दुराचरणों का त्याग करता है, यही परिहरणा है।

(४) वारणा

वारणा का अर्थ है निषेध। साधक विषय-भोग के दलदल में न फँसे, इसलिए साधक को प्रतिपल-प्रतिक्षण जागरूक रहने की प्रेरणा वीतराग प्रभु ने प्रदान की। साधक विषय-कषायों से बचकर और संयम-साधना करते हुए ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इसलिए विषय-कषायों से निवृत्त होने के लिए प्रतिक्रमण के अर्थ में वारणा शब्द का प्रयोग हुआ है।

(५) निवृत्ति[2]

जैन साधना में निवृत्ति का अत्यन्त महत्त्व रहा है। साधक सतत जागरूक रहता है, तथापि कभी प्रमादवश अशुभ कार्यों में उसकी प्रवृत्ति हो जाय तो उसे शीघ्र ही पुनः शुभ में आ जाना चाहिये। अशुभ से निवृत्त होकर शुभ में प्रवृत्त करना चाहिए। अशुभ से निवृत्त होने के लिए ही यहाँ प्रतिक्रमण का पर्यायवाची निवृत्ति बताया गया है।

(६) निन्दा

साधक को प्रतिक्रमण के समय अन्तर्निरीक्षण करना होता है। उसके जीवन में जो भी पापयुक्त प्रवृत्ति हुई हो, शुद्ध हृदय से उसे उन पापों की निन्दा करनी चाहिए। स्व-निन्दा जीवन को माँजने के लिए है। उससे पापों के प्रति मन में ग्लानि

---

१. अत्यादरात् चरणा पडिचरणा अकार्यपरिहारः कार्यप्रवृत्तिश्च। —आवश्यकचूर्णि

२. अशुभभाव-नियत्तणं नियत्ती। —वही

पैदा होती है और साधक यह दृढ़ निश्चय करता है कि जो पाप मैंने पहले असावधानी से किये थे वे अब भविष्य में नहीं करूँगा। इस प्रकार पापों की निन्दा करने के लिए प्रतिक्रमण के अर्थ में निन्दा शब्द का भी व्यवहार हुआ है।

यह भी सत्य है कि जिसके अन्तर्मानस में अहंकार का काला नाग फन फैलाये हुए फूत्कारें मार रहा होगा वह अपने दोषों की निन्दा नहीं कर सकता।

(७) गर्हा

निन्दा अपने आप की जाती है जबकि गर्हा गुरुजनों के समक्ष की जाती है। गुरुओं के समक्ष निःशल्य होकर अपने पापों को प्रकट कर देना अत्यन्त कठिन कार्य है। जिस साधक का आत्मबल प्रबल नहीं होता वह कभी भी गर्हा नहीं कर सकता। गर्हा में पापों के प्रति तीव्र पश्चात्ताप होता है। गर्हा पापरूपी विष को उतारने वाला वह गारुड़ी मंत्र है जिसके प्रयोग से साधक पाप के विष से मुक्त हो जाता है। इसीलिए गर्हा को प्रतिक्रमण का पर्यायवाची कहा है।

(८) शुद्धि

शुद्धि का अर्थ निर्मलता है। जैसे बरतन पर लगे हुए दाग को खटाई से साफ किया जाता है, सोने पर लगे हुए मैल को अग्नि में तपाकर शुद्ध किया जाता है, ऊनी वस्त्र के मैल को पेट्रोल से साफ किया जाता है वैसे ही हृदय के मैल को प्रतिक्रमण करके दूर किया जाता है। इसलिए उसे शुद्धि कहा है।

प्रतिक्रमण के चार भेद

आचार्य भद्रबाहु ने साधक को उत्प्रेरित किया है कि वह प्रतिक्रमण में प्रमुख रूप से चार विषयों पर गहराई से अनुचिन्तन करे। इस दृष्टि से प्रतिक्रमण के चार भेद[1] बनते हैं–

(१) श्रमण और श्रावक के लिए क्रमशः महाव्रत और अणुव्रत का विधान है। उनमें दोष न लगे, इसके लिए सतत सावधानी अपेक्षित है। यद्यपि श्रमण और श्रावक सतत जागरूक तथा सावधान रहता है तथापि कभी असावधानी से यदि हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म, परिग्रह आदि में स्खलना हो गई हो तो श्रमण और श्रावक को उसकी शुद्धि हेतु प्रतिक्रमण करना चाहिए।

(२) श्रमण और श्रावकों के लिए एक आचार-संहिता आगम साहित्य में निरूपित की गई है। श्रमण के लिए स्वाध्याय, ध्यान, प्रतिलेखन आदि अनेक

---

१. पडिसिद्धाणं करणे, किच्चाणमकरणे पडिक्कमणं।
असद्दहणे य तहा, विवरीयपरूवणाए अ॥ —*आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १२६८*

विधान हैं। श्रावक के लिए भी दैनन्दिन साधना के विधान हैं। यदि उन विधानों के अनुपालन-साधना में स्खलना हो जाय, समय पर स्वाध्याय, ध्यान आदि न किया जाय, तो उस सम्बन्ध में प्रतिक्रमण करना चाहिए। कर्त्तव्य के प्रति जरा-सी असावधानी भी ठीक नहीं है।

(३) आत्मा आदि अमूर्त पदार्थों को प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा सिद्ध करना कठिन है। वह तो आगम आदि प्रमाणों द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है। उन अमूर्त तत्त्वों के सम्बन्ध में मन में यह सोचना कि आत्मा है या नहीं। यदि इस प्रकार मन में अश्रद्धा उत्पन्न हुई हो तो उसकी शुद्धि के लिए साधक को प्रतिक्रमण करना चाहिए।

(४) हिंसा आदि दुष्कृत्य जिनका महर्षियों ने निषेध किया है, साधक को उनका प्रतिपादन करना भी निषिद्ध है। कभी असावधानी से यदि उसका प्रतिपादन किया हो तो साधक को चाहिए उसका प्रतिक्रमण कर शुद्धि करे।

द्रव्य और भाव प्रतिक्रमण

अनुयोगद्वार सूत्र में प्रतिक्रमण के दो प्रकार बताये हैं—एक, द्रव्य प्रतिक्रमण और दूसरा, भाव प्रतिक्रमण।

द्रव्य प्रतिक्रमण वह है जिसमें साधक एक स्थान पर आसीन होकर बिना उपयोग के यश प्राप्ति की अभिलाषा से प्रतिक्रमण करता है। यह प्रतिक्रमण यंत्र की भाँति चलता है। उसमें चिन्तन का अभाव होता है। पापों के प्रति तीव्र ग्लानि नहीं होती। इसलिए द्रव्य प्रतिक्रमण करने वाला साधक पुनः-पुनः उन्हीं स्खलनाओं को करता रहता है। वास्तविक दृष्टि से जैसी आत्मशुद्धि अपेक्षित है वैसी उस प्रतिक्रमण में नहीं हो पाती।

भाव प्रतिक्रमण[1] वह है जिसमें साधक के अन्तर्मानस में अपने कृत पापों के प्रति गहरी ग्लानि होती है। वह चिन्तन करता है मैंने इस प्रकार की स्खलनाएँ क्यों कीं? वह दृढ़ निश्चय के साथ उपयोगपूर्वक उन पापों की आलोचना करता है। साथ ही भविष्य में पुनः वे दोष न लगें, इसके लिए दृढ़ संकल्प करता है। इस रूप में भाव प्रतिक्रमण वास्तविक प्रतिक्रमण है।

भाव प्रतिक्रमण में ही साधक न स्वयं मन, वचन, काया से मिथ्यात्व, कषाय आदि दुर्भावों में गमन करता है, न दूसरों को गमन करने के लिए उत्प्रेरित करता है और जो साधक दुर्भावों में गमन करते हों उनका अनुमोदन भी नहीं करता है।[2]

---

१. भावपडिक्कमणं जं सम्मदंसणाइगुणजुत्तस्स पडिक्कमणं ति। —*आवश्यक चूर्णि*

२. मिच्छत्ताइ ण गच्छइ ण य गच्छावेइ णाणुजाणेई।
जं मण-वय-काएहि त भणियं भावपडिक्कमणं॥ —*आवश्यकनिर्युक्ति (हारिभद्रीयावृत्ति)*

आत्मशुद्धि : प्रतिक्रमण

साधारणतया यह समझा जाता है कि प्रतिक्रमण अतीतकाल में लगे हुए दोषों की परिशुद्धि के लिए है, पर श्रुतकेवली भद्रबाहु[1] ने बताया है कि प्रतिक्रमण केवल अतीतकाल में लगे दोषों की ही शुद्धि नहीं करता, अपितु वह वर्तमान और भविष्यकाल के दोषों की भी शुद्धि करता है।

अतीतकाल में लगे हुए दोषों की आलोचना तो प्रतिक्रमण में की ही जाती है। वर्तमान काल में भी साधक संवर साधना में लगे रहने से पापों से निवृत्त रहता है। साथ ही प्रतिक्रमण में वह प्रत्याख्यान ग्रहण करता है जिससे भावी दोषों से भी बच जाता है।

भूतकाल के अशुभ योग से निवृत्ति, वर्तमान काल में अशुभ योग से निवृत्त होकर शुभ योग में प्रवृत्ति और भविष्यकालीन अशुभ योग से हटकर शुभ योग में प्रवृत्ति करूँगा—यह संकल्प; इस तरह प्रतिक्रमण तीनों कालों का होता है।

काल की दृष्टि से प्रतिक्रमण के भेद

काल की दृष्टि से प्रतिक्रमण के पाँच प्रकार भी बताये हैं।[2] दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक।

दैवसिक—दिन के अन्त में किये जाने वाला प्रतिक्रमण दैवसिक है।

रात्रिक—रात्रि के अन्त में किया जाने वाला प्रतिक्रमण। रात्रि में लगे हुए दोषों की आलोचना करना।

पाक्षिक—पक्ष (पन्द्रह दिन) के अन्त में पापों की आलोचना करना।

चातुर्मासिक—चार माह के पश्चात् कार्तिकी पूर्णिमा, फाल्गुनी पूर्णिमा, आषाढ़ी पूर्णिमा के दिन चार माह में लगे हुए दोषों की आलोचना करना।

---

१. (क) आवश्यकनिर्युक्ति

(ख) प्रतिक्रमण-शब्दो हि अत्राशुभयोगनिवृत्तिमात्रार्थः सामान्यतः परिगृह्यते, तथा च सत्यतीतविषयं प्रतिक्रमणं निन्दाद्वारेण अशुभयोगनिवृत्तिरेवेति, प्रत्युत्पन्नविषयमपि संवरद्वारेण अशुभयोग-निवृत्तिरेव अनागतविषयमपि प्रत्याख्यानद्वारेण अशुभयोगनिवृत्तिरेवेति न दोष इति। —*आचार्य हरिभद्र*

२. णणु देवसियं राइयं पडिक्कंतो किमिति पक्खिय-चाउम्मासिय संवत्सरिएसु विसेसणं पडिक्कमिति? ..... जधा लोगे गेहं दिवसे दिवसे पमिज्जिज्जंतं पि पक्खादिसु अब्भधितं उवलेवणपमज्जणादीहिं सज्जिज्जति। एवमिहावि ववसोहणविसेसे कीरति त्ति।"

—*आवश्यकचूर्णि*

सांवत्सरिक–आषाढ़ी पूर्णिमा के उनपचास या पचासवें दिन वर्ष भर में लगे हुए दोषों का प्रतिक्रमण करना।

यह सहज जिज्ञासा हो सकती है कि जब हम प्रतिदिन प्रातः सायं नियमित प्रतिक्रमण करते हैं फिर पाक्षिक, चातुर्मासिक एवं सांवत्सरिक प्रतिक्रमण की क्या आवश्यकता है? समाधान है–प्रतिदिन मकान की सफाई करते हैं तथापि पर्व दिनों में विशेष रूप से सफाई की जाती है। वैसे ही प्रतिदिन प्रतिक्रमण में अतिचारों की आलोचना की जाती है। पर पर्व दिनों में विशेष रूप से जागरूक रहकर, जीवन का निरीक्षण और परीक्षण और पाप का प्रक्षालन आवश्यक है।

स्थानांग[1] में प्रतिक्रमण के छह प्रकार अन्य दृष्टियों से प्रतिपादित किये हैं, वे इस प्रकार हैं–

(१) उच्चार प्रतिक्रमण–विवेकपूर्वक पुरीष त्याग, ईर्या प्रतिक्रमण का विधान है। मल परठकर आने के समय मार्ग में गमनागमन संबंधी जो दोष लगते हैं, उनका प्रतिक्रमण।

(२) प्रस्रवण प्रतिक्रमण–विवेकपूर्वक लघुशंका को परठने के पश्चात् ईर्या का प्रतिक्रमण।

(३) इत्वर प्रतिक्रमण–दैवसिक, रात्रिक आदि स्वल्पकालीन प्रतिक्रमण करना।

(४) यावत्कथित प्रतिक्रमण–महाव्रत आदि जो यावत्काल के लिये जाते हैं, अथवा भक्त परिज्ञा स्वीकार करना।

(५) यत्किंचित् मिथ्या प्रतिक्रमण–संयम में सावधानी रखने के बावजूद भी प्रमाद या आवश्यक कार्य से असंयम रूप किसी भी प्रकार की स्खलना हुई हो तो उसके लिए 'मिच्छामि दुक्कडं' देना यत्किंचित् मिथ्या प्रतिक्रमण है।

(६) स्वप्नांतिक प्रतिक्रमण–स्वप्न में यदि कोई विकारी भावनाएँ उद्‌बुद्ध हुई हों तो उसका प्रतिक्रमण करना।

जीवन को माँजने की कला : प्रतिक्रमण

इस प्रकार प्रतिक्रमण जैन साधना का प्राण तत्त्व है। ऐसी कोई भी क्रिया नहीं जिसमें प्रमादवश स्खलना न हो सके। चाहे लघुशंका-निवृत्त होते समय, चाहे शौच-निवृत्त होते समय, चाहे प्रतिलेखना करते समय, चाहे भिक्षा के लिए इधर से उधर जाते समय साधक को उन स्खलनाओं के प्रति सतत जागरूक रहना चाहिए।

---

१. स्थानांग ६-५३७

उन स्खलनाओं के सम्बन्ध में किंचित् मात्र भी उपेक्षा न रखकर उन दोष से निवृत्ति हेतु प्रतिक्रमण करना चाहिए। क्योंकि प्रतिक्रमण की साधना जीवन को माँजने की एक अपूर्व कला है।

साधक प्रतिक्रमण में अपने जीवन का गहराई से निरीक्षण करता है। उसके मन में, वचन में और काया में एकरूपता होती है। साधक साधना करते समय यदि कभी क्रोध, मान, माया, लोभ से साधना से च्युत हो जाता है, उससे भूल हो जाती है तो वह प्रतिक्रमण के समय अपने जीवन का गहराई से अवलोकन कर एक-एक दोष का परिष्कार करता है। मन में छिपे हुए दोष जो लज्जा के कारण प्रकट नहीं कर सका, उन दोषों को भी सद्गुरु के समक्ष या भगवान की साक्षी से प्रकट कर देता है। जैसे कुशल चिकित्सक परीक्षण करता है और शरीर में रही हुई व्याधि को एक्स-रे आदि के द्वारा बता देता है वैसे ही प्रतिक्रमण में साधक अपने जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति का अवलोकन करते हुए उन दोषों को व्यक्त कर हल्का बनाता है।

प्रतिक्रमण साधक-जीवन की एक अपूर्व कला है। यह वह डायरी है जिसमें साधक अपने दोषों की सूची लिखकर एक-एक दोष से मुक्त होने का उपक्रम करता है। वही कुशल व्यापारी कहलाता है जो प्रतिदिन सायंकाल देखता है कि आज के दिन मैंने कितना लाभ प्राप्त किया है। जिस व्यापारी को अपने आमदनी का परिज्ञान नहीं है वह सफल व्यापारी नहीं हो सकता। साधक को देखना चाहिए कि आज के दिन ऐसा कौन-सा कर्त्तव्य था जो मुझे करना चाहिए था पर प्रमाद के कारण मैं उसको नहीं कर सका। यह मैंने ठीक नहीं किया। मुझे अपने कर्त्तव्य से विमुख नहीं होना चाहिए था।

जीवन को सुधारने का उपक्रम

इस प्रकार वह अपनी भूलों का स्मरण करता है। भूलों के स्मरण से उसे अपनी सही स्थिति का परिज्ञान हो जाता है। जब तक भूलों का स्मरण नहीं होगा, भूलों को भूल नहीं समझा जायेगा, तब तक उनका परिष्कार हो ही नहीं सकता। साधक अनेक बार अपनी भूलों को भूल न मानकर उसे सही मानता है, पर वस्तुतः वे उसकी भूल होती हैं। यदि कोई उसे उसकी भूल समझाता रहे तो वह उसे स्वीकार नहीं करता। पर जब अन्तर्निरीक्षण करता है तो उसे अपनी भूल का परिज्ञान होता है।

कहा जाता है सुप्रसिद्ध विचारक फ्रैंकलिन ने अपने जीवन को डायरी के माध्यम से सुधारा था। उसके जीवन में अनेक दुर्गुण थे। वह अपने दुर्गुणों को

डायरी में लिखा करता था और फिर गहराई से उन पर चिन्तन करता था कि इस सप्ताह में मैंने इतनी अधिक भूलें की हैं। अगले सप्ताह में इन भूलों की पुनरावृत्ति नहीं करूँगा। इस प्रकार डायरी द्वारा उसने अपने जीवन के दुर्गुणों को धीरे-धीरे निकाल दिया और एक सद्गुणी चिन्तक बन गया।

प्रतिक्रमण भी जीवन को सुधारने का श्रेष्ठ उपक्रम है। आत्मदोषों की आलोचना करने से पश्चात्ताप की भावना जाग्रत होने लगती है और उस पश्चात्ताप की अग्नि में सभी दोष जलकर नष्ट हो जाते हैं।

पापाचरण शल्य के सदृश है। यदि उसे बाहर नहीं निकाला गया, मन में ही छिपाकर रखा गया तो उसका विष अन्दर ही अन्दर बढ़ता चला जाएगा और वह विष साधक के जीवन को बरबाद कर देगा।

साधक की विशेषता

मानव की एक सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि अपने सद्गुणों को सदा स्मरण रखता है, और अपने दुर्गुणों को भूल जाता है। साथ ही वह अन्य व्यक्तियों के सद्गुणों को भूलकर दुर्गुणों को स्मरण रखता है। यही कारण है कि वह यदा कदा अपने सद्गुणों की एक लम्बी सूची प्रस्तुत करता है और दूसरों के दुर्गुणों की गाथाएँ गाता हुआ भी नहीं अघाता है। जबकि साधक को दूसरों के सद्गुण और अपने दुर्गुण देखने चाहिए। प्रतिक्रमण के आठ पर्यायवाची शब्दों में 'निन्दा' शब्द व्यवहृत हुआ है और 'गर्हा' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। दूसरों की निन्दा कर्मबन्धन का महान् कारण है और स्वनिन्दा से निर्जरा होती है।

जब साधक अपने जीवन का निरीक्षण करता है तो उसे अपने जीवन में हजारों दुर्गुण दिखाई देते हैं। उन दुर्गुणों को वह शनैः-शनैः निकालने का प्रयास करता है। साधक के जीवन की एक विशेषता है कि वह गुणग्राही होता है। उसकी दृष्टि हंसदृष्टि होती है, काकदृष्टि नहीं। वह हंस की तरह सद्गुणों के पय को ग्रहण करता है, मुक्ताओं को चुगता है। वह काक की तरह विष्टा पर मुँह नहीं रखता।

प्रतिक्रमण जीवन-शोधन की श्रेष्ठ प्रक्रिया है। साधक प्रतिक्रमण में अपने जीवन का गहराई से निरीक्षण करता है और देखता है कि उसके जीवन में जो स्खलनाएँ हुई हैं जिनके कारण उसके जीवन में विकृतियाँ पनपीं; पर भविष्य में वह कभी भी उन स्खलनाओं को दुहराएगा नहीं। इस प्रकार वह भविष्य में अधिक सावधान रहने का दृढ़ संकल्प करता है।

कायोत्सर्ग

जैन साधना पद्धति में कायोत्सर्ग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कायोत्सर्ग को अनुयोगद्वार में व्रण-चिकित्सा कहा है। सतत सावधान रहने पर भी प्रमाद आदि के कारण साधना में दोष आदि लग जाते हैं, भूलें हो जाती हैं। भूलोंरूपी जख्म को ठीक करने के लिए कायोत्सर्ग एक प्रकार का मरहम है जो अतिचाररूपी घावों को ठीक कर देता है।

एक वस्त्र बहुत ही मलिन हो गया है। उस वस्त्र को साफ करना है। वह वस्त्र एक बार में साफ नहीं होता तो उसे पुनः-पुनः साबुन लगाकर साफ किया जाता है। इसी प्रकार संयमरूपी वस्त्र पर भी अतिचारों का मैल लग जाता है, भूलों के दाग लग जाते हैं तो साधक उन दागों को प्रतिक्रमण के द्वारा स्वच्छ करता है। प्रतिक्रमण से भी जो दाग नहीं मिटते हैं उन्हें कायोत्सर्ग के द्वारा स्वच्छ बनाया जाता है। कायोत्सर्ग में गहराई से चिन्तन कर उस दोष को नष्ट करने का उपक्रम किया जाता है।

संयमी जीवन को अधिकाधिक परिष्कृत करने के लिए, प्रायश्चित्त करने के लिए, अपने आपको विशुद्ध बनाने के लिए, आत्मा को माया मिथ्यात्व और निदान शल्य से मुक्त करने के लिए, पापकर्मों के निर्घात के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है।[1]

कायोत्सर्ग : अन्तर्मुखी साधना

कायोत्सर्ग में काय और उत्सर्ग ये दो शब्द हैं जिसका तात्पर्य है काय का त्याग। साधक कुछ समय तक संसार के भौतिक पदार्थों से अलग-थलग रहकर आत्म-स्वरूप में लीन होता है। कायोत्सर्ग अन्तर्मुखी होने की एक पवित्र साधना है। बहिर्मुखी स्थिति से साधक अन्तर्मुखी स्थिति में पहुँचता है और अनासक्त बनकर राग-द्वेष से ऊपर उठ जाता है।

कायोत्सर्ग में शारीरिक ममता कम हो जाती है। शरीर की ममता साधना के लिए सबसे बड़ी बाधा है। कायोत्सर्ग में शरीर की ममता कम होने से साधक शरीर को सजाने व सँवारने से हटकर आत्मभाव में लीन रहता है। यही कारण है कि साधक के लिए कायोत्सर्ग को सर्व दुःखों का अन्त करने वाला बताया है। साधक जो भी कार्य करे उस कार्य के पश्चात् कायोत्सर्ग करने का विधान है जिससे कि वह शरीर की ममता से मुक्त हो सके।

---

१. तस्स उत्तरीकरणेणं पायच्छित्तकरणेणं, विसोहीकरणेणं, विसल्लीकरणेणं पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं। —आवश्यकसूत्र

शरीर और आत्मा पृथक् है

षडावश्यक में कायोत्सर्ग को स्वतन्त्र स्थान दिया गया है वह इस भावना को अभिव्यक्त करता है कि प्रत्येक साधक को प्रातः और सन्ध्या के समय यह चिन्तन करना चाहिए कि यह शरीर पृथक् है, मैं पृथक् हूँ। मैं अजर-अमर अविनाशी हूँ। यह शरीर क्षणभंगुर है। कमल पत्र पर पड़े हुए ओस बिन्दु की तरह यह शरीर कब नष्ट हो जाय कहा नहीं जा सकता। इस क्षणभंगुर शरीर के लिए मनुष्य अकार्य भी करता है। शरीर के पोषण हेतु भक्ष्य-अभक्ष्य का भी वह विवेक रख नहीं पाता।

कायोत्सर्ग के द्वारा शरीर की ममता कम की जाती है। कायोत्सर्ग में जब साधक अवस्थित होता है उस समय डंस-मच्छरों के सर्दी व गर्मी के कैसे भी उपसर्ग क्यों न हों वह शान्त भाव से सहन करता है। वह देह में रहकर भी देहातीत स्थिति में रहता है। आचार्य धर्मदास[1] ने तो कायोत्सर्ग के समय प्रावरण ओढ़ने का भी निषेध किया है।

कायोत्सर्ग में साधक पूर्ण रूप से स्थिर होता है। चट्टान की तरह वह निश्चल, निस्पन्द होता है। जिन-मुद्रा में वह शरीर का ममत्व त्यागकर आत्मभाव में रमण करता है।

आचार्य भद्रबाहु[2] ने लिखा है–कायोत्सर्ग स्थिति में साधक को यदि कोई भक्तिभाव से चन्दन लगाये या कोई द्वेषपूर्वक बसूले से उसके शरीर का भेदन करे, चाहे उसका जीवन रहे अथवा मृत्यु का वरण करना पड़े। वह सभी स्थितियों में सम रहता है। उसी का कायोत्सर्ग विशुद्ध होता है।

कायोत्सर्ग के समय देव, मानव और तिर्यंच सम्बन्धी सभी प्रकार के उपसर्ग उपस्थित होने पर जो साधक उन्हें समभावपूर्वक सहन करता है, उसी का कायोत्सर्ग वस्तुतः सही कायोत्सर्ग है।[3]

जैसे कायोत्सर्ग में अवस्थित होने पर सारा शरीर दर्द करने लगता है, प्रत्येक अंग में एक प्रकार की पीड़ा पैदा होती है वैसे ही साधक को कायोत्सर्ग में आठों कर्म पीड़ित होते हैं और वे धीरे-धीरे नष्ट होने लगते हैं।[4]

---

१. उपदेशमाला

२. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १५४८

३. तिविहाणुवसग्गाणं माणुसाण तिरियाणं।
सम्म महियासणाए काउस्सग्गो हवइ सुद्धो॥ —आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १५४९

४. वही, गाथा १५५१

कायोत्सर्ग और मर्यादाएँ

भद्रबाहु स्वामी ने कायोत्सर्ग के साधकों के लिए जिन तथ्यों का प्रतिपादन किया है वे साधक के अन्तर्मानस में बल का संचार करते हैं और वह दृढ़ता के साथ कायोत्सर्ग में तल्लीन हो जाता है। पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह मिथ्या आग्रह के चक्कर में पड़कर अपने जीवन को होम दे। क्योंकि सभी साधकों की स्थिति समान नहीं होती। कुछ साधक विशिष्ट होते हैं। वे कष्टों से घबराते नहीं, शेर की तरह साहसपूर्वक आगे बढ़ते हैं।

पर कुछ दुर्बल साधक भी होते हैं, उनके लिए आवश्यकसूत्र में आगारों का निर्देश है। जैसे कायोत्सर्ग में खाँसी, छींक, डकार, मूर्च्छा आदि विविध शारीरिक व्याधियाँ हो सकती हैं। कभी शरीर में प्रकम्पन आदि भी हो सकता है। तो भी कायोत्सर्ग भंग नहीं होता। किसी समय साधक कायोत्सर्ग में खड़ा है, उस समय मकान की दीवार या छत गिरने की स्थिति भी पैदा हो सकती है। मकान में या जहाँ पर वह खड़ा है वहाँ पर अग्निकाण्ड भी हो सकता है। तस्कर और राजा आदि के भी उपसर्ग हो सकते हैं। उस समय कायोत्सर्ग से निवृत्त होकर साधक सुरक्षित स्थान पर जा सकता है तथापि उसका कायोत्सर्ग भंग नहीं होता, क्योंकि कायोत्सर्ग का मूल उद्देश्य समाधि है। यदि समाधि भंग होती हो, आर्त और रौद्र ध्यान में परिणति होती हो तो कायोत्सर्ग भंग हो जाता है। जिस कायोत्सर्ग में समाधि की अभिवृद्धि हो वह कायोत्सर्ग ही हितावह है किन्तु जिस कार्य को करने से असमाधि की वृद्धि होती हो, आर्त-रौद्र ध्यान बढ़ते हों, तो वह कायोत्सर्ग के नाम पर किया गया कायक्लेश मात्र ही है।

आचार्य[1] ने तो यहाँ तक कहा कि एक साधक कायोत्सर्ग मुद्रा में लीन है और यदि किसी दूसरे साधक को साँप आदि ने डस लिया है तो ऐसी स्थिति में साधक को चाहिए कि वह समय के पूर्व ही कायोत्सर्ग को खोल दे। क्योंकि किसी को सहयोग देने के प्रसंग पर उसे सहयोग न देना अनुपयुक्त है। उस समय उसको सहयोग देना अधिक श्रेयस्कर है।

द्रव्य कायोत्सर्ग और भाव कायोत्सर्ग

कायोत्सर्ग का अर्थ केवल इतना ही नहीं है कि शारीरिक चंचलता का परित्याग कर वृक्ष की तरह, पर्वत की तरह या सूखे काष्ठ की भाँति साधक निष्पन्द खड़ा हो जाय। शरीर से सम्बन्धित निष्पन्दता तो एकेन्द्रिय आदि प्राणियों

---

१. अगणीओ छिंदिज्ज वा, बोहियखोभाइ दीहडक्को वा।
आगारेहिं अभग्गो उस्सग्गो एवमाईहिं॥ —*आवश्यकनिर्युक्ति, गा. १५१६*

में भी हो सकती है। पर्वत पर चाहे कितना भी प्रहार करो वह कब चंचल होता है? वह किसी पर रोष भी नहीं करता है। उसमें जो स्थैर्य है वह अविकसित प्राणी का स्थैर्य है। किन्तु कायोत्सर्ग में होने वाला स्थैर्य अन्य प्रकार का होता है।

एतदर्थ ही आचार्य जिनदास गणी महत्तर ने कहा[1]–कायोत्सर्ग के दो प्रकार हैं–द्रव्य कायोत्सर्ग और भाव कायोत्सर्ग। द्रव्य कायोत्सर्ग में पहले शरीर का निरोध किया जाता है। शारीरिक चंचलता और ममता का परित्याग कर जिनमुद्रा में स्थिर होना, कायचेष्टा का निरुन्धन करना यह काय कायोत्सर्ग है। इसे द्रव्य कायोत्सर्ग भी कहते हैं। इसके पश्चात् साधक धर्मध्यान और शुक्लध्यान में रमण करता है। मन को पवित्र विचार और उच्च संकल्प से बाँधता है जिससे उसको किसी भी प्रकार की शारीरिक वेदना का अनुभव नहीं होता। वह तन में रहकर भी तन से अलग-थलग आत्मभाव में रहता है। वही भाव कायोत्सर्ग का प्राण है। इस प्रकार कायोत्सर्ग ही सभी प्रकार के दुःखों को नष्ट करने वाला माना है।[2]

कायोत्सर्ग के चार प्रकार

द्रव्य और भाव के भेद को समझने के लिए आचार्यों ने कायोत्सर्ग के चार प्रकार[3] बताये हैं–

(१) उत्थित-उत्थित
(२) उत्थित-निविष्ट
(३) उपविष्ट-उत्थित
(४) उपविष्ट-निविष्ट

(१) **उत्थित-उत्थित**–कायोत्सर्ग मुद्रा में जब साधक खड़ा होता है तो साथ ही उसके अन्तर्मन की चेतना भी खड़ी हो जाती है। वह अशुभ ध्यान का परित्याग कर प्रशस्त ध्यान में लीन हो जाता है। वह प्रथम श्रेणी का साधक है। उसका तन भी उत्थित है और मन भी। वह द्रव्य और भाव दोनों ही दृष्टियों से उत्थित है।

(२) **उत्थित-निविष्ट**–कुछ साधक साधना की दृष्टि से आँख मूँदकर खड़े हो जाते हैं। वे शारीरिक दृष्टि से तो खड़े दिखाई देते हैं, किन्तु मानसिक दृष्टि से उनमें कुछ भी जागृति नहीं होती। उनका मन संसार के विविध पदार्थों में उलझा रहता है। आर्त और रौद्र ध्यान की भाव-धारा में वह अवगाहन करता रहता है। तन से खड़े होने पर भी मन बैठा है। अतः उत्थित होकर भी वह साधक निविष्ट है।

---

१. सो पुण काउस्सग्गो दव्वतो भावतो य भवति।
दव्वतो कायचेट्ठा निरोहो, भावतो काउस्सग्गो झाणं॥ —आवश्यकचूर्णि

२. काउस्सग्गं तओ कुज्जा सव्वदुक्खविमोक्खणो। —उत्तराध्ययन २६-४२

३. अमितगति श्रावकाचार ८, ५७-६१

(३) उपविष्ट-उत्थित–कभी-कभी शारीरिक अस्वस्थता अथवा वृद्धावस्था आदि के कारण कायोत्सर्ग के लिए वह साधक खड़ा नहीं हो सकता। वह शारीरिक सुविधा की दृष्टि से पद्मासन, सुखासन आदि में बैठकर ही कायोत्सर्ग करता है। तन की दृष्टि से वह बैठा हुआ है, किन्तु मन में तीव्र शुभ-शुद्ध भाव धारा प्रवाहित हो रही है जिसके कारण बैठने पर भी वह मन से उत्थित है। शरीर भले ही बैठा है किन्तु साधक का मन उत्थित है।

(४) उपविष्ट-निविष्ट–साधक शारीरिक दृष्टि से समर्थ होने पर भी शारीरिक आलस्य के कारण खड़ा नहीं होता। बैठे-बैठे ही वह कायोत्सर्ग करता है। तन की दृष्टि से भी वह बैठा हुआ है और भाव की दृष्टि से भी उसमें जागृति नहीं है। उसका मन सांसारिक विषय वासना में या राग-द्वेष में फँसा हुआ है। उसका तन और मन दोनों ही बैठे हुए हैं।

कायोत्सर्ग के इन चार प्रकारों में कायोत्सर्ग के जो प्रथम व तृतीय प्रकार हैं वे ही वस्तुतः कायोत्सर्ग हैं। उनके द्वारा ही साधक साधना के महान् लक्ष्य को प्राप्त करता है।

कायोत्सर्ग के नौ प्रकार

शारीरिक अवस्थिति और मानसिक चिन्तनधारा की दृष्टि से आचार्य भद्रबाहु ने कायोत्सर्ग के नौ प्रकार[1] बताये हैं–

शारीरिक स्थिति		मानसिक विचारधारा
(१) उत्सृत-उत्सृत	खड़ा	धर्म-शुक्ल ध्यान
(२) उत्सृत	खड़ा	न धर्म-शुक्ल, न आर्त्त-रौद्र किन्तु चिन्तनशून्य दशा
(३) उत्सृत-निषण्ण	खड़ा	आर्त्त-रौद्र ध्यान
(४) निषण्ण-उत्सृत	बैठा	धर्म-शुक्ल ध्यान
(५) निषण्ण	बैठा	न धर्मशुक्ल ध्यान, न आर्त्त-रौद्र किन्तु चिंतनशून्य दशा
(६) निषण्ण-निषण्ण	बैठा	आर्त्त-रौद्र ध्यान
(७) निषण्ण-उत्सृत	लेटकर	धर्म-शुक्ल ध्यान
(८) निषण्ण	लेटकर	न धर्म-शुक्ल, न आर्त्त-रौद्र किन्तु चिंतनशून्य दशा
(९) निषण्ण-निषण्ण	लेटकर	आर्त्त-रौद्र ध्यान

१. आवश्यकनिर्युक्ति, गा. १४५९-१४६०

कायोत्सर्ग खड़े होकर, बैठकर और लेटकर तीनों अवस्थाओं में किया जा सकता है। खड़ी मुद्रा में कायोत्सर्ग करने की रीति इस प्रकार है–दोनों हाथों को घुटनों की ओर लटका दे। पैरों को समरेखा में रखे। दोनों पंजों में चार अंगुल का अन्तर रखे। बैठी मुद्रा में कायोत्सर्ग करने वाला पद्मासन या सुखासन से बैठे। हाथों को या तो घुटनों पर रखे या बायीं हथेली पर दायीं हथेली रखकर अंक में रखे और लेटी हुई मुद्रा में कायोत्सर्ग करने वाला सिर से लेकर पैर तक के अवयवों को पहले ताने, फिर शिथिल कर दे। हाथ-पैर को सटाये हुए न रखे। इन सभी में अंगों का स्थिर और शिथिल होना आवश्यक है।[1]

किन्तु खड़े होकर कायोत्सर्ग करने की विशेष परम्परा रही है। क्योंकि तीर्थंकर प्रायः इसी मुद्रा में कायोत्सर्ग करते हैं। आचार्य अपराजित ने लिखा है कि कायोत्सर्ग करने वाला साधक शरीर से निष्क्रिय होकर खम्भे की तरह खड़ा हो जाय। दोनों बाहुओं को घुटनों की ओर फैला दे। प्रशस्त ध्यान में लीन हो जाय। शरीर को एकदम अकड़कर न खड़ा रखे और न एकदम झुका करके ही। वह सम मुद्रा में खड़ा रहे। कायोत्सर्ग में कष्ट और परीषहों को समभाव से सहन करना चाहिए। हाँ, इतना अवश्य ही ध्यान रखना चाहिए कि कायोत्सर्ग जिस स्थान पर किया जाय वह स्थान एकान्त शान्त तथा जीव-जन्तुओं से रहित होना चाहिए।[2]

भाव कायोत्सर्ग

द्रव्य कायोत्सर्ग भाव कायोत्सर्ग की ओर बढ़ने का एक उपक्रम है। द्रव्य स्थूल है। स्थूल से सूक्ष्मता की ओर बढ़ा जाता है। द्रव्य कायोत्सर्ग में बाह्य वस्तुओं का परित्याग किया जाता है जैसे उपधि का त्याग करना, भक्तपान आदि का त्याग करना। पर भाव कायोत्सर्ग में तीन बातें आवश्यक हैं–कषाय व्युत्सर्ग, संसार व्युत्सर्ग और कर्म व्युत्सर्ग।

कषाय व्युत्सर्ग में चारों प्रकार के कषायों का परिहार किया जाता है। क्षमा के द्वारा क्रोध को, विनय के द्वारा मान को, सरलता से माया को तथा संतोष से लोभ को जीता जाता है।

---

१. योगशास्त्र ३, पत्र २५०

२. तत्र शरीरं निस्पृहः, स्थाणुरिवोर्ध्वकायः प्रलंबितभुजः प्रशस्तध्यानपरिणतोऽमुन्मिता नतकायः परीषहानुपसर्गांश्च सहमानः तिष्ठेज्जन्तुके कर्मापायाभिलाषी विविक्ते देशे।
–मूलाराधना २-११३, विजयोदया, पृ. २७८-२७९

संसार व्युत्सर्ग में संसार का परित्याग किया जाता है। वह चार प्रकार का है–द्रव्य, काल, क्षेत्र व भाव संसार।[1] द्रव्य संचार चार गति रूप है। क्षेत्र संसार अधः, ऊर्ध्व और मध्य रूप है।[2] काल संसार एक समय से लेकर पुद्गल परावर्तन काल तक है। भाव संसार जीव के विषयासक्ति रूप भाव हैं, जो संसार-भ्रमण का मूल कारण है। द्रव्य, क्षेत्र, काल संसार का त्याग नहीं किया जा सकता है। केवल भाव संसार का त्याग किया जा सकता है। आचारांग[2] में कहा है–जो इन्द्रियों के विषय हैं वे ही वस्तुतः संसार हैं और उनमें आसक्त हुआ आत्मा संसार में परिभ्रमण करता है।

आगम साहित्य में यत्र-तत्र 'संसार कन्तारे' शब्द का व्यवहार हुआ है। जिसका अर्थ संसार के चार गति रूप किनारे हैं। संसार परिभ्रमण के जो मूल कारण हैं उन मूल कारणों का त्याग करना। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग का परित्याग करना ही संसार व्युत्सर्ग है।

कर्म व्युत्सर्ग–अष्ट प्रकार के कर्मों को नष्ट करने के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है, वह कर्म व्युत्सर्ग है।

कायोत्सर्ग के जो विविध प्रकार बताये गये हैं उनमें शारीरिक दृष्टि से और विचार की दृष्टि से भेद किये गये हैं, पर प्रयोजन की दृष्टि से कायोत्सर्ग के दो भेद हैं–(१) चेष्टा कायोत्सर्ग, और (२) अभिभव कायोत्सर्ग।[3]

चेष्टा कायोत्सर्ग दोष विशुद्धि के लिए किया जाता है। जब श्रमण शौच, भिक्षा आदि के लिए बाहर जाता है या निद्रा त्याग आदि में जो प्रवृत्ति होती है उसमें दोष लगने पर उसकी शुद्धि के लिए किया जाता है। अभिभव कायोत्सर्ग दो स्थितियों में किया जाता है–प्रथम दीर्घकाल तक आत्मचिन्तन के लिए साधक आत्मशुद्धि हेतु मन को एकाग्र करने का प्रयत्न करता है और दूसरा संकट आने पर। जैसे राजा, विप्लव, अग्निकांड, दुर्भिक्ष आदि।

चेष्टा कायोत्सर्ग का काल उच्छ्वास पर आधारित है। विभिन्न स्थितियों में वह कायोत्सर्ग आठ, पच्चीस, सत्ताईस, तीन सौ, पाँच सौ और एक हजार आठ उच्छ्वास तक किया जाता है।

---

१. चउव्विहे संसारे पण्णत्ते तं जहा–
दव्वसंसारे, खेत्तसंसारे, कालसंसारे, भावसंसारे। –*स्थानांग ४, १२, ६१*

२. जे गुणे से आवट्टे। –*आचारांग १, १, ५*

३. सो उस्सग्गो दुविहो चिट्ठए अभिभवे य नायव्वो।
भिक्खायरियाइ पढमो उवसग्गाभिजुंजणे बिइओ॥ –*आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १४५२*

अभिभव कायोत्सर्ग का काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट एक वर्ष का है। बाहुबली[1] ने एक वर्ष तक कायोत्सर्ग किया था।

दोष-विशुद्धि के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है उस कायोत्सर्ग के पाँच प्रकार होते हैं–देवसिक कायोत्सर्ग, रात्रिक कायोत्सर्ग, पाक्षिक कायोत्सर्ग, चातुर्मासिक कायोत्सर्ग और सांवत्सरिक कायोत्सर्ग।

षडावश्यक में जो कायोत्सर्ग है उसमें चतुर्विंशतिस्तव का ध्यान किया जाता है। चतुर्विंशतिस्तव के सात श्लोक और अट्ठाईस चरण हैं।[2] एक उच्छ्वास में एक चरण का ध्यान किया जाता है। इस प्रकार एक चतुर्विंशतिस्तव का ध्यान पच्चीस उच्छ्वासों में सम्पन्न हो जाता है। जैसे प्रथम साँस लेते समय मन में **'लोगस्स उज्जोयगरे'** कहा जायेगा और साँस को छोड़ते समय **'धम्मतित्थयरे जिणे'**। द्वितीय साँस लेते समय **'अरिहंते कित्तइस्सं'** और छोड़ते समय **'चउवीसं पि जिणवरा'** कहा जायेगा। इस प्रकार चतुर्विंशतिस्तव का कायोत्सर्ग होता है।

प्रवचनसारोद्धार[3] में और विजयोदयावृत्ति[4] में कायोत्सर्ग का ध्येय-परिमाण और कालमान इस प्रकार दिया है–

---

१. (क) तत्र चेष्टाकायोत्सर्गोऽष्ट-पंचविंशति-सप्तविंशति त्रिंशतिअष्टोत्तर सहस्रोच्छ्वासान् यावद भवति। अभिभव-कायोत्सर्गस्तु मुहूर्तौ दारभ्य संवत्सरं यावद् बाहुबलिरिव भवति।
–योगशास्त्र ३, पत्र २५०

(ख) अन्तर्मुहूर्त कायोत्सर्गस्य जघन्यः कालः वर्षमुत्कृष्टः।
–मूलाराधना २, ११६, विजयोदयावृत्ति

२. योगशास्त्र ३

३. चत्तारि दो दुवालस, वीस चत्ता य हुंति उज्जोया।
देसिय राय पक्खिय, चाउम्मासे य वरिसे य॥
पणवीस अद्धतेरस, सलोग पन्नतरी य बोद्धव्या।
सयमेगं पणवीसं, बे बावण्णा य वरिसंमि॥
सायं सयं गोसद्धं तिन्नेव सया हवेति पक्खम्मि।
पंच य चाउम्मासे, वरिसे अट्ठोत्तर सहस्सा॥

४. सायान्हे उच्छ्वासशतकं प्रत्यूथसि पंचाशत, पक्षे त्रिंशतानि।
चतुर्षु मासेसु चतुःशतानि, पंचशतानि संवत्सरे उच्छ्वासानाम्॥
अष्टौ प्रतिक्रमे योग भक्तौ तौ द्वावुदाहृतौ।
–मूलाराधना–विजयोदयावृत्ति १, ११६

प्रवचनसारोद्धार

	चतुर्विंशतिस्तव	श्लोक	चरण	उच्छ्वास
(१) दैवसिक	२	२५	१००	१००
(२) रात्रिक	४	१२½	५०	५०
(३) पाक्षिक	१२	७५	३००	३००
(४) चातुर्मासिक	२०	१२५	५००	५००
(५) सांवत्सरिक	४०	२५२	१००८	१००८

विजयोदया

	चतुर्विंशतिस्तव	श्लोक	चरण	उच्छ्वास
(१) दैवसिक	४	२५	१००	१००
(२) रात्रिक	२	१२½	५०	५०
(३) पाक्षिक	१२	७५	३००	३००
(४) चातुर्मासिक	१६	१००	४००	४००
(५) सांवत्सरिक	२०	१२५	५००	५००

प्रवचनसारोद्धार और विजयोदयावृत्ति में कायोत्सर्ग में जो उच्छ्वास संख्या दी गई है उसमें एकरूपता नहीं है। यह जो ऊपर की पंक्तियों में चार्ट दिया है उससे सहज जाना जा सकता है।

दिगम्बर परम्परा के आचार्य अमितगति[1] ने यह विधान किया है कि दैवसिक कायोत्सर्ग में १०८ और रात्रि के कायोत्सर्ग में ५४ उच्छ्वासों का ध्यान करना चाहिए और अन्य कायोत्सर्ग में २७ उच्छ्वासों का ध्यान करना चाहिए। २७ उच्छ्वासों में नमस्कार मंत्र की नौ आवृत्तियाँ हो जाती हैं। क्योंकि तीन उच्छ्वासों में एक नमस्कार महामंत्र पर ध्यान किया जाता है। 'नमो अरिहन्ताणं, नमो सिद्धाणं' एक उच्छ्वास में; 'नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं' दूसरे उच्छ्वास में; 'नमो लोए सव्व साहूणं' तीसरे उच्छ्वास में।

---

१. अष्टोत्तरशतोच्छ्वासः कायोत्सर्गः प्रतिक्रमे।
सान्ध्ये प्रभातिके वार्धमन्यस्तत् सप्तविंशति॥
सप्तविंशतिरुच्छ्वासाः संसारोन्मूलनक्षमे।
सन्ति पंचनमस्कारे नवधा चिन्तिते सति॥ —अमितगति श्रावकाचार ८, ६८-६९

श्रमण के लिए कायोत्सर्ग का विधान

आचार्य अमितगति का अभिमत है[1] कि श्रमण को दिन और रात में कुल २८ बार कायोत्सर्ग करना चाहिए। स्वाध्यायकाल में बारह बार, वन्दनकाल में छह बार, प्रतिक्रमणकाल में आठ बार और योग भक्ति काल में दो बार इस प्रकार कुल अट्ठाईस बार कायोत्सर्ग करना चाहिए।

आचार्य अपराजित का मन्तव्य है कि पंच महाव्रत सम्बन्धी अतिक्रमण होने पर १०८ उच्छ्वासों का कायोत्सर्ग करना चाहिए। कायोत्सर्ग करते समय मन की चंचलता से या उच्छ्वासों की संख्या की परिगणना में सन्देह समुत्पन्न हो जाय तो आठ श्वासोच्छ्वासों का और अधिक कायोत्सर्ग करना चाहिए।[2]

श्वेतांबर और दिगंबर दोनों ही परम्पराओं के साहित्य के पर्यवेक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीनकाल में श्रमण साधकों के लिए कायोत्सर्ग का विधान विशेष रूप से रहा है। उत्तराध्ययन[3] के श्रमण सामाचारी अध्ययन में और दशवैकालिक[4] चूलिका में श्रमण को पुनः-पुनः कायोत्सर्ग करने वाला बताया है।

कायोत्सर्ग में मानसिक एकाग्रता सर्वप्रथम आवश्यक है। कायोत्सर्ग अनेक प्रयोजनों से किया जाता है। क्रोध, मान, माया, लोभ का उपशमन कायोत्सर्ग का मुख्य प्रयोजन है।[5] अमंगल, विघ्न और बाधा के परिहार के लिए भी कायोत्सर्ग का विधान प्राप्त होता है। किसी शुभ कार्य के प्रारम्भ में, यात्रा में, यदि किसी प्रकार का उपसर्ग, बाधा या अपशकुन हो जाय तो आठ श्वास-प्रश्वास का कायोत्सर्ग करना चाहिए और उस कायोत्सर्ग में नमस्कार महामन्त्र का चिन्तन करना चाहिए।

द्वितीय बार पुनः बाधा उपस्थित हो जाय तो सोलह श्वास-प्रश्वास का कायोत्सर्ग कर दो बार नमस्कार महामन्त्र का चिन्तन करना चाहिए। यदि तृतीय बार भी बाधा उपस्थित हो तो बत्तीस श्वास-प्रश्वास का कायोत्सर्ग कर चार बार नमस्कार महामन्त्र का चिन्तन करना चाहिए। चतुर्थ बार भी यदि बाधा उपस्थित

---

१. अष्टविंशति संख्याना: कायोत्सर्गा मता जिनैः।
अहोरात्रगताः सर्व षडावश्यक कारिणाम्॥
स्वाध्याये द्वादश प्राहुः वन्दनायां षडीरिताः।
अष्टौ प्रतिक्रमे योग भक्तौ तौ द्वावुदाहृतौ॥ —*अमितगति श्रावकाचार ८, ६६-६७*

२. प्रत्यूषसि प्राणिवधादिषु पंचशतीचारेषु अष्टशतोच्छ्वास-मात्रकालः कायोत्सर्गः। कार्योत्सर्गे कृते यदि शंक्यते उच्छ्वासस्य स्खलनं वा परिणामस्य उच्छ्वासाष्टमधिकं स्थातव्यम्।
—*मूलाराधना २, ११६ विजयोदया वृत्ति*

३. उत्तराध्ययन २६, ३९-५१

४. अभिक्खणं काउस्सग्गकारी। —*दशवैकालिक, चूलिका २-७*

५. कायोत्सर्ग शतक, गाथा ८

हो तो विघ्न अवश्य आने वाला है ऐसा समझकर विहार यात्रा को और शुभ कार्य को प्रारम्भ नहीं करना चाहिए।[1]

कायोत्सर्ग की प्रक्रिया कष्टप्रद नहीं है। कायोत्सर्ग से शरीर को पूर्ण विश्रांति प्राप्त होती है और मन में अपूर्व शान्ति का अनुभव होता है। इसीलिए कायोत्सर्ग लंबे समय तक भी किया जा सकता है। कायोत्सर्ग में मन को श्वास में केन्द्रित किया जाता है। एतदर्थ उसका काल मान श्वास-गिनती से भी किया जा सकता है।

कायोत्सर्ग का फल

कायोत्सर्ग का प्रधान उद्देश्य है आत्मा का सान्निध्य प्राप्त करना; और सहज गुण है मानसिक संतुलन बनाये रखना, बुद्धि का विकास करना और शरीर को पूर्ण स्वस्थ रखना।

आचार्य भद्रबाहु ने कायोत्सर्ग के अनेक फल बताये हैं।

(१) देह जाड्य शुद्धि–श्लेष्म आदि के द्वारा देह में जड़ता आती है कायोत्सर्ग से श्लेष्म आदि के दोष नष्ट हो जाते हैं। इसलिए उनसे उत्पन्न होने वाली जड़ता भी समाप्त हो जाती है।

(२) मति जाड्य शुद्धि–कायोत्सर्ग में मन की प्रवृत्ति केन्द्रित हो जाती है। उससे चित्त एकाग्र होता है, बौद्धिक जड़ता नष्ट होकर उसमें तीक्ष्णता आती है।

(३) सुख-दुःख तितिक्षा–कायोत्सर्ग से सुख-दुःख को सहन करने की अपूर्व क्षमता उत्पन्न होती है।

(४) अनुप्रेक्षा–कायोत्सर्ग में अवस्थित व्यक्ति अनुप्रेक्षा या भावना का स्थिरतापूर्वक अभ्यास करता है।

(५) ध्यान–कायोत्सर्ग में शुभध्यान का सहज अभ्यास हो जाता है।[2]

---

१. सव्वेसु खलियादिसु झाएज्झा पंच मंगलं।
दो सिलोगे व चिंतेज्जा एगग्गो वावि तक्खणं॥
बिइयं पुण खलियादिसु, उस्सासा होंति तह य सोलस य।
तइयम्मि उ बत्तीसा, चउत्थम्मि न गच्छए अण्णं॥
—व्यवहारभाष्य पीठिका, गाथा ११८, ११९

२. (क) देहमइजडुसुद्दी, सुहदुक्खतितिक्खया अणुप्पेहा।
झाइय य सुहं झाणं, एगग्गो काउसग्गम्मि॥ —कायोत्सर्ग शतक, गाथा १३
(ख) मणसो एगग्गत्तं जणयइ, देहस्स हणइ जडुत्तं।
काउस्सग्गगुणा खलु, सुहदुहमज्झत्थया चेव॥ —व्यवहारभाष्य पीठिका, गाथा १२५
(ग) प्रयत्न विशेषतः परमलाघवसंभवात्। —वही, वृत्ति

कायोत्सर्ग में शारीरिक चंचलता के विसर्जन के साथ ही शारीरिक ममत्व का भी विसर्जन होता है जिससे शरीर और मन में तनाव उत्पन्न नहीं होता। शरीरशास्त्रियों का मानना है कि तनाव से अनेक शारीरिक और मानसिक व्याधियाँ समुत्पन्न होती हैं। उदाहरणार्थ, शारीरिक प्रवृत्ति से–

(१) स्नायुओं में शर्करा कम हो जाती है।

(२) लैक्टिक ऐसिड स्नायुओं में एकत्रित होती है।

(३) लैक्टिक ऐसिडिटी की अभिवृद्धि होने से शरीर में उष्णता बढ़ जाती है।

(४) स्नायु तन्त्र में थकान का अनुभव होता है।

(५) रक्त में प्राणवायु की मात्रा न्यून हो जाती है।

कायोत्सर्ग से–

(१) ऐसिड पुनः शर्करा में परिवर्तित हो जाती है।

(२) लैक्टिक ऐसिड का स्नायुओं में जमाव न्यून हो जाता है।

(३) लैक्टिक ऐसिड की न्यूनता से शारीरिक उष्णता न्यून होती है।

(४) स्नायु तन्त्र में अभिनव ताजगी आती है।

(५) रक्त में प्राणवायु की मात्रा बढ़ जाती है।

स्नायविक तनाव की औषधि : कायोत्सर्ग

इस प्रकार स्वास्थ्य की दृष्टि से भी कायोत्सर्ग का अत्यधिक महत्त्व है। मन, मस्तिष्क और शरीर का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। जब इन तीनों में सामंजस्य नहीं होता तब स्नायविक तनाव समुत्पन्न होते हैं। जब हम कोई कार्य करते हैं तब तन और मन में संतुलन रहना चाहिए। जब संतुलन नहीं रहता है यथा–शरीर से कार्य किया जा रहा है और मन अन्य स्थानों पर भटक रहा है तब स्नायविक तनाव बढ़ता जाता है। कायोत्सर्ग इस स्नायविक तनाव को दूर करने का एक सुन्दर उपाय है।

कायोत्सर्ग और मुद्रा

कायोत्सर्ग में सर्वप्रथम आवश्यक है–शिथिलीकरण। यदि आप बैठे-बैठे ही कायोत्सर्ग करना चाहते हैं तो सुखासन से या पद्मासन से बैठें, फिर रीढ़ की हड्डी और गरदन को सीधा करें। उनमें झुकाव और तनाव न हो। शिथिल और सीधे सरल अंगोपांग रहें। उसके पश्चात् दीर्घ श्वास लीजिए। बिना कष्ट के जितना

लम्बा ले सकें श्वास को उतना लम्बा करने का प्रयत्न करें। इससे शरीर और मन दोनों के शिथिलीकरण में अत्यधिक सहयोग मिलेगा। आठ-दस बार दीर्घ श्वास लेने के पश्चात् वह क्रम सहज हो जाएगा। स्थिर बैठने से अपने आप ही कुछ-कुछ शिथिलीकरण हो सकता है। और उसके बाद जिस अंग को शिथिल करना हो उसमें मन को केन्द्रित करें। जैसे सर्वप्रथम गर्दन, कन्धा, छाती, पेट, दाएँ-बाएँ पृष्ठभाग, भुजाएँ, हाथ, हथेली, अंगुली, कटि, पैर आदि सभी की माँसपेशियों को शिथिल किया जाय।

इस प्रकार शारीरिक अवयव व माँसपेशियों के शिथिल हो जाने से स्थूल शरीर से सम्बन्ध-विच्छेद होकर सूक्ष्म शरीर से–तेजस और कार्मण से सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। तेजस शरीर से दीप्ति प्राप्त होती है। कार्मण शरीर के साथ सम्बन्ध स्थापित कर भेदविज्ञान का अभ्यास किया जाता है। इस तरह शरीर-आत्म ऐक्य की जो मानसिक भ्रांति है वह भेदविज्ञान से मिट जाती है।

शरीर एक बर्तन के सदृश है जिसमें श्वास, इन्द्रिय, मन और मस्तिष्क जैसी अनेक शक्तियाँ रही हुई हैं। उन शक्तियों से परिचित होने का सरल मार्ग कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग में श्वास सूक्ष्म होता है। शरीर और मन के बीच में श्वास है। श्वास के पाँच प्रकार बताये हैं–सहज श्वास, शान्त श्वास, उखड़ी श्वास, विक्षिप्त श्वास और तेज श्वास।

कायोत्सर्ग और श्वास

साधक पहले अभ्यास में गहरी और लम्बी श्वास लेता है। दूसरे अभ्यास-क्रम में लयबद्ध श्वास का अभ्यास किया जाता है। तृतीय क्रम में सूक्ष्म, शान्त और जमी हुई श्वास का अभ्यास किया जाता है। चतुर्थ अभ्यास-क्रम में सहज कुंभक की स्थिति होती है। इस स्थिति का निर्माण प्राणायाम, प्रलंब जाप और ध्यान आदि से किया जाता है। प्राणायाम का सीधा प्रभाव शरीर पर गिरता है। किन्तु मनोग्रंथि पर चोट करने के लिए मन का संकल्पबद्ध होना आवश्यक है।

कितने ही जैनाचार्यों ने दीर्घ श्वास को उपयोगी माना है; किन्तु तेज श्वास को नहीं। उनका अभिमत है कि तीव्र श्वास की चोट से शरीर और मन अत्यधिक थकान के कारण अवश्य ही शिथिल हो जाते हैं, परन्तु चेतना के प्रति सावधानता की स्थिति नहीं होती। उस अवस्था में मूर्च्छा और थकान के कारण आने वाली तन्द्रारूपी शून्यता से अपने आपको बचाना भी कठिन हो जाता है। इसलिए श्वास को उखाड़ना नहीं चाहिए। उसे लम्बा और गहरा करने का अभ्यास करना चाहिए।

जितना श्वास धीमा होता है, शरीर में उतनी ही क्रियाशीलता न्यून हो जाती है। श्वास की सूक्ष्मता ही शान्ति है। प्रारंभ में ऊर्जा का विस्तार और नया उत्पादन नहीं होता। केवल ऊर्जा का संरक्षण होता है और कुछ दिनों के पश्चात् वह संचित ऊर्जा मन को एकदिशागामी बनाकर उसे ध्येय में लगाती है। श्वास की मन्दता से शरीर निष्क्रिय हो जाता है, प्राण शान्त हो जाते हैं, मन निर्विचार हो जाता है और अन्तर्मानस में तीव्रतम वैराग्य उद्‌बुद्ध होता है। ज्यों-ज्यों श्वास चंचल होता है त्यों-त्यों मन भी चंचल होता है। श्वास के स्थिर होने पर मन की चंचलता भी नष्ट हो जाती है।[1]

श्वास शरीर में रहा हुआ यंत्र है जिसके अधिक सक्रिय होने पर शक्ति-केन्द्रों में उथल-पुथल मच जाती है और नार्मल होते ही उसमें एक प्रकार की शान्ति व्याप्त हो जाती है। श्वास की निष्क्रियता ही मन की शान्ति और समाधि है। जब हमें क्रोध आता है, उस समय हमारी साँस की गति तीव्र हो जाती है। पर ध्यान में श्वास गति शान्त होने से उसमें मन की स्थिरता होती है।

कायोत्सर्ग की योग्यता प्रतिक्रमण के पश्चात् आती है। प्रतिक्रमण में पापों की आलोचना हो जाने से चित्त पूर्ण रूप से निर्मल बन जाता है जिससे धर्मध्यान और शुक्लध्यान में साधक एकाग्रता प्राप्त कर सकता है। यदि साधक बिना चित्तशुद्धि किये ही कायोत्सर्ग करता है तो उसे उतनी सफलता प्राप्त नहीं होती। एतदर्थ ही षडावश्यक में प्रतिक्रमण के पश्चात् कायोत्सर्ग का विधान किया गया है।

प्रत्याख्यान

छठे आवश्यक का नाम प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान का अर्थ है–त्याग करना।[2] प्रत्याख्यान शब्द की रचना प्रति + आ + आख्यान–इन तीन शब्दों के संयोग से होती है। अविरति और असंयम के प्रतिकूल रूप में मर्यादास्वरूप आकार के साथ प्रतिज्ञा ग्रहण करना प्रत्याख्यान है।[3] दूसरे शब्दों में कहें तो आत्मस्वरूप के प्रति अभिव्याप्त रूप से जिससे अनाशंसा गुण समुत्पन्न हो इस प्रकार का आख्यान यानी कथन करना प्रत्याख्यान है। और भी अधिक स्पष्ट शब्दों में यों कह सकते हैं–भविष्य काल के प्रति 'आ' यानी मर्यादा के साथ अशुभ योग से निवृत्ति और शुभ योग में प्रवृत्ति का आख्यान करना प्रत्याख्यान है।

---

१. चले वाते चलंचित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्।
निष्कलं तं विजानियात् श्वासो यत्र लयं गतः॥ –योगशास्त्रवृत्ति

२. प्रवृत्तिप्रतिकूलतया आ मर्यादया ख्यानं–प्रत्याख्यानम्।

३. अविरति स्वरूप प्रभृति प्रतिकूलतया आ मर्यादया आकारकरणस्वरूपया आख्यानं–कथनं प्रत्याख्यानम्। –प्रवचनसारोद्धारवृत्ति

प्रत्याख्यान : आवश्यक

इस विराट् विश्व में इतने अधिक पदार्थ हैं जिनकी परिगणना करना भी संभव नहीं है। फिर उन वस्तुओं को एक व्यक्ति ही भोगे यह तो कभी भी संभव नहीं है। क्योंकि चाहे कितनी ही लम्बी उम्र क्यों न हो फिर भी एक मनुष्य संसार की सभी वस्तुओं का उपभोग नहीं कर सकता। किन्तु मनुष्य की इच्छाएँ असीम हैं, वह संसार की सभी वस्तुओं को पाना चाहता है। चक्रवर्ती की विराट् संपदा भी प्राप्त हो जाये तो भी उसकी इच्छाओं का अन्त नहीं आ सकता। इच्छाएँ दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ती रहती हैं। एक को भोगने के बाद दूसरे को भोगने की इच्छा होती है जिसके कारण मनुष्य के अन्तर्मानस में सदा अशांति बनी रहती है। उस अशांति को नष्ट करने का एकमात्र उपाय प्रत्याख्यान है।

प्रत्याख्यान में साधक अशांति के मूल कारण आसक्ति और तृष्णा को नष्ट करता है। जब तक आसक्ति बनी हुई है तब तक शांति उपलब्ध नहीं हो सकती। सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दन, प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग के द्वारा आत्म-शुद्धि हो जाती है। किन्तु पुनः आसक्तिरूपी तस्कर‌राज साधक के अन्तर्मानस में प्रविष्ट न हो इसके लिए प्रत्याख्यान अत्यन्त आवश्यक है। एक बार वस्त्र को स्वच्छ बना दिया गया। वह पुनः मलिन न हो इसके लिए हम उस वस्त्र को कपाट में रखते हैं। इसी तरह मन में मलिनता न आये इसीलिए प्रत्याख्यान किया जाता है।

शाश्वत सुख का कारण

अनुयोगद्वार में प्रत्याख्यान का अपर नाम 'गुणधारण' दिया है। गुणधारण से तात्पर्य है व्रतरूपी गुणों को धारण करना। मन, वचन और काया के योगों को रोककर शुभ योगों में प्रवृत्ति को केन्द्रित किया जाता है। शुभ योगों में केन्द्रित करने से इच्छाओं का निरुन्धन होता है। तृष्णाएँ शांत हो जाती हैं। अनेक सद्‌गुणों की उपलब्धि होती है।

एतदर्थ ही आचार्य भद्रबाहु ने स्पष्ट रूप से कहा–प्रत्याख्यान से संयम होता है, संयम से आश्रव का निरुन्धन होता है और आश्रव के निरुन्धन से तृष्णा का अन्त हो जाता है।[1] तृष्णा के अन्त से अनुपम उपशम भाव समुत्पन्न होता है और उससे प्रत्याख्यान विशुद्ध बनता है।[2] उपशम भाव की विशुद्धि से चारित्रधर्म प्रकट होता

---

१. पच्चक्खाणंमि कए, आसवदाराइं हुंति पिहियाइं।
आसव वुच्छेएणं तण्हा-वुच्छेयणं होइ॥ —*आवश्यकनिर्युक्ति १५९४*

२. तण्हा-वोच्छेदेण य, अउलोवसमो भवे मणुस्साणं।
अउलोवसमेण पुणो, पच्चक्खाणं हवइ सुद्धं॥ —*आवश्यकनिर्युक्ति १५९५*

है। चारित्र से कर्म निर्जरित होते हैं। उससे अपूर्वकरण होता है। अपूर्वकरण होने से केवलज्ञान केवलदर्शन का दिव्य आलोक जगमगाने लगता है और शाश्वत मुक्तिरूपी सुख प्राप्त होता है।[1]

प्रत्याख्यान के दो भेद

प्रत्याख्यान के मुख्य रूप से मूलगुण प्रत्याख्यान और उत्तरगुण प्रत्याख्यान, इस प्रकार दो भेद किये गये हैं। मूलगुण प्रत्याख्यान यावज्जीवन के लिए ग्रहण किये जाते हैं। मूलगुण प्रत्याख्यान के सर्वमूलगुण प्रत्याख्यान और देशमूलगुण प्रत्याख्यान ये दो भेद हैं। प्रथम में श्रमण के पंचमहाव्रत आते हैं और द्वितीय में गृहस्थ श्रमणोपासक के पाँच अणुव्रत आते हैं।

उत्तरगुण प्रत्याख्यान प्रतिदिन ग्रहण किये जाते हैं। या कुछ दिनों के लिए ग्रहण किये जाते हैं। उत्तरगुण प्रत्याख्यान के भी देश उत्तरगुण प्रत्याख्यान और सर्व उत्तरगुण प्रत्याख्यान के रूप में दो भेद होते हैं। गृहस्थों के लिए तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत–ये सात उत्तरगुण प्रत्याख्यान हैं। श्रमण और श्रमणोपासक दोनों के लिए दस प्रकार के प्रत्याख्यान प्रतिपादित किये गये हैं। वे सर्व उत्तरगुण प्रत्याख्यान हैं।

दस प्रत्याख्यान

भगवतीसूत्र, स्थानांग वृत्ति, आवश्यकनिर्युक्ति और मूलाचार में दस प्रत्याख्यानों[2] का वर्णन है जिसका संक्षिप्तसार इस प्रकार है–

(१) अनागत–पर्युषण आदि पर्व में जो तप करना चाहिए वह तप पहले कर लेना जिससे कि पर्व के समय वृद्ध, रुग्ण, तपस्वी आदि की सेवा सहज रूप से की जा सके। मूलाचार के टीकाकार वसुनन्दि ने लिखा है–चतुर्दशी को किया जाने वाला तप त्रयोदशी को करना।

(२) अतिक्रान्त–जो तप पर्व के दिनों में करना चाहिए वह तप पर्व के दिनों में सेवा आदि का प्रसंग उपस्थित होने से न कर सके तो उसे अपर्व के दिनों में करना चाहिए। वसुनन्दि के अनुसार चतुदर्शी को किया जाने वाला उपवास प्रतिपदा को करना।

---

१. तत्तो चरित्तधम्मो, कम्मविवेगो तओ अपुव्वं तु।
तत्तो केवलनाणं, तओ य मुक्खो सया सुक्खो॥ –*आवश्यकनिर्युक्ति* १५९६

२. (क) भगवतीसूत्र ७-२ (ख) स्थानांगवृत्ति, पत्र ४७२, ४७३
(ग) आवश्यकनिर्युक्ति, अ. ६ (घ) मूलाचार षट्आवश्यक अधिकार, गा. १४०, १४१

(३) कोटिसहित–जो पूर्व तप चल रहा हो उस तप को बिना पूर्ण किये ही अगला तप प्रारंभ कर देना। जैसे उपवास का बिना पारणा किये ही अगला तप प्रारम्भ करना। आचार्य अभयदेव ने भी स्थानांगवृत्ति में यही अर्थ किया है। आचार्य वट्टकेर ने मूलाचार में कोटि सहित प्रत्याख्यान का अर्थ लिखा है कि शक्ति की अपेक्षा उपवास आदि करने का संकल्प करना। वसुनन्दि के अनुसार यह संकल्प समन्वित प्रत्याख्यान है। जैसे–अगले दिन स्वाध्याय वेला पूर्ण होने पर यदि शक्ति रही तो मैं उपवास करूँगा, अन्यथा नहीं करूँगा।

(४) नियंत्रित–जिस दिन प्रत्याख्यान करने का विचार हो उस दिन रोग आदि विशेष बाधाएँ उपस्थित हो जायें तो भी उन बाधाओं की परवाह किये बिना जो मन में प्रत्याख्यान धारण किया है वह प्रत्याख्यान कर लेना। मूलाचार में इसका नाम विखंडित है। पर दोनों में अर्थभेद नहीं है।

प्रस्तुत प्रत्याख्यान चतुर्दश पूर्व के धारी, जिनकल्पी श्रमण, दशपूर्वधारी श्रमण के लिए है क्योंकि उनका संकल्प-बल इतना सुदृढ़ होता है कि किसी भी प्रकार की कोई भी बाधा उनको उनके निश्चय से विचलित नहीं कर सकती। क्योंकि जंबूस्वामी के निर्वाण के बाद जिनकल्प का विच्छेद हो चुका है, इसलिए यह प्रत्याख्यान भी व्युच्छिन्न हो गया है।

(५) साकार–प्रत्याख्यान करते समय मन में विशेष आकार कि अमुक प्रकार का कोई कारण विशेष उपस्थित हो जाएगा तो मैं उसका आगार रखता हूँ–इस प्रकार मन में अपवाद की कल्पना करके जो त्याग किया जाता है, वह साकार प्रत्याख्यान है।

(६) निराकार–यह प्रत्याख्यान बिना किसी प्रकार के अपवाद की छूट रखे किया जाता है। निराकार प्रत्याख्यान में दृढ़ मनोबल की अपेक्षा होती है।

आचार्य अभयदेव ने पाँचवें और छठे प्रत्याख्यान के सम्बन्ध में लिखा है कि साकार प्रत्याख्यान में सभी प्रकार के अपवाद व्यवहार में लाये जा सकते हैं और अनाकार प्रत्याख्यान में महत्तर की आज्ञा आदि अपवाद भी व्यवहार में नहीं लाये जा सकते किन्तु 'अनाभोग और सहसागार की छूट इनमें भी रहती है।'

वसुनन्दि ने 'आकार' का अर्थ भेद किया है। उसका अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है कि अमुक नक्षत्र में अमुक तपस्या करनी है, नक्षत्र आदि के भेद के आधार पर लम्बे समय की तपस्याएँ करना साकार प्रत्याख्यान है। नक्षत्र आदि का विचार किये बिना स्वेच्छा से उपवास आदि करना अनाकार प्रत्याख्यान है।

(७) परिमाणकृत–श्रमण भिक्षा के लिए जाते समय या आहार ग्रहण करते समय यह प्रतिज्ञा ग्रहण करता है कि मैं आज इतना ही ग्रास ग्रहण करूँगा या भोजन लेने के लिए गृहस्थ के यहाँ पर जाते समय मन में यह विचार करना कि अमुक प्रकार का आहार प्राप्त होगा तो ही मैं ग्रहण करूँगा, जैसे–भिक्षु प्रतिमाधारी श्रमण दत्ति आदि की कल्पना करके ही आहार लेते हैं।

मूलाचार में परिमाण कृत के स्थान पर परिणामगत शब्द आया है।

(८) निरवशेष–असन, पान, खादिम और स्वादिम–चारों प्रकार के आहार का पूर्ण रूप से परित्याग करना। वसुनन्दि श्रमण ने यावज्जीवन के लिए माना है, श्वेताम्बर आगमों में ऐसा वर्णन नहीं है।

(९) सांकेतिक–जो प्रत्याख्यान संकेतपूर्वक किया जाता है, जैसे–मुट्ठी बाँधकर, किसी वस्त्र के गाँठ लगाकर–जब तक मैं मुट्ठी या गाँठ नहीं खोलूँगा वहाँ तक कुछ भी वस्तु मुँह में न डालूँगा। इस प्रकार यह प्रत्याख्यान सांकेतिक है। इसमें साधक अपनी सुविधा के अनुसार प्रत्याख्यान करता है।

मूलाचार में इसका नाम 'अद्धानगत' है। वसुनन्दि श्रमण ने अध्वानगत प्रत्याख्यान का अर्थ मार्ग विषयक प्रत्याख्यान किया है। यह अटवी, नदी आदि को पार करते समय उपवास करने की पद्धति का सूचक है। सहेतुक प्रत्याख्यान का अर्थ है–उपसर्ग आदि आने पर किया जाने वाला उपवास।

(१०) अद्धा–समय विशेष की निश्चित मर्यादा के अनुसार प्रत्याख्यान करना। इस प्रत्याख्यान के (नमोक्कार सहित) नवकारसी, पोरसी, पूर्वार्द्ध, एकाशन, एकस्थान, आचाम्ल, उपवास, दिवसचरिम, अभिग्रह, निर्विकृतिक–ये दस प्रत्याख्यान अद्धा (अध्वा) प्रत्याख्यान के अन्तर्गत आते हैं। 'अद्धा' का अर्थ 'काल' है।

आचार्य अभयदेव ने अध्वा का अर्थ पौरुसी आदि कालमान के आधार पर किया जाने वाला प्रत्याख्यान किया है।

प्रत्याख्यान में आत्मा मन, वचन और काया की दुष्ट प्रवृत्तियों को रोककर शुभ प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होता है। आश्रव के निरुन्धन होने से साधक पूर्ण निस्पृह हो जाता है जिससे उसे शांति उपलब्ध होती है। प्रत्याख्यान में साधक अमुक पदार्थों का सेवन करता और अमुक पदार्थों का परित्याग करता है। जो पदार्थ वह ग्रहण करता है उनमें भी आसक्त नहीं होता। इस कारण उसमें विशेष गुण समुत्पन्न होते हैं।

प्रत्याख्यान की विशुद्धि

साधना के क्षेत्र में प्रत्याख्यान का विशिष्ट महत्त्व रहा है। प्रत्याख्यान में किसी भी प्रकार का दोष न लगे इसके लिए साधक सतत जागरूक रहता है। इसलिए आवश्यक में छह प्रकार की विशुद्धि का उल्लेख है।

(१) श्रद्धानविशुद्धि–पंच महाव्रत, बारह व्रत आदि रूप जो प्रत्याख्यान है उनका पूर्ण श्रद्धा के साथ पालन करना।

(२) ज्ञानविशुद्धि–जिनकल्प, स्थविरकल्प, मूलगुण, उत्तरगुण आदि जिस प्रत्याख्यान का जैसा स्वरूप है उस स्वरूप को सही रूप से जानना।

(३) विनयविशुद्धि–मन, वचन और काया सहित तो प्रत्याख्यान होता ही है। साथ ही प्रत्याख्यान में जितनी वन्दनाओं का विधान है प्रत्याख्यान के साथ उतना वन्दन करना आवश्यक है।

(४) अनुभाषणाविशुद्धि–प्रत्याख्यान ग्रहण करते समय सद्गुरु के सम्मुख विनय मुद्रा में खड़े रहकर जिस प्रकार सद्गुरु पाठों का उच्चारण करें उसी प्रकार शुद्ध बोलना।

(५) अनुपालनाविशुद्धि–भयंकर वन में तथा दुर्भिक्ष आदि में और रुग्ण अवस्था में व्रत का उत्साह के साथ सम्यक् प्रकार से पालन करना।

(६) भावविशुद्धि–राग-द्वेषरहित पवित्र भावना से प्रत्याख्यान का पालन करना।

प्रत्याख्यान के दोष

आचार्य भद्रबाहु[1] ने कहा है कि प्रत्याख्यान में तीन प्रकार के दोष लगने की संभावना रहती है अतः उन दोषों से साधक को बचना चाहिए।

(१) अमुक व्यक्ति ने प्रत्याख्यान ग्रहण किया जिसके कारण उसका समाज में आदर हो रहा है। मैं भी इस प्रकार के प्रत्याख्यान करूँ जिससे मेरा आदर हो। इस प्रकार मन में राग भावना को लेकर प्रत्याख्यान करना।

(२) मैं ऐसा प्रत्याख्यान ग्रहण करूँ जिसके कारण जिन्होंने प्रत्याख्यान ग्रहण किया है उनकी कीर्ति-कौमुदी धुँधली हो जाय। इस प्रकार दूसरे के प्रति मन में दुर्भावना से उत्प्रेरित होकर प्रत्याख्यान करना। इसमें तीव्र द्वेष प्रकट होता है।

---

१. आवश्यकनियुक्ति

(३) इस लोक में मुझे यश प्राप्त होगा और परलोक में भी मेरे जीवन में सुख और शांति की बंशी बजेगी। इस भावना से उत्प्रेरित होकर प्रत्याख्यान करना। इसमें यश की अभिलाषा, वैभव प्राप्ति की कामना आदि है।

सुप्रत्याख्यान और दुष्प्रत्याख्यान

शिष्य ने जिज्ञासा प्रस्तुत की–गुरुदेव ! किस साधक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है और किस साधक का प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है? भगवान ने समाधान दिया–जिस साधक को जीव-अजीव का परिज्ञान है, प्रत्याख्यान किस उद्देश्य से किया जा रहा है इसकी अच्छी तरह से जानकारी है, उस साधक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है। जिस साधक को जीव-अजीव का परिज्ञान नहीं है, अज्ञान का उस पर इतना आवरण है कि प्रत्याख्यान करता हुआ भी प्रत्याख्यान के मर्म को नहीं जानता उसका प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है। क्योंकि वह प्रत्याख्यान के मर्म को नहीं समझता, इसलिए वह असंयत है, अविरत है और एकान्तबाल है।[1]

प्रत्याख्यान की चतुर्भंगी

प्रवचनसारोद्धार[2], योगशास्त्र[3] आदि में प्रत्याख्यान ग्रहण करने वाले साधक और ग्रहण कराने वाले साधक की योग्यता और अयोग्यता को लक्ष्य में रखकर चतुर्भंगी का प्रतिपादन किया है–

(१) प्रत्याख्यान ग्रहण करने वाला साधक भी विवेकी है और प्रत्याख्यान प्रदाता गुरु भी गीतार्थ है वह पूर्ण शुद्ध प्रत्याख्यान विधि है।

(२) प्रत्याख्यान ग्रहण करने वाला प्रत्याख्यान के रहस्य को नहीं जानता, पर प्रत्याख्यान प्रदान करने वाला गुरु प्रत्याख्यान के मर्म को जानता है और वह प्रत्याख्यान ग्रहण करने वाले शिष्य को प्रत्याख्यान का मर्म सम्यक् प्रकार से समझा देता है तो शिष्य का प्रत्याख्यान सही प्रत्याख्यान हो जाता है। यदि वह उसके मर्म को नहीं समझता है तो उसका प्रत्याख्यान अशुद्ध प्रत्याख्यान है।

(३) प्रत्याख्यान प्रदान करने वाला गुरु प्रत्याख्यान के मर्म को नहीं जानता हो किन्तु जो प्रत्याख्यान ग्रहण कर रहा है वह प्रत्याख्यान के रहस्य को जानता है तो

---

१. एवं खलु से दुप्पच्चक्खाई सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं पच्चक्खायमिति वदमाणो ने सच्चं भासं भासइ मोसं भासं भासइ ..... –भगवती ८/२

२. जाणगो जाणगसगासे अजाणगो जाणगसगासे जाणगो, अजाणगसगासे अजाणगो अजाणगसगासे। –प्रवचनसारोद्धारवृत्ति

३. योगशास्त्र-स्वोपज्ञवृत्ति

वह प्रत्याख्यान शुद्ध प्रत्याख्यान है। यदि ज्ञाता गुरु विद्यमान हों उनकी उपस्थिति में भी परम्परा आदि की दृष्टि से अगीतार्थ से प्रत्याख्यान ग्रहण करना योग्य नहीं है।

(४) प्रत्याख्यान ग्रहण करने वाला प्रत्याख्यान के मर्म को नहीं जानता और जिससे प्रत्याख्यान ग्रहण करना है वह भी प्रत्याख्यान के रहस्य से अनभिज्ञ है तो उसका प्रत्याख्यान अशुद्ध प्रत्याख्यान है।

प्रत्याख्यान षडावश्यक में सुमेरु के स्थान पर है। प्रत्याख्यान से भविष्य में आने वाली अव्रत की सभी क्रियाएँ रुक जाती हैं और वह साधक नियमोपनियम का सम्यक् पालन करता है।

प्रत्याख्यान के विविध प्रकार

उत्तराध्ययन में प्रत्याख्यान के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए निम्न प्रकार बताये हैं–

(१) **संभोग प्रत्याख्यान**[1]–श्रमणों के द्वारा लाये हुए आहार को एक स्थान पर मंडलीबद्ध बैठकर खाने का परित्याग करना। इससे जीव स्वावलंबी होता है और अपने द्वारा प्राप्त लाभ से ही संतुष्ट रहता है।

(२) **उपधि प्रत्याख्यान**[2]–वस्त्र आदि उपकरणों का त्याग करना। इससे स्वाध्याय आदि करने में विघ्न नहीं उपस्थित होता। आकांक्षारहित होने से वस्त्र आदि माँगने की और उनकी रक्षा करने की उसे इच्छा नहीं होती और मन में संक्लेश नहीं होता।

(३) **आहार प्रत्याख्यान**[3]–आहार का परित्याग करने से जीवन के प्रति ममत्व नहीं रहता। निर्ममत्व होने से आहार के अभाव में भी उसे किसी भी प्रकार के कष्ट की अनुभूति नहीं होती।

(४) **योग प्रत्याख्यान**[4]–मन, वचन और काय सम्बन्धी प्रवृत्ति को रोकना योग प्रत्याख्यान है। यह चौदहवें गुणस्थान में प्राप्त होता है। ऐसा साधक नूतन कर्मों का बन्ध नहीं करता, वरन् पूर्व संचित कर्मों को क्षय करता है।

(५) **सद्भाव प्रत्याख्यान**[5]–सभी प्रकार की प्रवृत्तियों को परित्याग कर वीतराग अवस्था को प्राप्त करना। इससे जीव सभी प्रकार के कर्मों से मुक्त हो जाता है।

(६) **शरीर प्रत्याख्यान**[6]–शरीर के ममत्व को हटाना। इससे अशरीरी सिद्धावस्था प्राप्त होती है।

---

१. उत्तराध्ययन २९-३३
२. वही २९-३४
३. वही २९-३५
४. वही २९-३७
५. वही २९-४९
६. वही २९-३८

(७) सहाय प्रत्याख्यान[1]–अपने कार्य में किसी का भी सहयोग न लेना। इससे जीव एकत्व भाव को प्राप्त करता है। एकत्व भाव प्राप्त होने से वह अल्प शब्द वाला, अल्प कलह वाला और संयमबहुल तथा समाधिबहुल हो जाता है।

(८) कषाय प्रत्याख्यान[2]–सामान्य रूप से कषाय को संयमी साधक जीतता ही है, जिससे साधक कर्मों का बन्ध नहीं करता। कषायों पर विजय प्राप्त करने से उसे मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषयों के प्रति ममत्व या द्वेष नहीं होता।

इस तरह उत्तराध्ययन में प्रत्याख्यानों के प्रकार व उसके फल निरूपित किये हैं। प्रत्याख्यान से भविष्य में होने वाले सारे पापकृत्य रुक जाते हैं और साधक का जीवन संयम के सुहावने आलोक से जगमगाने लगता है।

उपसंहार

इस प्रकार षडावश्यक साधक के लिए अवश्यकरणीय क्रिया है। साधक चाहे श्रमण हो अथवा श्रावक वह इन क्रियाओं को करता ही है। हाँ, उन दोनों की गहराई और अनुभूति में तीव्रता मन्दता हो सकती है, और होती है। श्रावक की अपेक्षा श्रमण इन क्रियाओं को अधिक तल्लीनता से कर सकता है, क्योंकि वह संसार-त्यागी है, आरंभ-समारंभ से सर्वथा विरत है। इसी कारण उसकी साधना में श्रावक की अपेक्षा अधिक तेजस्विता होती है।

यह अवश्यकरणीय कर्त्तव्य श्रमण साधक प्रतिदिन अवश्य ही करता है, इसीलिए इनका नाम षडावश्यक है। 'सामायिक' में वह सभी प्रकार के सावद्य (पापमय) योगों से विरत होता है, 'चतुर्विंशतिस्तव' द्वारा वह तीर्थंकर भगवानों जैसी वीतरागता अपने अन्दर भी विकसित करने की भावना रखता है, वन्दना द्वारा वह स्वयं को विनय गुण से विभूषित करता है, 'प्रतिक्रमण' द्वारा वह समस्त बाह्य एवं वैभाविक परिणतियों से विरत होकर बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी बनता है, कायोत्सर्ग में कायकषाय को 'पर' समझकर उनका व्युत्सर्ग करके अपने शुद्धात्मभाव का चिन्तन करता है, धर्म-शुक्लध्यान की साधना करता है और 'प्रत्याख्यान' में विविध प्रकार के त्याग लेता है। इस प्रकार इन षडावश्यकों से अपने जीवन को–आध्यात्मिक साधना को जगमगाता है, मुक्ति की राह पर अपने दृढ़ कदम बढ़ाता है।

इसीलिए साधक-जीवन में षडावश्यकों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

●●

१. उत्तराध्ययन २९-३९ २. वही २९-३६

उपसंहार

आचार सम्बन्धी इस समग्र वर्णन-विवेचन से पाठक के समक्ष आचारविधि, मर्यादा एवं व्रताचरण की संपूर्ण रूपरेखा का एक स्पष्ट चित्र उजागर हो सकेगा, ऐसा विश्वास है।

जैसा कि मैंने प्रारम्भ में लिखा है–आचार जीवन की रीढ़ है, साधना का मूल-बिन्दु है। आचार-शुद्धि के बिना विचार-शुद्धि संभव नहीं है, और विचार-शुद्धि के बिना जीवन-विकास, आत्म-उत्थान एवं निर्वाण–सब एक कल्पना मात्र रहेंगे।

भगवान महावीर का यह वचन–'धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई' बहुत ही गम्भीर अर्थ की सूचना करता है और धर्म की खेती के लिए जीवन-भूमि के परिष्कार व परिमार्जन की स्पष्ट उद्घोषणा भी।

वैसे तो भारत व विश्व के सभी धर्म-प्रवर्तकों व धर्मोपदेशकों ने आचार-शुद्धि की अनिवार्यता स्वीकार की है और जोरदार शब्दों में उसका महत्त्व बताया है, किन्तु जहाँ तक जैन धर्म का प्रश्न है, वह तो आचार-शुद्धिमूलक ही है। ज्ञातासूत्र के प्रसंग में एक प्रसिद्ध परिव्राजक संन्यासी को जैन धर्म (निर्ग्रन्थ धर्म) का मूल बताते हुए कहा है–विणयमूलो धम्मो–हमारे धर्म का मूल विनय है और विनय का अर्थ किया गया है, आचार-शुद्धि, अनुशासित एवं संयमपूर्ण जीवन !

आचार को विभिन्न दृष्टियों, अपेक्षाओं से समग्र रूप में समझने और जानने के लिए इस पुस्तक के प्रथम खंड में भारत के ही नहीं, विश्व के भी लगभग सभी प्रचलित अथवा प्राचीनकालीन धर्मों के आचार सम्बन्धी दृष्टिकोण तथा उनके महान् प्रवर्तकों के तत्संबंधी विचार एवं उपदेश दिये गये हैं। भारत के वैदिक, बौद्ध, लुप्तप्राय आजीवक, सिक्ख, संत परम्परा आदि तथा विश्व के यूनानी, चीनी, पारसी, ईसाई, मुस्लिम, सूफी, ताओ, कन्फ्यूसियस आदि धर्मों और धर्म-प्रवर्तकों के विचारों का वर्णन भी कर दिया है। यह वर्णन पाठकों को उन धर्मों द्वारा विहित आचार संबंधी उपयुक्त जानकारी प्रदान करेगा।

पाठक द्वितीय खंड में जैन आचार की आधार भूमिरूप–सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में पढ़ ही चुके हैं। सम्यक्त्व का सीधा-सा शाब्दिक अर्थ ही है–सचाई या यथार्थता।

जीवन में, आचार-विचार में यथार्थ भूमिका आना, स्पष्टता व निर्मलता आना ही सम्यग्दर्शन की पहचान है, और इसके बाद ही आत्मा विकास की ओर गतिमान होती हुई गुणस्थान की उच्च भूमिकाओं पर चढ़ती है। व्रत आदि की साधना में सफल होती है।

तृतीय खंड में व्रत-साधना की पृष्ठभूमि के पश्चात् 'श्रावक-आचार' का विशद वर्णन पाठकों ने पढ़ा होगा। श्रावकाचार आचार-शुद्धि का एक मानदंड है, एक तुला है। इसकी साधना से आचार में निर्मलता, पवित्रता व व्यवहार में शुद्धता स्वतः प्रतिफलित होती है और क्रमशः यह साधना जीवन-शुद्धि की ओर बढ़ती है।

जीवन गति है, छलाँगें भरना नहीं। क्रमशः गति करना, उत्तरोत्तर प्रगति करना यही साधना का मार्ग है। इसी सन्दर्भ में चतुर्थ खंड में जीवन-शुद्धि का एक विशेष निखरा हुआ स्वरूप–'श्रमण जीवन' का वर्णन किया गया है।

जैन श्रमण का जीवन-साधना की दृष्टि से अन्य श्रमण व संन्यासियों की अपेक्षा अधिक सशक्त, परिष्कृत व विविध मर्यादाओं तथा कल्पों से सन्निबद्ध है। श्रावकाचार की तरह श्रमणाचार पर भी बड़ा गम्भीर व व्यापक चिन्तन-मनन किया गया है। इस विषय को पढ़ने से पाठक स्वयं यह अनुभव कर पाये होंगे कि श्रावकचर्या एवं श्रमणचर्या वास्तव में सामाजिक एवं आत्मिक विज्ञान की दृष्टि से पूर्णतः वैज्ञानिक हैं। इनके आचार विधान, नियम, कल्प एवं निषेध न केवल धार्मिक विश्वासों पर आधृत हैं, बल्कि उनके पीछे शरीर विज्ञान, मानव-मानस विज्ञान, चेतना-विवेक और नीतिशास्त्र की मान्यता व स्थापनाओं का भी संपूर्ण पृष्ठबल है। आज के सन्दर्भ में जैन जीवनचर्या अधिक वैज्ञानिक व अधिक स्वास्थ्यप्रद है। जैन जीवन-साधना में अहिंसा-सत्य-ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि का जो आदर्श है, उसकी दुहरी प्रासंगिकता आज है–समाज दर्शन के क्षेत्र में भी, स्वास्थ्य रक्षा की दृष्टि से भी तथा अध्यात्म चेतना के ऊर्ध्वारोहण की दृष्टि से भी। श्रमण संघ की व्यवस्था भी कितनी लोकतांत्रिक और स्वायत्तता पोषित है, और वह भी कई हजार वर्ष पूर्व के चिन्तन पर आधृत .... यह आश्चर्य के साथ-साथ गौरव का भी विषय है।

तपःसाधना की विवेचना में पाठक अनुभव कर चुके होंगे कि तप सिर्फ शरीर को कष्ट देना मात्र नहीं है, बल्कि मन व इन्द्रियों का संयम करना, तप है। जैन धर्म की तपः सम्बन्धी धारणाएँ व चिन्तन उसके विस्तृत प्रकार–वास्तव में ही किसी समृद्ध चिन्तन एवं व्यापक उदात्त सांस्कृतिक परम्परा के सूचक तो हैं ही, साथ ही धर्म-साधना के सम्बन्ध में विशाल दृष्टिकोण भी उपस्थित करते हैं। ध्यान

योग एवं भावना योग का वर्णन तो सचमुच ही साधना की परिष्कृत विधि तथा मनोविज्ञान की गहनतम अन्तर् प्रविष्टि का सूचक है। मानव-मानस का इतना सूक्ष्म निरीक्षण-परीक्षण-अवलोकन संभवतः अन्यत्र दुर्लभ होगा।

चतुर्थ खंड के अन्त में मृत्युकला-संलेखना का वर्णन जैन धर्म की अद्वितीय देन है। जीवन ही नहीं, किन्तु मृत्यु को भी सुखमय प्रसन्नतादायिनी बनाने की कला-जैन चिन्तकों का एक अद्भुत शोध है। समाधिमरण या इच्छा-मृत्यु के सम्बन्ध में क्रमिक तैयारी व मानस की निर्मलता-निर्भयता जीवन में आनन्द का स्रोत बहाने वाली है। मृत्यु की त्रासदी से भयाकुल आज के मानव को जैन धर्म का यह आह्वान-तुम्हारा जीवन भी सुखी होगा, तुम्हारी मृत्यु भी सुखद व प्रसन्नतादायिनी होगी और यदि तुम विश्वास करते हो तो तुम्हारा अगला जन्म-परलोक भी सुखमय होगा, बशर्ते-इसकी साधना-विधि सीख लो। कितना सन्तोषप्रद और शान्तिदायक है।

वैसे तो चतुर्थ खण्ड में ही जीवन-साधना का उपसंहार हो जाता है, किन्तु श्रमणचर्या के मुख्य व्रत-महाव्रतों का वर्णन जब तक न हो तब तक साधना की समग्रता नहीं आ सकती इसी दृष्टि से पंचम खंड में पंच महाव्रत, सामाचारी-षडावश्यक आदि का विवेचन किया गया है।

इस प्रकार भले ही यह विवेचन विस्तृत व विशालकाय बन गया है, किन्तु एक ही स्थान पर पाठक को जानने योग्य, स्वीकारने योग्य और त्यागने योग्य-हेयोपादेय-ज्ञेय का परिबोध हो जाये तो-इस विशालकाय ग्रन्थ की सार्थकता है, उपादेयता है, और लेखक की आत्म-प्रसन्नता भी। इसी दृष्टि से यह संपूर्ण समायोजन हुआ है।

●●

परिशिष्ट १

पारिभाषिक शब्द-कोष

अंग–(१) मगध देश का पूर्व भाग, (२) वह साहित्य जिसके अर्थ-प्ररूपक तीर्थंकर और सूत्र रचयिता गणधर हैं। जैन आगमों का एक प्रमुख भाग।

अंगप्रविष्ट–तीर्थंकर के अर्थ की गणधरों द्वारा आचार आदि के रूप में जो अंग-रचना की जाती है, वह शास्त्र अंगप्रविष्ट कहलाता है।

अंगबाह्य–गणधरों के शिष्य-प्रशिष्यादि आचार्यों द्वारा अल्पबुद्धि शिष्यों के अनुग्रह के लिए की गई संक्षिप्त शास्त्र रचना।

अंगार–आहार सम्बन्धी दोष।

अंगारजीविका–कोयला निर्माण कर, भाड़ भूजकर, कुम्हार, लुहार, सुनार और ठठेरे आदि का कार्य कर आजीविका चलना।

अंगुल–आठ यव मध्य प्रमाण माप; अथवा जिस माप विशेष से पदार्थों का प्रमाण जाना जाता है।

अंगुष्ठप्रसेनी–जिस विद्या से देवता को अंगूठे पर अवतीर्ण कराया जाता है। इसका अपर नाम अंगुष्ठ प्रश्निका भी है।

अंगोपांग (नामकर्म)–जिस कर्म के उदय से हस्त, पाद, शिर आदि शरीर के अंग और नासिका आदि उपांगों की निष्पत्ति होती है।

अकर्मभूमि–असि, मषि, कृषि आदि कर्मों से रहित भूमि अर्थात् भोग भूमि।

अकल्प्य–अग्राह्य (विशेषतः श्रमण के लिए)।

अकामनिर्जरा–अनिच्छापूर्वक कष्ट भोगने से होने वाली कर्मनिर्जरा।

अक्रियावादी–जो अवस्थान का प्रसंग प्राप्त होने पर भी संभावना से–अवस्थान से रहित किसी भी अनवस्थित पदार्थ की क्रिया को स्वीकार नहीं करते।

अकुशल (कर्म)–दुःख देने वाले पापकर्म।

अगुरुलघु–गुरुता तथा लघुता का अभाव।

अचक्षुदर्शन–चक्षु इन्द्रिय के अतिरिक्त शेष चार इन्द्रियों और मन के द्वारा होने वाला सामान्य प्रतिभास या अवलोकन।

अचक्षुदर्शनावरण (कर्म)–अचक्षुदर्शन को आवरण करने वाला कर्म।

अचारित्र–चारित्र निरोधक कषाय के उदय से चारित्र के प्रतिकूल आचरण करना।

अचित्त–जीवरहित–प्रासुक।

अचित्त परिग्रह–रत्न, वस्त्र, सोना, चाँदी आदि।

अचित्त अदत्तादान–खुली भूमि, खेत आदि में गढ़े हुए या रखे हुए स्वर्ण, रजत आदि अचेतन वस्तु जो स्वामी के द्वारा न दिये जाने पर भी ली गई है।

अचेलक–जिसके वस्त्र न हों या अल्प वस्त्रधारी।

अचेल परीषह–सर्वथा वस्त्ररहित होकर अथवा अल्प वस्त्र धारण करके श्रमण द्वारा शीत आदि के परीषह को शान्त भावना से सहन करना।

अचौर्य महाव्रत–ग्राम, नगर, वन या किसी भी स्थान पर किसी के रखे हुए, भूले हुए या गिरे हुए द्रव्य को ग्रहण करने की इच्छा भी न करना।

अचौर्याणुव्रत–अन्य की वस्तु को बिना स्वामी की अनुमति के न स्वयं ग्रहण करना, न अन्य को देना। इसमें स्थूल चोरी का त्याग वर्ज्य है।

अजीव–जिसमें चेतना का अभाव हो।

अजीवकाय असंयम–सुवर्ण, बहुमूल्य वस्त्र, पात्र आदि को ग्रहण करना।

अजीव क्रिया–अचेतन पुद्गलों का कर्मरूप में परिणत होना।

अजीव विचय धर्मध्यान–पुद्गल, धर्म, अधर्म आदि अचेतन द्रव्यों के अनन्त पर्यायात्मक स्वभाव का चिन्तन करना।

अजीव अप्रत्याख्यान क्रिया–अचेतन मदिरा आदि के सेवन का त्याग न करने से होने वाला कर्मबन्ध।

अज्ञान–ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से वस्तु के स्वरूप का ज्ञान न होना अज्ञान है। मिथ्यात्व के उदय के साथ विद्यमान ज्ञान भी अज्ञान है। इसके मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान, विभंग ज्ञान ये तीन प्रकार हैं।

अज्ञान परीषह जय–यह अज्ञ है, पशु है इत्यादि तिरस्कारपूर्ण वचनों को सहकर और परम दुश्चर तपश्चरण करते हुए भी विशिष्ट ज्ञान के उत्पन्न न होने पर उसके लिए संक्लेश न करना।

अणिमा–अत्यन्त सूक्ष्म शरीररूपी विक्रिया करने वाली ऋद्धि।

अणु–पुद्गल का अविभागी अंश।

अणुव्रत–हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह–इन स्थूल पापों का परित्याग।

अतिक्रम–मानसिक शुद्धि का अभाव।

अतिक्रान्त प्रत्याख्यान–पर्युषणा के समय गुरु, तपस्वी, ग्लान श्रमण की वैयावृत्य आदि करने के कारण जिस स्वीकृत तपस्या को न कर सके, तथा बाद में यथावसर उसे करे।

अतिचार–(१) असद् अनुष्ठान विशेष, (२) चारित्र सम्बन्धी स्खलना, (३) व्रत का देशतः भंग होना, (४) व्रत में शिथिलता अथवा कुछ असंयम-सेवन।

अतिथि–संयम की आराधना करते हुए भिक्षा हेतु घर-घर परिभ्रमण करने वाला भिक्षु अथवा जिसके आने का तिथि, पर्व आदि निश्चित न हो।

अतिथि संविभाग–श्रमण के लिए भक्तिपूर्वक आहार, औषध आदि दान करना।

अतिभार–द्विपद, चतुष्पद जितना बोझ ले सके उससे अधिक बोझ उन पर लाद देना।

अतिलोभ–विशेष अर्थ का लाभ होने पर और अधिक लाभ की लालसा करना।

अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष–निश्चय, स्वरूप ज्ञान, अतिशय निर्मल यथार्थ, भ्रांति से रहित, इन्द्रिय व्यापार से निरपेक्ष देश आदि व्यवधान से रहित ज्ञान। समस्त लोक में उत्कृष्ट स्वयं को और बाह्य दोनों को विषय करने वाला ज्ञान।

अतीन्द्रिय सुख–इन्द्रिय और मन की अपेक्षा न रखकर आत्मा की अपेक्षा प्राप्त होने वाला निर्बाध सुख, अथवा आत्मिक सुख।

अतीर्थंकरसिद्ध–सामान्य केवली होकर सिद्ध होने वाले जीव।

अतीर्थसिद्ध–तीर्थ के न होते हुए भी-जो तीर्थांतर में सिद्ध होते हैं, ऐसे जीव, जैसे–मरुदेवी माता।

अतीर्थसिद्ध केवलज्ञान–तीर्थ की स्थापना न होने पर या उसके विच्छिन्न हो जाने पर जो सिद्ध हुए उनका केवलज्ञान।

अत्यन्ताभाव–जिसका त्रिकाल में भी सद्भाव सम्भव नहीं वह अभाव, जैसे–खर-सींग।

अदत्तग्रहण–दूसरों के द्वारा बिना दिये हुए अन्न आदि पदार्थ को स्वयं ग्रहण करना।

अदत्तादान–स्वामी की बिना आज्ञा के, परायी वस्तु ग्रहण करना।

अदर्शन परीषह–चिरकाल तक तपश्चरण करने पर भी ज्ञानातिशय या ऋद्धि विशेष के नहीं प्राप्त होने पर यह 'व्रतों का धारण करना व्यर्थ है' ऐसा विचार न करके सम्यग्दर्शन को शुद्ध बनाये रखना।

अद्धाकाल–चन्द्र, सूर्य आदि की क्रिया से परिलक्षित होकर जो समय आदि रूप, काल, अढाई द्वीप में जो प्रवर्तमान है।

अद्धापल्य–उद्धार पल्य के प्रत्येक रोम खण्ड को सौ वर्षों के समय से गुणित करके उनसे परिपूर्ण गड्ढा। एक काल मापक परिकल्पना।

अद्धापल्योपम काल–अद्धापल्य में से एक-एक समय में एक-एक रोम खण्ड को निकालते समय समस्त रोमखण्डों को निकालने के लिए लगने वाला काल।

अद्धासागरोपम–दस कोटाकोटि अद्धापल्योपम प्रमाण काल का नाम।

अद्वेष–तत्त्व सम्बन्धी अप्रीति को दूर करने का नाम।

अधर्म–जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि न हो अथवा मिथ्यादर्शन से युक्त ज्ञान व चारित्र रूप आत्म-परिणाम।

अधर्मद्रव्य–स्वयं ठहरते हुए जीव और पुद्गल द्रव्यों के ठहरने में सहायक होने वाला द्रव्य।

अधःप्रवृत्तकरण–वे परिणाम जो अधस्तन समवर्ती परिणाम, उपरितन परिवर्ती परिणामों के साथ कदाचित् समानता रखते हैं। इसका अपर नाम यथा-प्रवृत्तकरण भी है। यह परिणाम अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में पाया जाता है।

अधःप्रवृत्तकरण विशुद्धि–प्रथम समय के योग्य अधःप्रवृत्त परिणामों की अपेक्षा द्वितीय समय के योग्य परिणाम अनन्तगुणे विशुद्ध होते हैं। इनकी अपेक्षा तृतीय समय के योग्य परिणाम अनन्तगुणे विशुद्ध होते हैं। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त के समय के परिणाम उन परिणामों में समयोत्तर क्रम से अनन्तगुणी विशुद्धि को अधःप्रवृत्तकरण विशुद्धि कहा जाता है।

अधिकमास–एक समय में एक दिन की वृद्धि होती है। इस प्रकार एक वर्ष में बारह दिन तथा ढाई वर्ष में एक मास की जो वृद्धि होती है, वह अधिकमास कहलाता है।

अधिकरण क्रिया–हिंसा के उपकरणों को ग्रहण करना।

अधिगम–ऐसा ज्ञान जिसके द्वारा पदार्थ जाने जाते हैं।

अधिगमज सम्यग्दर्शन–परोपदेशपूर्वक जीवादि तत्त्वों के निश्चय से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। इसका अपर नाम अधिगम भी है।

अधोदिग्व्रत–अधोदिशा सम्बन्धी कुएँ आदि में गमन करने का परिमाण करना।

अधोलोक–पुरुष-आकार लोक में नीचे का भाग जो वेत्रासन सदृश है।

अध्ययन–जो शुभ अध्यात्म चित्त को उत्पन्न करता है अथवा जो अध्यात्म निर्मल चित्तवृत्ति को लगाता है जिससे तत्त्वबोध, संयम और मोक्ष की प्राप्ति होती है।

अध्यात्म–निर्मोह अवस्था में आत्मा को अधिकृत करके की जाने वाली शुद्ध क्रिया।

अध्यात्म विद्या–आत्मा विषयक ज्ञान के संकल्प-विकल्परहित निर्मल अन्तरंग जिससे हो, ऐसी विद्या।

अध्रुवबन्ध–जिस बन्ध की आगामी काल में व्युच्छित्ति होगी ऐसे भव्य जीवों का ऐसा कर्मप्रकृतियों का अनुबन्ध।

अध्रुवबन्धिनी–बन्ध कारणों का सद्भाव होने पर भी जिन कर्मप्रकृतियों का कदाचित् बन्ध होता है और नहीं भी होता है, ऐसी कर्मप्रकृतियों को अध्रुवबन्धिनी प्रकृति कहा जाता है।

अध्रुवोदया–उदय व्युच्छित्ति हो जाने पर भी द्रव्यादि सामग्री विशेष के निमित्त से जिनका उदय पुनः सम्भव है ऐसी सातावेदनीय आदि कर्मप्रकृतियाँ।

अनक्षरश्रुत–उच्छ्वसित, निःश्वसित, निष्ठ्युत (थूक), काफित (छींक), अव्यक्त शब्द और संकेत।

अनगार–महाव्रती श्रमण, जिनका आगार नहीं होता।

अनंगक्रीड़ा–कामसेवन के अंगों के अतिरिक्त अन्य अंगों से कामक्रीड़ा करना।

अनंगप्रविष्ट–जो आगम साहित्य स्थविरों द्वारा रचित है।

अनंगश्रुत–सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दन, प्रतिक्रमण आदि।

अनन्त–जो राशि एक मात्र केवलज्ञान का विषय हो। जिसका अन्त नहीं हो।

अनंतकाय–जिन अनन्त जीवों का एक साधारण शरीर हो तथा जो अपने मूल शरीर से छिन्न-भिन्न होने पर भी पुनः उग जाते हैं, जैसे–आलू, पलाण्डु, लहसुन आदि।

अनंतवीर्य–वीर्यान्तराय कर्म का क्षय होने पर जो अप्रतिहत सामर्थ्य उत्पन्न होता है।

अनंतानुबन्धी–(१) जिसका उदय होने पर सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता है और यदि उत्पन्न हो गया हो तो नष्ट हो जाता है। (२) अनंत भवों की परम्परा को चालू रखने वाली कषाय अनन्तानुबन्धी कषाय है। (३) यहाँ अनन्त शब्द से मिथ्यात्व को लिया गया है जिसके कारण अनन्त संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है। जिन कषायों का सम्बन्ध मिथ्यात्व से है वे कषाय।

अनंतोपभोग–उपभोगान्तराय कर्म के समूल को नष्ट हो जाने पर जो उपभोग प्रादुर्भूत हो जाता है।

अनपवर्तन–पूर्व में बाँधी हुई कर्मस्थिति का ह्रास न होकर उतनी ही स्थितिरूप कर्म का अनुभव करना।

अनपवर्तनीय–आयु कर्म की जितनी स्थिति बाँधी गई है उतनी स्थिति का वेदन करना; अपने काल की अवधि के पूर्व उसका विघात न होना; दूसरे शब्दों में 'अनपवर्तनीय आयु' वह है जिसका विघात किसी भी प्रकार से न हो सके।

अनभिगृहीत मिथ्यात्व–परोपदेश के बिना ही मिथ्यात्व कर्म के उदय से तत्त्वों का अश्रद्धान।

अनभिप्रेत–अपने लिए अनिष्ट या प्रतिकूल वस्तु।

अनभिहित–अपने सिद्धान्त में अनुपदिष्ट या अकथित तत्त्व।

अनर्थ क्रिया–प्रयोजन रहित क्रिया।

अनर्थदण्ड–जिस क्रिया से लाभ तो कुछ भी नहीं होता पर सदा पाप ही होता है।

अनर्थदण्डविरति–जिन कार्यों को करने से अपना कुछ भी प्रयोजन सिद्ध न हो, केवल पाप का संचय हो, ऐसी क्रियाओं अथवा अनर्थदण्डों का त्याग। इसे अनर्थदण्ड व्रत भी कहते हैं।

अनवस्थाप्यार्ह–जिनका सेवन करने पर साधक कुछ काल तक व्रतों में स्थापना के योग्य नहीं होता; पश्चात् तप का अनुष्ठान करने पर उस दोष के शान्त हो जाने से व्रतों में जो साधक स्थापना के योग्य हो जाता है।

अनशन–किसी प्रकार के फल की अपेक्षा न करके संयम की सिद्धि, रागोच्छेद, कर्म विनाश, ध्यान व स्वाध्याय के लिए भोजन का परित्याग करना।

अनाकांक्ष क्रिया–शठता या आलस्य के वशीभूत होकर आगम निर्दिष्ट आवश्यक क्रियाओं को करने में अनादर भाव रखना।

अनाकांक्षणा–कर्माधीन विनश्वर दुःखोत्पादक और पाप के बीजभूत सांसारिक सुख में अनास्था का श्रद्धान करना; उनमें विश्वास न रखना।

अनाकारोपयोग–दर्शनोपयोग।

अनाचरित दोष–दूर देश से या ग्रामान्तर से लाये हुए आहार को ग्रहण करना।

अनाचार–विषयों में अत्यधिक आसक्ति या आधाकर्म-स्वयं के निमित्त निर्मित भोजन को श्रमण द्वारा करना।

अनादर–भूख, प्यास, श्रम, आलस्य आदि के कारण सामायिक आदि आवश्यक क्रियाओं के करने में उत्साह न रखना, जैसे-तैसे पूरा करना।

अनादिकरण–धर्म-अधर्म और आकाश द्रव्यों के परस्पर व्याघात के बिना सदा एक साथ अवस्थान।

अनादिसांत–अनादिकाल से प्रवृत्त होकर भविष्य में, विच्छेद को प्राप्त होने वाले बंध आदि।

अनादृत–वन्दन आदि क्रिया आदररहित करना।

अनादेश–गति, कषाय आदि औदयिक भावविशेषों में रहने वाले अनुवृत्तिस्वरूप सामान्य का नाम।

अनानुगामिक (अननुगामी) अवधिज्ञान–जो अवधिज्ञान जिस क्षेत्र में अवस्थित जीव को उत्पन्न होता है, उसी क्षेत्र में उसके अवस्थित रहने पर वह संख्यात-असंख्यात योजन के अन्तर्गत अपने नियत विषय को जानता है। स्वामी के अन्यत्र जाने पर वह उसे नहीं जानता। इसका कारण यह है कि उसका आवरक अवधिज्ञान का क्षयोपशम उस क्षेत्र से सम्बन्धित है।

अनाभिग्राहिक मिथ्यात्व–परोपदेश निरपेक्ष स्वभाव से होने वाला पदार्थों का अयथार्थ श्रद्धान।

अनाभोग–आगम का पर्यालोचन न करके अज्ञान को श्रेयस्कर मानना।

अनाभोगक्रिया–बिना देखे और बिना परिमार्जन किये उठना, बैठना आदि शरीर संबंधी क्रिया।

अनाभोगबकुश–सहसा, बिना सोचे-विचारे शरीर और उपकरण आदि को विभूषित करने वाला साधु।

अनाभोगिक मिथ्यात्व–विचारशून्य व्यक्ति के अथवा विशेष ज्ञान से रहित एकेन्द्रिय आदि में जो विपरीत श्रद्धान होता है।

अनार्य–जिनका आचरण श्रेष्ठजनसम्मत नहीं है।

अनालब्ध दोष–उपकरण आदि प्राप्त करने की इच्छा से गुरु की वन्दना आदि करना।

अनास्रव–हिंसादि पापों से रहित तथा कषाय से रहित पंच महाव्रत व समिति से युक्त।

अनाहार–औदारिक आदि तीन शरीरों के योग्य पुद्गलों को ग्रहण न करना।

अनाहारक–विग्रह गति को प्राप्त चारों गति के जीव, समुद्घातगत सयोगी केवली, अयोगी केवली और सिद्ध।

अनिकाचित–जिन कर्म-प्रदेशों का उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण और उदीरणा की जा सके।

अनित्य–विनश्वर वस्तु।

अनित्यनिगोद–जो जीव त्रस पर्याय को प्राप्त कर चुके हैं या आगे प्राप्त करने वाले हैं।

अनित्यानुप्रेक्षा–शरीर, इन्द्रियाँ, भोग-उपभोग, जलबुदबुदों के समान क्षणभंगुर है उसे मोह के कारण नित्य मानना; पर मोह नष्ट होने पर ज्ञान दर्शन ही नित्य है ऐसा चिन्तन करना।

अनिधत्त–जिस कर्म प्रदेशाग्र का अपकर्षण, उत्कर्षण और प्रकृति संक्रमण किया जा सकता है, और जो उदय में आता है।

अनिन्द्रिय–इन्द्रियों के समान दृष्टिगोचर न होकर पर इन्द्रियों के कार्यों में जो सहायक है वह अन्तःकरण रूप मन।

अनिन्द्रिय सुख–अनुपम अमेय अक्षय निर्मल अजर अरुज भयविरहित संसारातीत निर्बाध सुख।

अनिर्हारिम–पर्वत की गुफा आदि में, गिरे हुए पादप वृक्ष के समान निश्चेष्ट होकर मरण प्राप्त करना। बस्ती में मरने से शरीर का निर्हरण होता है, पर वहाँ नहीं।

अनिवृत्तिकरण–जिस विशिष्ट आत्म-परिणाम के द्वारा जीव मिथ्यात्व ग्रंथि का भेदन कर सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। प्रस्तुत परिणाम में सम्यक्त्व को प्राप्त होने तक जीवन निवृत्त नहीं होता।

अनिवृत्तिकरण गुणस्थान–जिस गुणस्थान में विवक्षित एक समय के भीतर वर्तमान सभी जीवों के परिणाम परस्पर में भिन्न न होकर समान हों।

अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान–विष, कंटक आदि अनिष्ट पदार्थों का संयोग होने पर उसे दूर करने के लिए मन में पुनः संकल्प-विकल्प उठते हैं।

अनिन्हवाचार (अनिह्नवाचार)–जिस गुरु से शास्त्र पढ़ा हो उसी के नाम को प्रगट करना या जिस आगम व ग्रंथ को पढ़कर ज्ञानवान हुआ हो उसी ग्रन्थ का नाम बताना।

अनीक–हाथी-घोड़े, रथ, पादचारी, बैल, गंधर्व, नर्तकी–यह सात प्रकार की देवसेना।

अनुकम्पा–तृषित, बुभुक्षित आदि किसी दुःखित प्राणी को देखकर उसके दुःख से स्वयं दुःखी होना, मन में उसके उद्धार की चिन्ता करना।

अनुकृष्टि–अधःप्रवृत्तकरण के प्रथम समय से लेकर अंतिम समय तक प्रत्येक समय में जो असंख्यात लोकमात्र परिणाम स्थान छह वृद्धियों के क्रम से अवस्थित होते हैं, स्थिति, बंधापसरण आदि के कारण होते हैं, परिपाटी क्रम से विरचित उन परिणामों की पुनरुक्तता, अपुनरुक्तता की खोज करना।

अनुगामि अवधि–सूर्य के दिव्य प्रकाश की तरह देशान्तर या भवान्तर में जाते हुए अपने स्वामी अवधिज्ञानी के साथ जाने वाला अवधिज्ञान।

अनुग्रह–जीवों के पारस्परिक उपकार।

अनुज्ञा–दूसरों को सूत्र और अर्थ स्वयं प्रदान करना और प्रदान करते हुए अन्य की अनुमोदना करना।

अनुत्तरोपपातिक–उपपात जन्म। जन्म ही जिनका प्रयोजन है। प्रत्येक तीर्थंकर के समय उत्कृष्ट तप की साधना करके पाँच अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होने वाले महामुनियों के चरित्र का वर्णन वाला अंग।

अनुदय बंधोत्कृष्ट–जिन कर्मप्रकृतियों का विपाकोदय के अभाव में बन्ध से उत्कृष्ट स्थिति सत्व पाया जाता है।

अनुपक्रम–आयु के अपवर्तन के कारणभूत अध्यवसान बाह्य विष, शस्त्र, अग्नि आदि के अभाव का नाम।

अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय–वस्तु की अन्तर्गत शक्ति विशेष से निरपेक्ष होकर सामान्य रूप से निरूपण करने वाला नय।

अनुप्रेक्षा–शरीर आदि के स्वभाव का चिन्तन करना या पठित अर्थ का मन से अभ्यास करना।

अनुप्रेक्षादोष–वस्तु स्वरूप का चिन्तन करते हुए ओठों को हिलाते रहना।

अनुभवावीचिमरण–आयु कर्म सम्बन्धी परमाणुओं में छह प्रकार की वृद्धि व हानि के क्रम से जल-तरंगों के समान अवस्थित उक्त कर्मपुद्गलों के रस (अनुभाग) का प्रतिक्षण प्रलय होना।

अनुभाग–कषायजनित परिणामों के अनुसार कर्मों में जो शुभ या अशुभ रस प्रादुर्भूत होता है, वह अनुभाग है।

अनुभागबंध–जिस प्रकार लड्डू में स्निग्ध व मधुर आदि रस एक गुणे, दुगुणे व तिगुणे आदि रूप से रहता है उसी प्रकार कर्म में भी जो देशघाती व सर्वघाती, शुभ व अशुभ तथा तीव्र व मन्द आदि रस (अनुभाग) होता है, वह अनुभाग बन्ध कहलाता है।

अनुभागसंक्रमण–अनुभाग का अपकर्षण, उत्कर्षण या अन्य प्रकृति रूप परिणमन होना।

अनुभागोदीरणा–वीर्य विशेष से उदय को प्राप्त हुए रस के साथ अनुदय प्राप्त रस का वेदन होना।

अनुमत–कार्य को न स्वयं करना, न कराना किन्तु करते हुए की मन से अनुमोदना या प्रशंसा करना।

अनुमान–साध्य के साथ अविनाभावी सम्बन्ध रखने वाले साधन से साध्य का ज्ञान।

अनुमोदना–आधाकर्मदूषित भोजन करने वाले साधु की प्रशंसा करना; अथवा अन्य किसी अयोग्य आचरण की प्रशंसा करना।

अनुयोग–अर्थ के साथ सूत्र की जो अनुकूल योजना; अथवा सूत्र का अपने अभिधेय जो योग होता है वह।

अनुवीचिभाषण–जिनागम के अनुसार निरवद्य वचन बोलना।

अनुश्रेणी–लोक के मध्य भाग से लेकर ऊपर-नीचे और तिरछे रूप में अवस्थित आकाश-प्रदेशों की पंक्ति।

अनुश्रोतःपदानुसारिणी बुद्धि–किसी अन्य से प्रथम पद के अर्थ और ग्रन्थ को श्रवण कर अन्तिम पद तक अर्थ और ग्रन्थ के विचार में समर्थ अतिशय निपुण बुद्धि।

अनुसारी–गुरु के उपदेश से किसी भी ग्रन्थ के आदि, मध्य और अन्त के एक बीज पद को श्रवण कर उसके उपरिवर्ती ग्रन्थ को जान लेना।

अनेकसिद्ध–एक समय में अनेक जीवों का सिद्ध होना।

अनेकांत–एक वस्तु में मुख्यता और गौणता की अपेक्षा अस्तित्व और नास्तित्व आदि परस्पर विरोधी धर्मों का प्रतिपादन।

अनेकांत हेत्वाभास–जो हेतु साध्य से विपरीत के साथ भी रहता हो अथवा जिस हेतु की अन्यथानुपपत्ति संदिग्ध हो। दूसरे शब्दों में पक्ष और सपक्ष के समान विपक्ष में रहने वाला हेतु।

अन्तकृद्दशांग–जिस अंग में प्रत्येक तीर्थंकर के तीर्थ में होने वाले अनन्त केवलियों का वर्णन हो, ग्यारह अंग में आठवाँ अंग।

अन्तरकरण–विवक्षित कर्मों की अधस्तन और ऊपरी स्थितियों को छोड़कर मध्यवर्ती अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थितियों के निषेकों का परिणाम विशेष से अभाव करना।

अन्तरंग क्रिया–स्व-समय और पर-समय के जानने रूप ज्ञान क्रिया।

अन्तरात्मा–(१) जो आठ मदों से रहित होकर देह और जीव के भेद को जानते हैं। (२) आठ कर्मों के भीतर रहने से जीव को अन्तरात्मा कहा जाता है। (३) सकर्म अवस्था में भी ज्ञानादि उपयोग स्वरूप शुद्ध चैतन्यमय आत्मा में जिन्हें आत्म-बुद्धि प्रादुर्भूत हुई हो ऐसे जीव सम्यग्दृष्टि (चौथे) गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय (बारहवें) गुणस्थान तक होते हैं।

अन्तराय–किसी के ज्ञान, दान आदि में बाधा पहुँचाना।

अन्तरिक्ष महानिमित्त–आकाशगत सूर्य, चन्द्र व तारा प्रभृति के उदय-अस्त अवस्थाविशेष को देखकर भूत-भविष्यत् काल सम्बन्धी फल को जानने की विद्या।

अन्तर्गति–एक गति को त्यागकर दूसरी गति में जन्म लेने के पूर्व जीव की जो मध्यवर्ती गति होती है, वह जैसे मानव मरकर जब तक तिर्यंच रूप अपने उत्पत्ति स्थान को नहीं प्राप्त कर लेता तब तक की उसकी गति अन्तर्गति कहलाती है।

अन्तर्धान–अदृश्य होना।

अन्तर्मल–अन्तरंग का मल। जैसे स्वर्ण का अन्तर्मल कालिमा है वैसे आत्मा का अन्तर्मल कर्म है। कषायादि भी अन्तर्मल है।

अन्तर्मुहूर्त–एक समय अधिक आवली से लगाकर एक समय कम मुहूर्त (४८ मिनट) का काल।

अन्तःकरण–मन।

अन्तःशल्य–अन्तःकरण में अपराध काँटे की तरह चुभ रहा हो, पर अस्मिता के कारण आलोचना नहीं करना। दुष्प्रवृत्ति को छुपाने पर होने वाली आंतरिक चुभन।

अन्त्यसूक्ष्म–परमाणुगत सूक्ष्मता।

अन्त्यस्थूल–जगत्व्यापी महास्कंधगत स्थूलता।

अन्यत्वग भावना–पुत्र, मित्र, कलत्र आदि सर्वथा भिन्न हैं, वस्तुतः किसी के साथ सम्बन्ध नहीं है, इस प्रकार का चिन्तन।

अन्य लिंग–जैन लिंग से भिन्न, परिव्राजक आदि लिंग।

अन्य विवाहकरण–अपने पुत्र-पुत्री के अतिरिक्त अन्य स्वजन-परिजनों के पुत्र-पुत्री का विवाह कराना।

अपध्यान–राग-द्वेष के वशीभूत होकर दूसरों के वध, बन्धन, छेदन और परस्त्रीहरण का विचार करना।

अपकर्षण–कर्म-प्रदेशों की स्थिति को कम करना।

अपरविदेह–मेरु पर्वत के पश्चिम की ओर के विदेह क्षेत्र का आधा भाग।

अपरिग्रहीता–पतिविहीन स्त्री, गणिका आदि जो पुंश्चली के रूप में पर-पुरुषों के पास आती हो।

अपरिग्रह–मोह के उदय से होने वाली पर में ममत्व बुद्धि से निवृत्त होना।

अपरीतसंसार–जिसने सम्यक्त्व के संसार को परिमित न कर दिया है।

अपर्याप्त–जो पृथ्वीकायिक आदि जीव अपर्याप्त नामकरण के उदय से रहित होते हैं अर्थात् जिन जीवों का शरीर पूर्ण नहीं हुआ है।

अपर्याप्त नाम–जिस कर्म के उदय से जीव अपनी यथायोग्य पर्याप्तियों को पूरा न कर सके।

अपलाप–किसी से ज्ञान प्राप्त करके उसका नाम न बताकर अन्य का नाम बताना।

अपवर्ग–जहाँ जन्म, जरा, मरण आदि दोषों का पूर्ण रूप से विनाश हो जाता है, ऐसी स्थिति, अर्थात् मुक्ति।

अपवर्तना संक्रमण–आत्मा के विशिष्ट परिणामों के प्रभाव से किसी कर्म-प्रकृति की स्थिति को कम करना अथवा इस प्रकृति को अन्य प्रकृति में बदल देना।

अपवाद–सामान्य विधि का निर्देश कर देने के पश्चात् आवश्यकता के अनुसार जो उसमें यथायोग्य विशेषता का विधान किया जाता है, वह।

अपूर्वकरण–(१) मोह कर्म के उपशम या क्षपणा को प्रारम्भ करते हुए अन्तर्मुहूर्त तक प्रति समय होने वाले अपूर्व अध्यवसाय। (२) अपूर्व गुणस्थान में विवक्षित समयवर्ती जीवों को छोड़कर अन्य समयवर्ती जीवों के न पाये जाने वाले भाव। (३) आत्मा के ऐसे परिणाम जिनके द्वारा जीव राग-द्वेष की दुर्भेद्य ग्रन्थि को तोड़ देता है।

अपूर्वकरण गुणस्थान–आठवाँ गुणस्थान। इस गुणस्थान में स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणी और स्थितिबन्ध आदि के निवर्तक अपूर्व कार्य होते हैं।

अप्काय–अप् यानी जल ही जिनका शरीर हो, जैसे–ओस, बर्फ, शुद्ध जल आदि।

अप्रतिबद्ध–ग्राम, नगर, अरण्य में रहने वाले मुनि या गृहस्थ के द्वारा किये जाने वाले आदर सत्कार से जो सर्वत्र अनासक्त रहता है।

अप्रतिबुद्ध–बहिरात्मा, आत्मा-अनात्मा के ज्ञान से रहित जीव।

अप्रत्याख्यान–अल्प प्रत्याख्यान।

अप्रत्याख्यान क्रिया–संयम का घात करने वाले कर्म के उदय से विरक्त न होना।

अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादि कषाय–जिनके उदय से लेशमात्र भी संयमासंयम न धारण किये जा सकें।

अप्रमत्तसंयत–सर्व प्रकार के प्रमादों से रहित और व्रत, गुण, शील से मण्डित श्रमण।

अप्रमत्तसंयत गुणस्थान–सातवाँ गुणस्थान। इसमें श्रमण सभी प्रकार के प्रमादों से दूर रहता है। किसी भी प्रकार के प्रमाद का सेवन नहीं करता।

अप्रशस्त ध्यान–पापास्रव के कारणभूत आर्त-रौद्र ध्यान।

अप्रशस्त भावना–मिथ्यात्व आदि से युक्त विचार।

अबहुश्रुत–जिसने आचार कल्प का अध्ययन नहीं किया या पढ़कर विस्मृत हो गया है।

अबाधाकाल–बँधने के पश्चात् भी कर्म जितने समय तक बाधा नहीं पहुँचाता अर्थात् उदय में नहीं आता।

अब्रह्म–स्त्री-पुरुषों की रागपूर्ण चेष्टा।

अब्रह्मवर्जन–जिस व्रत में परस्त्री का स्मरण न स्वयं करना, न दूसरों से करवाना। इसी प्रकार का विधान स्त्री के लिए पुरुष के सम्बन्ध में है।

अभयदान–सूक्ष्म और बादर जीवों की अपनी शक्तिप्रमाण रक्षा करना और उन्हें कष्ट नहीं देना।

अभव्य–ऐसे जीव जिन्हें कभी भी सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती।

अभिगृहीत–दूसरों के उपदेश से ग्रहण किया गया मिथ्यात्व।

अभिनिबोध–अर्थाभिमुख होकर नियत विषय का ज्ञान।

अभिन्न दशपूर्वी–रोहिणी आदि महाविद्याओं के ५०० और अंगुष्ठ प्रसेनादि (प्रश्नादि) क्षुद्र विद्याओं के ७०० देवता आकर विद्यानुवाद नामक दसवें पूर्व के पढ़ते समय आज्ञा देने के लिए अभ्यर्थना करते हैं तथापि उन्हें स्वीकार नहीं करते, ऐसे श्रमण अभिन्न दशपूर्वी कहलाते हैं।

अभिमान–मान कषाय के उदय से अन्तःकरण में उदय होने वाला अहंकार का भाव।

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग–जीवादि पदार्थों के स्वकीय स्वरूप को जानने रूप सम्यग्ज्ञान में सतत उपयोगवान रहना।

अमनस्क–मन से रहित जीव।

अमूढ़दृष्टि–(१) दुःखों के कारणभूत कुमार्ग-मिथ्यादर्शनादि तथा उसमें स्थित मिथ्यादृष्टि जीवों की भी मन-वचन-काय से प्रशंसा न करना। (२) जो सन्मार्ग के समान प्रतीत होने वाले मिथ्यामार्गों में परीक्षारूप नेत्र के द्वारा युक्ति के अभाव को देखकर, उन्हें युक्तिहीन जानकर–उसमें मुग्ध नहीं होना।

अमूर्त–(१) जीव जिन विषयों को इन्द्रियों के माध्यम से ग्रहण कर सकता है वह मूर्त है, उनसे भिन्न सभी अमूर्त हैं। (२) अष्ट कर्म से रहित होने से रूपादिमय शरीर से भी वह मुक्त हो जाता है, अतः वह अमूर्त कहलाता है।

अमृतस्रावी–जिनके हाथ का संस्पर्श पाते ही नीरस आहार अमृत के सदृश सरस बन जाता है और जिनके मधुर वचन अमृत के सदृश सभी प्राणियों पर अनुग्रह करने वाले होते हैं, ऐसे श्रमण।

अयोग–जो शुक्लध्यानरूपी अग्नि से घातिया कर्मों को नष्ट करके योगों से रहित होता है उसे अयोग केवली भी कहते हैं।

अयोगी केवली–जो योगों का निरुन्धन कर चुके हैं ऐसे चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीव।

अरति–पुत्र-पौत्रादि में प्रीति का अभाव होना अथवा जिसके उदय से देशादि के विषय में अनुत्सुकता रहती है।

अरतिरति–अरतिमोहनीय कर्म के उदय से होने वाली चित्तोद्वेगरूप रति के फलस्वरूप जो विषयों के प्रति मन में अनुराग होता है।

अरूपध्यान–रूपरहित विशुद्ध सिद्ध स्वरूप की उपलब्धि के लिए रूपादि से रहित सिद्ध के स्वरूप का जो संवेदनात्मक ध्यान किया जाता है वह अरूप धर्मध्यान है। यह रूपातीत ध्यान भी कहलाता है।

अरूपी–जिन द्रव्यों में रूप, रस, गंध, वर्ण का अभाव हो। धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जीव–ये पाँचों द्रव्य शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श से रहित होते हैं, अतः अरूपी हैं।

अर्थविनय–विशिष्ट व्यक्तियों के संकेत के अनुसार कार्य करना, उठकर उनका स्वागत करना, आसन देना इस प्रकार अर्थ प्राप्ति के लिए विनय करना।

अर्धमागधी भाषा–जो भाषा आधे मगध देश में बोली जाती थी अथवा जिसमें अठारह देशी भाषाएँ गर्भित थीं; वह अर्धमागधी है।

अलोक–लोक से बाहर जितना भी अनन्त आकाश है वह।

अल्पबहुत्व–परस्पर एक-दूसरे की अपेक्षा से हीनाधिकता का बोध।

वक्तव्य उदीरणा–अनन्त अतीत समय में उदीरणा से रहित होकर वर्तमान समय में उदीरणा करने वाले की उदीरणा अवक्तव्य उदीरणा है।

अवगाढ़ रुचि–आचारादि द्वादशांग के अध्ययन से जो दृढ़ श्रद्धान होता है वह अवगाढ़ रुचि या अवगाढ़ सम्यक्त्व कहलाता है।

अवधिमरण–अवधि का अर्थ मर्यादा है उस अवधि से होने वाला मरण अवधिमरण है, जैसे–नरक व देव आदि का मरण।

अवमौदर्य–पुरुष का जो बत्तीस ग्रास प्रमाण स्वाभाविक आहार है उसमें क्रमशः ग्रास को कम करना और अन्त में केवल एक ग्रास ही आहार करना।

अवर्णवाद–गुणी महापुरुषों में जो दोष नहीं हैं फिर भी अपने अंतरंग की कलुषता से उन पर दोषारोपणा करना।

अवसन्न–जिनवचन से अनभिज्ञ होकर जो श्रमण ज्ञान और आचरण से भ्रष्ट होता हुआ इन्द्रियों के अधीन होता है वह अवसन्न श्रमण है अर्थात् समाचारी के विषय में प्रमादयुक्त रहने वाला श्रमण अवसन्न है।

अवसर्पिणी–जिस काल में जीवों के अनुभव, आयु प्रमाण, बल और शरीरादि क्रम से घटते जाते हैं वह।

अवग्रह–मतिज्ञान का एक भेद। नाम, जाति आदि की विशेष कल्पना से रहित सामान्य सत्ता मात्र का ज्ञान।

अविग्रहगति–विग्रह का अर्थ रुकावट या कुटिलता है। जीव की जो गति वक्रता, कुटिलता या मोड़ से रहित होती है वह अविग्रहगति है। दूसरे शब्दों में एक समय वाली ऋजुगति या इषुगति का नाम अविग्रहगति है।

अविपाक निर्जरा–जिस कर्म का उदयकाल अभी प्राप्त नहीं हुआ है उसे तपश्चरण आदि रूप औपक्रमिक क्रियाविशेष के सामर्थ्य से बलपूर्वक उदयावली में प्रवेश कराके उसके विपाक को वेदन करना। जिस प्रकार आम्रादि फल पाल आदि में रखकर समय से पहले ही पका लिये जाते हैं, उसी प्रकार की यह निर्जरा है।

अविरत सम्यग्दृष्टि–ऐसा सम्यक्त्वी जीव, जो इन्द्रिय-विषयों से विरत नहीं है, त्रस और स्थावर जीवों का रक्षण भी नहीं करता किन्तु जिनवाणी पर पूर्ण निष्ठा रखता है। अर्थात् हिंसादि पापों से विरत होने का नाम 'विरति' है। ऐसी विरति का अभाव अविरति है।

अव्यक्त दोष–मेरा अपराध इसके अपराध के सदृश ही है, इसे जो प्रायश्चित्त दिया गया है वही मेरे लिये भी है। ऐसा विचार करके अपने अपराध को प्रकट न करना। यह आलोचना का अव्यक्त नामक दोष है।

अव्यक्त मिथ्यात्व–मोह रूप मिथ्यात्व।

अव्याघात–अन्य किसी भी कारण द्वारा जिसकी बाधा सम्भव न हो।

अव्याबाध–जिनके काम-विकार जनित बाधा नहीं होती।

अव्याबाध सुख–कर्म-मल से रहित अनुपम-अपरिमित-अविनश्वर आत्मिक-सुख।

अशरणानुप्रेक्षा–मणि, मन्त्र, औषध, रक्षक, घोड़ा, हाथी, रथ, विद्या आदि कोई भी मरण के समय प्राणी का रक्षण नहीं कर सकते। मरण से रक्षा करने में

यदि कोई समर्थ है तो अपनी आत्मा ही है। उस पर पुनः-पुनः चिन्तन करना।

अशुचित्व अनुप्रेक्षा–यह शरीर रक्त माँस और अशुचि का पिण्ड है, स्नान और सुगन्धित उवटन आदि से शुद्ध नहीं हो सकता, इस प्रकार का चिन्तन करना।

अशुभ काययोग–हिंसा, चोरी, मैथुन-सेवन आदि काय सम्बन्धित अशुभ क्रियाएँ।

अशुभ मनोयोग–दूसरे के वध और बन्धनादि का विचार या चिन्तन।

अशुभ योग–कुत्सित परिणामों से प्रादुर्भूत मन, वचन व काया की क्रिया।

अशुभ वचनयोग–असत्य, कठोर व असभ्य भाषा बोलना।

असतीपोषण–हिंसक प्राणी, बिल्ली, कुत्ता, मयूर आदि को पालना और उससे अर्थ प्राप्त करना। इसी तरह दासी आदि से दुष्कृत्य करवाकर अर्थ-प्राप्त करना अथवा असामाजिक तत्त्वों को संरक्षण देना।

असंख्येय–जो राशि संख्या से रहित, गणनातीत हो, वह असंख्येय या असंख्यात है।

असंज्ञी–जो जीव मन के न होने से शिक्षा, उपदेश और आलाप आदि ग्रहण न कर सके।

असंयत–चारित्रमोहनीय कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय से प्राणी-हिंसा और इन्द्रिय-विषयों में क्रम से द्वेष और अभिलाषा की निवृत्ति रूप परिणाम का न होना।

असंयत सम्यग्दृष्टि–सम्यग्दर्शन से युक्त होकर भी जो चारित्रमोहनीय के उदय से संयम-भाव से विहीन है।

असंयम–षट्काय-जीवों का घात करना तथा इन्द्रिय और मन को नियन्त्रित न रखना।

असंविग्न–पार्श्वस्थ और शिथिलाचारी-श्रमण।

असात–रोग आदि के होने से जो पीड़ा होती है। जिस कर्म का वेदन-अनुभव परिताप के साथ किया जाता है।

असातावेदनीय–असाता का अर्थ दुःख है, उस दुःख का वेदन जिस कर्म के उदय से होता है, वह असातावेदनीय कर्म कहलाता है।

अस्तिकाय–जिनका गुणों और अनेक प्रकार की पर्यायों के साथ अस्ति स्वभाव है–अभेद या तद्रूपता है अथवा जिन द्रव्यों के प्रदेश अथवा परमाणु रत्न

राशि के समान अलग-अलग न हों, वरन् अभेद हों, वे अस्तिकाय कहलाते हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश–ये पाँचों द्रव्य अस्तिकाय हैं।

अस्तेय महाव्रत–खेत, मार्ग और कल (कीचड़) आदि में गिरी हुई, नष्ट और विस्मृत दूसरों की किसी भी वस्तु को बिना आज्ञा के ग्रहण न करना।

अहंकार–जो कर्म-जनित भाव वस्तुतः आत्मा से पृथक् है, उनमें अपनेपन का दुराग्रह होना।

अहिंसा–रागादि भावों की अनुद्भूति या अनुत्पत्ति।

अहिंसाणुव्रत–मन, वचन व काया से तथा कृत-कारित और अनुमोदना से त्रसजीवों की सांकल्पिक-हिंसा का परित्याग करना।

अहिंसा महाव्रत–सभी प्रकार के प्राणातिपातों से निवृत्त होना।

आकाशगामित्व–जिस ऋद्धि के प्रभाव से पर्यङ्कासन में बैठे हुए अथवा कायोत्सर्ग से स्थित श्रमण पैरों को बिना उठाये आकाश गमन में कुशल हो।

आकाशचारण–भूमि से चार अंगुल ऊपर आकाश में चलने की शक्ति वाले श्रमण। आकाशचारण श्रमण पादक्षेप करते हुए भी प्राणियों को बिना पीड़ा पहुँचाये आकाश में गमन करते हैं।

आकाशातिपाती–जो आकाशगामी विद्या के प्रभाव से या पाद-लेपादि के प्रभाव से आकाश में गमनागमन कर सकते हैं अथवा आकाश से स्वर्ण चाँदी की वर्षा कर सकते हैं अथवा अमूर्त आकाशादि की सिद्धि में जो समर्थ होते हैं।

आकिंचन्य–जो श्रमण बाह्य और आभ्यन्तर समस्त परिग्रह से रहित होकर राग-द्वेष का निग्रह करता है और सर्व संक्लेश से रहित होकर निराकुल भाव में रहता है, वह अकिंचन है। उसका यह धर्म आकिंचन्य कहलाता है।

आकुट्टी–प्राणी के छेदन-भेदनादि रूप व्यापार का नाम आकुट्ट है और ऐसा व्यापार करने वाला आकुट्टी है।

आक्रोशपरीषह–क्रोध बढ़ाने वाले, अत्यन्त अपमान करने वाले कर्कश और निंद्यवचनों को सुनकर तथा प्रतीकार करने का सामर्थ्य होने पर भी उस ओर ध्यान नहीं देना और पापकर्म का फल जानकर उसे समभाव से सहन करना।

आगम–पूर्वापरविरोधादि दोषों से रहित शुद्ध आप्त के वचन।

आचार्य–जिनसे भव्य जीव व्रतों का आचरण किया करते हैं अथवा संघ-व्यवस्था के नियामक। आचार्य २६ गुणधारी होते हैं।

आचार्यपदायोग्य–जो पाँच प्रकार के आचार से रहित हो, क्रूर हो, कठोर भाषण करने वाला हो, कुरूप हो, विकृत अंग हो, अनार्य देश में उत्पन्न हुआ हो जाति-कुल से हीन हो, अभिमानी हो, विद्याविहीन हो विशेषज्ञ न हो, आत्म-प्रशंसक हो, ईर्ष्यालु हो, बाह्य शरीरादि में दृष्टि रखने वाला हो, कातर हो, गुणहीन हो, कलाओं से शून्य हो, दुष्ट हो, ऐसा श्रमण आचार्य के पद के अयोग्य है।

आचेलक्य–जीर्ण अल्पमूल्य वाले, खण्डित वस्त्रों को धारण करना।

आज्ञाविचय–जीव आदि पाँच अस्तिकाय, पृथ्वी आदि छह जीवनिकाय और काल द्रव्य ये जो जिनाज्ञा के अनुसार ग्रहण करने योग्य पदार्थ हैं, उनका उसी प्रकार से विचार करना यह आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

आज्ञाव्यवहार–देशान्तर स्थित गुरु को अपने दोषों की आलोचना कर लेने के लिए किसी अगीतार्थ के द्वारा आगम भाषा में पत्र लिखकर भेजने और गुरु के द्वारा भी उसी प्रकार गूढ़ पदों में ही प्रायश्चित्त लिखकर भेजने को आज्ञाव्यवहार प्रायश्चित्त कहते हैं।

आत्मज्ञप्ति–'मैं हूँ' इस प्रकार की प्रतीति का उत्पन्न होना।

आत्म-तत्त्व–मन की विक्षेपरहित अवस्था का नाम आत्म-तत्त्व है। आत्मा का स्वरूप है।

आत्म-भ्रान्ति–शरीर को आत्मा मानकर रागादि से परिणत हुआ मन जो आत्म-स्वरूप में अस्थिरता को प्राप्त होता है वह।

आत्मा–ज्ञान-दर्शन स्वरूप जीव ही आत्मा है।

आत्यन्तिक मरण–जीव नारक आदि आयुस्वरूप जिन कर्म-प्रदेशों का अनुभव करके मरता है–उन्हें छोड़ता है, अथवा मर चुका है–वह भविष्य में उनका अनुभव करके मरने वाला नहीं है–उन्हें पुनः छोड़ने वाला नहीं है, अतः इस प्रकार का द्रव्याश्रित मरण।

आदाननिक्षेपण समिति–ज्ञान, संयम के साधनभूत पुस्तक व अन्य वस्त्र आदि धर्मोपकरणों को सावधानीपूर्वक अच्छी तरह से देखकर उठाना और रखना।

आधाकर्मिक (दोष)–श्रमणों के लिए बनाया हुआ आहार।

आन्तरतप–प्रायश्चित्त आदि छह प्रकार के तप जिनको लौकिक जन देख नहीं सकते, विधर्मी भाव से उनका आराधन नहीं कर सकते और जो मुक्ति का अन्तरंग कारण है, उसे आन्तर और आभ्यन्तर तप कहते हैं।

आभिनिबोधिक–अभिमुख और नियमित पदार्थ को इन्द्रिय और मन के द्वारा जानना। यह मतिज्ञान का अवान्तर भेद है।

आम्नायार्थवाचक–आम्नाय के अनुसार आगम के उत्सर्ग और अपवाद रूप अर्थ का प्रतिपादन करने वाला आचार्य।

आयुकर्म–इस कर्म के उदय से जीव मनुष्य, देव आदि के रूप में जीवित रहता है और इसके क्षय होते ही वह दूसरी पर्याय में चला जाता है, लौकिक भाषा में वह मर जाता है।

आयोजिकाकरण–केवली समुद्घात के पूर्व जो अतिशय शुभ योगों का आयोजन (व्यापार) किया जाता है, वह आयोजिकाकरण है। इसे 'आवर्जितकरण' और 'आवर्जीकरण' भी कहते हैं।

आरंभविरत–पूर्व प्रतिमाओं के साथ आठ मास तक स्वयं आरम्भ न करने वाला श्रावक आरंभविरत कहलाता है।

आरंभ-समारंभ–आरंभ का अर्थ प्राणियों को पीड़ा पहुँचाने वाली प्रवृत्ति है और समारंभ का अर्थ है, प्राणी विघातक साधनों को जुटाना। कृषि, उद्योग आदि व्यापार से जो प्राणी विघात होता है वह आरंभ-समारंभ है।

आराधक–जो पाँचों इन्द्रियों को गुप्त रखता है, मन आदि तीनों योगों की प्रवृत्ति में सावधान है तथा तप, संयम और नियम में संलग्न है, ऐसा जीव।

आर्जव धर्म–कुटिलता का परित्याग कर निर्मल अन्तःकरण से प्रवृत्ति करना।

आर्त्तध्यान–अनिष्ट का संयोग होने पर उसे दूर करने के लिये, इष्ट का वियोग होने पर उसकी प्राप्ति के लिये, पीड़ा होने पर उसके परिहार के लिये, निदान–आगामी काल में सुख की प्राप्ति के लिये पुनः-पुनः चिन्तन करना।

आर्य–जो गुणों से युक्त हो और गुणीजन जिसकी सेवा करते हों।

आर्यिका–पाँच महाव्रतों को धारण करने वाली महिला-साध्वी।

आलम्बन–ध्यान के आधारभूत वाह्य पदार्थ।

आलोचन–गुरु के सन्मुख दश दोषों से रहित, अपने प्रमादजनित दोषों का निवेदन करना। इसे आलोचना भी कहते हैं।

आलोचनार्ह–जिन अपराधों की शुद्धि केवल आलोचना से ही की जाती है। आलोचना मर्यादापूर्वक बालक के समान सरल-माया और मद से रहित होकर करनी चाहिए।

आलोचनाशुद्धि–क्रोधादि कषाय, इन्द्रिय-विषय, तीनों प्रकार के गारव और राग-द्वेष को दूर कर आलोचना करना।

आवलि–असंख्यात समय समूह की एक आवली होती है।

आवश्यक–श्रमण और श्रावक दिन-रात के भीतर जिस धार्मिक क्रिया को अवश्य करणीय समझकर करते हैं।

आवीचिमरण–वीचि का अर्थ तरंग है। तरंग के सदृश जो निरंतरता से आयुकर्म के निषेकों का प्रतिक्षण क्रम से उदय होता है, उसका अनुभव 'आवीचिमरण' है।

आशीविष–ऐसी ऋद्धि जिसके प्रभाव से 'मर जाय' ऐसा कहने पर प्राणी सहसा मरण को प्राप्त होता है।

आश्रवभावना–समस्त संसारी जीवों के मिथ्यात्व, कषाय, अविरति, प्रमाद और आर्त-रौद्र आदि ध्यानों से निरन्तर कर्मों का आगमन होता रहता है, इस प्रकार का चिन्तन।

आहार–औदारिक आदि तीन शरीर और छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों का ग्रहण करना।

आहारक शरीर–सूक्ष्म पदार्थों के विषय में शंका-समाधान अथवा जिज्ञासा शान्ति के लिये अथवा असंयम के परिहार की इच्छा से प्रमत्तसंयत के द्वारा जो शरीर की रचना की जाती है, वह।

आहारक समुद्घात–अल्पपाप और सूक्ष्म तत्त्वों के अवधान रूप प्रयोजन को सिद्ध करने वाले आहारक-शरीर की रचना के लिये जो समुद्घात–आत्मप्रदेश बहिर्गमन होता है, वह।

आहारपर्याप्ति–आहार-वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण करके उन्हें खल और रस भाग में परिणमन कराने की शक्ति।

आहारसंज्ञा–आहार को देखने से, पेट के खाली होने से, असातावेदनीय की उदीरणा होने से आहार की अभिलाषा होना।

इंगिणीमरण–दूसरे के द्वारा की जाने वाली सेवा को स्वीकार न कर स्वयं ही शरीर की सेवा करते हुए जो मरण होता हो, वह।

इच्छाकार–बल प्रयोग के बिना इच्छा से मेरा यह कार्य कर दो।

इत्वर-अनशन–परिमित काल तक जो आहार का त्याग किया जाता है, वह।

इत्वर-परिगृहीतागमन–द्रव्य देकर कुछ काल के लिए अपने अधीन करके व्यभिचारिणी (वेश्या) स्त्री के साथ विषय सेवन करना।

इन्द्रिय–परम ऐश्वर्य को प्राप्त करने वाले आत्मा को इन्द्र और उस इन्द्र के लिंग या चिन्ह को इन्द्रिय कहते हैं अथवा जो जीव को अर्थ की उपलब्धि में निमित्त होता है, वह इन्द्रिय है।

इन्द्रियजय–चक्षु-श्रोत्र आदि इन्द्रिय-विषयों को ज्ञान से वश में करना, जीतना।

इन्द्रिय-संयम–पाँचों इन्द्रियों के विषयों में राग-द्वेष का अभाव।

इभ्य–जिसके पास संचित सुवर्ण-रत्नादि की राशि के अम्बार में हाथी भी दिखाई न दे, वैसा धनवान पुरुष।

ईर्यासमिति–प्रासुक–जीवजन्तु-रहित मार्ग पर चार हाथ (युगमात्र) भूमि को देखते हुए यतनापूर्वक गमन करना।

ईर्ष्या–दूसरों के उत्कर्ष को सहन न करना।

उच्च गोत्र–जिसके उदय से लोकपूजित कुल में जन्म हो।

उच्चारप्रस्रवणसमिति–जो भूमि प्रासुक हो, अंकुरोत्पादन और द्वीन्द्रियादि जीवों से रहित हो वहाँ पर मल-मूत्रादि का विसर्जन करना।

उत्कालिक (श्रुत)–जिस अंगबाह्य श्रुत के स्वाध्याय का काल नियत नहीं है।

उत्सर्ग–बाल, वृद्ध श्रान्त और रुग्ण साधु मूलभूत संयम का विनाश न हो इस दृष्टि से जो शुद्ध आत्मतत्त्व के साधनभूत अपने योग्य अति कठोर संयम का आचरण करता है वह संयम-परिपालन उत्सर्ग-मार्ग है।

उत्सर्पिणी–जिस काल में जीवों की आयु, शरीर की ऊँचाई, बल-विभूति आदि में उत्तरोत्तर वृद्धि हो। कालचक्र का आधा भाग।

उत्सूत्र–तीर्थंकर और गणधरों के उपदेश के विपरीत तत्त्व का स्वमति से कथन करना।

उदीरणा–अधिक स्थिति और अनुभाग को लिये हुए जो कर्म स्थित हैं, उनकी उस स्थिति व अनुभाग को हीन करके फल देने को उन्मुख करना।

उपकरणवकुश–ऐसा श्रमण जो उपकरणों में मुग्ध होता हुआ, अनेक प्रकार के विचित्र परिग्रह से युक्त होता है और विशेष उपकरणों का अभिलाषी होकर उनके संस्कार की अपेक्षा करता है।

उपगूहन–बाल एवं अशक्त जनों के द्वारा विशुद्ध मोक्ष-मार्ग की होने वाली निन्दा को दूर करना।

उपचार विनय–आचार्य आदि के सामने आने पर खड़ा होना, उनके सामने जाना, उन्हें प्रणाम आदि करना।

उपबृंहण–उत्तम क्षमा आदि की भावना से अपने धर्म को बढ़ाना अथवा साधर्मी बन्धुओं के समीचीन गुणों की प्रशंसा करना, उन्हें बढ़ाना।

उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रत–अन्न पान आदि उपभोग, वस्त्र अलंकार आदि परिभोग–इन दोनों का परिमाण करना।

उपवास–अशन, पेय, खाद्य और स्वाद्य–चार प्रकार के आहार का परित्याग करना।

उपशम–आत्मा में कारणवश कर्म के फल देने की शक्ति को प्रगट न होने देना।

उपशम श्रेणी–जहाँ (अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसंपराय और उपशान्तमोह गुणस्थान) जीव मोहनीय-चारित्रमोहनीय को उपशान्त करता हुआ आरोहण करता है।

उपशमसम्यक्त्व–दर्शनमोहनीय के उपशमन से उत्पन्न होने वाला सम्यक्त्व। दूसरे शब्दों में औपशमिक लब्धि से अनन्तानुबन्धी चार और दर्शनमोहनीय तीन–इन सात प्रकृतियों का उपशमन हो।

उपशान्त कषाय–सम्पूर्ण मोहकर्म का उपशमन करने वाला–ग्यारहवाँ गुणस्थानवर्ती जीव।

उपाध्याय–जो रत्नत्रय से सम्पन्न होकर जिन-प्ररूपित पदार्थों का निष्पक्ष वृत्ति से उपदेश करते हैं। वे २५ गुणधारी होते हैं।

उपासकदशांग–जिस अंग में उपासकों के नगर आदि तथा शीलव्रत, गुणव्रत, प्रत्याख्यान, पौषध आदि के ग्रहण की विधि एवं विवेचन हो; प्रतिमा, उपसर्ग, संलेखना, भक्त-प्रत्याख्यान, देवलोक गमन आदि की चर्चा हो।

उपांशुजप–जिसकी ध्वनि दूसरे को सुनाई न दे, ऐसे अन्तर्जप रूप मन्त्रोच्चारण करना।

उपेक्षासंयम–असंयम योग्य कार्यों में प्रवृत्त होना और संयम योग्य कार्यों में प्रवृत्त न होना उपेक्षा संयम है अथवा देश काल का ज्ञाता त्रिगुप्ति गुप्त श्रमण के राग-द्वेष का अभाव उपेक्षा संयम है।

ऋजुता–मायाचार से रहित मन, वचन, काया की सरल प्रवृत्ति।

एकत्वभावना–जीव अकेला ही उत्पन्न होता है और अकेला ही कर्मों का उपार्जन करता है और अकेला ही उन्हें भोगता है- पुनः-पुनः ऐसा चिन्तन करना।

एकत्ववितर्कअविचार–मोह को समूलोच्छेदन करने की भावना से अनन्तगुणी विशुद्धि सहित योग विशेष के द्वारा ज्ञानावरण की सहायक बहुत-सी प्रकृतियों के बन्ध का निरोध, उनकी स्थिति के ह्रास व क्षय को करने वाला श्रुत ज्ञानोपयोग से सहित तथा अर्थ व्यंजन और योग की संक्रांति रहित जो एक द्रव्य, गुण और पर्याय का चिन्तन करता है, ऐसे क्षीणकषायवर्ती गुणस्थान वाले श्रमण के जो निश्चल शुक्लध्यान होता है वह एकत्व वितर्क अविचार ध्यान है।

एकेन्द्रिय–वह जीव, जो एक स्पर्श इन्द्रिय के द्वारा सुख-दुःख का संवेदन करता है।

एषणासमिति–कृत, कारित व अनुमोदना दोषों से रहित दूसरे द्वारा दिये गये प्रासुक व शुद्ध भोजन को ग्रहण करना।

ओघमरण–आयु का क्षय होने पर मृत्यु को प्राप्त करना।

ओघ-संज्ञा–ज्ञानावरण कर्म के अल्प क्षयोपशम से अव्यक्त ज्ञानोपयोग रूप जो संज्ञा होती है, वह। इसका निश्चय लता समूह के आरोहण आदि रूप लिङ्ग के द्वारा होता है।

औद्देशिक–अपना और पराया का विभाग किये बिना, अपने लिये पकाये जाने वाले आहार में से कुछ भाग को भिक्षार्थ देने के उद्देश्य से उसमें कुछ और मिलाकर पकाना।

औषधदान–रोगी के लिये शक्ति के अनुसार औषध प्रदान करना।

औदयिकभाव–कर्म के उदय से उत्पन्न आत्मा के परिणाम।

औपशमिक चारित्र–समस्त मोहनीय के उपशमन से प्रादुर्भूत होने वाला चारित्र।

औपशमिकसम्यक्त्व–दर्शनमोहनीय की तीन और चारित्रमोहनीय की चार (अनन्तानुबन्धी चार) इन सात प्रकृतियों के उपशमन से प्रगट होने वाला सम्यक्त्व।

करुणा–दूसरे जीवों के दुःख को दूर करने की इच्छा।

कषाय–कर्म और संसार को 'कष' कहा जाता है, इस प्रकार कष को प्राप्त करना, दूसरे शब्दों में चारित्रमोह के भेदभूत कषायमोहनीय के उदय से आत्मा में जो क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कलुषता उत्पन्न होती है वह।

कषाय संलेखना–परिणामों की विशुद्धि करना अर्थात् क्रोधादि कषायों को कृश करना।

कायगुप्ति–शयन, आदान, आसन, निक्षेप, स्थान और गमन आदि क्रियाओं को करते समय शरीर की प्रवृत्ति को नियमित रखना। जीव-जन्तुओं को निहारकर प्रमार्जित कर विवेकपूर्वक उक्त कार्य करना।

कारकसम्यक्त्व–जिस सम्यक्त्व के होने पर जीव आगमोक्त व्रत, तप आदि के अनुष्ठान को तदनुसार ही करे।

कांक्षा–इस लोक सम्बन्धी और परलोक सम्बन्धी विषयों की अभिलाषा।

कूटलेखक्रिया–बनावटी लेख लिखना, दूसरों के हस्ताक्षर बनाना, दूसरों के द्वारा जो नहीं कहा गया है उसे दूसरे की प्रेरणा से कहना।

क्षपक–चारित्रमोहनीय कर्म को क्षय करने वाला श्रमण।

क्षपकश्रेणी–मोहनीयकर्म को क्षय करता हुआ आत्मा जिस श्रेणी (अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म संपराय और क्षीणमोह इन चार गुणस्थानों रूप नसैणी) पर आरूढ़ होता है।

क्षमा–क्रोध की उत्पत्ति के निमित्तभूत बाह्य कारण प्रत्यक्ष में होने पर भी किंचित् मात्र भी क्रोध न करना।

क्षय–कर्मों की आत्यन्तिक निवृत्ति।

क्षयोपशम–सर्वघाती स्पर्धक अनन्तगुणहीन होकर देशघाती स्पर्धक से परिणत होते हुए उदय को प्राप्त होते हैं। उनकी अनन्तगुणहीनता का नाम क्षय है, उन्हीं का देशघाती रूप में अवस्थित रहना यह उपशम है, इस प्रकार के क्षय और उपशम के साथ जो उदय हुआ करता है, वह क्षयोपशम है।

क्षयोपशमसम्यक्त्व–जो मिथ्यात्व उदय को प्राप्त हुआ है, वह क्षीण और जो उदय को अप्राप्त है वह उपशान्त–इस क्षय के साथ उपशमरूप मिश्र अवस्था को प्राप्त होना, इसे क्षयोपशम या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।

क्षीणमोह–मोह विजय के पथिक श्रमण का मोह जब सर्वथा क्षय हो जाता है, ऐसी निर्मोह अवस्था।

गण–जो श्रमण स्थविर मर्यादा के उपदेशक या श्रुत में वृद्ध होते हैं उनका समूह।

गणधर–जो गण का रक्षण करता है अथवा जो अनुपम ज्ञानदर्शन आदि रूप धर्म गण को धारण करता है, वह।

गणावच्छेदक–गच्छ के एक आचार्य के नेतृत्व में वर्तमान श्रमण समूह के कार्यों की जो चिन्ता करता है, वह।

गणी–ग्यारह अंगों का ज्ञाता अथवा गच्छ का स्वामी।

गुणव्रत–अणुव्रतों के उपकारक होने से दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगव्रत को गुणव्रत कहते हैं।

गुणस्थान शुद्धि-अशुद्धि के प्रकर्ष-अपकर्ष द्वारा जो जीव के स्वभावभूत ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप गुणों में भेद किया जाता है, वह।

गुप्ति–सम्यग्दर्शनपूर्वक मन, वचन व काया के योगों का निग्रह करना।

गोदोहिका–गोदोहन के समय जिस प्रकार दोनों एड़ियों को ऊपर उठाकर बैठा जाता है उसी प्रकार के आसन-विशेष से बैठना।

ग्रन्थि–जैसे किसी वृक्ष-विशेष की कठोर गाँठ अतिशय दुर्भेद्य होती है वैसे ही कर्मोदय से उत्पन्न जो जीव के घनीभूत राग-द्वेष परिणाम उस गाँठ के समान दुर्भेद्य होते हैं, वह ग्रन्थि है।

घातिकर्म–क्रम से केवलज्ञान, केवलदर्शन, सम्यक्त्व व चारित्र तथा वीर्य रूप जीवगुणों के घातक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म।

चक्रवर्ती–षट्खण्ड भरतक्षेत्र का अधिपति और बत्तीस हजार मुकुटबद्ध आदि राजाओं का अधिपति।

चतुर्विंशतिस्तव–नामनिरुक्ति के साथ ऋषभादि चौबीस तीर्थंकरों के गुणों का उत्कीर्तन करना।

चरणपुलाक–मूलगुण व उत्तरगुणों की प्रतिसेवना के साथ चारित्र की विराधना करने वाला श्रमण।

चलदोष–जो श्रद्धान आत्मीय अनेक विशेषों में चंचलता को प्राप्त होता है वह चल-दोष से दूषित होता है।

चारण–(१) जल, जंघा, तन्तु, पुष्प, पत्र, श्रेणि (आकाश प्रदेश पंक्ति) और अग्नि की शिखा आदि के आलम्बन से गमन में समर्थ साधु, (२) जिस चारणऋद्धि के प्रभाव से साधु अतिशययुक्त गमन में समर्थ होते हैं।

चारित्र–शुभ कर्म में प्रवृत्ति और अशुभ कर्म से निवृत्ति–हिंसा आदि से निवृत्त होना।

चारित्रमोहनीय–जो बाह्य और आभ्यन्तर क्रियाओं की निवृत्तिरूप चारित्र को मोहित करता है, विकृत करता है।

चारित्रविनय–इन्द्रियों और कषायों के प्रसार को रोकना तथा गुप्तियों व समितियों के पालन में प्रयत्नशील रहना।

चारित्राचार–पापक्रिया की निवृत्ति रूप परिणति।

छद्मस्थ–ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म का नाम छद्म है इस छद्म में जो स्थित है वह छद्मस्थ है।

छविच्छेद–छवि नाम शरीर का है, उसके नख आदि अवयवों का छेदन करना।

छेद–छेद का अर्थ अपवर्तन है, यह महाव्रत आरोपण से लेकर दीक्षा पर्याय का किया जाता है। जिस साधु ने महाव्रत स्वीकार किये हैं, उसके अपराध के अनुसार एक दिन से लेकर छह मास प्रमाण तक दीक्षा पर्याय का छेद किया जा सकता है। इस प्रकार के छेद से दीक्षा का काल उतना कम हो जाता है।

छेदार्ह–जैसे व्याधि से दूषित शरीर के किसी अवयव का शेष शरीरावयवों के रक्षाणार्थ छेद किया जाता है, उसे काटकर पृथक् किया जाता है। उसी प्रकार जिसका सेवन करने पर दूषित हुई पूर्वपर्याय श्रामण्य अवस्था का कुछ अंश में दिन, पक्ष, मास आदि के क्रम से छेद कर दिया जाता है, कम कर दिया जाता है, वह छेदार्ह प्रायश्चित्त है।

छेदोपस्थापन–जिस चारित्र में पूर्व पर्याय को छेदकर महाव्रतों को स्थापित किया जाता है अथवा व्रत का विनाश होने पर विशुद्धि की जाती है।

जघन्य अन्तर्मुहूर्त–एक समय अधिक आवली प्रमाण काल।

जिन–जिन्होंने चार घाती कर्मों को जीत लिया है।

जिनकल्प–राग-द्वेष व मोह के विजेता होकर उपसर्ग और परीषहों को सहन करने वाले जो श्रमण जिनदेव के सदृश विचरण करते हैं।

जीतव्यवहार–अशुभ कर्मरूपी मैल से होने वाली मलिनता को अतिशय शुद्ध करना, उसे दूर करना।

जुगुप्सा–जिस कर्म के उदय से अपने दोषों का संवरण और पर के दोषों का प्रकाशन किया जाता है।

ज्ञानाचार–वस्तु के यथार्थ स्वरूप को ग्रहण करने वाले ज्ञान में जो परिणति होती है वह।

तत्त्वार्थ–जो पदार्थ जिस रूप में अवस्थित है उसी रूप से उसे निश्चित करना, तत्त्वार्थ है।

तप–जो अष्ट प्रकार की कर्मग्रन्थि को सन्तप्त करता है, उसे नष्ट करता है अथवा जो शरीर और इन्द्रियों को संतप्त करता हुआ कर्म को नष्ट करता है, वह तप है।

तप आचार–अनशनादि धर्मक्रियाओं में प्रवृत्त होना।

तीर्थ–संसार-समुद्र से दुःखी प्राणियों के पार उतारने वाला श्रेष्ठ मार्ग।

त्रस–त्रस नामकर्म के वशीभूत जीव, जैसे–द्वीन्द्रियादि जीव।

दर्शन (सम्यग्दर्शन)–आप्त, आगम और पदार्थों में जो रुचि होती है, वह। रुचि, प्रत्यय, श्रद्धा, दर्शन–ये समानार्थक हैं।

दर्शनाचार–निःशंकादि आठ अंगयुक्त सम्यक्त्व का परिपालन करना।

दशपूर्वी–दसवें विद्यानुवाद पूर्व को पढ़ते हुए रोहिणी आदि पाँच सौ महाविद्याओं के तथा अंगुष्ठ प्रसेनादि सात सौ छोटी विद्याओं के द्वारा सिद्ध होकर अभीष्ट कार्यसिद्धि के लिए, देवताओं द्वारा प्रार्थना करने पर भी जो उनकी इच्छा न करते हुए चारित्र से विचलित नहीं होते हैं उन विद्याओं को धारण करने वाले श्रमण।

दंश-मशक परीषह–डाँस, मच्छर, मक्खी, पिस्सू, मधुमक्खी, खटमल, कीट, चींटी आदि द्वारा दी गई बाधा को शान्ति से सहन करना, मन, वचन और काया से उन्हें पीड़ा नहीं पहुँचाना, उनके प्रति दुर्भाव न लाना।

दान–अपने और दूसरे के अनुग्रह के लिए जो धन आदि अपने स्वामित्व की वस्तु का त्याग किया जाता है, वह।

दिग्विरति–दिशाओं को मर्यादित करके 'मैं इससे बाहर नहीं जाऊँगा' जीवन-पर्यन्त के लिए ऐसा नियम करके उससे बाहर नहीं जाना।

दीक्षा–समस्त परिग्रह का परित्याग और भव परम्परा को नष्ट करने वाली।

दीक्षायोग्य–जो जाति, कुल से शुद्ध, रूपवान, शान्त, परिणामी, धीर, सन्तुष्ट और संसार से उदासीन हो, वह।

दीपक सम्यक्त्व–जो स्वयं मिथ्यादृष्टि होकर धर्मकथा आदि द्वारा दूसरे के सम्यक्त्व का प्रकाशक होता है, उसे कारण में कार्य के उपचार से दीपक सम्यक्त्व कहा है।

दुर्ध्यान–जो ध्यान अपाप्त नहीं है।

दूतीपिण्ड–कार्य को सिद्ध करने के लिए दूत का कार्य सम्पन्न कर आहार प्राप्त करना।

देवाधिदेव–जो अरिहन्त भगवान केवलज्ञान व केवलदर्शन के धारक सर्वज्ञ होते हैं, वे देवाधिदेव कहलाते हैं।

देशचारित्र–हिंसादि पापों से की जाने वाली आंशिक अथवा एकदेशविरति।

देशनिर्जरा–चतुर्गतिमय संसार में परिभ्रमण करने वाले सर्व संसारी जीवों के क्षयोपशम से प्राप्त हुए कर्म की जो निर्जरा होती है वह। यह निर्जरा सभी संसारी जीवों को होती है।

देशार्श्वस्थ–नित्यपिण्ड और अग्रपिण्ड को खाने वाला श्रमण।

देशविरति–ग्राम, नगर आदि के जितने प्रदेश का परिमाण निश्चित किया गया है, उसके बाहर गमन का परित्याग करना।

देशव्रती–अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उपशमन होने पर पृथ्वी आदि स्थावरों के घात में प्रवृत्त होता हुआ भी जो यथाशक्ति त्रस जीवों की हिंसा से विरत रहता है, ऐसा श्रावक।

द्यूत–जिस क्रिया में चौसर के पाँसे, ताश, रेस के घोड़े आदि पर निक्षिप्त धन से जय-पराजय होती है।

द्रव्यकायोत्सर्ग–जो कायोत्सर्ग के वर्णन करने वाले प्राभृत का ज्ञाता होकर वर्तमान में उसके उपयोग से रहित है ऐसे जीव को अथवा उसके शरीर को द्रव्य कायोत्सर्ग कहा जाता है।

द्रव्यमन–पुद्गलविपाकी नामकर्म के उदय से जो पुद्गल मन रूप में परिणत होते हैं अथवा मनःपर्याप्ति नामक कर्म के उदय से योग्य मनोद्रव्य–मनःवर्गणा को ग्रहण करके मन रूप परिणमाये गये द्रव्य का नाम द्रव्य मन है।

धर्मकथा–सर्वज्ञोक्त अहिंसादिस्वरूप धर्म का कथन करना तथा अनुयोग के विचार से उत्तम पुरुषों के जीवन-चरित्र का कथन करना।

धर्मध्यान–आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय का पुनः-पुनः चिन्तन करना। विचय का अर्थ विवेक या विचारणा है। धर्माभिमुखी चिन्तनधारा।

धर्मरुचि–जो जिन-प्ररूपित अस्तिकायधर्म, श्रुतधर्म और चारित्रधर्म का श्रद्धान करता है, वह।

धर्मानुप्रेक्षा–अहिंसा जिसका लक्षण है, सत्य से जो अधिष्ठित है, विनय जिसका मूल है, क्षमा जिसका बल है, ब्रह्मचर्य से जो सुरक्षित है, उपशम प्रधान है, अपरिग्रह जिसका आलम्बन है, वह धर्म है। इस धर्म को पाकर जीव मोक्ष को प्राप्त होते हैं–इस प्रकार का चिन्तन।

धारणाव्यवहार–द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव पुरुषातिसेवना गीतार्थ जिस अपराध के होने पर जो प्रायश्चित्त दिया गया है वैसे ही प्रायश्चित्त स्थान उपस्थित होने पर प्रायश्चित्त देना।

धीर–जो धी–बुद्धि से सुशोभित होते हैं, परीषह उपस्थित होने पर विचलित नहीं होते हैं और मुक्ति को प्राप्त करने वाले होते हैं, वे धीर कहलाते हैं।

ध्याता–'मैं पर का नहीं हूँ और पर मेरा नहीं है, मैं ज्ञानस्वरूप हूँ', इस प्रकार जो ध्यान में चिन्तन करता है, वह; अथवा जो कषाय की कलुषता से रहित व विषयों से विरक्त होता हुआ मन को निज स्वभाव में स्थित करता है, वह।

ध्यान–स्थिर अध्यवसाय–आत्म-परिणाम।

ध्येय–केवलज्ञान आदि रूप अनेक गुणों से सम्पन्न वीतराग जिन और उनके द्वारा उपदिष्ट नौ पदार्थ ध्येय हैं, ध्यान करने योग्य हैं; इनके अतिरिक्त बारह अनुप्रेक्षाएँ, उपशम और क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होने की विधि, २३ वर्गणाएँ, ५ परिवर्तन, प्रकृति-स्थिति आदि बन्ध भेद भी ध्येय हैं।

नरक–असातावेदनीय वेदनीय कर्म के उदय से शीत-उष्ण आदि की वेदना से जो नरों–जीवों को शब्द कराते हैं, बुलाते हैं, वे; अथवा जो पाप करने वाले प्राणियों को अतिशय दुःख को प्राप्त कराते हैं।

निकाचित–कर्म के जिस प्रदेश पिण्ड का न अपकर्षण हो, न अन्य प्रकृति रूप संक्रमण हो, वह निकाचित कर्म है।

निगोद–जीवों के आश्रय विशेषों का नाम 'निगोद' है अथवा जो अनन्तानन्त जीवों को नियत, गो यानी भूमि (आधार) देता है, वह।

नित्यपिण्ड–मैं आपको प्रतिदिन इतना आहार दूँगा, आप मेरे घर पर गोचरी के लिये आइये, इस प्रकार निमंत्रित होकर प्रतिदिन गृहस्थ के घर जाकर आहार ग्रहण करना।

निदान–विशेष सुख की अभिलाषा के साथ 'चारित्र और तप का कोई फल है तो मैं चक्रवर्ती, अर्धचक्री आदि होऊँ' इस प्रकार संकल्प कर अनुष्ठित तप व चारित्र का खण्डन करना। तप के फल रूप भौतिक ऋद्धि प्राप्त करने का संकल्प।

नियाग–सदा आमन्त्रित आहार को ग्रहण करना। अनामन्त्रित को ग्रहण न करना।

निरालम्बन ध्यान–ध्यान की जिस अवस्था में न कोई धारणा हो, न किसी मन्त्रपद का चिन्तन हो, न मन में किसी प्रकार का चिन्तन हो, किन्तु अपनी आत्मा को आत्मा के द्वारा रोककर श्रमण जो आत्मस्थ होता है, वह अवस्था।

निर्ग्रन्थ–बाह्य और आभ्यन्तर मिथ्यात्व आदि ग्रन्थ से रहित–निर्ग्रन्थ।

निर्जरा–बाह्य बाँधे हुए कर्मों के प्रदेशापिण्ड के गलने का नाम 'निर्जरा' है अर्थात् परिपाक के वश या तप के द्वारा कर्मों के आत्मा से पृथक् होने को निर्जरा कहा है।

निर्विचिकित्सा–मानव शरीर यद्यपि स्वभाव से अपवित्र है तथापि रत्नत्रय की प्राप्ति का कारण है, अतएव रत्नत्रय से पवित्र श्रमण आदि के शरीर में घृणा न करके गुण के कारण प्रीति करना।

निर्वेद–संसार, शरीर और इन्द्रियभोगों से होने वाली विरति।

निश्चयचारित्र–औपाधिक रागादि विकल्पों से रहित स्वाभाविक सुख के स्वाद से जो चित्त में स्थिरता होती है, वह।

निश्चयनय–शुद्ध द्रव्य का निरूपण करने वाला 'नय'।

नैष्ठिक श्रावक–जो निष्ठापूर्वक धर्म का आचरण करता है, उसकी धर्म के विषय में निष्ठा रहती है और निरतिचार श्रावक धर्म का पालन करता है।

नोकर्म–कर्मोदयवश जो पुद्गल-परिणाम जीव के सुख-दुःख का कारण होता है।

पण्डितमरण–पण्डित–विरत, संयत का मरण।

पदस्थध्यान–पवित्र पदों का अवलम्बन लेकर जो ध्यान किया जाता है, वह।

परीषह–शारीरिक और मानसिक उत्कृष्ट पीड़ा की हेतुभूत जो आभ्यन्तर और बाह्य परिणामस्वरूप क्षुधादि हैं वे परीषह हैं उनकी संख्या बाईस है।

परीतसंसार–जिसने सम्यक्त्व आदि के द्वारा अपने संसार को परिमित कर दिया है वह संसारपरीत या परीत संसारी कहलाता है। वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अपार्धपुद्गल परिवर्तन काल में अवश्य मुक्त होता है।

पाक्षिक श्रावक–जिसने श्रावक के एकदेश हिंसादि रूप व्रत को प्रतिज्ञा का विषय बना लिया है और उसके पालन में उद्यत है, वह पाक्षिक श्रावक कहलाता है।

पादपोपगमन–जो चार प्रकार के आहार का परित्याग करता हुआ जन्तुरहित शुद्ध भूमिका का आश्रय लेकर पादप–'वृक्ष' के समान निश्चल हो जाता है, एक पार्श्व भाग से पड़ जाता है और प्रशस्त ध्यान में मन को लगाता हुआ मृत्यु-पर्यन्त उसी प्रकार से निश्चल रहता है।

पाप–अशुभ कर्मपुद्गल जो शुभ कार्य में प्रवृत्त नहीं होने देते।

पार्थिवीधारणा–ध्यान की अवस्था में मध्यलोक के सदृश क्षीर सागर, उसके मध्य में जम्बूद्वीप के प्रमाण वाला सहस्रपत्रमय स्वर्णकमल, उसके पराग समूह के भीतर पीली कान्ति से युक्त सुमेरु के प्रमाण कर्णिका और उसके ऊपर एक श्वेतवर्ण के सिंहासन पर अवस्थित होकर कर्मों को नष्ट करने में उद्यत अपनी आत्मा का चिन्तन करना।

पार्श्वस्थ–जो आत्महितकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप और प्रवचन के पार्श्व में विहार करता है किन्तु पूर्ण रूप से उसके पालन करने में प्रयत्नशील नहीं रहता, वह पार्श्वस्थ श्रमण है।

पिण्डस्थ ध्यान–अपने शरीर में पुरुष के आकार, जो निर्मल गुण वाला जीव प्रदेशों का समुदाय स्थित है उसका चिन्तन; अथवा नाभिकमलरूप स्थानों में जो इष्ट देवता आदि का ध्यान किया जाता है, वह।

पुद्गल–जिसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श पाया जाता है, वह; अथवा पूरण-गलन स्वभाव वाला द्रव्य।

पौषधोपवास–पौषध का अर्थ 'पर्व' है। पर्व में जो उपवास किया है, वह पौषधोपवास है। अष्टमी, चतुर्दशी और पंचमी–ये पर्व कहलाते हैं, इनमें और इनके अतिरिक्त अमावस्या, पूर्णिमा और प्रतिपदा को भी वह किया

जाता है। उपवास के समय सावद्य कर्म के साथ-साथ स्नान आदि शरीर संस्कार का त्याग किया जाता है और दर्भ आदि बिछाकर कायोत्सर्ग से अथवा वीरासन आदि से संस्थित होकर धर्म-जागरण किया जाता है।

बन्ध–कार्मण-वर्गणाओं का आत्म-प्रदेशों में एक क्षेत्रावगाह हो जाना।

बकुश–जो निर्ग्रन्थ श्रमण व्रतों का अखण्ड रूप से पालन करते हैं किन्तु शरीर और उपकरणों की शोभा बढ़ाने में लगे रहते हैं, परिवार से घिरे रहते हैं, ऋद्धि और यश की कामना रखते हैं, वे श्रमण बकुश हैं। यहाँ बकुश का अर्थ–चित्र-विचित्र है।

बहिरात्मा–मिथ्यात्व व राग-द्वेष से मलिन आत्मा की अवस्था।

भव्य–जिसमें मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता है, वह।

मद–जाति, कुल, बल आदि से अपना बड़प्पन मानना।

मन–संकल्प-विकल्पात्मक परिणाम तथा चिन्तवन आदि रूप ज्ञान की अवस्था विशेष भाव मन है। द्रव्य मन पुद्गल विपाकी नामकर्म के उदय से होता है।

मिथ्यादर्शन–तत्व विषयक विपरीत अभिनिवेश। मिथ्यात्व के उदय से तत्त्वों का श्रद्धान रूप परिणाम।

मुनि–श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, अनगार, भदन्त, दान्त, यति ये सभी समानार्थक हैं।

मोक्ष–(१) शुद्ध रत्नत्रय की साधना से अष्ट कर्मों की आत्यंतिक निवृत्ति द्रव्यमोक्ष और रागादि भावों की निवृत्ति भावमोक्ष। (२) बंध और बंध के कारणों का सर्वथा अभाव।

मोह–दर्शनमोहनीय के विपाक से होने वाले कलुषित परिणाम।

मौखर्य–धीठता को लिए हुए निःसार कुछ भी बकवास करना।

मौन–प्रशस्त और अप्रशस्त समस्त वचन-विलास का त्याग।

योनि–जीवों के उत्पन्न होने का स्थान।

रूपातीत ध्यान–वर्ण, रस, गंध और स्पर्श से रहित केवलज्ञान-दर्शन स्वरूप सिद्ध परमेष्ठी का या शुद्ध आत्मा का ध्यान करना।

रौद्रध्यान–रुद्र का अर्थ क्रूर आशय है, इसका कर्म या इसमें होने वाला भाव रौद्र है। जो पुरुष प्राणियों को रुलाता है, वह रुद्र, क्रूर अथवा सब जीवों में निर्दय कहलाता है ऐसे पुरुष में जो ध्यान होता है वह रौद्रध्यान कहलाता है।

वाचना–शिष्यों को पढ़ाना।

विकृति–जिस आहार से जिह्वा या मन में तथा इन्द्रियों में विकार उत्पन्न हो।

विनय–(१) पूज्य पुरुषों का आदर करना। (२) रत्नत्रय को धारण करने वाले पुरुषों के प्रति नम्र होना।

विभाव–(१) कर्मों के उदय से होने वाले जीव के रागादि विकारी भाव। निमित्त की अपेक्षा कथन करने पर ये कर्मों के हैं और जीव की अपेक्षा कथन करने पर ये जीव के हैं। संयोगी होने से वस्तुतः वे किसी एक के नहीं हैं। (२) स्वभाव से अन्यथा परिणमन करना विभाव है।

वीतराग–जिनका राग नष्ट हो चुका है, ऐसे केवली भगवान।

वैनयिक मिथ्यात्व–सब मतों व सब देवताओं को एक समान मानना।

वैयावृत्य–गुणों में अनुरागपूर्वक संयमी पुरुषों के खेद को दूर करना तथा अन्य प्रकार से उनकी सेवा करना। आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी–आदि के भेद से वैयावृत्य के दस प्रकार हैं।

वैराग्य–विषयों से विरत होना।

व्युत्सर्ग–परिमित काल के लिये शरीर से ममत्व का त्याग करना।

व्रत–यावज्जीवन हिंसादि पापों की एकदेश या सर्वदेश निवृत्ति अथवा प्रतिज्ञा लेकर जो नियम लिया जाता है, वह व्रत है।

शरीर–जो शरीर नामकर्म के उदय से प्राप्त होकर शीर्यते अर्थात् गलता है, वह।

शल्य–पीड़ा देने वाली वस्तु, जैसे शरीर में काँटा चुभने पर कष्ट होता है, वैसे ही मिथ्यादर्शन, माया और निदान–ये तीन शल्य हैं।

शुक्लध्यान–निर्मल गुणयुक्त आत्मपरिणति; कषायरूपी रज के क्षय या उपशम होने से आत्मा में सुनिर्मल परिणाम होते हैं और वह शुक्लध्यान वैडूर्यमणि के समान सुनिर्मल और निष्कम्प होता है।

शौच–प्रकर्ष प्राप्त लोभ का त्याग शौचधर्म है।

श्रमण–जो मोक्ष मार्ग में श्रम करता है अथवा जो उपशम भाव रखता है, वह; अथवा जो संसार के सभी प्राणियों पर समभाव रखता है, वह। श्रमण, साधु, यति, ऋषि, मुनि आदि समानार्थक शब्द हैं।

श्रावक–धर्म सुनने वाला, धर्म पर श्रद्धा रखने वाला तथा विवेकवान, विरक्तचित्त अणुव्रती गृहस्थ को श्रावक कहते हैं। उसके तीन प्रकार हैं–पाक्षिक,

नैष्ठिक और साधक। निज धर्म का पक्ष मात्र करने वाला पाक्षिक, व्रतधारी, नैष्ठिक और वैराग्य की प्रकर्षता से उत्तरोत्तर ११ प्रतिमा धारण करने वाला साधक। शक्ति को न छिपाता हुआ वह निचली दशा से क्रमपूर्वक उठता चलता है। अन्तिम श्रेणी में इसका रूप साधु से किंचित् न्यून होता है।

श्रुतज्ञान–(१) मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ के अवलम्बन से तत्सम्बन्धी दूसरे पदार्थ का ज्ञान होता है, वह। (२) शब्द सुनने के पश्चात् जो मन की ही प्रधानता से अर्थज्ञान होता है, वह।

संक्रमण–जीव के परिणामों के प्रभाव से कर्म प्रकृति का बदलकर अन्य प्रकृति रूप हो जाना।

संज्ञी–मन के सद्भाव के कारण जिन जीवों में शिक्षा ग्रहण करने व विशेष प्रकार से विचार, तर्क आदि करने की शक्ति होती है वे संज्ञी हैं। यद्यपि चींटी आदि क्षुद्र जन्तुओं में भी इष्ट पदार्थ की प्राप्ति हेतु गमन और अनिष्ट पदार्थों से दूर हटने की क्रिया देखी जाती है, लेकिन यह उनकी सहज स्वाभाविक क्रिया है, बुद्धिपूर्वक क्रिया नहीं; इसलिए उपरोक्त लक्षण के अभाव में वे संज्ञी नहीं हैं।

संज्वलन–संयम के साथ एकीभाव, या जिसके सद्भाव से संयम चमकता रहता है, अथवा जो कषाय यथाख्यात चारित्र का घात करता है, वह।

सम्पराय–कषाय और संसार।

संमूर्च्छन–तीनों लोकों में ऊपर, नीचे, तिरछे सभी ओर से देह का मूर्च्छन अर्थात् ग्रहण होना।

संयत–बहिरंग और अन्तरंग आश्रवों से विरत होने वाला श्रमण।

संयतासंयत–जो एकदेश विरति में लगा हुआ है वह श्रावक; संयम धारण करने के अभ्यास में स्थित कुछ संयम और कुछ असंयम परिणामयुक्त।

संयम–सम्यक् रूप से यम अर्थात् नियन्त्रण।

संवर–आश्रवों का निरोध, जिनसे कर्मों का आगमन रुके; अथवा कर्मों का रुकना संवर है।

संवेग–संसार के दुःखों से हमेशा डरते रहना।

संसार–संसरण संसार है, जिसका अर्थ परिवर्तन है। कर्म के विपाक के वश से आत्मा को भवान्तर की प्राप्ति होना।

संसारी–कर्मकलंक से जो लिप्त है और अपने स्वरूप को नहीं जानने वाला और जो मोह से बँधा हुआ है, वह संसारी है।

सत्य–जैसा हुआ हो, वैसा ही कहना। राग-द्वेष अथवा मोह से होने वाले मृषा-भाषा के परिणाम को जो सर्वथा–पूर्ण रूप से छोड़ता है वह सत्य महाव्रत है और स्थूल झूठ को स्वयं न बोले, न बुलावे तथा जिस वचन से विपत्ति आती हो वह यथार्थ वचन भी न स्वयं बोले और न बुलावे, वह सत्य अणुव्रत है।

समय–जघन्य गति से एक पुद्गल परमाणु सटे हुए द्वितीय परमाणु तक जितने काल में जाता है, उतना काल एक समय कहलाता है।

समिति–चलने-फिरने, बोलने-चालने और आहार ग्रहण करने में, वस्तु को उठाने-धरने में और मल-मूत्र को निक्षेप करने में सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति करना अथवा प्राणी-पीड़ा के परिहार के लिए सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति करना 'समिति' है।

समुद्घात–वेदना आदि निमित्तों से मूल शरीर को न छोड़कर तेजस् कार्मण रूप उत्तर देह के साथ-साथ जीव प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना 'समुद्घात' है।

सम्यग्दर्शन–दुरभिनिवेशरहित पदार्थों का यथार्थ श्रद्धान अथवा आत्म-प्रत्यक्ष पूर्वक स्व-पर भेद का कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवेक सम्यग्दर्शन है।

संलेखना–सम्यक् प्रकार से काय और कषाय का लेखन करना–कृष करना संलेखना है।

सागार–आगारयुक्त–श्रावक।

सामायिक–सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, इष्ट-अनिष्ट आदि विषमताओं में राग-द्वेष न करना अपितु साक्षी भाव से उसका ज्ञाता द्रष्टा बने हुए समता-स्वभावी आत्मा में स्थित रहना और सर्व सावद्य योग से निवृत्त होना।

सासादन–सम्यक्त्व रूप रत्नपर्वत के शिखर से च्युत मिथ्यात्व रूप भूमि की ओर पतनोन्मुख और सम्यक्त्व के वमन रूप जीव के परिणाम।

सुमेरु–तीनों लोकों का मानदण्ड और मध्यलोक का सबसे प्रधान पर्वत है।

सूक्ष्मसम्पराय–जिस चारित्र में अति सूक्ष्म कषाय होता है, जैसे–कुसुमली रंग भीतर से सूक्ष्म लालिमा वाला होता है वैसे ही सूक्ष्मराग लोभ होने से इसे सूक्ष्मसम्पराय कहते हैं।

स्तेय–विना दी हुई वस्तु लेना स्तेय है।

स्थविरकल्पिक–गच्छ में रहकर साधना करने वाला श्रमण।

स्याद्वाद–वस्तु का कथन करने की अनेकान्तमयी पद्धति।

स्वाध्याय–सत्शास्त्र का मनन चिन्तन या उपदेश देना, अथवा अपने आत्मा का हित करने वाला अध्ययन करना।

हास्यमोहनीय–जिस कर्म के उदय से विना कारण अथवा कारण सहित हँसी आवे।

हिंसा–स्व तथा पर के अन्तरंग प्राणों का हनन करना। जहाँ रागादि हों वहाँ स्वहिंसा है और षट्काय जीवों को मारना परहिंसा है। परहिंसा भी स्वहिंसापूर्वक होने से परमार्थ में स्वहिंसा ही है।

हिरण्य–जिसमें रूप्य–चाँदी आदि का व्यवहार होता है।

हीयमान अवधिज्ञान–उत्पत्ति के समय अधिक विषयों को प्रत्यक्ष करने वाला किन्तु उत्तरोत्तर अल्प, अल्पतर, अल्पतम होने वाला अवधिज्ञान।

● ●

परिशिष्ट २

प्रयुक्त ग्रन्थ सूची

अकालस्तुति

अंगिरा

अंगुत्तरनिकाय
भदन्त आनन्द कौसल्यायन, महाबोधि सभा, कलकत्ता, सन् १९५७

अग्निपुराण

अथर्ववेद
भाष्यकार श्री जयदेव शर्मा, आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर, वि. सं. १९८६

अथर्ववेद सायण भाष्य

अनुयोगद्वारवृत्ति
आगमोदय समिति १९२४ तथा आत्माराम जी महाराज

अनुत्तरोपपातिकदशा
विनय मुनि, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

अनगार धर्मामृत
आशाधर जी, माणिकचन्द दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई

अपरार्क दानरत्नाकर

आप्टिज संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी

अभिधान चिन्तामणि कोश
आचार्य हेमचन्द्र

अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग १-७
जैन प्रभाकर प्रेस, रतलाम

अध्यात्म रामायण

अभिज्ञान शाकुन्तल
चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी

अध्यात्म विचारणा
पं. दलसुखभाई मालवणिया

अष्टांग हृदय
वाग्भट

अष्टांग संग्रह

अष्टपाहुड
आचार्य कुन्दकुन्द, माणिक्यचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९२३

अत्रि स्मृति

अन्तकृद्दशांग
जैन धर्म प्रचार सभा, भावनगर, वि. १९८०

अत्रि सूत्र

अध्यात्म मत-परीक्षा

अमरकोश
निर्णय सागर प्रेस, बम्बई

अशोक के धर्मलेख
जनार्दन भट्ट, पब्लिकेशन्स डिवीजन, दिल्ली

अष्टक प्रकरण
हरिभद्रसूरि

अंगीरस

आगार धर्मामृत

आचार-प्रदीप
रत्नशेखर वृत्ति

आचारांगसूत्र
अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी. सं. २४४६
आचारांगनिर्युक्ति
आगमोदय समिति सूरत, वि. सं. १९६२-१९७३
आचारसार
वीरनन्दि, माणिकचन्द दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९७४
आचारांगशीलांकवृत्ति
आगमोदय समिति, सूरत, वि. सं. १९६२-१९७३
आतुरप्रत्याख्यान
जैन प्रचार सभा, भावनगर, वि. सं. १९६६
आपस्तम्ब श्रौतसूत्र
आत्मानुशासन
आवश्यकहरिभद्रीयावृत्ति
आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१६-१९१७
आवश्यकनिर्युक्ति
मलयगिरिवृत्ति, आगमोदय समिति, बम्बई-सूरत
आवश्यकचूर्णि
जिनदास गणी महत्तर, रतलाम, सन् १९२८-१९२९
आवश्यकसूत्र
पुण्यविजय जी, महावीर विद्यालय, बम्बई
आपस्तम्ब धर्मसूत्र
आसणिकोपनिषद्
आश्वलायन गृह्यसूत्र
आराधनासार
देवसेनाचार्य, भारतीय दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
आदिपुराण
आचार्य जिनसेन–भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
आत्मानुशासन
गुणभद्र–जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, गिरगाँव, बम्बई, वि. सं. १९८६
आपस्तम्ब गृह्यसूत्र
आश्वलायन श्रौतसूत्र
इण्डियन कल्चर
इण्डियन फिलॉसफी
इस्लाम धर्म क्या कहता है ?
ईशावास्योपनिषद्
उत्तराध्ययनसूत्र
जैनशास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर सन् १९३९-१९४२
उत्तराध्ययननिर्युक्ति
देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, सं. १९७२
उत्तराध्ययनबृहद्वृत्ति
देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, सं. १९७२
उत्तराध्ययन
आचार्य आत्माराम जी महाराज
उत्तराध्ययन
शान्त्याचार्य टीका–देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई सन् १९१९-१९२७
उत्तरपुराण
भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
उत्तराध्ययनचूर्णि
रतलाम, सन् १९३३

उत्तराध्ययन
आचार्य तुलसी
उपवास से जीवनरक्षा
उपवास
उपदेशमाला
मलधारी हेमचन्द्र, ऋषभदेव जी केसरीमल संस्था, रतलाम
उपाशकदशांग का अनुवाद
प्रो. हार्नले
उपासकाचार
उपासकाचार
आचार्य अमितगति
उपासकदशांग
आगमोदय समिति, बम्बई, १९२०
उत्तर हिन्दुस्तान मां जैन धर्म
चिमनलाल जयचन्द शाह
ऋग्वेद
वसन्त श्रीपाद सातवेलकर, भारत मुद्रणालय, औंध सातारा, १६४८
ऋग्वेद यास्क निरुक्त
एन. के. भगत, पटना यूनिवर्सिटी रीडरशिप लेक्चरर्स
ऐतरेय ब्राह्मण
ऐतरेय आरण्यक
ऐतरेय उपनिषद्
ओघनिर्युक्ति
विजयदान सूरीश्वर जैन ग्रन्थमाला, सूरत, सन् १९५७
ओघनिर्युक्तिभाष्य
ओघवृत्ति
औपपातिक सूत्र
औपपातिकवृत्ति
अभयदेवकृत, आगमसंग्रह, कलकत्ता, सन् १८८०
आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१६
कठोपनिषद्
निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १६३२
कथासरित्सागर
कबीर ग्रन्थावली
कर्मग्रन्थ, भाग १-६
कल्पसूत्र
पुण्यविजय जी म., साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद, सन् १९५२
कल्पसूत्र कल्पलता टीका
समयसुन्दरगणि, जिनदत्तसूरि प्राचीन पुस्तकोद्धार, सूरत, सन् १९३६
कल्पसूत्र सुबोधिका
विनयविजय, आत्मानन्द सभा, भावनगर, सं. १९७५
कल्पद्रुम कलिका
लक्ष्मीवल्लभ, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, १९७५
कल्प समर्थन
कल्पसूत्र कल्पार्थबोधिनी
विजय राजेन्द्रसूरि, राजेन्द्र प्रवचन कार्य, खुडाला (फालना)
कल्प दर्शनम्
कल्पद्रुम, कल्पद्रुम-कलिका टीका
कल्पसूत्रनिर्युक्ति
पुण्यविजय जी, साराभाई नवाब, अहमदाबाद, सन् १९५२
कल्पसूत्रचूर्णि
पुण्यविजय जी, साराभाई नवाब, अहमदाबाद, सन् १९५२
कल्पसूत्रवृत्ति
कल्पसूत्र

श्री देवेन्द्र मुनि
काठ संहिता
कामसूत्र
कथाकोश
देवभद्रसूरि
कविनावली
काशी भारद्वाज सूत्र
कार्तिकेयानुप्रेक्षा
आचार्य स्वामी कार्तिकेय
कर्पूर प्रकरण
कर्मस्तव
महेशाणा संस्करण
क्रिया-कोश
मोहनलाल बांठिया, १६ सी,
ईडर लेन, कलकत्ता-२९
कौशीतकी ब्राह्मण उपनिषद्
कुम्भ जातक
कुवलयमाला
उद्योतनसूरि
कुरान-शरीफ
कायोत्सर्ग शतक
कूर्मपुराण
बाईबिल योथिका इंडिका,
एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल
कृष्णयजुर्वेद
कौटिल्य अर्थशास्त्र
गरुड़पुराण
गीत गोविन्द
जयदेव
गीता रहस्य
लोकमान्य तिलक
गीता
गीता प्रेस, गोरखपुर
गीतावली
गोपथब्राह्मण
गोचरचर्यासूत्र
गोरक्षा शतक
गाँधीजी की सूक्तियाँ
गोम्मटसार-कर्मकाण्ड
नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, रायचन्द
जैन शास्त्रमाला, १९२८
गोभिल स्मृति
गोभिल गृह्यसूत्र
गोम्मटसार
नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, अनु. जे.
एल. जैनी, एम. ए.
गुणस्थान क्रमारोह
सोपज्ञवृत्ति
गुरु ग्रन्थ साहिब
गौतम धर्मसूत्र
गौतम स्मृति
गृहस्थधर्म
आचार्य जवाहरलाल जी म.
गृहस्थधर्म
आचार्य फूलचन्द जी म.
गृहस्थाचार
गुरुवन्दन भास
देवेन्द्रसूरि
चतुःशरण
चन्द्रवेध्यक
चाणक्यनीति
चारित्त पाहुड
आचार्य कुन्दकुन्द
चरक संहिता
चारित्रसार
चामुण्डराय

चारित्र प्रकाश
चारित्र प्राभृत
चुलसुत्त सोम जातक
चुल्लवग्ग खुद्दकत्थुखन्धक
छान्दोग्योपनिषद्
निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
जातक
भदन्त आनन्द कौशल्यायन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश १–४
भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
जाबालोपनिषद्
जैन दिवाकर स्मृति ग्रन्थ
जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति
देवचन्द लालभाई, जैन पुस्तकोद्धार, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १६२०
जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा
देवेन्द्र मुनि
जैन सिद्धान्त बोल संग्रह
जैनदर्शन : स्वरूप और विश्लेषण
देवेन्द्र मुनि
जैमिनीय गृह्यसूत्र
जैन आचार
डॉ. मोहनलाल मेहता, काशी हिन्दु यूनिवर्सिटी, वाराणसी
जीतकल्प
जीतकल्पबृहद्चूर्णि
जय जियकप्प
सोमप्रभसूरि
जइ सामाचारी
भावदेवसूरि
तत्त्वार्थसूत्र
उमास्वाति/जैनीकृत, अंग्रेजी अनु. सहित, वाराणसी, १९२०
तत्त्वार्थसार
अमृतचन्द्रसूरि गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला
तत्त्वार्थराजवार्तिक
भट्ट अकलंक
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक
विद्यानन्द
तत्त्वार्थसूत्र
पं. सुखलाल जी, जैन संस्कृति संशोधन मंडल, वाराणसी
तत्त्वार्थसूत्र
श्रुतसागरीय वृत्ति-भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९३२
तत्त्वानुशासन
रामसेन, माणिकचन्द दिगम्बर ग्रन्थमाला, बम्बई
तत्त्वार्थभाष्य
उमास्वाति
तत्त्वार्थसूत्र
सर्वार्थसिद्धि–पूज्यपाद
तैत्तिरीय संहिता
तैत्तिरीय ब्राह्मण
तैत्तिरीय आरण्यक
तैत्तिरीयोपनिषद्
निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९३२
तिलकमंजरी
धनपाल
तपोष्टक-ग्रन्थ
तन्त्रवार्तिक
ताण्ड्य महाब्राह्मण
ता. सनहेन्द्रिय
ता. बाबा मेतालिया

तोरा-लैव्य व्यवस्था
थेरी गाथा
राहुल सांकृत्यायन, रंगून, १९३७
दशवैकालिकसूत्र
आ. आत्माराम जी कृत हिन्दी टीका सहित, महेन्द्रगढ़, वि. सं. १९८९
दशवैकालिक-जिनदासचूर्णि
दशवैकालिक-हारिभद्रीयावृत्ति
देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भण्डार, बम्बई, १९१८
दशवैकालिकनिर्युक्ति
देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार बम्बई, १९१८
दर्शन और चिन्तन
पं. सुखलाल जी संघवी
दर्शन पाहुड
आचार्य कुन्दकुन्द
दर्शनसार
हिन्दी जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई, वि. सं. १९७३
दर्शन का प्रयोजन
दर्शन अने चिन्तन
पं. सुखलाल जी संघवी
दशवैकालिक अगस्त्यसिंहचूर्णि
प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी-५, प्र. सं. १९७३
दि वेदाज–एफ. मैक्समूलर
दीघनिकाय
हिन्दी अनु. राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा सारनाथ, वाराणसी
दशाश्रुतस्कन्ध
आ. आत्माराम जी म., जैन शास्त्र-माला कार्यालय, लाहौर, सं. १९३६
दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति
मणिविजय जी ग्रन्थमाला, भावनगर, वि. सं. २०११
दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि
मणिविजय जी ग्रन्थमाला, भावनगर
द्रव्यसंग्रह
आ. नेमिचन्द्र, सं. डा. दरबारी लाल जी कोटिया
दक्षस्मृति
द्वादशानुप्रेक्षा
धम्मपद
भिक्षु धर्मरक्षित, मास्टर खेलाड़ी एंड संस, बनारस, १९५३
धर्मसंग्रह श्रावकाचार
मेधावी
धर्मबिन्दु प्रकरण
आचार्य हरिभद्र
धर्मशास्त्र का इतिहास
पी. वी. काणे
धर्मसंग्रह
ध्यान शतक
भाष्य. जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, शा. कमलचंद रंग जी वेणय, सूर्योदय प्रेस, जामनगर
नव तत्त्व साहित्य संग्रह
नमस्कार स्वाध्याय ग्रन्थ
नवपद प्रकरण सटीक
देवगुप्तसूरि
नारद पुराण
निमिजातक
निशीथसूत्र

निशीथसूत्र भाष्य
सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
निशीथसूत्र सभाष्यचूर्णि
सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९५७-१९६०
निरयावलिया
नियमसार
कुन्दकुन्द, सं. पं अजितप्रसाद,
लखनऊ, १९३७
निरुक्त
नीतिवाक्यामृत
आचार्य सोमदेवसूरि
न्यायसूत्रभाष्य
न्यायमंजरी
गौतमसूत्र तत्त्वार्थविवृति, चौ. सं.
सीरीज, वाराणसी, १९३१-१९५४
न्यायवार्तिक
सं. विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा
सं. सी. वाराणसी, १९७५
न्यायभाष्य
निर्णयसिन्धु
पद्मपुराण
परिशिष्ट पर्व
आचार्य हेमचन्द्र
परमात्म द्वात्रिंशिका
पातंजल योगसूत्र
पातंजल-दर्शन-व्यासभाष्य
पद्मचरित
रविसेन
पातंजल दर्शनवृत्ति
आचार्य यशोविजय
परमात्मप्रकाश
पिण्डनिर्युक्ति
पिण्डविशुद्धि
जिनवल्लभसूरि
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
अमृतचन्द्राचार्य परमश्रुत प्रभावक
मंडल, बम्बई, वी. सं. २४३१
पुरुषार्थानुशासन भावसंग्रह
पं. गोविन्द
पंचास्तिकाय
कुन्दकुन्द सं. प्रो. ए. चक्रवर्ती प्र.
कुमार देवेन्द्रप्रसाद, आरा, १९२०
पंचवस्तु
पंचाचाराधिकार
पंचाशक सटीक विवरण
पंचसंग्रह
चन्द्रर्षि महत्तर (भा. २) सं. विजय
प्रेमसूरि
पंचविंशतिका
पद्मनन्दी
पंचकल्प महाभाष्य
पंचसुत्तय
पंचनियंठि
आ. हरिभद्र
पंचनियंठि
अभयदेव
पंचवत्थुक
आचार्य हरिभद्र
प्रवचनसारोद्धार
नेमिचन्द्र (सिद्धसेन टीका सहित)
प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति टीका
प्रतिक्रमण सूत्रवृत्ति
प्रशमरति प्रकरण
उमास्वाति
प्रश्नव्याकरणसूत्र
तपागच्छाधिपतिसूरि पुरंदर श्रीमद्

प्रायश्चित्त विवेक
ज्ञान विमलसूरि विरचित वृत्ति, सं. मफतलाल झवेरचंद, अहमदाबाद
प्रवचनसार
कुन्दकुन्द, सं. डॉ. एन. ए. उपाध्ये, रायचंद जैन शास्त्र मण्डल
प्रवचनसारवृत्ति
जयसेनाचार्य प्रकाशक-परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, १९६९
प्रकरण पंजिका
प्रशस्तपद भाष्य
यान्यमति टीका
प्रस्थान त्रयी
प्रश्नोत्तर श्रावकाचार
आचार्य सकलकीर्ति
प्रत्याख्यान सिद्धि
प्रभावक चरित्र

प्रतिक्रमणत्रयी
प्रज्ञापनासूत्र
सं. पुण्यविजय मुनि, महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, १९६६
प्राचीन प्राकृत
प्राणाग्निहोत्रोपनिषद्
परिसाम्मिवायणो
पारसी धर्म क्या कहता है ?
पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ इन्सियेण्ट इण्डिया
एच. सी. राय चौधरी
प्राकृत पद्य संग्रह
प्रायश्चित्त प्रकाश
प्रायश्चित्त मयूख
प्रायश्चित्त विवेक

पर्युषण कल्पसूत्र
केसर मुनि
फिलॉसफी ब्रिगिन्स इन वण्डर
बारस अणुवेक्खा
बोधायन धर्मसूत्र
बोधायन गृह्यसूत्र
बौद्ध संस्कृति का इतिहास
डॉ. भागचन्द्र जैन
बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास
बौद्ध धर्म दर्शन
आचार्य नरेन्द्रदेव
बीजक साखी
ब्रह्मपुराण
ब्रह्मसूत्र
बोधायन श्रौतसूत्र
भगवद्गीता
भगवद्गीता
डॉ. राधाकृष्णन्
भगवतीसूत्र
संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना
भगवती आराधना
आचार्य शिवार्य, अनन्तकीर्ति ग्रन्थालय, बम्बई, सं. १९८६
भगवती आराधनावृत्ति
भगवतीसूत्र
अभयदेव वृत्ति
भगवान पार्श्व : एक समीक्षात्मक अध्ययन
देवेन्द्र मुनि
भरतेश बाहुबलि वृत्ति
भागवत पुराण

भारतीय दर्शन
उपाध्याय बलदेव

भारतीय विद्या
डॉ. मोतीचन्द
भारतीय दर्शन
डॉ. राधाकृष्णन्
भारतीय दर्शन में मोक्ष चिन्तन–
एक तुलनात्मक अध्ययन
डॉ. अशोककुमार लाई
भारद्वाज गृह्यसूत्र
भावपाहुड
भावसंग्रह
देवसेन
भक्तपरिज्ञा
भव्यमार्गोपदेश उपासकाध्ययन
आ. जिनदेव
मनुस्मृति
टीकाकार पं. जनार्दन भा. हिन्दी
पुस्तकालय एजेन्सी, हैरसिन रोड,
कलकत्ता, सं. १९८३
महापुराण
जिनसेन
महावीर-चरियं
गुणचन्द्र
महावीर की साधना का रहस्य
मुनि नथमल
महावग्ग
महामंगल सुत्त
महासिंहनाद सुत्त
महानिशीथ
पुण्यविजय जी के संग्रह की प्रति
महाप्रत्याख्यानसूत्र
महाभारत
टी. आर. कृष्णाचार्य, बम्बई,
१९०६-१९०७
महात्मा गाँधी
मरणसमाधि
मरणविभक्तिप्रकरण
मरुधर केसरी-अभिनन्दन ग्रन्थ
मज्झिम निकाय
मध्वी भाष्य
मानव गृह्यसूत्र
मालविकाग्निमित्र
कालिदास
मिताक्षरा-याज्ञवल्क्य स्मृति पर टीका
मीमांसा सूत्र
मुण्डकोपनिषद्
मूलाचार
आचार्य वट्टकेर, भारतीय दिगम्बर
जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि. सं.
१९७७-१९८०
मूलाराधना-दर्पण
मूलाराधना-आश्वास
मूलाराधना-विजयोदयावृत्ति
मूलाराधना-अमितगति
मूल सर्वास्तिवाद
मृत्यु-महोत्सव
मृच्छकटिकम्
शूद्रक
मैत्रायणि आरण्यक
मैत्रायाणि संहिता
मोक्ष प्राभृत
मोक्षमार्ग
रतनलाल दोशी
मोक्ष पाहुड
मत्स्यपुराण
मार्कण्डेयपुराण
राजप्रश्नीय